प्राचीन भारत

लेखक—

रमेशचन्द्र मजूमदार
एम० ए०, पीएच्० डी०
फेलो, रायल एशियाटिक सोसायटी (सम्मानित)
भूतपूर्व प्रोफेसर, इतिहास, तथा कुलपति, ढाका विश्वविद्यालय,
भूतपूर्व प्रिंसिपल, भारती महाविद्यालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
भूतपूर्व प्रोफेसर, नागपुर विश्वविद्यालय

अनुवादक—

डॉक्टर परमेश्वरीलाल गुप्त, एम० ए०, पीएच्० डी०
प्रिंस ऑफ् वेल्स् म्यूजियम, बम्बई

सम्पादक—

डॉक्टर विशुद्धानन्द पाठक, एम० ए०, पीएच्० डी०
लेक्चरर, इतिहास विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

प्रकाशक—

मोतीलाल बनारसीदास
दिल्ली : वाराणसी : पटना

प्रकाशक—

श्री सुन्दरलाल जैन

© मोतीलाल बनारसीदास

पो० ब० ७५, नेपालीखपरा

वाराणसी

मुद्रक—

सोभालराम

गौरीशंकर प्रेस,

वाराणसी

प्रथम संस्करण, १९६२ ई०

विषय-सूची

खण्ड १—आरम्भ से ई० पू० ६०० ई० तक

खण्ड २—६०० ई० पू० से ३०० ई० तक

खण्ड ३—३०० ई० से १२०० ई० तक

भूमिका

१. प्राकृतिक विशेषताएँ

भारत उत्तर में हिमालय तथा दक्षिण, पूरब और पश्चिम में समुद्र से घिरा हुआ है और उत्तर-पश्चिम में पर्वत बाहुएँ हिमालय की मुख्य शृङ्खला को समुद्र के साथ जोड़ती हैं।

इस प्रकार भारत चारों ओर से सुरक्षित है। किन्तु यह न समझना चाहिए कि कठिन अवरोधों के कारण भारत संसार के अन्य देशों से एकदम अलग था।

भारत की प्राकृतिक सीमाएँ

यद्यपि हिमालय सदृश अभेद्य सीमा प्रकृति ने किसी अन्य देश को प्रदान नहीं की है तथापि उसमें तिब्बत से नेपाल आने के लिए ऐसी सड़कें हैं जिनसे होकर युगों तक संस्कृति और धर्म के शान्तिपूर्ण दूत ही नहीं आते-जाते रहे वरन् कुछ अवसरों पर भयंकर शत्रु सेनाएँ भी गुजरीं। इसके अतिरिक्त उत्तर-पश्चिम के पहाड़ी दर्रे हैं, जो युगों से भारत और उसके बाहर के देशों के बीच यातायात के मार्ग रहे हैं।

हिन्दुकुश के आर-पार अनेक दर्रे हैं। इस पर्वतशृङ्खला के इस ओर से होकर आने वाला अति प्रचलित मार्ग काबुल घाटी से होकर आता है और खैबर दर्रे से होता हुआ पेशावर में उतरता है। यह एक टेढ़ा-मेढ़ा और तंग २० मील लम्बा रास्ता है। दूसरा सुप्रसिद्ध मार्ग हेरात से कंधार तक आता हुआ बोलन दर्रे से होकर सिन्धु की घाटी में निकलता है। पश्चिम से आने वाला एक अन्य मार्ग मकरान के दुर्गम किनारे से निकलता है। इतिहास में अनुल्लिखित आक्रमणों और आगमनों को छोड़ ऐतिहासिक काल में आर्यों के हिन्दूकुश पार कर आने के समय से लेकर इन चार हजार वर्षों के भीतर औपनिवेशिकों, व्यापारियों और विजेता शत्रुओं के असंख्य समूह इन दर्रों से होकर आये और गये।

उत्तर-पूर्वी शृङ्खला में उल्लेखनीय दरार वह है जिसके द्वारा ब्रह्मपुत्र नदी भारत में प्रवेश करती है। उससे होकर सभी युगों में लोग आते-जाते रहे होंगे किन्तु ज्ञात और लिखित घटनाएँ इनी-गिनी ही हैं। उनसे दक्षिण की पहाड़ियाँ घने जङ्गलों से ढकी हैं और उन्हें पार करना कठिन होते हुए भी कभी कभी व्यापारी, धर्मदूत और शत्रु भी उनसे गुजरे।

साहसी आर्यों के लिए तो समुद्र भी कभी अवरोध सिद्ध नहीं हुआ। आरम्भ से ही वे समुद्र पारकर दूर और निकट के द्वीपों और देशों के संपर्क में आते रहे। किन्तु आक्रमण की दृष्टि से प्राचीन काल में नौ सेना के बहुत सफल साधन न होने के कारण सामुद्रिक आक्रमणों से भारत प्रायः सुरक्षित था। इस प्रकार भारत की प्राकृतिक सीमाएँ सुरक्षा प्रदान करते हुए भी आक्रमणों से सर्वथा उसे मुक्त नहीं रख सकतीं थी और यद्यपि उन सीमाओं ने शेष एशिया से भारत को पृथक्

कर यहाँ के निवासियों को अपना एक निश्चित निजत्व प्रदान किया तथापि उनके कारण भारत शेष संसार से एकाकी न था।

इन सीमाओं के भीतर भारत का क्षेत्रफल लगभग डेढ़ लाख वर्गमील है, जो क्षेत्र में रूस को छोड़कर सारे यूरोप के बराबर है! इसके तट की लंबाई ३००० मील से अधिक तथा उसके पर्वतीय अवरोधों की लंबाई उसकी क्षेत्रफल आधी है। उसकी जनसंख्या लगभग ४० करोड़ है।

देश के प्राकृतिक स्वरूप में काफी भिन्नतायें पायी जाती हैं। संसार की सबसे ऊँची चोटी सहित उसमें अगम्य पर्वत शृङ्खलायें, नीचे उपजाऊ मैदान, ऊँचे पठार, गहन जंगल, एकान्त घाटियाँ और सूखे रेगिस्तान हैं। उसमें जहाँ अत्यन्त गर्म मैदान है तो अत्यन्त ठंडे पर्वतीय आश्रय भी हैं। प्राकृतिक विशेषताओं की इन भिन्नताओं की बराबरी में ही जाति, धर्म और भाषा की भी भिन्नतायें हैं। बिना किसी अतिशयोक्ति के यह कहा जा सकता है कि अकेले भारत में इन विशेषताओं के जितने प्रकार हैं उतने समूचे यूरोप में भी नहीं हैं। इस प्रकार भारत को उस अर्थ में एक देश नहीं कह सकते जिस अर्थ में हम फ्रांस अथवा जर्मनी सदृश आधुनिक यूरोपीय देशों को समझते हैं। उसे एक महाद्वीप और उसके विभिन्न प्रान्तों को अनेक अलग २ देश मानना अधिक तर्कसङ्गत होगा। उसके लिए इधर कुछ दिनों से उपप्रायद्वीप शब्द का जो प्रयोग होने लगा है वह एक अच्छा नामकरण है और इसके इतिहास के अध्ययन में इस बात को पूर्णतः ध्यान में रखना अच्छा होगा। उदाहरणतः, भारतीय इतिहास में उस एकता को खोजना अनुचित होगा जो फ्रांस अथवा इटली जैसे देशों के इतिहास में पाई जाती है। इस प्रकार की एकता मगध, गौड़, कोशल, शूरसेन (मथुरा), अवन्ति और कर्णाट सदृश राज्यों में ही पाई जा सकती है, जिनमें से प्रत्येक क्षेत्रफल एवं जनसंख्या में अनेक यूरोपीय देशों के समान है। मौर्यों अथवा उनके उत्तराधिकारियों के अधीन भारत अथवा उसके अधिकांश भाग के एकीकरण की तुलना आधुनिक यूरोपीय राज्यों अथवा मिस्र, असीर काबुल और इटली के राज्यों के निर्माणक्रम से नहीं की जा सकती। उसकी तुलना तो शार्लमेन पञ्चम, चार्ल्स चौदहवें, लुई और नेपोलियन की साम्राज्यवादी महत्त्वाकांक्षाओं के फलस्वरूप निर्मित विशाल किन्तु अस्थायी साम्राज्योंसे ही होसकती है।

आधुनिक इतिहासकार अंग्रेजों राज द्वारा स्थापित शान्तिमय साम्राज्य और प्राचीन भारतीयों के इस दिशा में किये गये असफल प्रयत्नों के बीच के वैषम्य पर जोर देते नहीं अघाते। वे इस बात को भूल जाते हैं कि प्राचीन भारत की चर्चा करते समय वे उस युग की चर्चा करते हैं जब कि आधुनिक विज्ञान के आविष्कारों के द्वारा समय और दूरी का भेद मिटा नहीं था। इतिहास पर भौतिक परिस्थितियों

का प्रभाव किस प्रकार पड़ता है, इसका स्पष्टीकरण एक उदाहरण द्वारा किया जा सकता है। आज दक्षिण भारत में होने वाले किसी दंगे की सूचना दिल्ली स्थित सरकार के पास तीन मिनट से कम समय में पहुँच जायेगी और उतने ही दिनों के भीतर पर्याप्त सेना भी पहुँचाई जा सकती है। किन्तु यदि वही उपद्रव अशोक के समय में हुआ होता तो उसकी सूचना पाटलिपुत्र तीन मास से कम समय में न पहुँच पाती और कम से कम उसका दूना समय आवश्यक सेना भेजने में भी लगता।

भारतीय इतिहास को समझने के लिए इन तथ्यों को अच्छी तरह ध्यान में रखने की सर्वोपरि आवश्यकता है। ऐसा न करने के फलस्वरूप ही इतिहासकारों ने बहुधा निर्णय सम्बन्धी भूलें की हैं। उदाहरणतः भारत के बाहर अभियान का कोई लिखित प्रमाण न मिलने के कारण उन्होंने यह समझ लिया कि भारतीय साहसी नहीं थे और उनमें सैनिक योग्यता का अभाव था। यह बात भुला दी जाती है कि भारत के सैनिक अभियानों के लिए उसका अपना उपप्रायद्वीप तथा बृहत्तर भारत, हिन्द चीन तथा प्रशान्त द्वीप समूह ही इतने विस्तृत क्षेत्र थे कि उसके बाहर जाने का लोभ उन्हें हो ही नहीं सकता था। मिस्रियों, असीरियों, अथवा काबुल निवासियों द्वारा शासित बड़े से बड़े साम्राज्य भी प्राचीन काल में हिन्दुकुश और हलमुंद तक ही फैले थे और वे भारत और उसके पूरब के औपनिवेशिक साम्राज्य के विस्तार से कहीं कम ही थे। पारसीक और रोमक साम्राज्य एवं स्वल्प काल के लिये सिकन्दर द्वारा विजित प्रदेश इस बृहत्तर भारत के बराबर अथवा उससे कुछ ही बड़े थे। चौदहवें लुई और नेपोलियन के साम्राज्य तो उसकी विशालता की तुलना में नगण्य ही थे।

उपरोक्त की महत्ता

आन्तरिक प्राकृतिक स्वरूप के सम्बन्ध में सबसे उल्लेखनीय मध्य में स्थित पर्वतमालायें हैं। वे ऐसी प्रभूत सीमायें हैं जो उत्तर भारत और दक्षिण को अलग करती हैं। उसमें दो समानान्तर पर्वत शृङ्खलाएँ हैं—उत्तर में विन्ध्य, जिनमें भनरेर और कैमूर पर्वत शृङ्खलाएँ सम्मिलित हैं, तथा दक्षिण में सतपुड़ा जिसके साथ महोदय और मेकल पर्वत सम्मिलित हैं। इन दोनों के बीच एक पतली घाटी है जिसमें होकर नर्मदा बहती है। इस नदी एवं पर्वत और इस प्रदेश के घने जंगलों तथा छोटा नागपुर ने यातायात इतना कठिन बना दिया कि उत्तर और दक्षिण के निवासियों में सदैव एक स्पष्ट भेद रहा और दोनों भागों का इतिहास साधारणतः स्वतन्त्र रूप से ही विकसित हुआ, यद्यपि समय २ पर दोनों के बीच सम्पर्क भी होते रहे हैं।

आन्तरिक प्राकृतिक स्वरूप

विन्ध्य के उत्तर के भाग में पूर्व और पश्चिम दोनों में उपजाऊ मैदान हैं, जिनके बीच राजपूताना का रेगिस्तान है। रेगिस्तान के पश्चिम के मैदान में सिन्धु और पूरब के मैदान में गंगा समूह की नदियों द्वारा सिंचाई होती है। ये दोनों और उनकी सहायक नदियाँ यातायात के सुगम साधन रहो हैं और इस कारण अतिप्राचीन काल से ही उनके किनारों पर सभ्यता के उन्नतिपूर्ण केन्द्र रहे हैं। राजपूताना के रेगिस्तान और हिमालय की शृङ्खला के बीच जो एक पतली सी पट्टी है, वह इन दोनों मैदानों को मिलाती है तथा यह हिन्दुस्तान के भीतर प्रवेश करने को चेष्टा में पश्चिम से आनेवाली किसी भी सेना को रोकने में अत्युत्तम प्रतिरोधक स्थल है। यह कोई आकस्मिक मात्र बात नहीं थी कि इस प्रदेश में पानीपत और तलावाड़ी के सुप्रसिद्ध मैदानों में अनेक भारत की भाग्य-विधायक लड़ाइयाँ लड़ी गयीं।

उत्तरी भारत

मध्यवर्त्ती पर्वतों के दक्षिण स्थित भारत का भाग एक त्रिभुजाकार प्रायद्वीप है जो धीरे-धीरे नीचे की ओर इतना पतला होता गया है कि भारत के दक्षिणी छोर कन्याकुमारी, के पास प्रायः एक विन्दु जैसा बन गया है। उत्तर-पश्चिम और उत्तर-पूर्व से निकलती हुई समुद्री किनारों को पकड़ कर जाती हुई पतली पट्टियाँ वहाँ पहुँचकर मिल जाती हैं और क्रमशः मलावार और चोर मंडल नाम से प्रसिद्ध हैं। यद्यपि दोनों किनारों पर आधुनिक जहाजरानी के उपयुक्त बहुत ही कम बन्दरगाह हैं तथापि पश्चिमी किनारे पर जहाजों के लंगर डालने लायक ऐसे सुरक्षित स्थान हैं जो भारत के भीतरी और बाहरी व्यापार के अच्छे द्वार रहे हैं।

दक्षिणापथ और दक्षिण भारत

पश्चिम का समुद्रतटीय प्रदेश एक ऐसी नम नीची भूमि है, जिसके किनारों पर अनेकानेक सीधी और कठिन पहाड़ियों से निर्मित पश्चिमी घाट हैं। वे उत्तर में एकाएक दो हजार मील की ऊँचाई से उठते हैं और दक्षिण की ओर बढ़ते हुये उनकी ऊंचाई इतनी बढ़ती जाती है कि नीलगिरि में वह एक चोटी पर आठ हजार सात सौ फुट से भी अधिक हो जाती है। वहाँ उनमें पूर्वी घाट भी मिल जाते हैं जो पूर्वी किनारों से आते हुये पहाड़ियों की कुछ नीची चोटियाँ हैं। वहाँ से वे तुरत दक्षिण में एक अन्तराल छोड़ते हुये कन्याकुमारी तक जाते हैं तथा अन्नेमुदी पहाड़ी पर उनकी ऊँचाई ८८०० फीट से भी अधिक हो जाती है। उपर्युक्त अन्तराल उत्तर से दक्षिण के बीच लगभग २० मील चौड़ा समुद्र की सतह से लगभग एक हजार फीट ऊँचा है एवं एक किनारे से दूसरे किनारे तक जाने के लिये एक सुगम मार्ग प्रस्तुत करता है। पश्चिमी और पूर्वी घाटों के बीच दक्षिण का वह चौड़ा पठार है जो पश्चिम से पूर्व की ओर क्रमशः नीचा होता गया है।

पश्चिमी घाटों से निर्मित इसका पश्चिमी छोर एक बहुत ही ऊँची ऐसी दीवार की तरह दीखता है जो अरब सागर के अभिमुख उसके ही समानान्तर कभी कभी तो लगभग ५० और १०० मीलों के बीच की दूरी पर परन्तु कहीं कहीं पाँच अथवा उससे भी कम की दूरी पर दौड़ती है। परन्तु पूर्वी घाट पूर्वी समुद्र की ओर धीरे धीरे गिरते जाते हैं और उनके तथा समुद्र के बीच मैदान पश्चिम की अपेक्षा अधिक चौड़े हैं। कृष्णा और उसकी सहायक तुंगभद्रा उस पठार को ऐसे दो भागों—दक्षिणापथ और सुदूरदक्षिण—में बाँटती हैं जिन्होंने इतिहास में भिन्न भिन्न परन्तु महत्वपूर्ण योगदान किया है। उस प्रदेश की अन्य दो नदियाँ और समूह है उत्तर में गोदावरी और दक्षिण में कृष्णा।

सिंचाई के सुगम साधनों से युक्त उपजाऊ मैदानों के कारण भारत संसार का सबसे धनिक कृषक देश बन गया। लकड़ी के घने जंगलों और भूगर्भ में छिपी खानों से उद्योग और उत्पादन को प्रोत्साहन मिला। यातायात के योग्य बड़ी नदियों एवं अच्छे बन्दरगाहों से युक्त विस्तुत समुद्र तट के फलस्वरूप आन्तरिक और विदेशी व्यापार का विस्तार हुआ और भारतीय उत्पादन की वस्तुएं सारे सभ्य संसार में पहुँची। सर्वोपरि, सोना, मणि एवं मोती तथा अन्य बहुमूल्य पत्थरों का यहाँ की भूमि में बाहुल्य है। इन सारे कारणों ने भारत को संसार में सबसे धनिक देश बना दिया। भारत का धन संसार में कहावतों का विषय बन गया और उसने पर्वतीय क्षेत्रों के पार से लालची आक्रमणकारियों को ललचाया। इस प्रकार देश की उपजाऊ भूमि और उसकी सम्पत्ति अप्रत्यक्ष रूप से उसके पतन और ह्रास का कारण भी बनी। इन्हें बहुधा इसके अधःपतन का प्रत्यक्ष कारण भी कहा जाता है क्योंकि उसके कारण लोग आलसी बन गये और बड़ी सरलता से विदेशी आक्रमणों के शिकार हो गये। किन्तु यह इतना स्वयंसिद्ध नहीं है जितना मान लिया गया है। भारतीय सैनिकों ने प्रायः अपनी वीरता और दृढ़ता के लिए ख्याति प्राप्त की और उनकी पराजय के कारणों को किन्हीं अन्य दिशाओं में ढूंढ़ना होगा।

भारत प्रकृति के असीमित और मनोरम सौंदर्य के धन से विशेषतः धनी है। उसने भारतीय मस्तिष्क को एक ऐसा दार्शनिक और कवित्वमय मोड़ दिया कि धर्म, दर्शन, कला और साहित्य में यहाँ उल्लेखनीय उन्नति हुई।

प्राकृतिक विशेषताओं का देश की सभ्यता पर प्रभाव

परन्तु जहाँ जीवन-यापन के सुगम साधनों के फलस्वरूप इनका विकास हुआ वहीं प्रकृति के साथ एक कठिन संघर्ष का अभाव प्रकृति के रहस्यों की खोज की भावना के विकास के विरुद्ध सिद्ध हुआ और व्यवहारिक विज्ञान की उन्नति नहीं हुई। संक्षेपतः भारत के बौद्धिक विकास की सभी विशेषताएँ उसके प्राकृतिक वातावरण को ध्यान में रखते हुए ही समझाई जा सकती हैं।

२. भारतीय इतिहास के स्रोत

भारतीय संस्कृति का एक गुरुतम दोष रहा है भारतीयों को इतिहास लिखने के प्रति विरक्ति, जिसकी कोई बौद्धिक व्याख्या नहीं की जा सकती। उन्होंने साहित्य की प्रत्येक सम्भव शाखाओं की ओर ध्यान दिया और अनेक में उन्होंने विशेषतायें भी प्राप्त कीं किन्तु इतिहास लिखने का उन्होंने कभी गम्भीर प्रयत्न नहीं किया। बहुधा प्रसारित किया जाने वाला यह मत कि भारतीयों में ऐतिहासिक बुद्धि का सर्वथा अभाव था, मानना कठिन है। जो कुछ ऐतिहासिक ग्रन्थ, नेपाल, गुजरात, काश्मीर और अन्यान्य स्थानों के स्थानीय इतिवृत्त और बहुसंख्यक अभिलेख प्राप्त हुए हैं, वे इस विचार को मिथ्या सिद्ध करते हैं। फिर भी यह बात तो है ही कि भारतीयों ने अपने देश की सार्वजनिक घटनाओं को उचित रूप से अंकित करने के प्रति एक अद्भुत उदासीनता प्रकट की।

इतिहास का अभाव

पुराणों और महाकाव्यों में ऐतिहासिक तथ्य संक्षिप्त रूप में सुरक्षित हैं। उनमें राजाओं की सूची और यदा-कदा उनके कार्यों के उल्लेख भी पाये जाते हैं किन्तु बिना बहिरंग उपायों के उन्हें तिथिबद्ध अथवा क्रमांकित करना असम्भव है। ऐतिहासिक घटनाओं और परम्पराओं के उल्लेख पुस्तकों में भी बिखरे पड़े हैं और साहित्य के विभिन्न अङ्गों—लौकिक एवं धार्मिक—यहाँ तक कि पाणिनि और पतंजलि के व्याकरण ग्रन्थों से भी महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक सूचनाएँ मिलती हैं। ऐतिहासिक महान् पुरुषों के जीवन-चरित्र इस दृष्टि से बड़े काम के हैं और सौभाग्य से हमें अनेक जीवनवृत्त उपलब्ध हैं यथा—बाणभट्ट कृत हर्षचरित, बिल्हणकृत विक्रमांकदेवचरित, पद्मगुप्त कृत नवसाहसांक चरित सन्ध्याकरनन्दिकृत रामचरित, बल्लाल कृत भोजप्रबन्ध, वाक्पतिराज कृत गौड़-वहो, जयसिंह और हेमचन्द्र कृत कुमारपालचरित, नयचन्द कृत हम्मीरकाव्य, चन्दबरदायी कृत पृथ्वीराजचरित और अनामांकित पृथ्वीराज विजय। १२ वीं शताब्दी में कल्हण द्वारा लिखित राजतरंगिणी ही वास्तविक अर्थों में अकेला ऐतिहासिक ग्रन्थ है, जिसमें आरम्भ से ग्रन्थ की रचनाकाल तक का काश्मीर का इतिहास मिलता है। किन्तु वह एक व्यवस्थित ऐतिहासिक स्वरूप ७ वीं शताब्दी से ही प्राप्त करता है। उसके पूर्व के अध्याय उलझी हुई अनुश्रुतियों एवं कल्पनाओं की एक खिचड़ी हैं।

इतिहास के साधन

१—साहित्य

संस्कृत की तरह तमिल साहित्य भी दक्षिण भारत के इतिहास के लिये एक महूमूल्य स्रोत है। संगम युग का साहित्य ईसवी संवत् के प्रारम्भिक शतकों के

राजाओं और राज्यों के बारे में काफी प्रकाश डालता है। कुछ राजदरबारी कवियों ने अपनी कविताओं का नायक अपने आश्रयदाता राजाओं को ही बनाया। उसका एक अच्छा उदाहरण है नन्दिक कलम्बकम्, जिसका नायक है पल्लवराज नन्दिवर्मन् तृतीय। कुलोत्तुङ्ग प्रथम के द्वारा कलिंग के आक्रमण का वर्णन करने वाले कलिंगत्तुपराणि जैसे कुछ अर्ध-ऐतिहासिक ग्रन्थ भी हैं। ओट्टकूत्तन ने लगातार शासन करनेवाले तीन शासकों--विक्रम चोल, कुलोत्तुङ्ग द्वितीय और राज-राज द्वितीय---पर तीन पुस्तकें लिखीं।

संस्कृत और तमिल साहित्य यद्यपि भारत की प्राचीन संस्कृति और सभ्यता का स्वरूप निर्धारण करने में काफी उपयोगी हैं, तब भी देश के इतिहास-निर्माण में वे पूरी सहायता नहीं करते। फलतः १९ वीं शताब्दी तक इस दिशा में हमारा ज्ञान बहुत ही अपूर्ण था। उस समय अन्य प्रकार के प्रमाणों की सहायता से अनेक अधिकांशतः योरोपीय विद्वानों ने अपनी प्रतिभा एवं धैर्यशील मिहनत के द्वारा उसमें काफी वृद्धि की। इन नये प्रमाणोंपर ही भारतीय इतिहास का हमारा आज का ज्ञान निर्मित है। अतः आवश्यक है कि उसके स्वरूप को सही सही समझा जाय।

पुरातत्त्व

प्राथमिक महत्त्व का है पुरातात्विक प्रमाण। इसके अन्तर्गत सिक्के, अभिलेख एवं अन्य प्राचीन अवशेष आते हैं। अभिलेख समसामयिक होने के कारण विश्वस-नीय प्रमाण हैं और उनसे हमें सबसे अधिक सहायता मिली है। उनसे हमें राजाओं के नाम और कभी-कभी उनकी तिथियाँ तथा अन्य आवश्यक विवरण भी प्राप्त हुए हैं और उन्होंने कितनी ही इतिहास को महत्त्वपूर्ण घटनाएँ भी अंकित की हैं। सिक्कों में कुछ और राजाओं के नाम सुरक्षित हैं और उनसे उनके राज्य-क्षेत्र का पता लगता है। वास्तु अवशेष प्राचीन भारतीयों की कला-कुशलता के अमर साक्षी हैं और वे इतिहास के विभिन्न युगों के धन और वैभव की गवाही देते हैं। उनके द्वारा जन-संस्कृति को समझने को एक ऐसी अन्तर्दृष्टि मिलती है जो केवल पुस्तकीय ज्ञान से सम्भव नहीं है। तक्षशिला की खुदाई ने हमारे सामने प्राचीन भारत के नागरिक जीवन का एक ऐसा चित्र उपस्थित कर दिया है जो किसी पुस्तक से नहीं जाना जा सकता। कभी-कभी पुरातात्विक खुदाईयाँ सभ्यता के अज्ञात युगों को प्रकट करती हैं, जैसे---सिन्धु घाटी की सभ्यता, जिसका उल्लेख आगे होगा।

विदेशियों के वृत्तान्त

प्राचीन भारतीय इतिहास की जानकारी के लिए हम विदेशियों के बहुत अंश तक ऋणी हैं। भारत के उल्लेख विदेशी अभिलेखों; जैसे दारयवहु (डेरियस) के अभिलेख, और विदेशी साहित्य यथा---हिरोदोत के इतिहास में हुये हैं। किन्तु सबसे बड़ी बहुमूल्य देन तो उन विदेशियों की है जो इस देश में आये थे। सिकन्दर के भारतीय अभियान के समय एवं उसके पश्चात् भारतीय दरबार

में राजदूत के रूप में आने वाले यवनों ने इस देश का विस्तृत विवरण लिखा है। यद्यपि उनकी लिखी अधिकांश पुस्तकें आज खो गई हैं, तथापि उनका सार

यूनानी

परवर्ती यवन लेखकों के विवरणों में सुरक्षित है। मेगस्थनीज कृत 'इण्डिका' तुरमय (यल्मी १३० ई०) कृत 'भारत का भूगोल' और 'दी पेरीप्लस ऑफ् दी एरिथ्रियन सी' नामक पुस्तकें इस सम्बन्ध में विशेष उल्लेखनीय हैं। अन्तिम पुस्तक में भारत के व्यापार और नौवहन का बहुमूल्य विवरण एक किसी अज्ञात यवन ने उपस्थित किया है, जो पहली शताब्दी ई० में भारत आया था।

परवर्ती काल में धार्मिक पुस्तकों के संग्रह एवं बौद्ध तीर्थों की यात्रा करने चीनी यात्री बहुत बड़ी संख्या में भारत आये। उनमें से फाहियान (५वीं शताब्दी

चीनी

ह्वेनसांग (७ वीं शताब्दी) और इत्सिग (७ वीं शताब्दी) ने अपने समय के भारत के महत्त्वपूर्ण वृत्तान्त लिखे हैं।

मुसलमान

सुल्तान महमूद के साथ आने वाले मुसलमान यात्री अलबेरूनी ने भारतीय, साहित्य, धर्म और सामाजिक संस्थाओं का ध्यानपूर्वक अध्ययन किया था। उसके भारत के संस्मरण अपने युग की अद्भुत उपज हैं और उससे भारतीय इतिहास के ह्रासोन्मुख काल पर प्रकाश की वर्षा सी होती है। १२९२ और १२९४ ई० के बीच में चीन से ईरान जाते हुये दक्षिण भारत के कुछ भागों से वेनिस का यात्री मार्कोपोलो गुजरा था। उसने दक्षिणी भारत की प्रथाओं और सामाजिक दशाओं का एक रुचिकर वृत्तान्त लिख छोड़ा है। ई० से पूर्व की ३ री सहस्राब्दी से भारत की विकसित सभ्यता और संस्कृति पर कुछ प्रकाश डालना और ७ वीं शताब्दी ई० पू० से १२०० ई० तक के भारतीय इतिहास की रूपरेखा तैयार कर सकना इन सभी सामग्रियों के उपयोग से सम्भव हो सका है। इसमें सन्देह नहीं कि अभी उसमें रंग भरना शेष है, किन्तु अब तक जो सफलता मिली है वह भविष्य के लिये प्रोत्साहन देती है। कुषणों को छोड़कर अन्य सभी राजवंशों का कालक्रम प्राय: एक सन्तोषजनक निश्चयात्मकता तक स्थिर किया जा चुका है और भारतीय संवतों की तिथियाँ निर्धारित हो चुकी हैं। इस प्रकार आरम्भिक कार्य बहुत कुछ पूर्ण हो चुका है। अब तक प्राप्त परिणामों का संक्षिप्त सिंहावलोकन आगे के पृष्ठों में करना अभीष्ट है। उनसे यह भी ज्ञात हो सकेगा कि किन दिशाओं में अभी हमारी जानकारी सबसे कम है।

खण्ड १

आरम्भ से ई० पू० ६०० ई० तक

प्राचीन भारत

पहला अध्याय

प्रागैतिहासिक युग—आदिम मनुष्य और उसके साधन

इतिहास मनुष्य की सफलताओं का वृत्तान्त है। किन्तु अन्य देशों की भाँति ही भारत के आदि मानव निवासियों के सम्बन्ध में अत्यल्प सामग्री उपलब्ध है। अब यह प्रायः स्वीकृत है कि भारत के आदिम मनुष्यों के चिन्ह पञ्जाब में—सिन्धु और झेलम नदियों के बीच के प्रदेश में—पाये गये हैं और वे प्रथम अन्तर-हिमानी समय के अन्त और द्वितीय हिमयुग के आरम्भ अर्थात् पाँच लाख वर्ष पूर्व के हैं। यह बात शिवालिक की निचली पहाड़ियों, उत्तर-पश्चिम पंजाब के मैदानों तथा पूँच और जम्बू में पत्थरों के बीच दबे इस युग के बड़े प्रास्तरिक फांकों से प्रमाणित होती है। इसी प्रकार दूसरे और तीसरे अन्तर-हिमानी समय और चौथे हिमयुग के मनुष्यों का अस्तित्व प्रयोग में आनेवाले हथियारों और नित्यकार्य के औजारों—पत्थर के टुकड़ों, फांकों और शंखनिर्मित—से प्रमाणित होता है। जहाँ वे मिले हैं उनके आधार पर कहा जा सकता है कि उनकी नयी बस्तियाँ उत्तर भारत के राजपुताना, गुजरात, नर्मदा की उपरली घाटी, बंगाल, बिहार और उड़ीसा तथा समूचे दक्षिणापथ और दक्षिण भारत में थीं। संक्षेप में गंगा की घाटी को छोड़कर भारत के सभी भागों में वे रहते थे। कुछ लोगों की धारणा है कि भारत के आदिम मनुष्य का जन्म दक्षिण भारत में हुआ और वह पंजाब की ओर प्रथम हिमयुग के अन्तिम चरण में गया।

आदि मानव

इस दीर्घ काल में मनुष्य पत्थर के जिन बहुतेरे औजारों का उपयोग करता था वे विभिन्न प्रकार के हैं और यूरोप के पूर्व-पाषाण-युग के औजारों से मिलते जुलते हैं। अतः भारत में इस युग को पूर्व पाषाणयुग (पैलियोलिथिक एज) कह सकते हैं। इस युग के मनुष्य सभ्यता की अति आदिम अवस्था में थे। वे धातुओं का उपयोग नहीं जानते थे और न खेती करने का ही उन्हें कुछ ज्ञान था। सम्भवतः वे आग जलाना भी नहीं जानते थे और वे पेड़ के फलों तथा अपने प्रास्त-

पूर्व पाषाण युग

रिक साधनों से मारे हुए पशुओं और मछलियों पर निर्वाह करते थे। वे प्राकृतिक गुहाओं में रहते और किसी प्रकार के मकान अथवा मकबरे आदि नहीं बनाते थे।

पूर्व पाषाण युग के बाद की संस्कृति को मध्य-पाषाण युग (पैलियोलिथिक एज) कहा गया है। प्राचीन पाषाणयुग के लोग बिल्लौरी पत्थर (Quartzite) के हथियार बनाते थे। इस युग के लोगों के हथियार सूर्यकान्त

मध्य पाषाण युग

और सिन्दूर-वर्ण के पत्थरों के पाये जाते हैं। ये पत्थर के औजार अत्यन्त छोटे-लम्बाई में केवल एक इञ्च के बराबर—हैं और उनके बनाने का ढंग भी एक दमभिन्न है। इन औजारों को सूक्ष्म पाषाण औजार (माइक्रोलिथिक इम्लीमेण्टस्) कहा गया है और ये सारे भारत में पाये जाते हैं। इन औजारों का उपयोग करनेवाले मनुष्य भी अपने पूर्वजों की भाँति मुख्यतः लुब्धक थे और जंगली जानवरों के शिकार पर निर्वाह करते थे। वे जंगली फल और कन्दमूल भी खाते थे। सम्भवतः आगे चलकर मिट्टी के बर्तन बनाने की कला भी उन्हें मालूम हो गयी।

मध्य पाषाण युग अपने नाम के अनुरूप ही संस्कृति के अगले उत्तर पाषाण युग (नियोलिथिक एज) एवं पूर्व पाषाण युग के बीच की कड़ी था। पूर्व युगों की तुलना में औजारों की संख्या बढ़ गई जिनमें चकफलक कुल्हा-

उत्तर पाषाण युग

ड़ियां, छोटी और बड़ी छीनियां, टांगे-टांगियां, हथौड़े, गदा शीर्ष, तीर-शीर्ष, फलक और आरे मुख्य थे। वे गाढ़े हरे रंग के महीन दानों के पत्थरों के हैं। कृष्णवर्ण लौह प्रस्तर, स्लेट, बालूयुक्त प्रस्तर और स्फटिक जब तब प्रयोग में आते थे। इस युग के हथियारों के समूचे भागों अथवा किनारों पर पालिश के स्पष्ट चिन्ह पाये जाते हैं जो बात पूर्ववर्ती औजारों में नहीं पायी जाती। साधारणतः ये प्रास्तरिक औजार घिसे हुए, दांतेदार और पालिसदार होते थे। आगे चलकर ये विभिन्न उपयोगी के निमित्त विभिन्न ढंग के और खूब अच्छी महीनी से बनाये जाने लगे। इन्हें बनानेवाले लोगों की सभ्यता काफी विकसित हो चुकी थी। उन्होंने घर बनाये, पशुओं को पालतू किया और भूमि पर खेती की। वे आग उत्पन्न करना जानते थे। उन्होंने मिट्टी के बर्तन गढ़े और अपने मुर्दों के लिए समाधियां बनायीं, जिनमें से कुछ इन दिनों प्रकाश में आयी हैं। सम्भवतः चित्रकारी का भी कुछ उन्हें ज्ञान था[1]।

---

१ यह सामान्य धारणा है, किन्तु कुछ विद्वान् नव पाषाण स्थानों में प्राप्त सभी प्रस्तर चित्रों के शुद्ध नव-प्रस्तर युग के होने में सन्देह करते हैं।

संसार के अन्य देशों की भांति ही भारत में भी नव पाषाण युग के बाद धातु का उपयोग करनेवाली संस्कृति का युग आया। ताँबा अथवा काँसा ही सर्वप्रथम ज्ञात होनेवाली धातुयें हैं। इनकी बनी कुल्हाड़ियाँ, तलवार कटार, हार पून और अंगूठियों के ढेर गंगा-यमुना के दोआब में मुख्य रूप से पाये गये हैं। यह संस्कृति मुख्यतः उत्तर भारत में पनपी। दक्षिण भारत में अब तक ताँबे अथवा काँसे के इने ही गिने हथियार, औजार और बर्तन पाये गये हैं। सामान्यतः समझा जाता है कि लोहे का ज्ञान इस संस्कृति के पिछले युग की बात है। फलतः वह लौह युग के नाममें पुकारा जाता है। यह युग-परिवर्तन बड़े बड़े प्रस्तर-खण्डों के बने हथियारों से ज्ञात होता है जो सारे भारत में छिटके हुए पाये गये हैं। इनमें कुछ ऐसे मिले जुले संग्रह हैं, जिनमें पालिशदार पत्थर के औजार, कार्नेली के मनके, चाक से बने मिट्टी के बर्तन, ताँबे, काँसे और सोने की बनी वस्तुएं और लोहे की मैल के ढोके पाये गये हैं। इससे ज्ञात होता है कि एक सांस्कृतिक स्थिति का दूसरी सांस्कृतिक स्थिति में परिवर्तन, अत्यन्त मन्दगति से हुआ और नयी वस्तुओं की जानकारी के बावजूद भी उन्होंने पुरानी वस्तुओं को एकदम त्याग नहीं दिया।

ताम्र एवं कांस्य युग

लौह युग के साथ हम ऐतिहासिक काल में पहुँच जाते हैं। अभी ४० वर्ष पूर्व तक ताम्र अथवा कांस्य युग की संस्कृति के सम्बन्ध में हमारी जानकारी हथियारों, औजारों और गहनों के माध्यम से ही थी, किन्तु सिन्ध, पंजाब और बलूचिस्तान के अनेक स्थानों में हुई पुरातात्विक खुदाईयों के फलस्वरूप उस युग के नगरों के विस्तृत ध्वंसावशेष प्रकाश में आये हैं। उनसे इस युग की संस्कृति का विस्तृत ज्ञान प्राप्त हुआ है। इनकी चर्चा सिन्धु घाटी की सभ्यता के वर्णन के प्रसंग में की जायेगी।

दूसरा अध्याय

प्रागैतिहासिक मानव---जाति और संस्कृति

(१) जाति-तत्व

पिछले अध्याय में उल्लिखित विभिन्न संस्कृतियों के निर्माताओं के संबंध में जानने की उत्सुकता स्वाभाविक है, किन्तु खेद है कि अभी तक किसी भी संस्कृति के साथ किसी जाति अथवा समाज-विशेष के लोगों का सम्बन्ध जोड़ना सम्भव नहीं हो सका है। अभी तो प्रथमतः केवल मनुष्य की जातियों अथवा रूपों का पता लगाकर यथासम्भव प्रत्येक जाति का विभिन्न सांस्कृतिक युगों के साथ सम्बन्ध जोड़ने का प्रयत्न मात्र किया जा सकता है।

भारत में बसने वाले मनुष्यों की विभिन्न जातियों का निर्धारण करने के निमित्त यह आवश्यक है कि हम उसके वर्तमान निवासियों की शारीरीक विशेषताओं का विश्लेषण करें। इस प्रकार का विश्लेषण अभी तक सफलता-

छह जाति तत्व

पूर्वक नहीं हो पाया है। फलतः उनका परिणाम भी संतोषजनक नहीं कहा जा सकता। इस सम्बन्ध में अभी विद्वानों में घोर मतभेद भी है। नवीनतम प्रामाणिक मत है डाक्टर बी० एस० गुहा का। उनके कथनानुसार भारत के निवासियों में कम से कम छह जाति तत्व पाये जाते हैं।

(१) नीग्रेटो-जाति-तत्व जो अफ्रीका से यहाँ आया। किन्तु अब वह इस देश में निःशेषप्रायः हैं। इनका एक छोटा सा समूह अन्दमान द्वीप में जीवित है और इस जाति के चिन्ह भारत में कोचीन और त्रिवांकुर के कदार और पलयन लोगों तथा आसाम के नागा जातियों एवं कुछ अन्य कबीलों में पाये जाते हैं।

(२) प्रोटोआस्ट्रोलायड-आद्य-आग्नेय प्रकार-जाति पश्चिम से भारत में आयी थी और वह यहाँ के निवासियों के मूल-तत्वों में से एक है। अन्य तत्वों विशेषतः पहले आनेवाली नीग्रेटो और पीछे आनेवाली मंगोलाभ जातियों के साथ इस जाति के मिश्रण से कोल अथवा मुण्डा, आसाम बर्मा और हिन्द चीन के मौन्‌ख्मेरमो और भारतीय द्वीप समूह मलयेशिया और पालेनिशिया में पायी जानेवाली अनेक आदिम जातियों का विकास हुआ।

इन लोगों की बोलियाँ काश्मीर से लेकर सुदूर पूर्व के द्वीपों तक विस्तृत क्षेत्रों में बिखरी हुई हैं और वे आस्ट्रिक नाम से पुकारी जानेवाली भाषा-परिवार की हैं।

(३) मङ्गोलाम जाति दो उपवर्गों में विभक्त है। पैलियो मङ्गोलाम उप-समूह के प्रतिनिधि आसाम, चटगांव की पहाड़ियों तथा भारत-बर्मा की सीमा पर रहते हैं। मङ्गोलाभ का एक अधिक विकसित वर्ग—तिब्बती मङ्गोलाम-उपसमूह अवश्य ही है, जो बहुत पीछे सिक्किम और भूटान में तिब्बत से आया होगा।

(४) भूमध्य सागरी जाति के अनेक उपवर्ग हैं। ये सभी पश्चिम से आये और द्रविड़ भाषा बोलते थे जिनकी प्रतिनिधि हैं तमिल, तेलुगू, कन्नड और मल-यालम।

(५) अल्पाईन, डिनेरिक और अर्मेनायड जो एक ही शारीरिक समूह के उपवर्ग हैं, सम्भवतः मध्य एशिया से यहां आये। वे बङ्गाल, उड़ीसा और गुजरात के निवासियों के मुख्य तत्वों का निर्माण करते हैं। भारत के दक्षिणी प्रायद्वीप एवं कुछ अन्य भागों में भी वे बिखरे हुए हैं।

(६) नार्डिक समूह के लोग आर्य भाषा-भाषी हैं, जिसका प्राचीनतम स्वरूप वेदों में सुरक्षित है।

भारत के वर्तमान निवासियों में इन छहों मानव तत्वों का काफी मिश्रण हुआ है और आज उनमें से कोई भी अपने मूल रूप में नहीं पाया जा सकता। इस मिश्रण के फलस्वरूप जो नये जन-समूह विकसित हुए उन्होंने आस्ट्रिक, तिब्बती-चीनी, द्रविड़ और आर्य इन चार भाषाओं में से किसी एक को अपनाया। दूसरे शब्दों में पहले और पांचवें वर्ग के मनुष्यों की अपनी भाषा आज सुरक्षित नहीं हैं। अकेले इसी बात से सिद्ध होता है कि यह आवश्यक नहीं है कि एक भाषा-भाषी एक ही जाति के हों अथवा एक जाति के लोग एक ही भाषा बोलते हों, यद्यपि सामान्यतः भाषा-सम्बन्धी एकतायें प्रायः समान जाति विकास के परिणाम स्वरूप ही हैं।

अनुमान किया जाता है कि नीग्रेटो लोग पूर्व-पाषाण युग के थे। आद्य आस्ट्रोलॉयड लोगों का तो उत्तर-पाषाण युग में होना निश्चित सा जान पड़ता है। उनकी भाषा के अध्ययन से ज्ञात होता है कि भारत की भौतिक सभ्यता के विकास में उनका बहुत बड़ा योग था। चावल और कुछ महत्वपूर्ण तरकारियों की खेती, ईख से चीनी का उत्पादन, सूती कपड़ों की बुनाई, पान का उपयोग, जीवन और सम्भवतः धार्मिक कृत्यों में हल्दी और कुंकुम का प्रयोग तथा कौड़ी (बीसो) के आधार पर गिनती उन्हीं की देनें हैं। यह भी सुझाया गया है कि इन्हीं लोगों ने पहले-पहल हाथी को पालतू बनाया। भावी जीवन और पूर्व जन्म की भावना

अनेक देवानुभूतिक और धार्मिक कहानियाँ एवं धारणायें बहुत कुछ इन्हीं से प्राप्त हुई हैं।

(२) द्रविड़

भू-मध्य सागरीय लोग बोलचाल की भाषा में द्रविड़ नाम से पुकारे जाते हैं, यद्यपि द्रविण उनके बोलने वाली भाषा का नाम है और उसका कोई नृतात्विक महत्त्व नहीं है। आज द्रविड़ भाषाएँ केवल दक्षिणापथ और दक्षिणी भारत में ही बड़े अंश में बोली जाती हैं किन्तु किसी समय वे सारे उत्तरी भारत में प्रचलित थीं। बलूचिस्तान में बोली जानेवाली ब्राहुई ही उत्तर में बोली जानेवाली आज अकेली द्रविड़ भाषा है और हम उसे नष्ट हो जानेवाले एक विशाल रूप का एकमात्र जीवित अवशेष कहते हैं।

द्रविड़ संस्कृति

द्रविड़ भाषा के प्राचीनतम जीवित नमूनों के विश्लेषण से पता चलता है कि उसके बोलने वाले भू-मध्य सागरीय लोग आद्यआस्ट्रोलॉयड लोगों की अपेक्षा अधिक सुसंस्कृत थे। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती आद्यआस्ट्रोलायडों की ग्राम संस्कृति के विपरीत एक नागर-संस्कृति को जन्म दिया। उन्होंने नागर जीवन को ही नहीं, वरन् अन्तरराष्ट्रीय व्यापार को भी विकसित किया। उन लोगों के अपने राजा होते थे जो सुदृढ़ मकानों में रहते और छोटी २ रियासतों पर राज्य करते थे। निश्चित तो नहीं कहा जा सकता पर अनुमान किया जाता है कि वे लेखन कला भी जानते थे। उनके अपने नियम और प्रथायें थीं और उनमें विवाह प्रथा प्रचलित थी। वे अधिकांश धातुओं और ग्रहों से परिचित थे। वे बर्तन, पोत एवं नाव बनाना जानते थे तथा खेती, कताई-बुनाई और रङ्गाई से वे भली-भाँति परिचित थे। युद्ध में उन्हें आनन्द आता और वे तीर कमान, भाले और तलवार से लड़ते थे। हिन्दुओं के अनेक धार्मिक विश्वास और कर्मकाण्ड, विशेषतः फल, फूल, पत्ती और जल से देव-मूर्तियों की पूजा, सम्भवत उन्हीं से आरम्भ हुई है। कुछ सुप्रसिद्ध हिन्दू देवता भी मूलतः द्रविड़ हो सकते हैं।

आर्य संस्कृति पर प्रभाव

साधारणतः समझा जाता है कि हिन्दू धर्म और संस्कृति में जो कुछ अच्छाई है वह आर्यों की देन है और जो कुछ भी बुरी अपमानकर अथवा अन्धविश्वास युक्त है वह आदिम अनार्य तत्वों के मिश्रण को व्यक्त करती है। यह धारणा निश्चय ही भ्रान्तिपूर्ण है और यह मानना होगा कि आद्यआस्ट्रोलॉयड और द्रविड़ों के भारत में आने पर उनके संसर्ग के कारण आर्य धर्म, विचार और विश्वासों में काफी परिवर्तन हुआ। उनके प्रभाव की सीमा यद्यपि अभी अज्ञात है तथापि हिन्दू

संस्कृति और सभ्यता के समस्त ताने-बाने में निश्चय ही वे निहित हैं और उनकी देन किसी प्रकार भी नगण्य अथवा उपेक्ष्य नहीं है। सम्भवतः कुछ बातों में तो, विशेषतः लौकिक सभ्यता में; द्रविड़-भाषी लोग आर्यों से बढ़े-चढ़े भी थे। जो भी हो, हिन्दुत्व नाम से पुकारे जानेवाले बाद के भारतीय समाज के विस्तृत ढांचे के निर्माण में उन्हें आर्यों का साझीदार समझना चाहिये।

तीसरा अध्याय

सिन्धु-घाटी की सभ्यता

भारत के आदिम निवासियों की संस्कृति के संबंध में पीछे जो कुछ भी कहा गया है वह भाषाशास्त्र के अध्ययन के आधार—उनकी वर्तमान भाषा में जीवित प्राचीनतम शब्दों के अध्ययन के निष्कर्ष—पर ही आश्रित है। यह परोक्ष एवं अत्यन्त संदिग्ध साधन है और किसी प्रकार भी तत्कालीन संस्कृतिका विस्तृत चित्र उपस्थित नहीं करता। किन्तु उनसे सम्बन्ध जोड़े जा सकनेवाले प्रत्यक्ष स्मारकों के अभाव में अधिक कुछ कर सकना सम्भव भी नहीं।

मुहेंजोदड़ों

लगभग चालीस वर्षों पूर्व तक आर्यों के आगमन से पूर्व के भारतीय इतिहास एवं संस्कृति के सम्बन्ध में हमारे पास कोई स्पष्ट और निश्चित प्रमाण नहीं था। आर्यों के साहित्य-वेदों-से ही पहली बार हमें भारत के सामाजिक एवं धार्मिक विचारों तथा आर्थिक एवं राजनीतिक अवस्थाओं का विस्तृत परिचय मिला। फलतः यह अवश्यम्भावी था कि व्यावहारिक दृष्टि से भारत का इतिहास इस काल से ही आरम्भ किया जाय और भारतीय संस्कृति की रूपरेखा का आरम्भ आर्य सभ्यता से हो। किन्तु १९२२-२३ ई० में होनेवाली एक युगनिर्मातृ खोज के परिणामस्वरूप इस धारणा में परिवर्तन हुआ। उस वर्ष सिन्ध के लरकाना जिले में स्थित मुँहें-जोदड़ो नामक एक बड़े टीले के खड़हरों की खुदाई आरम्भ हुई और यथासमय क्रमागत नगरों के अवशेष प्रकट हुए। उनमें से प्राचीनतम नगर का समय अनुमानतः ईसा से २७ सौ वर्ष पूर्व तक आंका जा सकता है। पश्चात् पंजाब के माण्टगोमरी जिले में स्थित हड़प्पा और सिन्ध तथा बलूचिस्तान के अन्य कई स्थानों में हुई खुदाइयों से उस प्रदेश में एक बड़ी संस्कृति के अस्तित्व का पता चला है जिसे ताम्र-पाषाण युगीन (चाल्कोलीथिक) संस्कृति का नाम दिया जा सकता है। उसमें उत्तर-पाषाण और ताम्र-दोनों युगों की विशेषताएँ पायी जाती हैं। इसे अब सामान्यतः सिन्धु-घाटी की सभ्यता कहते हैं। यद्यपि इसका विस्तार इस घाटी के बाहर भी था, तथापि इस सभ्यता के विस्तृत अवशेष सिंधुघाटी में स्थित मुँहें-जोदड़ों और हड़प्पा में ही मिले हैं। इस सभ्यता के चिन्ह जिन स्थानों में सबसे अधिक पाये गये है उनमें से अधिकांश इसी

घाटी में स्थित हैं। इस सभ्यता के अन्वेषण ने हमारी भारतीय इतिहास सम्बन्धी धारणाओं में क्रांतिकारी परिवर्तन कर दिया है। एक ही छलांग में भारतीय सभ्यता की प्राचीनता, अधिक नहीं तो, ३००० ई० पू० तक पीछे खिंच गयी और अब मानव सभ्यता के अग्रणी के रूप में भारत की गणना सुमेर, अक्काद, बाबुल, मिश्र और असीर के साथ की जाती है।

इस छोटी सी पुस्तक में इस प्राचीन सभ्यता के सर्वांगों का पर्याप्त विवेचन सम्भव नहीं है। उसके लिए तो पाठकों को निर्देशसूची में उल्लिखित मुँहें-जोदड़ों और हड़प्पा सम्बन्धी बड़ी और विशिष्ट पुस्तकों का अध्ययन करना चाहिए। यहां तो उसकी विशेषताओं की एक संक्षिप्त रूपरेखा मात्र ही पर्याप्त होगी। यहाँ जो विवरण दिया जा रहा है वह प्रायः मुँहें जोदड़ों से ही सम्बन्ध रखता है, जबतक कोई विपरीत उल्लेख न हो।

ऊपर कहा जा चुका है कि मुंहें-जोदड़ों में क्रमागत कई नगरों के अवशेष पाये गये हैं। ये नगर एक दूसरे के ऊपर बने हुए थे और सिन्धु की बाढ़ अथवा किन्हीं अन्य कारणों से नष्ट हो गये। अब तक सात विभिन्न तहों की खुदाइयाँ हुई हैं। सम्भव है उनसे भी प्राचीनतहें भूमि के नीचे दबी हों। अभी भी जो अवशेष मिले हैं उनसे नगर-निर्माण की अद्‌भुत कुशलता का परिचय मिलता है। नौ से चौंतीस फुट तक विभिन्न चौड़ाइयों की सड़कें नियमित रूप से पंक्तिबद्ध हैं और कहीं कहीं तो आध-आध मील तक सीधी चली गयीं हैं। मुख्य सड़कें तो सूत के समान सीधी बनाई गयी हैं जो समकोणों पर एक दूसरे को काटतीं और नगर को वर्गाकार अथवा आयताकार टुकड़ों में बांटतीं हैं। प्रत्येक टुकड़े लम्बाई अथवा चौड़ाई में गलियों द्वारा विभक्त हैं। आरम्भिक नगरों के भवन इन सड़कों अथवा गलियों को भूमि पर तनिक भी बढ़े हुए नहीं मिलते और प्रत्येक सड़क अथवा गली में थोड़ी थोड़ी दूर पर कुँए और दीपस्तम्भ बने हुए हैं। नगर में पानी बहने के लिये नालियों की विस्तृत व्यवस्था थी जो बड़ी बड़ी पुलियों से होती हुई नदी में जाकर मिलतीं थीं।

नगर-योजना

निवास-गृह विभिन्न आकारों के, बड़े-बड़े राजप्रासादों से लेकर एक दो कमरों तक के, मिलते हैं जो धनी और गरीबों के निवासों को व्यक्त करते हैं। ये मकान एक दम सादे होते थे और उनमें वास्तु की नक्काशी का सर्वथा अभाव है। कलात्मक बनाने की अपेक्षा सुखकर घर बनाने का उद्देश्य ही सम्भवतः इसका एक कारण है। मकानों में स्नानागार और ढकी नालियों की सुव्यवस्था थी। ये नालियां सड़क की नालियों में जाकर गिरतीं थी। ये सभी एवं मकानों की दीवारें अच्छी

मकान

पक्की ईंटों की बनती थीं और आज भी ज्यों की त्यों भली प्रकार से बची हुई खड़ी हैं। आधुनिक स्तर की दृष्टि से भी उनकी बनावट अत्यन्त सराहनीय है। नींव में कच्ची ईंटों का प्रयोग होता था और छतें सपाट लकड़ियों की बनती थीं। खुले आंगन के चारों ओर कमरे होते थे—जो उनकी गृह-योजना की विशेषता है। कुछ मकानों में ऊपरी तल्ला भी था जिनमें लगी खड़ी नालियों से जान पड़ता है कि ऊपर भी स्नानागार थे। अधिकांश मकानों की ऊँचाई की सीध इतनी शुद्ध है कि जान पड़ता है साहुल अथवा वैसे ही किसी अन्य औजार का प्रयोग किया जाता था।

बड़े मकानों में निवास-गृहों को छोड़कर विशेष उल्लेखनीय एक विशाल स्नानागार है, जो १८० फुट लम्बा और १०८ फुट चौड़ा है। उसका स्नान-कुण्ड ही ३९ फुट लम्बा २३ फुट चौड़ा और ८ फुट गहरा है, जिसके चारों ओर बरामदा और उसके पीछे कमरे और गलियारे हैं। चारों कोनों पर चबूतरों से लगी कुण्ड में जाने के लिये सीढ़ियाँ हैं। कुण्ड एक ६॥ फीठ ऊँची नाली द्वारा भरा और खाली किया जाता था। विशाल स्नानागार के पास ही एक विशाल खलिहान था, जो प्रारम्भ में १५० x ७५ फी० विस्तृत तथा माल लादने की सभी सुविधाओं से युक्त था।

विशाल स्नानागार

अन्य सार्वजनिक भवनों के वास्तविक उद्देश्य सर्वदा अच्छी तरह नहीं समझे जा सकते। ८० वर्ग फीट का एक स्तम्भयुक्त हाल है, जिसमें लम्बे गलियारे और छोटी-छोटी बेन्चें बनी हैं। सम्भवतः यह सभाभवन का काम देता था। कुछ अन्य भवनों को पहले तो मन्दिर माना गया था किन्तु अब यह बात संदिग्ध जान पड़ने लगी है। हड़प्पा के सबसे बड़े भवन को बड़ी खत्ती का नाम दिया गया है। वह १६९ फुट लम्बा और १३५ फुट चौड़ा है तथा दो भागों में बँटा हुआ है। बीच में २३ फुट चौड़ा रास्ता है। प्रत्येक खण्ड में छः हाल हैं जिनके बीच पांच गलियारे हैं। हड़प्पा एवं कुछ अन्य स्थानों में सुदृढ़ दुर्ग होने का पता लगा है किन्तु इसका कोई चिन्ह मुँहि-जोदड़ों में अभी तक नहीं मिला है।

नगर के अपार जन समूह को खाद्य पहुँचाने के लिये विस्तृत खेती होती थी। इसका कुछ आभास वहाँ बड़ी संख्या में मिली चक्कियों से मिलता है। खंडहरों में गेहूँ और जौ के जो नमूने मिले हैं वे जंगली किस्म के नहीं हैं और इस बात के द्योतक हैं कि उनकी नियमित खेती होती थी। सम्भवतः चावल भी पैदा किया जाता था। खजूर पैदा होने का प्रमाण वहां पायी गयी उनकी गुठलियों से मिलता है। इनके अतिरिक्त वहाँ के निवासियों के खाद्य फल, तरकारी, दूध, मछली और विभिन्न जानवरों—गाय, भेड़ और सूअर—के गोस्त तथा पक्षी थे।

खाद्य

कपड़ों के वास्तविक नमूने तो नहीं मिले हैं किन्तु वहाँ मिली विभिन्न मूर्त्तियों को देखने से जान पड़ता है कि स्त्री और पुरुषों दोनों के ही वस्त्र दो कपड़ों के होते थे। एक तो धोती की तरह जान पड़ता है, जिससे शरीर का निचला भाग ढका जाता था और दूसरा था उत्तरीय जो दुपट्टे की तरह बायें कन्धे और दायें कांख के नीचे से डालकर ओढ़ा जाता था। दाहिना हाथ उससे मुक्त रह जाता था। पुरुषों के केश लम्बे होते थे, जो अनेक प्रकार से सँवारे जाते थे। स्त्रियाँ पंखे की शकल के शिरोवस्त्रों से अपने बाल ढंकती थी और इस कारण कहा नहीं जा सकता कि वे अपने बाल किस ढंग से संवारती थी।

वस्त्र

आभूषण

स्त्री और पुरुष दोनों ही सोने, चाँदी, ताँबे एवं अन्य ज्ञात धातुओं, शंख के बने गहनों और कुछ बहुमूल्य प्रकार की मणियों यथा—मांसवर्णी, छायान्वित मणि, सूर्यकान्त, वैदूर्य, हरिताश्म तथा नीलवर्णी मटिमणि आदि के बने मनकों का प्रयोग करते थे। बनावट के अनेक प्रकार तथा ऊँची निर्माण कुशलता उनकी विशेषतायें थीं। पुरुष सिरबन्द, हार, अंगूठी, और अंगद पहनते थे और स्त्रियाँ अपने शिरोवस्त्रों के अतिरिक्त कान की बालियाँ, चूड़ी, कंगन, मेखला और पैर के कड़े पहनती थीं। प्रसाधन की वस्तुओं और उनके रखने के हाथी दांत और अन्य धातुओं के बक्सों से ज्ञात होता है कि सौन्दर्य-संस्कृति में मुहें-जोदड़ों की स्त्रियां अपनी आधुनिक बहनों से सम्भवतः बहुत पीछे न थीं। वे सुरमा लगाना और चेहरे को रंगना तथा अन्य प्रकार के प्रसाधन करना जानती थीं। प्रसाधन के काम में आनेवाली धातु की गोल सीकें, लिपिस्टक, कांसे के अण्डाकार आइने, विभिन्न आकार के हाथी-दांत की कंघियां, जिनमें से सम्भवतः कुछ बालों में भी खोंसी जाती थीं, और छोटे-छोटे प्रसाधन के पीठ मोहेजोदड़ों और अन्य स्थानों में मिलें हैं।

फर्नीचर और बर्तन

वहां विभिन्न प्रकार के जो फर्नीचर और बर्तन मिले हैं, वे ऐसी उच्च सभ्यता के द्योतक हैं जिसके विकास में निश्चय ही शताब्दियों लगे होंगे। इनमें रसोईघर के बहुधा सुन्दर ढंग से रंगे हुये घड़ों और घड़ियों जैसे मिट्टी के बर्तन, पत्थर की बनी चकियां, तश्तरियां, और बर्तन रखने की चकिया; तांबे अथवा कांसे की बनी सुइयां, टेकुए, छुरियां कुल्हाड़ियां, आरियां, हँसिया और मछली मारने के कांटे (सुई और तकुए हाथी दांत के भी पाये गये हैं); लकड़ी की बनी कुर्सियां और चारपाइयां, झाऊ के स्टूल; बेंत की चटाइयां; तांबे, शंख और मिट्टी के दीपक, मोमबत्तियों जैसी मिट्टी की बत्तियां, मिट्टी के बने हुए बच्चों के लिये खिलौने—मुख्यतः सीटी, झुनझुने स्त्री-पुरुष, पशु-पक्षियों की मूर्त्तियां (जिनमें रस्सी के सहारे हाथ पैर हिलानेवाले

ऊपर नीचे चढ़ने-उतरने वाले खिलौने भी हैं।) विशेष उल्लेखनीय हैं। मिट्टी के बने गाड़ीवाले खिलौनों का इस दृष्टि से इसलिये विशेष महत्त्व है कि वे अब तक ज्ञात पहियेदार सवारियों के प्राचीनतम नमूने हैं। सँगमरमर की बनी गोलियाँ और पासे लोगों के प्रिय खेल थे। शिकार, वृषयुद्ध, पक्षी और मछली मारना लोगों के मनोरंजन के अन्य साधन थे। छत अथवा बिना छत की साधारण सामान्य ढंग की बैलगाड़ियाँ लोगों की सवारी का मुख्य साधन थीं, यद्यपि हड़प्पा से ताँबे का एक नमूना मिला है जो आधुनिक छतरीदार इक्के के सामान है। तराजू और नियमित वजन के बाट तथा शंख के रेखा-चिन्हित टुकड़े इस बात के द्योतक हैं कि तौल और लम्बाई नापने की नियमित ईकाइयाँ प्रयोग में आती थीं।

युद्ध के विभिन्न ढँगों के अनेक हथियार होते थे, यथा—कुल्हाड़ी, बर्छा, छुरा, धनुष-बाण, गदा, गुलेल और तलवार, जो प्रायः ताँबे अथवा काँसे के बनते थे। ढाल और कवच भी मिले हैं। काम करने के औजारों में विशेष महत्त्व दाँतदार आरियों का है जो इससे पूर्व के काल में अज्ञात थीं।

हथियार

औद्योगिक कलाओं में ऊन और सूत की कताई अमीरों और गरीबों दोनों में ही समान रूप से प्रचलित जान पड़ती है, क्योंकि सस्ती और कीमती दोनों ही प्रकार की सूत लपेटने की नलिकाएँ मिली हैं। वे लोग कपड़ों की रँगाई भी जानते थे। यह इस बात से साबित है कि रंग-रेजों के बर्तन खुदाई में पाये गये हैं। विभिन्न शकलों और ढंगों के चाक पर बने बर्तन इस बात के द्योतक हैं कि कुम्हारों की कला अत्यन्त विकसित थी।

औद्योगिक कलाएँ और शिल्प

एक मुहर पर पोत का चित्र अंकित है जो उनके नौ-वहन का द्योतक है। सिन्धु घाटी के निवासी केवल भारत के अन्य भागों के साथ ही व्यापार करते हों, ऐसा नहीं। सुमेरु और पश्चिमी एशिया की संस्कृति के सुप्रसिद्ध केन्द्रों और सम्भवतः मिस्र और क्रीट के साथ भी उनके व्यापार-सम्बन्ध होने के काफी प्रमाण पाये जाते हैं।

मनुष्यों और पशुओं की आकृतियां बहुत बड़ी संख्या में मिली हैं। कुछ पशु-आकृतियां, विशेषतः जो मुहरों पर खुदी हैं—उच्चकोटि की कारीगरी और कला-कुशलता की द्योतक हैं। कुछ मुहरें तो नक्काशी की कला का अद्भुत नमूना समझी जाती हैं। हड़प्पा में मिली दो छोटी मूर्त्तियों के देखने से जान पड़ता है कि सिन्धु-घाटी के कलाकार मानव आकृति बनाने में बढ़े चढ़े थे। अवयवों के दिखाने की

कला

सफाई और गति तथा भावों का उतार-चढ़ाव दोनों को देखते हुए उनकी गणना उच्चकोटि की कला में करनी होगी। कुछ यूरोपीय आलोचकों का तो यहां तक कहना है कि शुद्ध सादगी और भावमयता में इस सर्वोत्तम नमूने की तुलना यूनानी मूर्तिकला के पूर्व कहीं नहीं पाई जाती।

मुहेंजोदड़ों में मिली हुई वस्तुओं में सबसे मूल्यवान वे मुहरें है; जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है। ये मुहरें सभी तहों में मिली हैं और उनकी संख्या २००० से अधिक है। वे सामान्यतः चौकोर अथवा आयताकार हैं और हाथीदाँत Fiance और Steatile की बनी हैं। Steatile की कुछ मुहरों पर ऐसो आकृयियां और चिन्ह अंकित हैं जो किसी प्रकार की चित्र—लिपि जान पड़ती है। उसी प्रकार के लेख तथा मानव एवं पशु आकृतियां ताम्र-पत्रों पर भी पायी गयी हैं। इस चित्र-लिपि में लगभग ४०० चिन्ह हैं किन्तु अभी तक वे पढ़े नहीं जा सके हैं। इतना तो निश्चय ही है कि उस समय लेखन कला ज्ञात थी किन्तु वह अभी विकास की शैशवावस्था में ही थी। साधारणतः उस काल में लेखन दाहिनो ओर से बायीं ओर चलता था। किन्तु कुछ बायीं ओर से दाहिनी ओर लिखे लेख भी मिले हैं। जहाँ एकाधिक पंक्तियाँ हैं वहाँ पंक्तियाँ क्रमशः दायें से बायें और बायें से दायें लिखी गयी हैं।

मुहरें

मुहरों पर अधिकांशतः एकशृंगी, वृष, हाथी, बाघ, गैंडा, घड़ियाल और हिरन आदि पशुओं की आकृतियाँ हैं। सबसे अधिक एकशृंगी की आकृति मिलती है जिसमें अकेली सींग आगे को निकली हुई है। इनके अतिरिक्त काल्पनिक युग्म ढंग के पशु, वृक्ष और स्त्री-पुरुष की आकृतियाँ भी मिलती हैं। इन आकृतियों के उपयोग और व्यवहार के सम्बन्ध में अभी तक कोई निश्चित व्याख्या नहीं की जा सकी है। जब तक कि उन पर के लेख पढ़े न जांय यह समस्या हल नहीं हो सकती।

निसन्देह इनमें से कुछ मुहरें धार्मिक महत्त्व की जान पड़ती हैं। लिखित प्रमाणों के अभाव में उन लोगों के धार्मिक विश्वासों, विचारों और कर्मों के संबंध में अधिक नहीं कहा जा सकता तथापि इन मुहरों, मूर्तियों और आकृतियों से उन पर कुछ तो प्रकाश पड़ता ही है।

मातृका के रूप में नारी-शक्ति की उपासना, बहुसंख्या में प्राप्त अर्धनग्न नारी की मूर्तियों से प्रमाणित होती है। ये मूर्त्तियां विस्तृत शिरोभूषण, कण्ठहार और मेखला पहने हुए हैं। इस प्रकार की मूर्त्तियाँ पश्चिमी एशिया के अन्य प्राचीन सभ्यता-केन्द्रों में भी पायी गयी हैं। मातृका-पूजा संसार के सभी आदिम निवासियों में बहुत ही प्रचलित थी। कुछ मुहरों पर ऐसे दृश्य हैं जिनसे जान पड़ता है कि देवी के सामने नर अथवा पशु बलि दी जाती थी।

मातृका की मूर्त्तियाँ

पुरुष देवताओं में एक देवमूर्ति विशेष उल्लेखनीय है जो आसन पर पलथी मारकर योगी के रूप में बैठी हुई है। उसके सिर पर शृङ्गयुक्त शिरोवस्त्र, गले में आभूषण और हाथ में अनेक चूड़ियाँ हैं। उसके तीन मुख हैं, सम्भव है चौथे की भी भावना रही हो, जो अदृश्य है। वह लिंग ऊर्ध्व किये बैठी है। और उसके चारों ओर बाघ, महिष और गैंड़े सदृश अनेक पशु हैं तथा उनके आसन के नीचे एक हिरन है। बहुत विद्वान इसे शिव का प्रतीक मानते हैं, क्योंकि वे त्रिमुख पशुपति एवं महायोगी कहे गये हैं। उनका यह भी कहना है कि यह देवता पहले आर्यों को अज्ञात था, पीछे उन्होंने उसे भारतीय लोगों के संसर्ग में आने पर अपनाया। लोगों की ऐसी धारणा मुहेंजोदड़ों की खोज के बहुत पहले से ही अन्य प्रमाणों के आधार पर रही है; किन्तु इस मत से सब लोग सहमत नहीं हैं।

शिव

शिव की उपासना के प्रचलन का अनुमान मुहरों पर मिलने वाली मूर्तियों ही से नहीं, वरन बड़ी संख्या में मिले नुकीले और गोल पत्थरों के मिलने से भी होता है जो लिंग के अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकते। कुछ तो लिंग की वास्तविक आकृति के भी पाये गये हैं। योनि उपासना के प्रचलन का भी अनुमान होता है, क्योंकि उसकी आकृति के भी कुछ पत्थर मिले हैं; किन्तु उसकी पूजा लिंगोपासना की अपेक्षा कम प्रचलित जान पड़ती है।

लिंग

पशु और वृक्षों की अथवा उनपर रहनेवाली आत्माओं की पूजा के भी स्पष्ट चिन्ह पाये जाते हैं। उन लोगों में सम्भवतः एकशृङ्गी और पीपल के पेड़ पवित्र-तम समझे जाते थे। कुछ लोग अग्नि और जलपूजा के प्रचलन का भी अनुमान करते हैं, किन्तु इसके प्रमाण पर्याप्त नहीं हैं। कुछ मुहरों पर स्वस्तिक और चक्र के अंकन से यह अनुमान किया जाता है कि वहाँ के लोग सूर्योपासक भी थे क्योंकि ये चिन्ह सूर्य के प्रतीक समझे जाते हैं। एक देवता के सिर पर गेहुअन सर्प का फन देख कर नाग-पूजा के प्रचलन का अनुमान होता है।

पशु और वृक्ष की पूजा

अर्ध-धार्मिक रिवाजों में अन्त्येष्टि के तीन तरीके ठठरियों और अस्थिपात्रों के देखने से ज्ञात होते हैं। कभी-कभी शव को गाड़ते थे और उसके साथ कब्र में साज और समान एवं भेंट सामग्री रख देते थे। कभी कभी मुर्दे को पहले खुले में रख देते थे ताकि पशु पक्षी उन्हें खा जाँय (जैसी कि पारसियों में आज भी प्रथा है) और उसके बाद हड्डियों को जमाकर छोटे बर्तनों, गोलियों और मनकों के साथ

एक बड़े अस्थिपात्र में रख देते थे। तीसरा तरीका शव को जलाने के बाद अस्थि और राख को अन्य अनेक वस्तुओं के साथ किसी पात्र में रखने का था।

इन ब्योरोंसे मुहेंजोदड़ों और हड़प्पा में फैली हुई सभ्यताके साधारण स्वरूप का अनुमान होता है। किन्तु यह सभ्यता इन दोनों नगरों अथवा उनके बीच के प्रदेशों तक ही सीमित न थी। बाद की खोजों से सिन्ध के आधुनिक हैदराबाद से उत्तर में जकोबाबाद तक अनेक स्थानों में उसका पता चला है। इस सभ्यता के दो महत्वपूर्ण उपनिवेश चन्दु-बड़ों और अमरी में पाये गये हैं जो मुंहेंजोदड़ों से क्रमशः १०० मील दक्षिण पूर्व और दक्षिण स्थित हैं। इस संस्कृति के चिन्ह पश्चिमी भारत में दक्षिणकी ओर नर्मदा की घाटी तक पश्चिमी सिन्ध और उसके भी पश्चिम उत्तरी और दक्षिणी बलूचिस्तान के बीच अनेक स्थानों में मिले हैं।

सभ्यताका विस्तार

सिन्धु घाटी की चित्रलिपि, मनकों एवं अन्य वस्तुओं की तरह की ही चीजों की प्राप्ति से इस संस्कृति का प्रभाव पूर्व में उत्तर प्रदेश और बिहार में पटना तक और उत्तर में अम्बाला तक जान पड़ता है। सम्भव है कि भावी खोजों से उसका प्रभाव समस्त उत्तरी भारत में ज्ञात हो सके।

इतनी बड़ी संस्कृति और सभ्यता अपना कोई चिन्ह अथवा स्मृति छोड़े बिना ही कैसे लुप्त हो गई, यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका समाधान हमारे आज के ज्ञान के आधार पर नहीं किया सकता। किन्तु इतना तो निश्चित है कि भारतीय संस्कृति और सभ्यता के परवर्ती विकास के समय उसके सभी अंगों पर इसका काफी प्रभाव पड़ा। इस बात के तो पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं कि हिन्दू धर्म के अनेक मौलिक सिद्धान्त इस संस्कृति से लिये गये हैं; और यह असम्भव नहीं कि भारतीय लिपि, आहत मुद्रायें तथा परवर्ती भारत के अन्य अनेक कला और कौशल उसी स्रोत के ऋणी हों। धीरे-धीरे यह तो अनुभव किया हो जाने लगा है कि भारत की वर्तमान सभ्यता केवल आर्य–संस्कृति का विकास मात्र नहीं है, जैसा कि अब तक समझा जाता रहा है; वरन् वह अनेक संस्कृतियों के सम्मिश्रण का परिणाम है जिसमें सिन्धु घाटी की सभ्यता का महत्व पूर्ण भाग समझा जाना चाहिए।

आर्य संस्कृतिपर प्रभाव

——·——

चौथा अध्याय

आर्य

गत अध्याय में वर्णित महान् सभ्यता के निर्माताओं एवं उन्नति कर्त्ताओं—एक अथवा अनेक जातियों, के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कोई बात हमें ज्ञात नहीं है। फलतः उसका नामकरण उसके विकास क्षेत्र के नाम पर ही किया गया है।

सिन्धु सभ्यता के निर्माता

मुहेंजोदड़ों में मिले अस्थि पंजरों और कपालों की वैज्ञानिक परीक्षा से ज्ञात होता है कि वहाँ के लोग चार जातियों, यथा—प्रोटोआस्ट्रोलॉयड, भूमध्यसागरीय, अल्पीनॉयड और मंगोलॉयड वर्ग के थे। किन्तु परीक्षण किये गये अस्थि पंजरों की संख्या इनी-गिनी है इसलिए उपर्युक्त सभ्यता और संस्कृति के निर्माता लोगों के जाति-समूहों के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। इस सम्बन्ध में विद्वानों में घोर मतभेद हैं और हम उनमें से कुछ की संक्षेपतः चर्चा भर कर सकते हैं।

वैदिक सभ्यता से भिन्नता

बहुमान्य मत यह है कि सिन्धु घाटी की सभ्यता द्रविड़ अथवा, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, भूमध्यसागरीय जाति की सभ्यता थी। निःसन्देह यह सभ्यता उस सभ्यता से बहुत मिलती-जुलती है जिसका आभास परवर्त्ती द्रविड़ भाषाओं और उनके भाषियों के अध्ययन से मिलता है। इस मत को मानने का निष्कर्ष यह होगा कि सिन्धु घाटी की सभ्यताका विकास आर्यों के भारत आने से बहुत पूर्व हुआ था। सर जॉन मार्शल एवं कुछ अन्य लोग भी इस तथा ऋग्वेद में वर्णित सभ्यता का तुलनात्मक अध्ययन कर इसी परिणाम पर पहुँचे हैं। उन लोगों का मत है कि शिवमूर्ति एवं लिंग का अस्तित्व, घोड़ों का अभाव एवं मूर्त्ति-पूजा से जान पड़ता है कि सिन्धु घाटी की सभ्यता ऋग्वेद में वर्णित आर्य सभ्यता से एक दम भिन्न और पूर्व की है। आर्यों के लौकिक एवं धार्मिक जीवन में घोड़ों का अत्यधिक महत्त्व था और वे शिश्न लिंग को हेय दृष्टि से देखते थे तथा देवी-देवताओं की मूर्त्तियों से वे अपरिचित थे। सिन्धु सभ्यता में मातृकाओं का महत्व भी इस भिन्नता को प्रकट करता है। स्त्री-देवताओं को ऋग्वैदिक देवकुल में कोई मुख्य स्थान नहीं है। कुछ विद्वान् इस मत

से सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि वैदिक सभ्यता सिन्धु घाटी की सभ्यता से प्राचीन है और अस्थि-पंजरों के अवशेषों के आधार पर उनका कहना है कि मुहेंजोदड़ों के निवासियों में आर्य भी थे।[1]

इन बातों से इन दोनों सभ्यताओं के काल का प्रश्न उठता है। सिन्धु घाटी की मुहरों के समान मुहरें पश्चिमी एशिया में ज्ञात तिथि के जिस स्तर पर मिली हैं उनके अनुसार वे २५०० ई० पू० की ठहरती हैं। अन्य प्रमाणों के आधार पर भी मुहेंजोदड़ों की पिछली बस्तियाँ उसी काल की समझी जाती हैं। अब तक मुहेंजोदड़ों में भवनों की सात तहें प्रकाश में आयी हैं और सम्भवतः पहले की अभी कुछ और तहें पृथ्वी के भीतर स्थित जल में दबी हैं। अतः हमें इस सभ्यता के जन्म और विकास के लिए काफी लम्बी अवधि देनी होगी। अतएव सामान्य धारणा के अनुसार इस सभ्यता को ३०००-२५००० ई० पू० का माना जा सकता है।

दोनों सभ्यताओं की प्राचीनता

दूसरी ओर अधिकांश योग्य विद्वानों के मतानुसार ऋग्वेद २००० से १५०० ई० पू० से अधिक पुराना नहीं हो सकता।[2]

यद्यपि आर्यों के भारत में आने के बाद, सम्भवतः बहुत बाद, इस साहित्य की रचना हुई होगी; उस घटना को भी हम २५००-२००० ई० पू० से अधिक पहले नहीं रख सकते। इस तरह भी सिन्धु घाटी की सभ्यता आर्यों के भारत प्रवेश से पूर्व विकसित हो चुकी रही होगी।

बिना किसी पक्षपात के और इस बात को अच्छी तरह समझते हुए कि आज की अवस्था में हमारी जो जानकारी है उसमे किसी प्रकार का निश्चित अथवा आग्रह परक निष्कर्ष सम्भव नहीं है, हम अभी यह मान ले सकते हैं कि सिन्धु घाटी की सभ्यता द्रविड़ सभ्यता को व्यक्त करती है और उसके निर्माता द्रविड़ कहां जानेवाली जाति के थे। इस आधार पर इस काल का इतिहास बहुत कुछ निम्नोक्त प्रकार से स्थिर किया जा सकता है।

लगभग ५,००० वर्ष पूर्व अथवा उससे भी कुछ पहले भूमध्यसागरीय वर्ग की एक नयी जाति पश्चिम से भारत में आयी और बलूचिस्तान सहित भारत के अधिकांश भाग पर अधिकृत हो गई। ये लोग अपनी समान भाषा के नाम पर पीछे चलकर द्रविड़ कहलाये, उन्होंने एक उच्चकोटि की सभ्यता का विकास किया और अनेक महत्त्वपूर्ण नगर स्थापित किये। २००० ई० पू० के आसपास अथवा उसके

द्रविड़ और आर्यों का संघर्ष

---

१. ऐप्रओरिइ०, जिल्द १८, पृष्ठ ३८५-९५

२. ऋग्वेद की तिथि का विवेचन अध्याय ५ में किया गया है।

कुछ शताब्दियों पश्चात् आर्य भाषा बोलने वाली एक अन्य गोरी जाति, जो सामान्यतः किन्तु गलत रूप में आर्य अथवा भारतीय-आर्य कही जाती है, धीरे २ उत्तर पश्चिम से हिन्दुकुश पर्वत को पार करती हुई अफगानिस्तान के रास्ते भारत में प्रविष्ट हुई। द्रविड़ों ने स्वाभाविक रूप में नवागन्तुओं का अपनी पूरी शक्ति से प्रतिरोध किया और दीर्घकाल तक दोनों जातियों में भीषण युद्ध होता रहा। यह युद्ध न केवल दो जातियों का वरन् दो संस्कृतियों का था। द्रविड़ों को अपनी अस्तित्व-रक्षा के लिए लड़ना पड़ा और ऋग्वेदकी अनेक ऋचाओं से इस युद्धकी भीषणता का पता चलता है। किन्तु द्रविड़ों का यह सारा प्रयत्न निष्फल रहा। इतिहास इस बात को बताता है कि भारत की सुखद भूमि पर पीढ़ियों से जन्मने और पलनेवाले लोग, उत्तर पश्चिमी क्षेत्रों से समय २ पर इस देश में आनेवाले नये कठोर पर्वतीय लोगों के सम्मुख नहीं ठहर सके। द्रविड़ भी इसके अपवाद न थे। वे वीरता के साथ लड़े और अनेक युद्ध क्षेत्रों में सैकड़ों हजारों की तादाद में कट मरे किन्तु अन्ततोगत्वा उन्हें आक्रामकों के सम्मुख घुटने टेक देने पड़े। आर्यों ने उनके महल और नगर ध्वस्त कर दिये, मकानों को जला डाला और कितनों ही को अपना दास बना लिया।

इस श्रम-साध्य विजय के फलस्वरूप आर्यों का धीरे-धीरे समस्त पंजाब पर अधिकार हो गया और अन्ततोगत्वा उन्होंने उत्तरी भारत का अधिकांश भाग जीत लिया। पराजित मूल निवासियों—द्रविड़ों एवं अनेक पूर्ववर्ती निवासियों के अवशेषों में से अधिकांश-ने प्रायः आत्मसमर्पण कर दिया और दास बन गये; किन्तु बहुत से द्रविड़ों ने दक्षिण जाकर शरण ली और आज उनके वंशज तमिल, तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम् नामक भाषायें बोलते हैं। कुछ अन्य जातियां उत्तर दक्षिण और पूरब की ओर चली गयी और पर्वतों तथा जंगलों में अपना कठोर जीवन व्यतीत करने लगीं। उनके वंशज—कोल, भील, गोंड़ और हिमालय की अन्य अनेक जातियाँ—आज भी उन पहाड़ियों पर हैं जिनकी ओर ४००० वर्ष पूर्व आर्यों ने उनके पूर्वजों को ढकेल दिया था!

आर्यों का उद्भव

इस प्रकार भारत भूमि पर पैर जमानेवाले आर्यों का अपना पूर्ववर्त्ती इतिहास था। वे मानवजाति के एक अति प्राचीन समूह के थे और बहुत दिनों तक वे यूनान, रोम, जर्मनी, इंगलैंड, हालैंड, स्कैण्डिनेविया, स्पेन, फ्रांस, रूस और बलगेरिया के लोगों के पूर्वजों के साथ-साथ रहते थे। यह इस बात से स्पष्ट प्रकट है कि सभ्य मनुष्य के आवश्यक विचारों को व्यक्त करनेवाले कुछ शब्द आज भी उनके वंशजों द्वारा हजारों मील की दूरी और हजारों वर्ष का अन्तर होने पर भी समान रूप से बोले जाते

हैं। यथा—संस्कृत के शब्द पितृ और मातृ निश्चयपूर्वक वे ही हैं, जो लैटिन के 'पेटर' और 'मेटर' यवन के 'पटेर' और 'मेटेर' अंग्रेजी के 'फॉदर' और 'मदर' और जर्मनी के 'वटेर' और 'मुटेर' ! ये मानव की आदिमतम उल्लेखनीय भावनाओं अर्थात् माता और पिता को व्यक्त करते हैं। भाषाओं की समानता के कारण अनेक विद्वानों ने यह मान लिया है कि जिन आर्यों ने भारत को जीता, वे प्राचीन एवं अर्वाचीन-युग में ख्याति प्राप्त करनेवाले उपयुक्त देशवासियों के मातृ-पितृ पूर्वज वर्ग के थे। किन्तु यह बहुत तर्कसंगत निष्कर्ष नहीं जान पड़ता। भाषा की एक आत्मीयता से रक्त की एकता सर्वदा सिद्ध होती हो, ऐसी बात नहीं है। उदाहरणतः बंगला भाषा अनेक जातियों द्वारा बोली जाती है। अस्तु निश्चित निष्कर्ष केवल यही निकाला जा सकता है कि इन देशवासियों के पूर्वज किसी प्रदेश में बहुत दिनों तक निकट सम्पर्क में रहते थे। उस प्रदेश एवं उस काल का निर्धारण, जब विभिन्न वर्ग के लोग एक दूसरे से अलग हुए, निश्चित रूप से नहीं किया जा सका है। इस सम्बन्ध में लोग अब तक भी अनेक तर्क-वितर्क उपस्थित करते हैं[१]। सामान्य मत है कि वे लोग कहीं मध्य एशिया अथवा दक्षिणी रूस में रहते थे। कुछ लोग उन्हें और उत्तर के ध्रुव प्रदेश का मानते हैं तथा कुछ अन्य लोग आस्ट्रिया, हंगरी और बोहेमिया को उनका पूर्व स्थान समझते हैं।

जो भी हो, इन समूहों में से एक वा अधिक औरों से अलग होकर भारत की ओर चला। यथा समय उनमें से कुछ फारस कहे जानेवाले प्रदेश में बस गये और

१ आर्यों के आदि निवास उनके प्रवास एवं तत्संबंधी प्रश्नों को ले लेकर बहुत बड़े साहित्य की रचना हुई है। इस सम्बन्ध में पूर्ववर्ती विचार म्यूर कृत "ओरिजिनल संस्कृत टेक्स्टस" भाग दो के अध्याय २ में संकलित किये गये हैं। आधुनिक विचारों के लिये इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका में 'आर्य' और 'इण्डो योरोपियन भाषा' सम्बन्धी लेख और केम्ब्रिज हिस्ट्री अध्याय ३ तथा उसमें दिये गये निर्देश देखिये। सबसे महत्त्वपूर्ण प्रमाण जो अभी हाल में प्रकाश में आया है वह १४०० ई० पू० में लिखित बोगाजकोई का अभिलेख है। उसमें सुप्रसिद्ध वैदिक देवताओं इन्द्र वरुण और नासत्यौ का उल्लेख है। इस अभिलेख का महत्त्व वैदिक संस्कृत की प्राचीनता निर्धारित करने की दृष्टि से विशेष है! दुर्भाग्यवश विद्वान् इस विचार में एकमत नहीं हैं कि इसमें उल्लिखित देवता वैदिक देवता ही हैं और इस प्रकार वैदिक संस्कृति के आरम्भ की तिथि १४०० ई० पू० से बहुत पहले ले जाई जाती है। देखिये—कैम्ब्रिज हिस्ट्री, पृष्ठ ७२-७३; पृष्ठ ३२० पादटिप्पणी २। इस प्रश्न के अत्यन्त आधुनिक विमर्श की दृष्टि से द्रष्टव्य है—हिस्ट्री ऐण्ड कल्चर ऑफ दि इण्डियन पीपुल, जिल्द १ अध्याय ६ और १०।

उन्होंने उस संस्कृति को जन्म दिया जिसके स्पष्ट चिह्न उनके वंशजों—आधुनिक पारसियों—में पाये जाते हैं। शेष जातियों ने हिन्दूकुश पार किया और द्रविड़ों को निकाल कर पंजाब पर अधिकार कर लिया, जिसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है।

अन्त में यह बता देना आवश्यक होगा कि कुछ भारतीय विद्वान् यह नहीं मानते कि आर्य बाहर से आये। उनका कहना है कि वे भारत के मूल निवासी थे, जिनके कुछ वर्गों ने भारत से निकल कर धीरे २ एशिया और यूरोप के कुछ देशों में प्रवेश किया। आर्य भाषा बोलनेवाले यूनानी, रोमक और अन्य लोग या तो इन्हीं लोगों के अथवा उन लोगों के वंशज हैं जिन पर उन्होंने या तो विजय प्राप्तकर अथवा अन्य शान्ति पूर्ण उपायों से अपनी भाषा लाद दी,[1] इस विचार के मानने में अनेक कठिनाइयाँ हैं। इसे अनेक भारतीय विद्वान् भी स्वीकार नहीं करते; भारत के बाहर तो उसे कोई मानता ही नहीं।

---

१. कन्हैयालाल मुंशी—दी ग्लोरी दैट वाज गुर्जर देश, भाग १ खण्ड १, दि हिस्ट्री ऐण्ड कल्चर-ऑफ दि इण्डियन पीपुल, जिल्द १ पृष्ठ २१५ और आगे

पाँचवाँ अध्याय

वेद

भारत में आर्यों के इतिहास की चर्चा करने से पूर्व उनके पवित्र साहित्य—वेदों का संक्षेप मे उल्लेख करना उचित होगा, क्योंकि आर्यों के संबंध में हमारी सारी जानकारी केवल उन्हीं से होती है। इसके सिवा और भी अनेक मुख्य कारण हैं, जिनसे वेदों को मुख्य स्थान दिया जाना चाहिये। वेद न केवल भारतीय आर्यों के वरन् हिन्द-जर्मन नाम से पुकारे जानेवाले समस्त आर्य-समूह के प्राचीनतम ग्रंथ हैं। इस प्रकार समस्त विश्व साहित्य में उनका अपना विशिष्ट स्थान है। इसके अतिरिक्त ३००० वर्ष से भी अधिक काल से वेदों को लाखों-करोड़ों हिन्दू ईश्वर वाक्य मानते चले आ रहे हैं और वे निरन्तर होनेवाले परिवर्तनों और क्रमागत विकास के बीच उनकी संस्कृति एवं धर्म के आधार रहे हैं।

'वेद' शब्द का अर्थ 'ज्ञान', 'महत् ज्ञान' अर्थात् 'पवित्र और आध्यात्मिक ज्ञान' है। वह न तो कुरान की तरह कोई एक साहित्यिक ग्रंथ है और न बाइबिल अथवा त्रिपिटक की तरह किसी एक काल में कुछ निश्चित संख्या में संगृहीत पुस्तकों का संग्रह ही। वह तो ऐसा साहित्य भंडार है जो अनेक शताब्दियों के बीच विकसित हुआ है और जिसे पीढ़ी दर पीढ़ी लोग कंठस्थ कर सुरक्षित रखते आये हैं। इसके अन्तरगत तीन प्रकार की साहित्यिक रचनाएँ हैं। प्रत्येक वर्ग के अन्तर्गत अनेक स्वतन्त्र पुस्तकें हैं, जिनमे से कुछ का अस्तित्व तो अब भी है परन्तु कुछ लुप्त हो चुके हैं।

वे तीन वर्ग इस प्रकार हैं:—

(१) *संहिता अथवा मंत्र*—जैसा कि नाम से प्रकट होता है, इस साहित्य में मंत्रों, प्रार्थनाओं, वशीकरणों, प्रार्थनाविधियों और यज्ञ विधियों का संग्रह है।

(२) *ब्राह्मण ग्रंथ*—वे विशाल गद्य साहित्य रचनायें हैं जिनमें मंत्रों के अर्थों पर विचार किया गया है, उनके प्रयोग का विधान बताया गया है, यज्ञ विधान से सम्बन्धित उनकी उत्पत्ति की कहानियाँ कही गयी हैं और यज्ञों का गुप्त रहस्य प्रकट किया गया है। संक्षेप में, वे एक प्रकार से ब्राह्मणों के आदिम धर्म और दर्शन के ग्रंथ हैं।

(३) *आरण्यक और उपनिषद्*—इनमें से कुछ तो ब्राह्मणों में ही निहित हैं अथवा उनसे सम्बद्ध हैं और कुछ स्वतन्त्र रचना के रूप में पाये जाते हैं। इनमें आत्मा, परमात्मा, संसार और मनुष्य संबंधी ऋषि-मुनियों के दार्शनिक विचार आबद्ध हैं।

विभिन्न संप्रदायों के उपाध्यायों और सूतों में बहुसंख्यक संहिताएं प्रचलित रही होंगी। किन्तु अधिकांश एक ही संहिता के विभिन्न पाठ हैं। तथापि चार ऐसी संहिताएं हैं जो एक दूसरे से भिन्न हैं और जिनमें से प्रत्येक के अनेक पाठ हमें प्राप्त हैं।

(१) ऋग्वेद संहिता—मंत्रोंका संग्रह

(२) अथर्ववेद संहिता—जादू और मानसहरणों का संग्रह।

(३) सामवेद संहिता—गेय पदों का संग्रह जिनमें अधिकांश ऋग्वेद से लिये गये हैं।

(४) यजुर्वेद संहिता—यज्ञ विधियों का संग्रह। (इस संग्रह के दो स्पष्ट भेद हैं—कृष्ण यजुर्वेद संहिता और शुक्ल यजुर्वेद संहिता।)

ये चारों संहिताएं चार भिन्न वेदों के आधार हैं तथा वैदिक साहित्य के दूसरे तथा तीसरे वर्ग की प्रत्येक प्रकार की रचनाओं अर्थात् ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदों में से ही एक का इनमें से किसी न किसी संहिता के साथ सम्बंध है और वह उस विशेष वेद की सम्बद्ध रचना मानी जाती हैं। इस प्रकार ऋग्वेद की न केवल अपनी संहितायें हैं वरन् ब्राह्मण आरण्यक और उपनिषद् भी हैं। यही बात अन्य तीनों वेदों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। इस विस्तृत साहित्य की प्रत्येक रचना वेद की श्रेणी में गिनी जाती है और उनके रचयिता ऋषि कहे जाते हैं। कभी २ इन ऋषियों के नाम से किसी एक व्यक्ति का तात्पर्य न होकर वर्ग से होता है यथा विश्वामित्र की कही जाने वाली ऋचाएँ सम्भवतः उस नाम के किसी एक व्यक्ति द्वारा न रची जाकर उस परिवार अथवा शिक्षा-केन्द्र के विभिन्न व्यक्तियों द्वारा रची गयी। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि ऋचाओं के रचयिताओं में स्त्रियों और निम्नतम वर्ग के भी नाम मिलते हैं।

यद्यपि ये ऋचाएँ ऋषि प्रणीत हैं किन्तु धार्मिक हिन्दू उनकी उत्पत्ति को दैवी मानने पर जोर देते हैं। उनका कहना है कि इन ऋचाओं की रचना ऋषियों ने नहीं की; वरन् उनके माध्यम से वे प्रकटित हुई हैं।

वैदिक साहित्य के रचयिता

इस प्रकार वेद अपौरुषेय और नित्य कहे जाते हैं और जिन ऋषियों के नाम से वे ज्ञात हैं वे मंत्रद्रष्टा, जिन्होंने सीधे पर-ब्रह्म से मंत्रों को जाना। वेदों की पवित्रता सम्बन्धी ये विचार

हिन्दू धर्म के मूल भूत सिद्धान्त रहे हैं। जो धार्मिक सम्प्रदाय इस बात को नहीं मानता उसके लिए हिन्दू धर्म में कोई आयज स्थान नहीं है।

वेद नाम से पुकारे जानेवाले उपर्युक्त ब्रह्मज्ञात साहित्य के अतिरिक्त उसी कोटि का एक अन्य भी साहित्य समूह है, जो सूत्र अथवा वेदांग कहलाता है। उसे वेदों की बराबरी इसलिए प्राप्त नहीं है कि वह मानव रचित है।

वेदांग छः हैं, जिनका तात्पर्य ६ पुस्तकों से न होकर छः विषयों से है। उनका अध्ययन वेदों के पठन, मनन और यज्ञ विधान के लिये आवश्यक समझा जाता था। ये छः विषय हैं—शिक्षा (उच्चारण), छन्दस् (छन्द शास्त्र), व्याकरण (शब्द-रचना) निरुक्त (शब्दों की व्याख्या), ज्योतिष और कल्प (यज्ञीय विधि विधान)। इनमें से प्रथम दो वेदों के पढ़ने, अगले दो उनके समझने और अन्तिम दो यज्ञ में उनका उपयोग करने के लिए आवश्यक समझे जाते हैं।

वेदांग

इन विषयों की चर्चा आरम्भ में ब्राह्मणों और आरण्यकों में की जाती थी। पीछे इनमें से प्रत्येक विषय पर अलग अलग पुस्तकें लिखी गयीं। वे पुस्तकें एक विचित्र शैली में लिखो गयी। उनमें अत्यन्त सूक्ष्म सूत्र हैं जो अपनी सूक्ष्मता में बीज गणित के नियम सूत्रों से मिलते जुलते हैं। इसी कारण यह साहित्य सूत्र-साहित्य कहलाता है। इस साहित्य की रचना बहुत पीछे चल कर हुई और उनका उल्लेख आगे के एक अध्याय में किया जायेगा।

जो बात वेदांगों के सम्बन्ध में कही गई है, वही उपवेदों के नाम से पुकारे जानेवाले एक अन्य वर्ग के साहित्य के बारे में भी लागू होती है। इसके अन्तर्गत आयुर्वेद, धनुर्वेद, गांधर्ववेद (संगीत), कला, वास्तुकला, और अन्य समान विषय आते हैं।

उपवेद

वैदिक साहित्य का यह सामान्य परिचय देने के पश्चात् अब उन महत्त्वपूर्ण स्वतन्त्र रचनाओं का संक्षिप्त परिचय दिया जा सकता है जिनकी रचना सम्प्रति-परोक्ष्य काज में हुई थी।

वैदिक साहित्य का विस्तृत विवरण

(१) ऋग्वेद

(अ) *संहितायें*--ऋग्वेद की विभिन्न संहिताओं में केवल शाकल शाखा की संहिता ही आज हमें प्राप्य है। उसमें १०२८ (कुछ लोगों के अनुसार १०१७) सूक्त हैं, जो दस मण्डलों और पुनः ८ अष्टकों में विभाजित हैं। यह संहिता वैदिक साहित्य में सबसे प्राचीन है; किन्तु निश्चय ही उसके भिन्न २

अंश विभिन्न युगों में रचे गये होंगे और बाद में एक साथ संकलित कर दिये गये होंगे। दूसरे से सातवें मण्डल तक की ऋचायें सबसे प्राचीन हैं और वे गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भरद्वाज और वसिष्ठ की नामांकित हैं। नवें मण्डल में सोम को संबोधित कर गाई गयी ऋचाओं का संकलन है जो पहले अन्य मण्डलों में थीं। पहले और दसवें मण्डल सबसे पीछे जोड़े गये हैं, किन्तु उनमें कितनी ही ऋचाएँ पुरानी हैं। संहिताओं की ऋचायें विभिन्न देवताओं को सम्बोधित की गई हैं। उनके विषय और काव्य सौन्दर्य का नमूना अध्याय छः के अन्त में दिये गये उदाहरणों में देखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त इस संहिता से आर्यों के जीवन पर भी प्रकाश पड़ता है। इसकी चर्चा छठे अध्याय में की जायेगी।

(आ) ब्राह्मण ग्रंथ — ऋग्वेद के अपने दो ब्राह्मण हैं। प्रथम तो है ऐतरेय जिसे अनुश्रुत्या महिदास ऐतरेय द्वारा रचित माना जाता है। इसमें मुख्यतः बड़े बड़े सोमस्तवों का वर्णन तथा राज्याभिषेक के विभिन्न यज्ञ विधानों की चर्चा है। दूसरा है कौशीतकी अथवा शांखायन ब्राह्मण जो केवल सोमयज्ञ ही नहीं अपितु अन्य अनेक यज्ञों का वर्णन करता है।

(इ) आरण्यक और उपनिषद् — ऐतरेय उपनिषद् सहित ऐतरेय आरण्यक ऐतरेय ब्राह्मण से सम्बद्ध है। कौशीतकी ब्राह्मण में कौशीतकी आरण्यक भी शामिल है, जिसका एक अंश कौशीतकी उपनिषद् के नाम से ज्ञात है। कौषीतकी ब्राह्मण में कौशीतकी आरण्यक है जिसका एक भाग कौशीतकी उपनिषद् कहलाता है।

(२) अथर्ववेद

(अ) यह संहिता अपनी दो शाखाओं, शौनकीय और पैप्पलाद, के द्वारा हमें ज्ञात है। किन्तु पैप्पलाद अत्यन्त अपूर्ण रूप में ज्ञात है। शौनकीय शाखा की संहिता में ७३१ (कुछ लोगों के अनुसार ७६० ऋचाएँ हैं) जो २० मण्डलों में विभक्त हैं। अंतिम दो-तीन मण्डल पीछे से जोड़े गये जान पड़ते हैं। इस संहिता में कितनी ही ऋचाएँ हैं जो ऋग्वेद में भी हैं। इसमें अधिकांशतः वशीकरण, जादू और मानसहरणों के वर्णन हैं जिनसे भूतों और शत्रुओं पर विजय पायी जा सकती है, मित्रों को जीता जा सकता है और भौतिक सफलता प्राप्त की जा सकती है। इस कारण इस संहिता की गणना बहुत दिनों तक वैदिक साहित्य में नहीं होती थी। इनमें कितने ही पुराने जनप्रचलित धर्म और अन्धविश्वास सुरक्षित हैं।

(आ) अथर्ववेद से सम्बद्ध ब्राह्मण वर्ग का कोई प्राचीन ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। ब्राह्मण कहा जानेवाला गोपथ ब्राह्मण वास्तव में वेदांग साहित्य से सम्बद्ध है और बहुत पीछे का ग्रंथ है ।

(इ) इसके तीन उपनिषद् हैं; (१) मुण्डक उपनिषद् (२) प्रश्न उपनिषद् (३) माण्डूक्य उपनिषद् । ये तीनों ही अपेक्षाकृत पीछे की रचनाएँ हैं ।

(३) सामवेद

(अ) पुराणों में सामवेद की हजार शाखाओं का उल्लेख है किन्तु केवल एक ही अपने तीन पाठों के रूप में हमें मिलती है। वे पाठ हैं—गुजरात में प्रचलित कौथुम, कर्नाटक में प्रचलित जैमिनीय और महाराष्ट्र में प्रचलित राणायनीय। इसमें उन ऋचाओं का संग्रह है जिन्हें सोमयज्ञ के समय उद्गाता नामक होतागण उच्चारण करते थे। इन ऋचाओं की संख्या १८१० और यदि पुनरुक्तियों को छोड़ दें तो १५४९ है। किन्तु ७५ को छोड़ कर शेष सभी ऋग्वेद की संहिता से ली गयी हैं। ऋग्वेद में न मिलनेवाली ७५ ऋचाओं में से कुछ तो अन्य संहिताओं में और कुछ विभिन्न ब्राह्मणों अथवा कर्मकाण्ड साहित्य में पायी जाती हैं। ये पाठ केवल स्वर के निमित्त प्रयुक्त होते थे और सामवेद के अनुयायियों के लिए उतना ही महत्त्व था। इस प्रकार जहां सामवेद का महत्त्व भारतीय संगीत के इतिहास की दृष्टि से बहुत अधिक है और वह यज्ञ-विधानों के विकास पर रोचक प्रकाश डालता है वहां वह साहित्य की दृष्टि से नगण्य मूल्य का ही है।

(आ) *ब्राह्मण* (१) तांड्यमहाब्राह्मण, जो पाञ्चविंश (अर्थात् २५ अध्यायों वाला) भी कहा जाता है, प्राचीनतम ब्राह्मणों में से है और सबसे महत्त्व का है। इसमें बहुत सी प्राचीन जनकथायें संकलित हैं और उसमें व्रात्यस्तोम विधि का वर्णन है जिसके द्वारा अनार्य वर्ग के व्यक्ति आर्य परिवार में सम्मिलित किये जा सकते थे।

(२) षड्विंश ब्राह्मण—(२६ वाँ ब्राह्मण) पाञ्चविंश ब्राह्मण में एक अंश मात्र है। इसका अन्तिम भाग अद्भुत ब्राह्मण कहा जाता है और वह वेदाङ्ग साहित्य है। उसमें शकुन और अति प्राकृतिक बातों की चर्चा है।

(३) जैमिनीय ब्राह्मण—इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में अभी बहुत ही कम जानकारी है।

(इ) *आरण्यक और उपनिषद् ग्रन्थ* (१) छान्दोग्य उपनिषद्—इसका पहला भाग एक आरण्यक मात्र है, जिसका सम्बन्ध सामवेद के ब्राह्मण—सम्भवतः तांड्य महाब्राह्मण—से है।

(३) जैमिनीय उपनिषद्–ब्राह्मण-यह सामवेद को जैमिनीय अथवा तलवकार शाखा का आरण्यक है और केन उपनिषद्–उसका एक अंश है जो तलवकार उपनिषद् भी कहा जाता है।

(४) यजुर्वेद

(अ) *संहितायें*—वैय्याकरण पतञ्जलि ने यजुर्वेद की १०१ शाखाओं का उल्लेख किया है किन्तु इस समय केवल निम्नलिखित ५ शाखाओं का पता लगता है, जिनमें से प्रथम चार तो कृष्ण यजुर्वेद की हैं और अन्तिम शुक्ल यजुर्वेद की है।

(१) कठ शाखा की काठक संहिता

(२) कपिस्थल-कठ संहिता—इसके केवल कुछ ही स्थल उपलब्ध हैं।

(३) मैत्रायणी शाखा की मैत्रायणी संहिता

(४) तैत्तिरीय शाखा की तैत्तिरीय संहिता

(५) वाजसनेयि संहिता—कारव और माध्यन्दिन शाखाओं के इसके दो भाग हैं।

शुक्ल और कृष्ण यजुर्वेद में मुख्य भेद यह है कि शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेयि संहिता में केवल ऋचायें, प्रार्थनायें और यज्ञीय सूक्त हैं तथा कृष्ण यजुर्वेद की संहिताओं में इनके अतिरिक्त गद्यभाष्य भी हैं जो वस्तुतः ब्राह्मणों में गिने जाने चाहिये। ऐसा जान पड़ता है कि कृष्ण यजुर्वेद पहले का है जब कि संहिता और ब्राह्मण मिले जुले थे और बाद में चल कर ही उनको अलग-अलग करने की आवश्यकता समझी गई, जैसा कि अन्य वेदों के सम्बन्ध में सम्भवतः पहले ही किया जा चुका था।

वाजसनेयि संहिता में ४० अध्याय हैं और लगभग २००० ऋचायें हैं जिनमें कितनी ही पुनरावृत्तियां हैं। इनमें ऋग्वेद और अथर्ववेद से ली गयी अनेक ऋचायें तथा गद्य में लिखे यज्ञ विधान हैं। जिस प्रकार सामवेद संहिता में उद्गातृ होताओं के द्वारा गाये जानेवाली ही ऋचायें हैं उसी प्रकार यजुर्वेद संहिता में केवल वे पाठ हैं जिन्हें अध्वर्यु होतागण महत्त्वपूर्ण यज्ञों के समय पढ़ते थे।

(आ) *ब्राह्मण ग्रन्थ* (१) तैत्तिरीय ब्राह्मण कृष्ण यजुर्वेद का है। पहले कहा जा चुका है कि कृष्ण यजुर्वेद में संहिता और ब्राह्मण दोनों ही सम्मिलित हैं। अतः तैत्तिरीय ब्राह्मण में केवल वे ही अंश हैं जो पीछे से तैत्तिरीय संहिता में जोड़े गये।

(२) शतपथ ब्राह्मण शुक्ल यजुर्वेद का है। वह सबसे अधिक दीर्घाकार ही नहीं, ब्राह्मणों में सबसे महत्त्व का भी है। यह वाजसनेयि संहिता की टीका है

और उसी की तरह इसकी भी काण्व और माध्यन्दिन शाखायें हैं। शतपथ ब्राह्मण न केवल प्राचीन, भारत के यज्ञ-विधानों की जानकारी का एक महत्वपूर्ण साधन है वरन् हमें उससे तत्कालीन धर्म और दर्शन, विचारधारा, रहन-सहन और रीति रिवाजों का भी पता चलता है।

(इ) *आरण्यक और उपनिषद् ग्रन्थ*

(१) तैत्तिरीय आरण्यक तैत्तिरीय ब्राह्मण का प्रायः क्रमागत अगला अंश है। उसके अन्तिम भाग हैं तैत्तिरीय उपनिषद् और महा नारायण उपनिषद् महा-नारायण उपनिषद् तुलनात्मक दृष्टि से बहुत पीछे की रचना है।

(२) शतपथ ब्राह्मण के १४ वें काण्ड का पहला अध्याय वस्तुतः एक आरण्यक है और उसका अन्तिम अंश सुप्रसिद्ध बृहदारण्यक उपनिषद् है।

(३) काठक उपनिषद् कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध है।

(४) ईशोपनिषद् वाजसनेयि संहिता का अन्तिम भाग है।

(५) श्वेताश्वतरोपनिषद् कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध है।

(६) मैत्रायणी उपनिषद् का भी सम्बन्ध कृष्ण यजुर्वेद से है किन्तु वह पीछे की रचना है।

ऋग्वेद की प्राचीनता

उपर्युक्त सभी ग्रन्थों में ऋग्वेद संहिता सबसे प्राचीन है। उसका वर्तमान रूप अन्य वैदिक संहिताओं के उन अंशों से पहले संकलित किया गया रहा होगा, जो ऋग्वेद से भिन्न हैं। इसी प्रकार साम, यजुः और अथर्ववेद की संहिताओं की रचना गद्यमय ब्राह्मण साहित्य से पूर्व हुई होगी। किन्तु यह सम्भव है कि यजुः और अथर्ववेद की संहिताओं का अन्तिम स्वरूप-निर्धारण ऐसे समय हुआ हो जब ब्राह्मण ग्रन्थों का स्वरूप निर्माण आरम्भ हो चुका रहा हो। इस प्रकार इन संहिताओं के सबसे बाद के भाग ब्राह्मणों के प्राचीनतम भाग के समकालिक हो सकते हैं।

अब तक निकाले जाने वाले निष्कर्ष तो सहज हैं और प्रायः विश्वसनीय भी किन्तु जब हम इन विभिन्न ग्रन्थों का रचना काल निर्धारित करने बैठते हैं तो तत्काल कठिनाई उपस्थित होती है।

वेदों का काल

वैदिक साहित्य के काल-निर्धारण का प्रश्न विद्वानों में एक तीखे और विलंबित मतवैभिन्य का कारण बना है। सबसे पहले मैक्समूलर ने इस प्रश्न पर समालोचनात्मक विचार किया। उन्होंने अपने विवेचन का आरम्भ इस सुज्ञात तथ्य से किया कि कुछ उपनिषद् बुद्ध (५००ई० पू०) के पूर्व के हैं। यहाँ से पीछे चलते हुए तथा

वैदिक साहित्य के विकास के उपर्युक्त चरणों में से प्रत्येक के विकास के लिए न्यूनतम अवधि २०० वर्ष निर्धारित करते हुए वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि ऋग्वेद की ऋचाएँ १२००–१००० ई० पू० रची गयी होंगी। किन्तु उसकी रचना के सम्बन्ध में किसी निश्चित काल के निर्धारण के प्रति वे स्वयं संकोची थे। और स्पष्ट शब्दों में उन्होंने यह स्वीकार किया कि यह प्रश्न सुलझाया नहीं जा सकता कि ऋग्वेद का रचना-काल ईसा पूर्व १०००, १५००, २००० अथवा ३००० वर्ष है। जैसा कि विन्तरनीत्ज ने दिखाया है, मैक्समूलर द्वारा एक अन्तिम सीमा माने जाने वाले १२००–१००० ई० पू० को परवर्ती विद्वानों ने बिना कोई और नया तर्क उपस्थित किये ही ऋग्वेद संहिता का रचना काल मान लिया है।

परन्तु कुछ अन्य विद्वान् अन्य एकदम स्वतन्त्र प्रमाणों के आधार पर इस तिथि का समर्थन करते हैं! वे यह बात मान कर चलते हैं कि ऋग्वेद और अवेस्ता प्रायः एक ही काल के हैं। ज्ञात तिथियोंवाले भाषा सम्बन्धी विकास-क्रमों की समता को आधार मानकर वे अवेस्ता की भाषा की ६ ठी शताब्दी ई० पू० के प्राचीन ईरानी अभिलेखों की भाषा से तुलना करते हैं और इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अवेस्ता, तथा अपने वर्तमान रूप में ऋग्वेद भी, लगभग १००० ई० पू० में रचा गया। दूसरी ओर जाकोबी और तिलक जैसे विद्वान् खगोल शास्त्र के आधार पर मैक्समूलर के अनुमान से भी अधिक प्राचीन काल में ऋक् संहिता की तिथि निर्धारित करते हैं। तिलक कुछ वैदिक पाठों को ६००० ई० पू० तक प्राचीन मानते हैं। जाकोबी के मतानुसार वैदिक सभ्यता ४५०० और २५०० ई० पू० के बीच फली फूली और संहिताओं की रचना इस काल के उत्तरार्द्ध में हुई।

इस प्रश्न की वर्तमान स्थिति, इस विषय के महान् विद्वान विन्तरनीत्ज के मतानुसार इस प्रकार समझी जा सकती है कि "उपलब्ध तथ्य केवल यही प्रमाणित करते हैं कि वैदिक-काल एक अज्ञात भूत से, जिसे हम 'क' मान लें, ५०० ई० पू० के बीच था। १२००–५०० ई० पू० १५००–५०० ई० पू० और २०००–५०० ई० पू० आदि सामान्यतः मानी जानेवाली तिथियों में से किसी की भी तथ्यों द्वारा प्रमाणिकता सिद्ध नहीं की जा सकती। हाल की शोधों के परिणाम स्वरूप इतना और कहा जा सकता है कि अन्तिम तिथि ५०० ई० पू० के स्थान पर सम्भवतः ८०० ई० पू० होगी और अज्ञात तिथि 'क' की सीमा दूसरी की अपेक्षा तीसरी सहस्राब्दी ई० पू० में होगी।"[1]

1. विन्तरनीत्ज, जिल्द १ पृष्ठ २५८।

वैदिक साहित्य पर विचार करते समय स्वाभाविक रूप से उससे सम्बन्धित प्रश्न—लेखन कला की प्राचीनता, सामने आ जाता है। विद्वानों का प्रायः एक मत रहा है कि जिन दिनों संहिताओं और ब्राह्मणों की रचना हुई, लेखन कला अज्ञात थी। महान् वैदिक विद्वान् मैक्समूलर तो यहाँ तक कह गये कि चौथी शताब्दी ई० पू० के पहले भारतीयों को लिपि ज्ञान था ही नहीं, परन्तु अब ये विचार त्याग दिये गये हैं। अधिकांश विद्वान् अब यह मत स्वीकार करते हैं कि भारत में लेखन कला का प्रारम्भ ७ वीं शताब्दी ई० पू० से हुआ। वे यह भी मानते हैं कि 'ब्राह्मी लिपि' सेमीटिक वर्णमाला से निकली है; किन्तु किस सेमीटिक जाति से भारतीयों ने यह ज्ञान अर्जन किया। इस सम्बन्ध में लोगों में मतभेद है। लोगों को प्रायः बूह्लर का मत मान्य है। उनका कहना है कि भारतीय लिपि ९ वीं शताब्दी ई० पू० में प्रयुक्त होनेवाली आरम्भिक फोनेशी लिपि से निकली है।

लेखन कला का आरम्भ और प्राचीनता

इस सम्बन्ध में जो यूरोपीय मत हैं उन्हें कुछ भारतीय विद्वान्, विशेष कर प्रो० दे० रा० भण्डारकर स्वीकार नहीं करते। आन्तरिक प्रमाणों के आधार पर उनका कहना है कि भारतीय ऋग्वेद काल से ही लेखन कला जानते थे और ब्राह्मी लिपि का विकास हैदराबाद राज्य में मिले शव समाधियों से निकले प्रागैतिहासिक भाण्डों पर अंकित लिपि-चिन्हों से हुआ है।

मुहेंजोदड़ों की मुहरों की चित्र लिपि की प्राप्ति ने तो इस विषयको एक नया कलेवर ही दे डाला है। अब पूर्णतः निश्चित तो नहीं, पर बहुत सम्भव रूप में मान्य हो सकता है कि प्राचीन भारतीय लिपि सिन्धु घाटी में प्रचलित चित्र-लिपि से ही निकली हो। किन्तु खेद है कि हम तीसरी या चौथी शती ई० पू० में सर्वप्रथम मिलनेवाली ब्राह्मी-लिपि के नमूनों के पूर्व के २००० वर्ष से भी अधिक वर्षों के इसके विकास का क्रम नहीं निश्चित कर सकते।

वे लोग जो यह मानते हैं कि वैदिक काल में लेखन कला अज्ञात थी, इस निष्कर्ष पर पहुँचने के लिये बाध्य हैं कि समस्त वैदिक साहित्य केवल मौखिक परम्परा द्वारा सुरक्षित हुआ। जो लोग इसे अविश्वसनीय समझते हैं, उन्हें मैक्स-मूलर के शब्दों में निम्नलिखित प्रकार का उत्तर दिया जा सकता है—

"इस प्रकार की खोजों में यह कहने से कि यह बात असम्भव है काम नहीं चलता। ऐसे समाज की स्मृतिशक्ति के सम्बन्ध में, जो हमारे समाज से उतना ही भिन्न है जितना हमारे विश्वविद्यालयों से भारतीय परिषद्, हम कोई धारणा नहीं बना सकते।............आज भी जब न तो पुस्तकें दुर्लभ हैं और न मँहगी ही,

ब्राह्मण बालक वैदिक ऋचाओं, ब्राह्मणों और सूत्रों को प्रायः मौखिक परम्परा से ही सीखते और कंठस्थ करते हैं। वे अपने गुरुओं के निर्देशन में वर्षों बिताते हैं, उनकी देखरेख में धीरे २ नित्य-प्रति जो कुछ सीखते हैं उसे दुहराते हुए आगे बढ़ते हैं और अन्त में उस विषय पर अधिकार प्राप्त कर स्वयं गुरु होने योग्य बन जाते हैं।"

"तो वेद की शिक्षा किस प्रकार प्राप्त की जाती थी? ब्रह्मचर्य-काल के १२ वर्ष की अवधि में (विवाह न करने की इच्छा रखनेवालों के लिये ४८ वर्ष तक) प्रत्येक ब्राह्मण उसका अध्ययन करता था। प्रातिशाख्य में ब्राह्मण-गुरुकुलों के अध्ययन-कक्षों की झलक मिलती है।·· ······शिष्य अपने गुरु की अभ्यर्थना कर पढ़ाने को कहता है। गुरु गम्भीरता से 'ॐ' अर्थात् 'अच्छा' कहकर तीन चरणों का प्रश्न उपस्थित करता है। शिष्यों के ध्यान से कोई शब्द छूट न जाय वह ऊँचे स्वर में उनका उच्चारण करता है और कतिपय शब्दों को दुहराता है।"

गुरु द्वारा शब्द समूहों के, जिसमें तीन और कभी २ अधिक शब्द भी होते हैं, उच्चारण किये जाने के बाद पहला शिष्य पहले शब्द को दुहराता है। जब किसी व्याख्या की आवश्यकता होती है तो गुरु उसे रोकता है। कक्षा में सबसे तेज शिष्य द्वारा व्याख्या किये जाने के बाद आगे बढ़ने का आदेश निकलता है। इस प्रकार एक शिष्य द्वारा गुरु के शब्दों की पुनरावृत्ति किये जाने के पश्चात् दूसरा शिष्य उसके प्रति उसी प्रकार आवेदन करता है। इस प्रकार तीन छन्दों की पूरी पढ़ाई समाप्त हो जाने के पश्चात् सभी विद्यार्थियों को उसकी बार-बार पुनरावृत्ति करनी होती है।

छठाँ अध्याय

प्रारम्भिक आर्य समाज

पिछले अध्याय में जिस धार्मिक साहित्य की चर्चा की गयी है, वह लगभग १४०० वर्षों में कालायत्त है। जैसा कि पहले कहा गया है, यद्यपि कोई निश्चित तिथि निर्धारित करना सम्भव नहीं है, तथापि २०००—६०० ई० पू० के बीच का काल उसके लिये मानना अनुपयुक्त न होगा। आर्यों के इस काल के इतिहास को जानने के लिये हमें इन पुस्तकों पर प्रायः सर्वांशतः निर्भर करना पड़ता है और ध्यानपूर्वक छानबीन करने पर उनमें इन १४०० वर्षों के आर्य-जीवन का महत्त्व-पूर्ण विवरण प्राप्त होता है।

आर्यों की सबसे पहली साहित्यिक रचना होने के कारण ऋग्वेद संहिता उनके जीवन के आरम्भिक स्वरूप पर प्रकाश डालती है। उसी के आधार पर तत्कालीन अवस्था की मुख्य-मुख्य बातों की चर्चा की जा रही है।

आर्यों का निवास

सबसे पहले आर्यों के निवास की बात। सिन्धु की घाटियों और उसकी सहायक नदियों तथा सरस्वती[1] और दृषद्वती नदी की घाटियों के प्रदेश भारत में इन लोगों के सबसे प्रथम उपनिवेश थे। इस प्रकार आरंभ में यद्यपि वे मुख्य रूप से उस प्रदेश तक सीमित थे जो आजकल पंजाब कहलाता है उनकी बाहरी बस्तियाँ, बढ़ते-बढ़ते पूरब की ओर गंगा और यमुना के किनारे तक पहुँच गयीं। दूसरी ओर कुछ आर्य कबीले सिन्धु के पश्चिम काबुल, स्वात, कुर्रम और गोमेल नदियों के किनारे अब भी पड़े रहे।

आर्य अपनी खानाबदोशी छोड़कर स्थायी रूप से मकानों में रहने लगे थे। ये मकान लकड़ी और बांस के बने होते थे और वे आधुनिक देहाती मकानों से बहुत भिन्न न होते थे। यत्र-तत्र इस बात की भी चर्चा है कि लकड़ी के बने ये मकान स्थानांतरण योग्य भी होते थे और टुकड़ों में उठा कर अन्यत्र लेजाकर खड़े किये जा सकते थे।

---

१. सरस्वती नदी, आर्यों की दृष्टि में बहुत पवित्र समझी जाती थी। वह आधुनिक पटियाला राज्य से हो कर बहती थी, किन्तु रेगिस्तानी बालू में वह अब एक दम लुप्त हो गयी है।

इन घरों में आर्य लोगों ने एक सुखद पारिवारिक जीवन का विकास किया। उसका रूप आज भी हम अपने चारों ओर पाते हैं। परिवार का आधार विवाह का पवित्र बंधन था। प्राचीन आर्यों की दृष्टि में पति-पत्नी के सम्बन्ध के अतिरिक्त दूसरा और अधिक कोमल सम्बन्ध न था। पत्नी पति के अधीन होते हुए भी गृहस्वामिनी थी और खेतिहर मजदूरों तथा दासों पर वह शासन करती थी। उसका महत्त्व इस बात से पूर्णतः प्रकट है कि वह पति के साथ सभी धार्मिक कृत्यों में भाग लेती थी। हम यह पढ़ते हैं कि किस प्रकार ऊषाकाल में अनुरक्त दम्पति एकमति होकर उपयुक्त शब्दों में ईश्वर की प्रार्थना करते थे। पर्दा प्रथा न थी। पति के घर आये हुए लोगों से स्त्रियाँ खुल कर बातें करती थीं और दावतों तथा यज्ञों मे काफी अलंकृत और सुसज्जित होकर जाती थीं। गृह-कर्त्तव्यों के प्रति वे अत्यन्त सतर्क थीं। ऋग्वेद में उनके प्रातः उठने, नौकरों को काम पर लगाने और स्वयं गीत गाते हुए काम में लग जाने का आनन्ददायक चित्रण है। शिक्षा के क्षेत्र में भी वे किसी प्रकार उपेक्षित न थीं। विश्ववारा, अपाला और घोषा आदि स्त्रियों ने तो मन्त्रों की रचना कर ऋषि पद प्राप्त किया। घोषा अपने माता-पिता के घर में ही रहती और अविवाहिता थी। साधारणतया ऋतुदर्शन के बाद स्त्रियों का विवाह हो जाता। विवाह में कोई बन्धन नहीं था और बालक-बालिकाओं को अपने जीवन-सङ्गियों के चुनने में काफी स्वतन्त्रता थी। ऋग्वेद (दशम, ८५) की एक सुन्दर ऋचा से भारत की प्राचीनतम विवाह-पद्धति का कुछ ज्ञान प्राप्त होता है।

पारिवारिक जीवन

पत्नी अथवा पत्नियाँ (बहुपत्नीत्व की प्रथा अज्ञात न थी) के अतिरिक्त माता-पिता और भाई-बहिन आर्य परिवार के अन्य महत्त्वपूर्ण सदस्य होते थे। परिवार के सभी व्यक्तियों के बीच जो स्निग्ध और स्नेहपूर्ण सम्बन्ध था, वह भारतीय समाज की एक विशिष्टता रही है और उसका आकर्षक वर्णन रामायण और महाभारत आदि परवर्ती साहित्य में हुआ है।

परिवार पितृ-प्रधान था और सिद्धान्ततः बच्चों पर माता-पिता का पूर्ण नियन्त्रण होता था। ऋज्राश्व के उदाहरण में पारिवारिक अनुशासन की कठोरता ज्ञात होती है। उसके पिता की दण्डाज्ञा से उसकी आँखें निकाल ली गई थी।

परिवार राज्य का मूल आधार था। अनेक परिवार आत्मीयता के वास्तविक अथवा कृत्रिम सम्बन्धों के आधार पर मिलकर गोत्र का निर्माण करते और अनेक गोत्र मिल कर विश् निर्माण करते और इन विशों से जन (समूह) बनते थे। जन तत्कालीन सबसे बड़ी राजनीतिक इकाई थी। ऋग्वेद में भरत, मत्स्य, कृवि, तृत्सु तथा तुर्वश, यदु, पुरु, द्रुह्यु और अनु से उद्भूत पञ्चकृष्टियों का उल्लेख है।

राजनीतिक संघटन

कबायली राज्यों के शासन संघटन के स्वरूप में कोई एकरूपता न थी। वंशगत राज्यतन्त्र शासन का सामान्य प्रकार था किन्तु कभी-कभी राजा के निर्वाचन की चर्चा भी पायी जाती है। कुछ राज्यों में एक प्रकार का उच्चजनतन्त्र था जिसमें राजपरिवार के अनेक व्यक्ति मिल कर जनता पर समानरूप से शासन करते थे। कुछ कबीलों में लोकतन्त्रीय व्यवस्था थी और उनके प्रधान जनता द्वारा निर्वाचित होते थे।

राज्य सामान्यतः छोटे २ थे। किन्तु ऋग्वेद की अनेक ऋचाओं से जान पड़ता है कि एक राजा का दूसरे राजा पर प्रभुत्व भी होता था और उनके पास अपार सम्पदा होती थी। यथा-राजा कशु ने एक ऋषि को दस राजाओं को दान में दिया था। अनेक राजाओं द्वारा अपने पुरोहितों को हजारों की संख्या में गायों, रथों, घोड़ों, सोनों, वस्त्रों और दासियों को दान में देने का उल्लेख पाया जाता है। सम्राट् शब्द का उल्लेख, जिसका तात्पर्य परवर्त्ती काल में राजाधिराज एवं विश्व का शासक हो गया (विश्वस्य भुवनस्य राजा), ऋग्वेद में पाया जाता है। जो भी हो, राजा सदैव छोटे-मोटे कबीले का सरदार मात्र न था। कभी-कभी तो जनता से निश्चित भेद दिखाने वाली उसकी एक महान् निजी मर्यादा होती थी। विधिवत् एक यज्ञ द्वारा उसका राज्याभिषेक होता था और वह ठाटबाट के कपड़े पहनता तथा सामान्य भवनों से बड़े और काफी अलंकृत महलों में रहता था।

राजा युद्ध में अपने कबीले का नेतृत्व करता और प्रजा के धन-जन की रक्षा करना अपना उच्चतम पवित्र कर्त्तव्य मानता था। बदले में जनता उसे स्वेच्छापूर्वक बलि (खिराज अथवा भेंट) देती थी। विजित कबीलों को भी भेंट देनी पड़ती थी। किन्तु राजा का भूमि पर कोई स्वत्व न था।

पुरोहित और सम्भवतः कुछ अन्य सलाहकारों की सहायता से राजा न्याय का वितरण करता था। चोरी, सेंधमारी, डकैती और पशु अपहरण मुख्य अपराध थे। अपराधी को पेड़ अथवा अन्य किसी खड़ी चीज से बाँध देना सामान्य दण्ड था। वैरदेय (बदला चुकाने) की प्रथा प्रचलित थी। शतदाय सदृश विशेषण का प्रयोग पाया जाता है जिसका तात्पर्य था "वह व्यक्ति जिसके जीवन मूल्य की बराबरी सौ गायों अथवा सिक्कों से हो"।

राज्याधिकारियों में पुरोहित, सेनानी, (सेनापति) और ग्रामणी (ग्राम का मुखिया) सर्व प्रमुख थे। दूतों और जासूसों (स्पश्) का भी उल्लेख पाया जाता है। और भी अनेक अधिकारी रहे होंगे जिनके सम्बन्ध में कुछ ज्ञात नहीं है।

सभा और समिति नामक दो जन सभाओं का ऋग्वेद में विशेष उल्लेख है, जो शासन का महत्वपूर्ण अंग ज्ञात होती हैं। इन जन-संस्थाओं के संगठन अथवा उन दोनों के अन्तर संबंध के बारे में हमें निश्चित रूप से कुछ भी ज्ञात नहीं होता। बहुत संभव है, समिति में सामान्य जनता का प्रतिनिधित्व हो। यह मुख्यतः राजनीतिक कार्यों से सम्बंधित थी। सभा का स्वरूप कम राजनीतिक था और यह अभिजातवर्गीय धनिकों की एक सीमित संस्था जान पड़ती है। जिन ऋचाओं में उनका उल्लेख हुआ है उनमें से अधिकांश से स्पष्ट जान पड़ता है कि शासन में इन संस्थाओं का बहुत अधिक महत्व और अधिकार था और वे राजा के निरंकुश अधिकार पर एक नियंत्रण का काम करती थी। इन संस्थाओं में राजनीतिक विषयों पर खुलकर स्वतंत्ररूप से वाद-विवाद होता था और प्रत्येक व्यक्ति यह चाहता था कि अन्य सभी व्यक्ति उसकी बात स्वीकार करें। परन्तु सब कुछ होते हुये उनका यह भी आदर्श था कि सभा के विभिन्न सदस्य एकरसता से कार्य करें और यह ऋग्वेद की अन्तिम ऋचा में सुन्दर रूप से व्यक्त किया गया है।

"आवें, हम समानरूप से बोलें, हमारी समिति समान (एकमत) हो। हमारे मन और चित्त समान हों। हम अपने सम्मुख समान उद्देश्य रखें। सबके निश्चय समान हों और सबका मत समान हो और जिस प्रकार सुखपूर्वक हम सभी मिल सकें वैसे समान हमारे विचार हों।"

जब परिषद के गम्भीर कार्य समाप्त हो जाते थे तो सभा गोष्ठी (क्लब) के रूप में बदल जाती, जहाँ लोग खाते-पीते और सुखपूर्वक गप्प आदि करते थे। आर्य लोग शाक और माँस दोनों ही खाते थे। वे केवल मछलियों, पक्षियों, भेड़ों तथा बकरी का ही माँस नहीं खाते वरन् उनके खाने के लिए घोड़े, भैंसें और बैल भी काटे जाते थे। चावल, दाल, जौ और तिल उनके मुख्य निरामिष खाद्य थे। वे न केवल भात वरन् आटे की बनी मोटी और पतली रोटियाँ भी खाते थे। दूध और उनसे तैयार किये हुए अनेक खाद्य जैसे घी, मक्खन और दही तथा फल, तरकारी, ईख और कमल के विभिन्न भाग उनके प्रिय पेय और भोज्य थे।

खान-पान

यह समझना भूल होगी कि वैदिक आर्य अपनी प्यास दूध और पानी से ही बुझाते थे। वे नशीले पेय भी पीते थे जिनमें मुख्य जौ आदि अन्नों से बनी हुई सुरा और सोमरस थे। सोमरस के तो वे इतने आदी थे कि उसे उन्होंने देवत्व तक प्रदान कर दिया।

साधारणतः लोग एक उत्तरीय और एक अधोवस्त्र पहनते थे। परवर्ती संहिता-काल में अन्तर्वस्त्र का भी प्रयोग होने लगा था। इनके अतिरिक्त, वधू अथवा नर्तकियों आदि द्वारा पहने जानेवाले अन्य अनेक प्रकार के वस्त्रों के उल्लेख पाये जाते हैं। कभी-कभी ऊन और चमड़ों के भी कपड़े पहनते थे तथा वे अनेक रंगोंवाले होते थे। अनेक प्रकार के सोने और मणियों के आभूषण स्त्री और पुरुष दोनों पहनते थे। स्त्री और पुरुष दोनों ही तेल लगाते और बाल काढ़ते तथा चोटी करते थे। पुरुष मूँछ और दाढ़ी रखते थे लेकिन कभी-कभी लोग उन्हें मुड़ाते भी थे।

वस्त्र

खेती उन लोगों का स्वाभाविकरूप से मुख्य उद्यम था। आज के किसानों की भाँति ही वे हल और बैलों की जोड़ियों की सहायता से खेत जोतते थे। सिंचाई एवं खेती सम्बन्धी अन्य कार्य पिछले तीन-चार हजार वर्षों से आज तक ज्यों के त्यों होते चले आ रहे हैं।

उद्योग

परवर्ती संहिताओं में बड़े और भारी हलों का उल्लेख पाया जाता है जिनमें छह, आठ, बारह और चौबीस-चौबीस बैल भी जोते जाते थे। अभी लोग पशु-चारण की अवस्था में ही थे। फलतः गाय और बैल ही उनकी मुख्य सम्पत्ति थे। पशु-पालन की ओर स्वाभाविकरूप से अधिक ध्यान दिया जाता था और अनेक ऋचाओं में गाय को उपभोग के लिए इन्द्र प्रदत्त सभी सुन्दर वस्तुओं का सार कहा गया है।

अन्य महत्त्व के उद्यमों में प्रमुख सूत और ऊन की बुनाई थी, जिससे लोगों को पहनने के वस्त्र मिलते थे। यह बात उल्लेखनीय है कि परवर्ती काल की ही तरह स्त्री और पुरुष दोनों ही इस उद्योग में लगे हुए थे और वे रंगाई और कसीदे का भी काम करते थे। इसके बाद रथकारों का स्थान था। वे घर बनाते, गृहस्थी के सामान-बर्तन और खाट आदि, देते थे। वे लोग रथ, गाड़ी, पोत और नौका भी बनाते थे। कितने ही उनमें लकड़ी की नक्काशी में कुशल होते थे तथा सुन्दर कलात्मक प्याले बनाते थे। लोहारों का भी अस्तित्व था। वे महीन सुइयों से लेकर हँसिया, हलों के फल, भाला, तलवार आदि जीवन की सभी आवश्यक वस्तुएँ बनाते थे। सोनार सोने और जवाहरात के काम करते और विलासी तथा धनिक लोगों के फैशनों में योग देते थे! चर्मकार लोग चमड़ा कमाते और प्रत्यञ्चा एवं सुरा रखने के मशक आदि विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ तैयार करते थे।

वैद्यों और पुरोहितों का भी प्रमुख स्थान था। वैद्य लोग जड़ी-बूटियों के सहारे न केवल रोगों को अच्छा करते थे वरन् लोगों पर अधिकार जमाये हुए भूत-पिशाचों

को भी बनाते थे। पुरोहित लोग मन्त्रों की रचना करते, बालकों को शब्दावृत्ति से उन्हें याद कराते तथा राजाओं, धनियों और सर्वसाधारण सभी व्यक्तियों की पुरोहिती का काम करते थे।

एक ही परिवार के लोग विभिन्न कला-कौशल और उद्योगों में भाग लेते थे। इसका एक अच्छा खासा उदाहरण एक ऋचा (नवम, ११२) में इस प्रकार पाया जाता है "मैं कवि हूँ, मेरा पिता वैद्य है, मेरी माँ अन्न पीसती है, साधन भिन्न हैं किन्तु सभी को धन की इच्छा है और सभी समान रूप से पशुओं की आकांक्षा करते हैं।" इससे स्पष्ट है कि उद्योगों के सम्बन्ध में पूरी स्वतन्त्रता थी, कोई कहीं भी जाकर कोई मजदूरी कर सकता था और पैतृक उद्योग-धन्धों की भावना तब तक समाज में विकसित न हुई थी।

जाति व्यवस्था

पुरोहितों और सैनिकों के पेशे अन्य पेशों को अपेक्षा उच्च समझे जाते थे इनके पेशेवर क्रमशः ब्राह्मण और राजन्य (पीछे क्षत्रिय) कहे जाने लगे और वे 'विश' अर्थात् साधारण आर्य जनता से भिन्न थे। 'विश' अर्थात् सामान्य जनता आगे चल कर वैश्य कही जाने लगी। किन्तु ब्राह्मणों और क्षत्रियों के पेशे भी अन्य पेशों की भांति पैतृक अथवा किसी वर्ग विशेष के न थे। सम्भवतः आरम्भ में तो उनका कोई स्पष्ट और नियमित वर्ग भी न था। इस प्रकार आर्यों के अपने समाज में जहाँ पूर्णतः एकतात्विकता बनी हुई थी, आर्यों और उनकी अधीनता स्वीकार कर लेने वाले आदिवासियों के बीच स्पष्ट अन्तर था। उनमें से अधिकांश आर्यों के यहाँ परिचारकी अथवा अन्य स्वतन्त्र निम्न उद्योग-धन्धे करते थे। उनमें से कुछ ऐसे थे जो अपनी पूर्व सामाजिक स्थिति और विद्या के कारण कुछ अधिक प्रतिष्ठा के पात्र थे। सामूहिक रूपसे ये लोग दास अथवा शूद्र कहलाते थे और समाज में उनकी स्थिति आर्यों से नीची समझी जाती थी।

ऋग्वेद के पुरुष सूक्त नामक एक परवर्त्ती-सूक्त (दशम, ९०) में कहा गया है कि देवताओं ने पुरुष (स्रष्टा) को जब विभाजित किया तो "ब्राह्मण उसके मुख से, राजन्य उसकी बाहुओं से, वैश्य उसकी जानु (जंघों) से और शूद्र उसके पैरों से उत्पन्न हुआ।" ऋग्वेद नाम से प्रसिद्ध विशाल संग्रह में यही एक ऐसा सूक्त है जिसमें राजन्य, वैश्य और शूद्र का नाम आया है और ब्राह्मण शब्द का प्रयोग भी उसमें यदा-कदा ही हुआ है। इससे जान पड़ता है कि ऋग्वैदिक काल के अन्तिम चरण के आते आते भावी वर्ण-व्यवस्था की पूर्वछाया चातुर्वर्ण्य का आरम्भ मात्र हुआ था। इस प्रकार के वर्ण भेद ईरानियों एवं अन्य प्राचीन लोगों में भी पाये जाते हैं पर उनमें जातिभेद कभी विकसित नहीं हो पाया। भारतीय

आर्यों का सामाजिक विकास क्यों कर उनसे भिन्न रूप में हुआ इस पर अगले अध्याय में प्रकाश डाला जायगा।

कुछ विद्वानों का मत है कि ऋग्वैदिक काल में ही ब्राह्मण और क्षत्रिय संगठित हो गये थे और जाति व्यवस्था के मुख्य तत्वों का विकास उसी समय हो चुका था। किन्तु इस धारणा का आस्तित्व संभव नहीं जान पड़ता, क्योंकि न केवल ब्राह्मण वरन् क्षत्रिय शब्द का भी प्रयोग ऋग्वेद में बहुत ही कम हुआ है।

उत्तर-ब्राह्मण-साहित्य पर आधृत जन साधारण की धारणा है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र क्रमशः स्रष्टा के मुख, बाहुओं, जंघों और चरणों से उत्पन्न हुए किन्तु इस विषय से सम्बद्ध सबसे पहले वैदिक सूक्त पुरुषसूक्त से तो निर्दिष्ट है कि पहली तीन जातियाँ स्रष्टा के तीन अंग ही थीं न कि उनसे उत्पन्न हुई थीं। इन दोनों स्थितियों में बड़ा भारी अन्तर है। पहले के अनुसार एक ही आंगिक तत्व के अंग होने के कारण उनकी बराबरी की स्थिति का बोध होता है और दूसरे के अनुसार जन्मस्थल के आधार पर पदों की मर्यादा और स्तर भेद व्यक्त करने का जान-बूझ कर किया गया प्रयत्न जान पड़ता है। इस प्रकार परवर्त्ती सामाजिक परिवर्तनों के समर्थकों ने इस अनुश्रुतिक कल्पना की व्याख्या गलत रूप में अपने पक्ष में करके अपने विचारों को प्रश्रय देने का प्रयत्न किया।

व्यापार

व्यापार और नौवहन होता था। नौवहन पंजाब की नदियों तक ही सीमित न था वरन् ऐसा जान पड़ता है कि आर्य लोग खुले समुद्रों में भी जाने की हिम्मत रखते थे। बाबुल और पश्चिमी एशिया के अन्य देशों के साथ संभवतः उनका व्यापारिक सम्बन्ध था।

विनिमय

सिक्का अथवा उस ढङ्ग की कोई वस्तु अर्थात् निश्चित मूल्य वाले धातु के टुकड़ों से सम्भवतः लोग परिचित थे किन्तु उनका प्रयोग बहुत सीमित था। सामान्य आदान-प्रदान वस्तु विनिमय द्वारा होता था। गाय मूल्यांकन का महत्त्वपूर्ण मान समझी जाती थी। चीजों का मूल्य प्रायः गायों की संख्या में आंका जाता था।

युद्ध

समाज की शान्ति की सामान्य स्थिति जब तब युद्धों द्वारा भंग हो जाया करती थी। आर्यों और देश के मूल निवासियों के बीच हुए युद्धों की चर्चा की जा चुकी है! जब जब आर्य देश के भीतर आगे बढ़े होंगे युद्ध बराबर चलते रहे होंगे। किन्तु आर्य कबीले भी बहुधा परस्पर लड़ते रहते थे। तृत्सु जाति के राजा सुदास

ने भरतों के साथ मिल कर दस राजाओं के संघ से लड़ाई की थी और उन पर पूर्ण विजय प्राप्त की थी।

सेना

सेना के मुख्य अंग रथ और पदाति थे और उनके मुख्य शस्त्र धनुष-बाण भाले-बरछे और गुलेल थे। सैनिक अपने कबीलों और विषयों के अनुसार संगठित किये जाते थे और वे कवच तथा शिरस्त्राण धारण कर अपने शरीर की रक्षा करते थे।

आमोद-प्रमोद

सामान्यतः लोग आनन्द पूर्ण आरामदेह जीवन व्यतीत करते थे। स्त्री-पुरुष खुशी मनाने वाले समाजों में एकत्र होकर नाच-गाने द्वारा आमोद-प्रमोद करते थे। द्यूत-गृह बहुत प्रचलित थे और पुरुष अपना समय जुए और शराब में गँवाते थे। रथ दौड़ और आखेट अनेक खेलों में काफी लोक प्रिय थे।

आचार

इससे यह न समझ लेना चाहिए कि आर्य लोग लघुचेता अथवा गाम्भीर्य-हीन थे और उनमें कर्त्तव्य-भावना अथवा नीति का अभाव था। वैदिक ऋचाओं में "उच्च कोटि के और व्यापक नैतिकता के प्रमाण" मिलते हैं। उनमें उन लोगों की भर्त्सना की गयी है जो घर में भोजन रहते हुए भी भूखों के प्रति अपना हृदय कठोर बना लेते हैं [1] तथा ऐसे लोगों की समृद्धि की सराहना की गयी है जो मांगने वाले की आवश्यकता की पूर्त्ति करते हैं और निर्बलों को सहायता पहुँचाते हैं। आतिथ्य सत्कार पर बार-बार जोर दिया गया है और साथ ही चोरों डाकुओं और झूठ बोलने वालों के विनाश की देवताओं से प्रार्थनायें की गई हैं। जादू-टोना अपहरण और बलात्कार को अपराध कहा गया है। आर्य लोग न तो किसी दुष्ट देवता को मानते और न किसी घृणित और हानिकारक प्रयोग को अपनाते थे बल्कि दूसरी ओर सूक्तों ने अग्नि से प्रार्थना की है कि उन्हें वह शुद्ध बुद्धि दे। वरुण से कहा गया है कि आकाश पाताल और पृथ्वी पर किये गये उनके पापों के बन्धनों को काटें ताकि वे अदिति के सम्मुख ठिकाने से खड़े हो सकें।

धर्म

इस प्रकार वैदिक गायकों ने असंख्य देवोपासनाओं और धार्मिक कृत्यों के पालन के अतिरिक्त अन्य कर्त्तव्यों पर भी पूरा ध्यान दिया। तथापि यह मानना पड़ेगा कि उन लोगों का धर्म सर्वोपरि कर्मकाण्डप्रधान था और देवोपासना मनुष्य का प्रथम कर्त्तव्य समझी जाती थी।

---

१. देखिये अध्याय के अन्त में दी गई उदारता सम्बन्धी ऋचा

प्रार्थना

वैदिक पूजा प्रधान रूप में प्रार्थना और हवन-तर्पण वाली थी। रूढ़िबद्ध परन्तु पवित्र मंत्रों का जाप उस समय तक अज्ञात था। प्रस्तुत ऋचाओं की नवीनता को विशेष मूल्यवान माना जाता था। उनके कर्मकाण्ड में यौगिक साधनाओं का अभी कोई मूल्य नहीं था। प्रार्थनाओं से युक्त यज्ञ ही उनका प्रधान धार्मिक कृत्य था। उनकी ये प्रार्थनाएं ही ऋचाओं के रूप में आज प्राप्य हैं। उनमें से कुछ नमूने के रूप में इस अध्याय के अन्त में उद्धृत की गयी है।

यज्ञ

यज्ञों के सम्बन्ध में हम अधिक ब्यौरेवार तो नहीं जानते किन्तु ऐसा जान पड़ता है कि सामान्य खाद्य और पेय के रूप में हव्य अग्नि में डाले जाते थे ताकि वे देवताओं तक पहुँच जाँय। कभी कभी यज्ञ में घोड़ों भेड़ों, भैंसों, साँड़ों, और गायों की भी बलि होती थी। यज्ञ विधान सरल होते हुए भी उसका सिद्धान्त बहुत ही पेचीदा था। यज्ञ की आवश्यकता और उद्देश्य को विभिन्न उग्रवादी तर्कों और दृष्टि-कोणों से देखा जाता था। कहीं उसे ईश्वर और मनुष्य के बीच एक प्रकार का लेन-देन माना गया है—मनुष्य की आवश्यकताएँ ईश्वर की उदारता से ही पूरी हो सकती हैं और होती हैं; अतः मनुष्य ईश्वर को अपनी भूख और प्यास मिटाने के लिए खाद्य और पेय भेंट करता है। कभी कभी लेन-देन की यह भावना एक दम छोड़ दी गयी है और यज्ञ को देवताओं से हुए और होने वाले लाभ के प्रति कृतज्ञता और स्नेह प्रकट करने का साधन समझा गया है। सर्वोपरि यज्ञ के सम्बन्ध में कुछ रहस्यवादी भावना थी। कभी कभी उसका सम्बन्ध उस महा शक्ति से जोड़ा जाता है, जो सृष्टि-क्रम को जारी रखती है, जिसके बिना न तो दिन हो सकता और न रात, न उपज हो सकती और न वर्षा—क्योंकि उसके बिना उन्हें देने की शक्ति देवता को देंगे। यही नहीं, देवताओं और विश्व का जन्म भी एक यज्ञकार्य के कारण ही हुआ माना गया है जिसके बिना फिर सभी चीजें अराजकता की अवस्था में चली जायँगी। इस प्रतीकवाद को मानते हुए प्रकृति की सारी व्यवस्था को निरन्तर चलने वाला एक विस्तृत यज्ञ मान लिया गया। बिजली और सूर्य को इसकी पवित्र ज्वालायें, तड़ित् को मंत्र, वर्षा और नदियों को हवि और देवता तथा स्वर्ग-निवासियों को पुरोहित मान लिया गया। इस रहस्यवादी कल्पना के सम्बन्ध में हम चाहे जो भी विचार रखें, इसके पीछे निहित भावना के सौन्दर्य की चकाचौंध से प्रभावित हुए बिना कोई नहीं रह सकता।

जिन देवताओं को यज्ञ द्वारा हवि दी जाती थी वे अनेक वर्ग और विभिन्न स्वरूपों के हैं। यह सच है कि कल्पना को प्रभावित करने वाली और लाभ अथवा हानि पहुँचाने की शक्ति रखने वाली प्रकृति की प्रत्येक वस्तु की प्राचीन आर्यों ने पूजा की। किन्तु इनका महत्त्व वैदिक ऋचाओं के लक्ष्य व्यक्ति-देवताओं की अपेक्षा कम था। ये व्यक्ति देवता अधिकांशतः प्रकृति के स्वभाव और साधनों के देवकृत प्रतिनिधि माने गये और उनमें मानवीय चेतनाओं और भावनाओं का प्रतिष्ठापन कर दिया गया। इन देवताओं के नामों अथवा विशेषणों से उनकी उत्पत्ति आदि का पता लगता है। यथा द्यौः (आकाश), पृथ्वी, सूर्य, उषस्, अग्नि और सोम।

वैदिक देवता

साधारणतया उन प्राकृतिक क्रियाओं को जिनसे इन देवताओं का विकास हुआ भुला दिया गया है। उनके अनेक नये रूपक और विशेषण जोड़ दिये गये हैं यहाँ तक कि कभी २ तो इन देवताओं की उत्पत्ति ही एक दम भुला दी गयी है। यथा-अग्नि और सोम अपने प्राकृतिक स्वरूपों को स्पष्टतः बनाये रखते हुए भी ऐसी रहस्यमयी शक्तियों से अभिभूत कर दिए गये हैं, जिनसे वे सूर्य और तारों को प्रभावित करते, जल को उर्वर बनाते तथा वृक्ष और बीजों को पृथ्वी पर उगाते और बढ़ाते हैं। दूसरी ओर इन्द्र की भौतिक विशेषताएँ उन पर थोपे गये गुणों के कारण एकदम छिप गयी हैं। वे मुख्यतः मेघ गर्जन के देवता हैं किन्तु उनके चारों ओर अनेक विचित्र कल्पनाएँ इकट्ठी हो गई हैं। सर्वोपरि वे भारत के अनार्य निवासियों के विरुद्ध आर्यों का नेतृत्व करने वाले एक आदर्श आर्य-सेनापति प्रतीत होते हैं।

प्रमुख वैदिक देवताओं की विस्तृत चर्चा यहाँ असम्भव है। उनके वर्गीकरण के अनेक प्रयत्न हुए जिनमें सर्वप्रथम और सम्भवतः सर्वोत्तम वर्गीकरण यास्क का है। वह प्रकृति के उन आधारों पर है जिनको वे देवता व्यक्त करते हैं। उन्होंने देवताओं को पृथिवी, वायु मण्डल और आकाश के किसी न किसी कृत्य का प्रतिनिधित्व करने के कारण तीन श्रेणियों में विभक्त किया है। इस प्रकार--(१) पृथ्वी, अग्नि, बृहस्पति (प्रार्थना), और सोम पार्थिव देवता (२) इन्द्र, रुद्र (सम्भवतः बिजली) मरुत्, वायु और पर्जन्य वायु मण्डल के देवता और (३) द्यौः, वरुण, उषस्, अश्विन (सम्भवतः गोधूलि और उषा काल के तारे) सूर्य, मित्र, सवितृ और विष्णु (सम्भवतः प्रकृति की सबसे चमकीली वस्तु अर्थात् सूर्य के प्रतीक) आकाश के देवता कहे गये हैं।

वैदिक देवताओं में किसी प्रकार का बड़े और छोटे का भेद नहीं है। हाँ, यह बात अवश्य है कि कुछ देवताओं का वैदिक मंत्रों में अन्य देवताओं की अपेक्षा अधिक उल्लेख हुआ है, यथा—ऋग्वेद में लगभग एक चौथाई मन्त्रों में इन्द्र की प्रार्थना की गयी है। तथापि उनमें से कोई भी यूनानी देवता जियस् की तरह प्रधान नहीं माना गया है। भिन्न भिन्न अवसरों पर भिन्न भिन्न देवता अपने पूजकों द्वारा प्रधान माने गये हैं! इस सम्बन्ध में वैदिक आर्यों के सच्चे भाव एक सूक्त में इस प्रकार व्यक्त किये गये हैं—"हे देवताओ! तुम में से कोई छोटा नहीं है तुम में से कोई भी नन्हा बच्चा नहीं है। तुम सभी महान् हो।" ऐसा होते हुए भी वैदिक मन्त्रों में कहीं २ देवताओं के शक्तिशाली, निर्बल जवान और बूढ़े होने के उल्लेख हैं! जो देवता एक जगह दूसरों पर शासन करने वाले बताये गये हैं वे ही दूसरी जगह उन पर आश्रित भी कहे गये हैं। इस प्रकार के परस्पर-विरोधी उल्लेख बहुत पाये गये हैं। कभी कभी एक देवता दूसरे देवता का रूप बताया गया है और इस प्रकार उस महान् एकेश्वरवादी सिद्धान्त की कल्पना की प्रक्रिया बढ़ती गई कि "सभी देवता एक ही और वही हैं। केवल ऋषियों ने उन्हें विभिन्न रूपों में व्यक्त किया।"

आर्यों के इस संक्षिप्त परिचय के अन्त में उनके सूक्तों में छिपी हुई उनकी महान् पवित्र और कवित्वपूर्ण भावनाओं की चर्चा किये बिना नहीं रहा जा सकता। म्यूर महोदय ने ऐसे चार उदाहरण इकट्ठे किये हैं, जिनसे मुख्य देवताओं का न केवल स्वरूप प्रकट होता है वरन् उनके दार्शनिक विचार और अत्याचार सम्बन्धी धारणाओं पर प्रकाश पड़ता है। प्रथम तीन[1] में तो तीन मुख्य वैदिक देवताओं-इन्द्र अग्नि और उषा—का छन्दोबद्ध चित्रण है। "किसी वैदिक मंत्र-विशेष के वह शब्दानुवाद नहीं अपितु मंत्रों में निहित उन देवताओं के स्वरूपों का एक रूप में निर्देशन हेतु संग्रह मात्र है।" अन्तिम मन्त्र की विशेष चर्चा की जा सकती है। वह उषस् का मन्त्र (प्रथम, ८४) है और उसमें प्रकृति-प्रेम एवं गान-सौंदर्य मे विशिष्ट वास्तविक कविता का सुन्दर उदाहरण सुरक्षित है। यह विशेषता पर्जन्य-सूक्त (पञ्चम, ८३) में भी मुख्यता से प्राप्त है। उसमें तूफान, बिजली और वर्षा का सजीव और प्राकृतिक वर्णन है।

---

१. देखिये म्यूरकृत 'ओरिजिनल संस्कृत टेक्ट्स्', जिल्द ५, पृष्ठ १३३, १३६ और २२०।

अन्तिम चार उदाहरण चुनी हुई वैदिक ऋचाओंके सन्तोषप्रद अनुवाद हैं।[1] पहले में प्रकृति के सर्वाधिक चमत्कृत रूप का सुन्दर काव्यमय वर्णन है। वरुण को सम्बोधित की गयी दूसरी ऋचा में दैवी सर्वज्ञता का सुन्दर वर्णन है और उसमें मनुष्य और परमात्मा के सम्बन्ध की चर्चा है। तीसरा वैदिक ऋषियों के दार्शनिक विचारों का नमूना है और उसमें उपनिषदों के सिद्धान्तों का आभास मिलता है। अन्तिम पद्य में अमीरों से भूखों को खिलाने और अपनी सम्पत्ति में गरीबों को भाग देने का जोरदार आग्रह किया गया है। इस महत्त्वपूर्ण ऋचा से आधुनिक जन-कल्याण अथवा समाजवादी भावनाओं का हमारे मस्तिष्क में तुरत ध्यान हो आता है।

---

१. वही, जिल्द ६, पृष्ठ १९६, १६० पादटिप्पणी, मैक्समूलर कृत ऋग्वेद (नवम, १ : ६) का अनुवाद—'चिप्स् फ्रॉम ए जर्मन वर्कशॉप' में प्राप्त (जिल्द १, पृष्ठ ७८); तथा ग्रिफिथ का ऋग्वेद (दशम, ११७) का अनुवाद।

सातवाँ अध्याय

उत्तर वैदिक काल—राजनीतिक इतिहास

उत्तर वैदिक साहित्य द्वारा व्यक्त होनेवाला काल मोटे तौर पर ६०० ई० पू० तक आता है। इस युग में आर्यों के जीवन में अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए।

आर्य उपनिवेशों का विस्तार

पहली और सर्वमुख्य बात तो यह है कि वे लोग धीरे-धीरे पूरब और दक्षिण की ओर बढ़ते गये।[1] हम पहले बता चुके हैं कि आर्यों की मुख्य बस्तियाँ प्रारंभिक काल में पंजाब की नदियों के किनारे थीं यद्यपि उनकी दूरस्थ बस्तियाँ गंगा तक फैली हुई थीं। उत्तर वैदिक संहिताओं और ब्राह्मणों के काल में वे आगे बढ़ते गये और धीरे-धीरे उन्होंने हिमालय से विन्ध्य तक सारा उत्तर भारत छेंक लिया और सम्भवतः विन्ध्य के आगे भी बढ़े। ४०० ई० पू० का समय आते आते आर्यों का प्रसार सारे भारत में हो गया। उस प्रसार के साधनों में सबसे मुख्य थे सैनिक

---

१. पंजाब के आर्यों द्वारा धीरे-धीरे पूरब को ओर बढ़ने की धारणा सर्वमान्य नहीं है। कुछ लोगों का विचार है कि आर्यों का एक दूसरा आक्रमणकारी समूह गिलगिट और चितराल के रास्ते से आकर गया तट पर उपनिविष्ट हुआ। कुछ अन्य लोगों का मत है कि आरम्भिक आर्यों का पंजाब में प्रवेश सैनिक अभियान न हो कर सभी कबीलों का धीरे-धीरे आगे बढ़ने का प्रयास था। कबीलों की यह लहर सरहिन्द के देशान्तर के लगभग आकर रुक गयी और पूरब की ओर भारतीय आर्यों का बढ़ाव उनके सारे समूह द्वारा न हो कर सैनिक अभियान अथवा शान्तिमय प्रवेश के रूप में हुआ। किन्तु ये दोनों ही धारणाएँ केवल अनुमानाश्रित हैं और उत्तरी भारत के विभिन्न भागों में लोगों में जो शारीरिक और भाषा सम्बन्धी स्पष्ट विभिन्नताएँ पाई जाती हैं उनका समाधान मात्र इन मतों का प्रयोजन है।

देखिये (१) कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, भाग १ पृष्ठ ४३ और आगे।

(२) रामप्रसाद चन्दा—इण्डो आर्यन रेसेज।

(३) म्यूर कृत—आरिजिनल संस्कृत टेक्स्ट्स्, जिल्द २ अध्याय ३।

विजय और धर्म प्रचार। पूर्ववर्ती निवासियों ने या तो शूद्रों की स्थिति स्वीकार कर ली अथवा वे पीछे खदेड़ दिये गये और सारे उत्तर भारत का आर्यीकरण हो गया। पूर्व के नये आर्य-राज्यों में उल्लेखनीय कुरु, पांचाल, काशी, कोशल और विदेह थे।

बहुत दिनों तक विन्ध्य की पहाड़ियाँ दक्षिण में आर्यों के प्रसार और बस्तियों की सीमा बनी रहीं। दक्षिणापथ और सुदूर दक्षिण की ओर उनके क्रमिक प्रसार को स्पष्टतः नहीं बताया जा सकता। परन्तु इस बात को मानने के लिये अच्छे आधार हैं कि यह दक्षिणाभिमुख बढ़ाव ब्राह्मणों के युग में—लगभग १००० ई० पू०, शुरू हुआ और चौथी शती ई० पूर्व में अथवा उससे कुछ पूर्व आर्यों के भारत के दक्षिणी प्रायद्वीपी हिस्से की छोर तक पहुँच जाने तक चलता रहा। चौथी शती ई० पू० में होने वाले वैय्याकरण कात्यायन सुदूर दक्षिण के पाण्ड्य, चोल और केरल नामक देशों को जानते थे तथा उनकी चर्चा अशोक के शिलालेखों में भी है। परन्तु आर्यों की दक्षिण-विजय और वहाँ का औपनिवेशीकरण उतना पूर्ण नहीं हुआ जितना उत्तर का। आर्यों के आने से पूर्व की भाषायें और कुछ हदतक उस समय के सामाजिक ढंग और रीतिरिवाज आर्यों के प्रवेश के बाद भी चलते रहे। ऐसा विशेषकर कृष्णा नदी के दक्षिणी प्रदेशों में हुआ।

उत्तरी भारत में आर्यों के बढ़ाव के साथ उनकी संस्कृति का केन्द्र भी पूर्व की ओर बढ़ता गया। अब सरस्वती तट सबसे पवित्र स्थान समझा जाने लगा और वहाँ अनेक पवित्र और महत्त्वपूर्ण यज्ञ हुए। इस पवित्र नदी और गंगा के बीच की भूमि कट्टर आर्य संस्कृति का केन्द्र बन गई। इस परिवर्तन का उदाहरण इससे बड़ा और क्या हो सकता है कि इस प्रदेश के निवासी पंजाब के आर्यों को अशुद्ध रक्त का समझने लगें और उन्हें शील-स्वभाव और रीतिरिवाजों में अपूर्ण मानें।

आर्यों के फैलाव के फलस्वरूप अन्य अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। पुराने कबीलों को धीरे २ और अधिक सुदृढ़ और संघटित किया गया और उनमें से अनेक शक्तिशाली प्रादेशिक राज्यों के रूप में विकसित हो गये।

शक्तिशाली राज्यों का विकास

कितने ही पुराने प्रसिद्ध कबीले लुप्त हो गये और नयों ने उनका स्थान ग्रहण कर लिया। इस प्रकार सुप्रसिद्ध भरत, पुरु, तृत्सु, और तुर्वसु या तो तेजी के साथ लुप्त होने लगे अथवा कुरु और पांचाल आदि नये लोगों में विलीन हो गये। कुरुओं और पांचालों के नाम ऋग्वेदिक ऋचाओं में नहीं मिलते; किन्तु इस काल में उनका काफी महत्त्व बढ़ गया। राजनीतिक जीवन अधिक संघर्षमय हो गया और प्रमुत्व के लिए विभिन्न राज्यों में अक्सर युद्ध होने लगे। सार्वभौम साम्राज्य का आदर्श पहले ही से राज-

नीतिक क्षितिज पर वर्तमान था और यह नहीं कहा जा सकता कि वह किसी हद तक कभी साकार नहीं सिद्ध हुआ। अश्वमेध और राजसूय यज्ञों का साहित्य में इतना अधिक उल्लेख है कि उनको केवल कल्पना कहकर उपेक्षित नहीं किया जा सकता। जिन राजाओं ने इनमें से कोई भी यज्ञ किया, उनका तत्कालीन और एक मात्र उद्देश्य अन्य अनेक राज्यों पर अपना साम्राज्यवादी प्रभुत्व स्थापित करना ही था। हम यह आसानी से मान सकते हैं कि राजनीतिक भारत में वे सारे प्रातिनिधिक तत्व प्रकट होने लगे जा इसके इतिहास के सभी कालों में परिलक्षित होते रहे हैं, यथा—अनेक राज्यों का अस्तित्व, प्रभुत्व के लिये युद्ध और समय-समयपर किसी एक शक्तिशाली साम्राज्य-निर्माता की अप्रतिवार्य शक्ति के सम्मुख नत हो जाना।

कुछ स्पष्ट उदाहरणों को लिया जा सकता है। शतपथ ब्राह्मण में दो भारत राजाओं-भरत दौष्यन्ति और शतानीक सात्राजित के अश्वमेध यज्ञ करने का उल्लेख है। उन्होंने गंगा और यमुना तक बढ़कर पूर्व में काशी और पश्चिम में सात्वतों को जीता। इसी ब्राह्मण में एक प्राचीन गाथा दी हुई है जिसमें कहा गया है कि "भारतों की सी महत्ता न तो उनसे पूर्व और न उनके बाद किसी अन्य जाति ने प्राप्त की।" शतपथ ब्राह्मण में कोशलनरेश पर, ऐक्ष्वाकुराज पुरुकुत्स, आयोगव नरेश मरुत्त आविक्षित, पाँचालराज क्रैव्य और शोण सात्रासाह, मत्स्यराज ध्वसन द्वैतवन, और स्विक्नराज ऋषभ याज्ञतुर के भी अश्वमेध यज्ञ करने के उल्लेख हैं।

ऐतरेय ब्राह्मण में स्पष्ट रूप से ऐसे बारह राजाओं की चर्चा है जो महाभिषेक संस्कार हो जाने के बाद हर जगह गये, और जिन्होंने पृथ्वी को चतुर्दिक् जीतकर अश्वमेध यज्ञ किया। इनमें से तीन तो वे ही हैं जिनका शतपथ ब्राह्मण में उल्लेख है।

प्रभुत्व के लिये किये जाने वाले संघर्षों की इस पृष्ठ भूमि में ही इस काल के राजनीतिक इतिहास का अध्ययन किया जा सकता है। किन्तु खेद है कि निश्चित बातें बहुत कम ही ज्ञात हैं। शुरू से ही राजाओं और राजवंशों के सम्बन्ध में सही अनुश्रुतियाँ प्रचलित रहीं, इसमें सन्देह नहीं, किन्तु हजारों वर्षों के परम्परागत क्रम में उनका साहित्य अधिकांशतः लुप्त हो गया और जो बचा भी है, वह परिवर्तन और परिवर्द्धन से इतना प्रभावित हो गया कि उन अनुश्रुतियों को आज एक दूसरे के साथ समन्वित करना प्रायः असम्भव है। अन्य विद्वानों की अपेक्षा पार्जीटर महोदय इस विषय के अध्ययन में अधिक गहराई तक गये और उन्होंने इन पुरानी अनुश्रुतियों के आधार पर

राजनीतिक इतिहास

इस काल के राजनीतिक इतिहास की रूपरेखा उपस्थित की।[1] उनके मत को अनेक अन्य विद्वान स्वीकार नहीं करते। किन्तु उन लोगों ने भी जो इस काल का इतिहास प्रस्तुत किया है वह आलोचना से परे नहीं है। यह तो स्वीकार करना ही होगा कि इनमें से किसी भी उपन्यस्त को शुद्ध ऐतिहासिक निर्णय नहीं कह सकते। सच तो यह है कि जो कुछ सामग्री है उसके आधार पर हम इसके विपरीत कुछ आशा भी नहीं कर सकते। पार्जीटर के सिद्धान्त बहुत संतोषजनक नहीं माने जा सकते और उनमें से कुछ के सम्बन्ध में तो घोर आपत्ति भी की जा सकती है। किन्तु भारत के आरम्भिक इतिहास के ढाँचे को प्रस्तुत करने का प्रथम साहसपूर्ण प्रयत्न होने के कारण उसके महत्त्व की उपेक्षा भी नहीं की जा सकती। यहाँ उनके मुख्य निष्कर्षों का सारांश दिया जा रहा है।

अनुश्रुतियाँ प्रायः पुरावृत्त सम्बन्धी कल्पना से आरम्भ होती हैं। भारत के समस्त आरम्भिक राजवंशों का विकास आदिराज मनु वैवस्वत से माना गया है। मनु के नौ पुत्र और एक पुत्री थी जिनमें सारा भारत विभाजित था। सबसे बड़े पुत्र इक्ष्वाकु को मध्य देश मिला। वह सूर्यवंश का जनक था और उसकी राजधानी अयोध्या थी। इक्ष्वाकु के बेटे निमि (अथवा नेमि) से विदेह में राज्य करनेवाले वंश का उदय हुआ और उसके पुत्र मिथि के नाम पर विदेह की राजधानी का नाम मिथिला पड़ा।

संस्कृति कथात्मक

राजा मनु

मनु की बेटी इला के पुरूरवस् ऐल नामक पुत्र था। उसे प्रतिष्ठान (इलाहाबाद) का राज्य मिला। इस राज्य का तेजी के साथ विकास हुआ और इस वंश के लोगों ने कान्यकुब्ज (कन्नौज) और बनारस में स्वतन्त्र राज्य स्थापित किये। पुरुरवस् का प्रपौत्र और नहुष का पुत्र ययाति एक प्रख्यात विजेता हुआ। उसने अपने राज्य का बहुत विस्तार किया और सम्राट् कहलाया। उसने अपने साम्राज्य को अपने पाँच बेटों-यदु, तुर्वसु, द्रुह्यु, अनु और पुरु में बाँट दिया। उनमें से प्रत्येक ने राजाओं के एक लम्बे वंश को जन्म दिया। सबसे छोटे बेटे पुरु को पैतृक राज्य मिला। यदु का राज्य चम्बल बेतवा और केन नदियों के प्रदेशों में था। आगे चल कर यदु के वंशज दो बड़ी शाखाओं-हैहयों और यादवों में बँट गये। यादव शाखा ने पड़ोसी राज्यों पर अधिकार कर एक बड़े

पुरुरवस् वंश

---

१. ऐन्शयेन्ट इण्डियन हिस्टारिकल ट्रैडीशन्स् (१९२२)

राज्य की स्थापना की। उन्होंने पौरवों—पुरु के वंशजों, को पराजित किया और उन लोगों को पंजाब की ओर भगा दिया।

तत्पश्चात् युवनाश्व द्वितीय और विशेषतः उसके पुत्र मान्धाता के युग में अयोध्या के राज्य को प्रधानता मिली। मान्धातृ सुप्रसिद्ध राजा और सम्राट हुआ और उसका राज्य दूर दूर तक फैला। उसने पौरव और कान्यकुब्ज राज्यों को कुचल डाला और द्रुह्युओं को पराजित किया। द्रुह्यु-नरेश गांधार उत्तर-पश्चिम की ओर भाग गया और अपने नाम पर उस प्रदेश को गान्धार नाम दिया। यह भी सम्भव है कि मान्धाता अथवा उसके पुत्रों ने अपनी सैनिक शक्ति दक्षिण में नर्मदा तक स्थापित की।

मान्धातृ

शीघ्र ही अयोध्या की प्रभुता समाप्त हो गई और हैहय लोगों की शक्ति को प्रधानता मिली। उनके एक राजा ने गिरे हुये पौरव राजा को रौंद डाला और काशी को जीत लिया। इस वंश का सबसे प्रसिद्ध राजा कृतवीर्य का पुत्र अर्जुन हुआ। उसने नर्मदा के मुहाने से लेकर हिमालय तक विजयें कीं और हैहय शक्ति को अपने दीर्घ राज्यकाल में उत्कर्ष पर पहुँचा दिया।

हैहय

नर्मदा के निचले भाग में रहने वाले ब्राह्मण भार्गव हैहय राजाओं ने उनके साथ दुर्व्यवहार किया और वे भाग कर मध्यदेश पहुँचे। उनमें प्रमुख सुप्रसिद्ध ऋषि ऋचीक और्व थे जिन्होंने कान्यकुब्ज के राजा गाधि की पुत्री से विवाह किया। इस विवाह से जमदग्नि का जन्म हुआ। जमदग्नि ने अयोध्या की राजकुमारी से विवाह किया। गाधि के पुत्र विश्वरथ ब्राह्मण विश्वामित्र हुए।

अपने दीर्घकालिक शासन के अन्तिम दिनों में अर्जुन का जमदग्नि से संघर्ष हो गया और उसने जमदग्नि को मार डाला। जमदग्नि के बेटे राम ने लड़ाई ठानी और अयोध्या तथा कान्यकुब्ज के राजाओं ने उसकी सहायता की। उन वंशों का राम के साथ विवाह सम्बन्ध तो था ही, वे लोग यों भी हैहयों के खतरनाक धावों को रोकने के लिए उत्सुक थे। उनकी सहायता से राम ने अर्जुन को मार डाला और हैहयों को दण्डित किया।

जमदग्नि और अर्जुन

इससे हैहयों को थोड़ा धक्का तो अवश्य लगा पर वे शीघ्र ही पुनः शक्तिशाली हो गये। उनका राज्य खम्भात की खाड़ी से लेकर गंगा-जमुना के दोआब और वहाँ से बनारस तक फैल गया। उन्होंने अयोध्या, कान्यकुब्ज और उत्तर-पश्चिम के अनेक अन्य राज्यों को कई विदेशी कबीलों की सहायता से ध्वस्त कर दिया।

सगर

अयोध्या-प्रदेश से भाग कर जंगल में शरण ली और वहीं मर गया। उसका पुत्र सगर बचा रहा। सगर ने बड़े होने पर हैहयों को परास्त कर अयोध्या को वापस जीत लिया। यही नहीं, उसने आगे बढ़ कर हैहयों को उनके प्रदेश में ही कुचल डाला और उत्तर भारत के अपने सभी दुश्मनों को भी परास्त किया। इस प्रकार बहुत दिनों से चली आने वाली लड़ाइयों और लूटों से उसने भारत को बचा कर विनाश और रक्तपात को रोका।

सगर द्वारा उत्तरी भारत में अपना साम्राज्य स्थापित किये जाते समय जो राज्य बचे रहे उनमें उल्लेखनीय पूरब में विदेह, वैशाली, और आनव (अनु के वंशज), मध्यदेश में काशी, और विदर्भ में चम्बल के

छोटेराज्य

किनारे यादवों के राज्य थे। सगर की मृत्यु के पश्चात् जान पड़ता है कि पराजित राजवंशों ने फिर से सिर उठाया था। विदर्भ के यादवों ने सम्भवतः उत्तर की ओर हैहय प्रदेश पर अपना अधिकार फैला लिया। विदर्भके नाम पर उस प्रान्त का नाम विदर्भ पड़ा था। उसके चेदि नामक पौत्र था। उसने यमुना के दक्षिणी तट पर स्थित चेदि में चैद्य वंश की स्थापना की। पूर्व में आनव राज्य, जिसका केन्द्र अङ्ग था, पाँच राज्यों में बँट गया। कहा जाता है कि बलि के बेटों के नाम पर उनका नाम अङ्ग, बङ्ग, कालिंग, सुह्म और पुंड्र पड़ा। अङ्ग की राजधानी मालिनी थी, जिसका नाम पीछे बदल कर राजा चम्पा के नाम पर चम्पा अथवा चम्पावती (भागलपुर) पड़ा।

पौरवों का राज्य मान्धाता के समय ध्वस्त हो गया था किन्तु सगर की मृत्यु के पश्चात् दुष्यन्त ने उसकी पुनः स्थापना की। दुष्यन्त के शकुन्तला से जन्मे सुविख्यात और धार्मिक पुत्र भरत हुए। जान पड़ता

पौरव

है कि उनका राज्य गंगा-यमुना दोआब के उत्तरी हिस्से में उठा ले जाया गया क्योंकि अब प्रतिष्ठान का उल्लेख नहीं मिलता, जो वत्स राज्य में सम्मिलित कर लिया गया था। भरत एक महान् शासक हुए और उनका राज्य बहुत विस्तृत था। उनके वंशज भी भरत नाम से प्रख्यात हुए। भरत की पाँचवी पीढ़ी में हस्तिन हुए जिन्होंने हस्तिनापुर में अपनी राजधानी बनायी। हस्तिन और उनके उत्तराधिकारियों के समय में पौरवों ने अपने राज्य का विस्तार पाञ्चाल और अन्य पास पड़ोस के राज्यों तक कर लिया था।

अयोध्या का राज्य

इस बीच सगर के प्रपौत्र भगीरथ और उसके उत्तराधिकारियों के समय में अयोध्या का राज्य पुनः उठ खड़ा हुआ। किन्तु कल्माषपाद ने गुरु वशिष्ठ के पुत्रों को मार डाला था और उसके बाद राज्य में अशान्ति फैल गयी तथा वह दो विरोधी परिवारों में बँट गया। यह आन्तरिक कलह ६-सात पीढ़ियों तक चलती रहा। अन्त में दिलीप द्वितीय ने पुनः एक राज्य की स्थापना की। इस समय अयोध्या राज्य का नाम बदल कर कोशल हो गया था। दिलीप द्वितीय और उसके उत्तराधिकारियों, रघु, अज, दशरथ और राम—के समय में इसका विशेष उत्कर्ष हुआ। उनके पश्चात् इतिहास-निर्माण में अयोध्या का कोई महत्वपूर्ण भाग नहीं रहा।

यादव

इसी समय यादव शक्तिशाली हुए। बहुत दिनों तक उनका प्रदेश अनेक छोटे २ राज्यों में बँटा हुआ था, किन्तु सुप्रसिद्ध राजा मधु ने उन्हें एक सूत्र में बाँधा। कहा जाता है कि उसका राज्य गुजरात से यमुना तक फैला हुआ था। उसके वंशज मधु अथवा माधव कहलाये। किन्तु यह विशाल यादव राज्य पुनः सात्वत के चार बेटों में बँट गया। उनमें से अन्धक और वृष्णि ने प्रमुख शासक-वंशों की स्थापना की। अन्धक यादवों की प्रमुख राजधानी मथुरा में राज्य करता था और वृष्णि सम्भवतः द्वारका (गुजरात) में।

कुरु

इसी समय उत्तर पांचाल का राज्य भी काफी शक्तिशाली हुआ और सुप्रसिद्ध राजा सुदास ने हस्तिनापुर के पौरव राजा को भगा कर और शत्रु राजाओं के एक संघ को पराजित कर प्रमुखता प्राप्त की। पर शीघ्र ही पासा पलटा। पौरवों ने न केवल हस्तिनापुर को पुनः ले लिया वरन् उत्तर पांचाल को भी जीत लिया। सुप्रसिद्ध राजा कुरु के समय में उनका राज्य प्रयाग से आगे तक फैला हुआ था। कुरु के नाम पर कुरुक्षेत्र और कुरुजांगल का नाम पड़ा। कुरुक्षेत्र पूर्व में कुरुजांगल से मिला हुआ था, जहाँ हस्तिनापुर स्थित था। उसके उत्तराधिकारी कुरु अथवा कौरव कहलाये और इसी नाम से उनकी प्रजा भी प्रसिद्ध हुई।

जरासन्ध

कुरु के एक वंशज, वसु, ने चेदि राज्य को जीता और पूर्व में मगध तक तथा उत्तर पश्चिम में मत्स्य तक अपनी विजय-पताका फहरायी। उसने अपने राज्य को अपने पाँच बेटों में बाँट दिया। सबसे बड़े पुत्र बृहद्रथ को मगध मिला। उसने गिरिव्रज को अपनी राजधानी बनाई और सुप्रसिद्ध बार्हद्रथ वंश की स्थापना की। जरासन्ध इस वंश का सर्वप्रख्यात राजा था। उसने अपने राज्य का विस्तार मथुरा तक किया, जहाँ के

यादव राजा कंस ने उसकी अधिसत्ता स्वीकार की। कंस ने उसके अनुग्रह के भरोसे अपनी प्रजा पर घोर अत्याचार किया और कृष्ण ने उसे मार डाला। इससे जरासन्ध कृष्ण और मथुरा के भोजों के प्रति क्रुद्ध हो उठा। बहुत दिनों तक तो उन्होंने उसका सामना किया, किन्तु अपनी स्थिति नाजुक देखकर वे लोग गुजरात जाकर द्वारका में बस गये। अन्त में कृष्ण वहाँ राजा हुए।

इस बीच कौरवों ने प्रतीप और उसके उत्तराधिकारी शान्तनु के राज्यकाल में पुनः प्रधानता प्राप्त कर ली। शान्तनु के पौत्र धृतराष्ट्र और पाण्डु हुए। धृतराष्ट्र के दुर्योधनादि अनेक पुत्र हुए जो बड़ी शाखा के होने के कारण कौरव कहलाये। पाण्डु के युधिष्ठिर आदि पाँच बेटे हुए जो पाण्डव कहलाये। पाण्डु जल्दी ही मर गये और चचेरे भाइयों में घोर द्वेष उत्पन्न हो गया। कौरव प्रदेश के अंश इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली) का एक छोटा सा प्रदेश पाण्डव कुमारों को मिला। महत्त्वाकांक्षी होने के कारण उन्होंने कृष्ण की सहायता से अपने समान शत्रु जरासन्ध को मार डाला। जुए में हार जाने के कारण उन्हें १४ वर्ष का निर्वासन मिला। उस अवधि के उपरान्त उन्होंने अपने राज्य की वापसी की माँग की; किन्तु दुर्योधन किसी प्रकार भी वह उन्हें देने को राजी न हुआ। तब उन्होंने शस्त्र की शरण ली। मत्स्य, चेदि, कारुष, काशी, दक्षिण पांचाल, पश्चिमी मगध और गुजरात तथा सौराष्ट्र के पश्चिमी यादवों ने उनकी सहायता की। दुर्योधन की ओर पंजाब के सभी राज्य और उत्तर भारत के अन्य राजे थे।

कौरव और पाण्डव

कुरुक्षेत्र के मैदान में लड़ाई हुई जिसमें पाण्डवों की विजय हुई; किन्तु उसमें भाग लेनेवाले प्रायः सभी राजे और राजकुमार मारे गये। यह सुप्रसिद्ध भारत-युद्ध था। युधिष्ठिर कुरु के निर्विरोध राजा हुए और हस्तिनापुर में राज्य करने लगे। महान् राजनीतिज्ञ वासुदेव कृष्ण ने भारत के परस्पर लड़नेवाले सभी राज्यों को एक साम्राज्य के रूप में संघटित करने की जो कल्पना की थी वह कुछ काल के लिए इस प्रकार पूरी हुई। कुछ वर्षों के पश्चात् गुजरात के यादव घरेलू झगड़ों में नष्ट हो गये और कृष्ण का देहान्त हो गया। तब युधिष्ठिर भी राज्य त्याग कर अपने भाइयों के साथ बन चले गये और उनकी जगहपर अर्जुन के पौत्र परीक्षित द्वितीय गद्दी पर बैठे।

पार्जीटर (तथा अन्य विद्वानों) द्वारा पुनःसंघटित उपन्यस्त इतिहास का यहाँ अन्त होता है। यहाँ से आगे राजनीतिक इतिहास की मुख्य घटनाओं की हमारी जानकारी अधिक अच्छी है और उन्हें एक मोटे तैथिक-क्रम में भी बैठाया जा सकता है।

महाभारत की रचना बहुत पीछे होते हुए भी उस महाकाव्य की मुख्य घटना—कौरवों और पाण्डवों के संघर्ष, को ऐतिहासिक माना जा सकता है। अपनी गूंज को आज भी प्रतिध्वनित करनेवाले महाभारत युद्ध का काल १००० ई० पू० निर्धारित किया जा सकता है। यूरोप के महायुद्धों की ही तरह इस युद्ध ने निश्चय ही घोर सनसनी उत्पन्न की होगी, क्योंकि सभी प्राचीन लेखक इस बात में एकमत हैं कि इस युद्ध के फलस्वरूप भारतीय इतिहास में एक नये युग—कलियुग (कालेयुग) का आरम्भ हुआ।

कुरुक्षेत्र के युद्ध के फलस्वरूप पाण्डव भारत में सर्वोच्च राजनीतिक शक्ति बन बैठे। पुराणों ने पौरव नामक इस वंश के तीस राजाओं का नाम दिया है, जिनका आरम्भ अर्जुन के पौत्र परीक्षित द्वितीय से होता है।

परिक्षित और उनके बेटे जनमेजय महाभारत के मुख्य व्यक्ति हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में जिन बारह चक्रवर्ती राजाओं का उल्लेख है, उनमें जनमेजय का भी नाम है। जनमेजय से चौथी पीढ़ी के राजा निचक्षु के राज्य

पाण्डवों का परवर्ती इतिहास

काल में गंगा की बाढ़ में हस्तिनापुर बह गया तथा कुरु राज्य पर और अनेक विपत्तियाँ भी आयीं। फलतः राजधानी उठा कर कौशाम्बी ले जायी गयी; किन्तु उस समय से कुरु राज्य का क्रमशः पतन ही होता गया। निचक्षु के बाद २६ वें राजा उदयन के समय के पूर्व किसी भी परवर्त्ती पौरव राजा के सम्बन्ध में कुछ ज्ञात नहीं। उदयन के इतिहास की चर्चा आगे के एक अध्याय में की जायेगी।

इनका समकालिक और सम्भवतः मित्रवंश इक्ष्वाकुओं का था जो कोशल में राज्य करता था। अयोध्या उसकी राजधानी थी। इस वंश में २४ राजे हुए किन्तु उसके सम्बन्ध में हमारी विशेष जानकारी प्रसेनजित के समय

अन्य समकालिक राज्य

की ही होती है जो उदयन का समसामयिक था। उसकी विस्तृत चर्चा आगे होगी। महाभारत—युद्ध के समय मगध में बार्हद्रथ वंश के राजा राज्य करते थे जो सुप्रसिद्ध जरासन्ध के वंशज थे। महाभारत युद्ध के समय पतन हो जाने पर भी उसके पश्चात् गिरिव्रज (राजगृह) में इस वंश के १६ राजाओं ने राज्य किया।

इनके अतिरिक्त महाभारत युद्ध के पश्चात् भारत के विभिन्न भागों में कुछ अन्य राजवंश भी राज्य करते थे। इनमें काशी और विदेह के राज्य काफी प्रसिद्ध हुए। अन्य राज्यों में पांचाल, हैहय, कलिंग और शूरसेन का नाम उल्लेखनीय है।

इस प्रकार जान पड़ता है कि महाभारत युद्ध के फलस्वरूप पांडवों ने जो प्रभुत्व प्राप्त किया था वह निश्चय ही अल्पकालिक था। परवर्त्ती ६०० वर्षों में

भारत की राजनीतिक स्थिति वैसी ही रही होगी जिससे कृष्ण की बुद्धि और अर्जुन की शक्ति ने देश का उद्धार किया था। इसके बाद जिस दूसरे महान् साम्राज्य की हमें जानकारी है, उसे महापद्मनन्द ने स्थापित किया था। यदि इस बीच में कोई दूसरा साम्राज्य स्थापित हुआ भी हो तो आज उसकी स्मृति तनिक भी शेष नहीं है।

आठवाँ अध्याय

उत्तर वैदिक काल

राजनीतिक सिद्धान्त और शासन व्यवस्था

प्रादेशिक राज्यों और साम्राज्यवाद के आदर्श में विकास के साथ २ इस काल में राजनीतिक विचार-विमर्श स्पष्ट रूप से आरम्भ हो गया था। इस सम्बन्ध में हमारे ज्ञान के एक मात्र साधन धार्मिक साहित्य हैं। अतः स्वभावतः हम राजनीतिक सिद्धान्तों को धर्म के साँचों में व्यक्त किया हुआ पाते हैं। परन्तु उनमें जो कुछ देवताओं के सम्बन्ध में कहा अथवा विचारा गया है उससे लौकिक विचारों को निकाल लेने के निमित्त किसी विशेष बुद्धि चातुरी की आवश्यकता नहीं है।

राजत्व का विकास

उदाहरणतः, राजत्व के विकास का विवेचन देवताओं के सम्बन्ध से किया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण (प्रथम १.१४) में कहा गया है कि देवों और दानवों में परस्पर लड़ाई हुई और देवगण हार गये। फलस्वरूप देवताओं ने विचार किया कि "चूँकि हमारे कोई राजा नहीं है, दानव हमें हरा देते हैं। अतः हमें अपना एक राजा चुनना चाहिए।" उन्होंने अपना एक राजा निर्वाचित किया और उसकी सहायता से दानवों पर पूर्ण विजय प्राप्त की। उसी ब्राह्मण (अष्टम ४.१२) में यह भी कहा गया है कि देवताओं ने इन्द्र को अपना राजा बनाया, क्योंकि वाद-विवाद के पश्चात् वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि देवताओं में वे सबसे पराक्रमी, सबसे शक्तिशाली, सबसे वीर और सबसे पूर्ण हैं; तथा किसी भी काम को सबसे अच्छी तरह करते हैं। इन उद्धरणों में कोई भी नरेश-प्रथा के विकास सम्बन्धी तार्किक विचार की झलक देख सकता है। इसके अनुसार नरेश पद का आरम्भ सबकी सहमति से ऐसे व्यक्ति के निर्वाचन के साथ हुआ, जो सामान्यतः राज्य के कार्य और विशेषतः युद्ध आदि के समय में अच्छी व्यवस्था कर सकने में सर्वाधिक योग्य हो। इस विचार के साथ २ राजत्व के दैवी-विकास का प्रतिपादन भी इन ग्रन्थों में मिलता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण (द्वितीय २.१०.१–२) में कहा गया

है कि "इन्द्र की स्थिति देवताओं में बहुत निम्न थी किन्तु प्रजापति ने उसे देवताओं का राजा बना दिया।"

राजत्व के विकास के इन दोनों ही सिद्धान्तों--निर्वाचन और 'दैवी उत्पत्ति, का विवेचन विस्तृत रूप से भारत के परवर्त्ती राजनीतिक साहित्य में किया गया है। इस सिद्धान्त का एक विकसित रूप यह भी है कि आरम्भ में प्रकृति की एक ऐसी अवस्था थी जिसमें "जिसकी लाठी उसकी भैंस" की कहावत चरितार्थ होती थी। अतः शान्ति और व्यवस्था स्थापित करने के लिए लोगों ने एक राजा चुना (अथवा ईश्वर ने उसे बनाया) और उसने लोगों के धन जन की रक्षा करने का वचन इस शर्त पर दिया कि लोग उसे बलि देंगे। यह लोक द्वारा १८ वीं शताब्दी में प्रतिप्रादित संविदा के सिद्धान्त से मिलता जुलता है। इस सिद्धान्त की पूर्व-छाया शतपथ ब्राह्मण (नवम १. ६. २४) के एक रहस्यवादी पद में भी मिलती है। हा, उसका स्पष्ट प्रतिपादन नहीं हुआ है। उसमें कहा गया है कि "जब कभी सूखा पड़ता है तब शक्तिशाली लोग कमजोरों को पकड़ लेते हैं, क्योंकि पानी ही विधान हो जाता है।"

उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि सुदूर के उन दिनों में भी राजनीतिक संस्थाओं के विकास के अनुसन्धान की वैज्ञानिक भावना विद्यमान थी और सबसे अधिक सामने आने वाले इस प्रश्न का उत्तर देने की चेष्टा की जाती थी कि "अकेले एक राजा इतनी अधिक प्रजा पर किस प्रकार शासन करता है ?" परवर्त्ती काल के रामायण और महाभारत जैसे आर्ष काव्यों और अर्थशास्त्रों में होनेवाले इस विस्तृत विवेचन का आभास ब्राह्मण साहित्य में मिलता है। अधिकांश यूरोपीय लेखक बड़ी तत्परता से यह मान बैठे हैं कि इस प्रकार की खोज की भावना का पूर्वी मस्तिष्क में सर्वथा अभाव था। एक ने लिखा है कि "पूर्व के लोगों के लिए किसी वस्तु का अस्तित्व ही उसके अस्तित्व के अधिकार की सिद्धि के लिये पर्याप्त प्रमाण था। परिणामतः उनमें सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं के वास्तविक अस्तित्व के औचित्य अथवा उनकी अपेक्षाकृत पूर्णता के सम्बन्ध में खोज की सभी सम्भावनाओं का सर्वथा अभाव था।"[1] राजसत्ता की उत्पत्ति और जाति व्यवस्था सम्बन्धी सिद्धान्त विमर्श इस विचार के खण्डन के लिए पर्याप्त हैं। किन्तु इतना मानना होगा कि यद्यपि उत्तर वैदिक काल में तो जिज्ञासा की इस भावना का उचित रूप में आरम्भ हुआ किन्तु परवर्त्ती काल में हमारे चाहे हुए रूप में उसका तार्किक विकास नहीं हुआ।

---

१. विलोबी—पोलिटिकल थ्योरीज आफ़ दी ऐन्शियेन्ट वर्ल्ड पृष्ठ १४

इस काल की साम्राज्यवादी भावनाओं की चर्चा पहले की जा चुकी है। उन्हें अश्वमेध और राजसूय आदि यज्ञ कृत्यों द्वारा प्रतीकात्मकता और पवित्रता प्रदान की जाती थी। नये विचारों को व्यक्त करने के लिये नयी राजनीतिक शब्दावली गढ़ी गयी। ऐतरेय ब्राह्मण में पूरब-दक्षिण-उत्तर और मध्यदेश के शासकों के लिए क्रमशः सम्राट्, भोज, विराट् और राजन् शब्दों का प्रयोग किया गया है; और एकराट् तथा सार्वभौम शब्द चारों दिशाओं को जीतने वालों के लिए सुरक्षित रखा गया है। राजसूय की विधि में उस यज्ञ को करने वाले शासक की साम्राज्यवादी शक्ति का प्रतीकात्मक स्वरूप व्यक्त किया गया है।

साम्राज्यवाद

बड़े प्रादेशिक राज्यों के विकास के साथ राजशक्ति के विस्तार का अनुमान राजाओं के मुसाहिबों की विस्तृत सूची से प्रकट होता है। सूत (रथ चालक) संग्रहितृ (खजाञ्चो) अक्षावाप (द्यूत निरीक्षक) तक्षक् (बढ़ई) रथकार (रथ बनाने वाला) तथा क्षतृ (कञ्चुकी) के अतिरिक्त अन्य अनेक ऐसे नये पदाधिकारियों के नाम मिलते हैं जिनके कार्य निश्चित रूप से बताना आज सम्भव नहीं है। ये अधिकारी, तथा पुरोहित, सेनानी और ग्रामणी रत्निन् कहे जाते थे। इन लोगों का महत्त्व इस बात से ही प्रकट होता है कि राजसूय यज्ञ के समय राजा को एक-एक दिन इन रत्नियों के घर जाना पड़ता था और वहाँ देवताओं की पूजा करनी पड़ती थी। ये सभी बातें इस बात को व्यक्त करती हैं कि शासन यन्त्र अत्यन्त सुव्यवस्थित था और बड़े बड़े राज्यों के शासन के निमित्त उस यन्त्र की अच्छी व्यवस्था थी। ऐसा भी जान पड़ता है कि उच्च राज्याधिकारियों ने एक प्रकार का ऐसा कुलीनतन्त्र स्थापित कर लिया था जो अभिजात उच्च वर्ग को हटा कर उसकी जगह स्वयं को प्रतिष्ठापित न कर सकते हुए भी उसकी प्रतियोगिता अवश्य करता था।

अधिकारी

राजा की शान-शौकत की अभिव्यक्ति उसकी शक्ति और मर्यादा सम्बन्धी नये सिद्धान्तों में व्यक्त हुई है। शतपथ ब्राह्मण (पञ्चम ३.३ ६, चतुर्थ ४. ७) में कहा गया है कि राजसूय यज्ञ के समय कतिपय कृत्य करके राजा न केवल दण्ड से मुक्त हो जाता है वरन् वह विधि का स्वामी भी हो जाता है। किन्तु इस प्रकार के अतिरञ्जित सिद्धान्त उस काल के साधारण जनमत को न तो व्यक्त करने वाले कहे जा सकते हैं और न वास्तविक स्थिति ही वैसी थी। यह धर्म अथवा पवित्र विधि के उस सिद्धान्त के स्पष्ट विरुद्ध है जिसमें कहा

गया है कि "संसार धर्म पर ही आश्रित है तथा राजा सहित सभी लोग उसके अधीन हैं।" भारत के सभी राजनीतिक विचारकों ने इस बात पर बराबर जोर दिया है कि इस धर्म-विधि की व्याख्या ऋषि-मनीषी लोग करेंगे और राजा को उन्हें मानना तथा कार्यान्वित करना होगा। वस्तुतः इस मौलिक सिद्धान्त को भारत के सभी युगों के राजनीतिक विचारों की कुंजी समझना चाहिए। यह बात भी महत्त्वपूर्ण है कि परवर्ती संहिता और ब्राह्मण ग्रंथ प्रजा द्वारा राजा के निकाले जाने की भी चर्चा करते हैं। शृंजय लोगों ने दुष्टरीतु पौंसायन जैसे अपने उस राजा को निकाल बाहर किया जिसका राज्य पर दस पीढ़ियों से अधिकार था।[1] ताण्डय ब्राह्मण (छठा ६. ५) में तो प्रजा द्वारा राजा के विनाश के निमित्त एक विशेष यज्ञ किये जाने का उल्लेख है।

उस काल की उदार भावना उस शिक्षा में व्यक्त जान पड़ती है जो शुक्ल यजुर्वेद के अनुसार पुरोहित राजा को राज्यारोहण के समय दिया करता था, "आज से शासक के रूप में बलवान और निर्बलों के प्रति निष्पक्ष और सही ढंग से न्याय करो। निरन्तर प्रजा की भलाई का प्रयत्न करते रहो और सर्वोपरि सभी विपत्तियों से देश की रक्षा करो।" राज्यारोहण के समय राजा द्वारा ली जाने वाली शपथ की भी चर्चा की जा सकती है। उसमें कहा गया है कि "यदि मैं तुम्हें सताऊँ तो मेरे पैदा होने के दिन से मेरे मरने के दिन तक के जो कुछ मेरे अच्छे कार्य हैं—मेरा स्वर्ग, मेरा जीवन और मेरा वंश, सभी मुझसे छूट जाय।"

इस प्रकार जहाँ राजशक्ति की वृद्धि एक अकाट्य तथ्य था वहाँ इस बात को भी स्वीकार करने का कोई कारण नहीं है कि निष्कण्टक निरंकुशता का राज्य था। तथाकथित पौर्वात्य निरंकुशता (ओरियण्टल डेस्पाटिज्म) न तो सिद्धान्त और न व्यवहार में ही थी। प्रजा द्वारा राजा के निर्वाचन का उल्लेख अथर्ववेद में है और उसमें राजा और निर्वाचकों के बीच सौहार्द की आवश्यता पर भी जोर दिया गया है (तृतीय ४)। परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों में भी सभा और समिति के उल्लेख हैं जिनसे प्रकट होता है कि राजा के ऊपर ये संस्थाएँ अपना नियन्त्रक अधिकार रखती थीं। शतपथ में इन दोनों जन-सभाओं को प्रजापति की दो पुत्रियाँ बताया गया है और इस प्रकार उन्हें भी राजा की भाँति ही देव-जन्मा कहा गया है। इस प्रकार सिद्धान्ततः भी राजतन्त्र और जन सभाएँ—दोनों ही दैवी संस्थाओं के रूप में समान श्रेणी की थीं।

—:०:—

१. शतपथ ब्राह्मण, बारहवाँ ९. ३. १.

नवाँ अध्याय

उत्तर वैदिक काल—सामाजिक और धार्मिक अवस्था

क्रमिक राजनीतिक विकास किसी भी दृष्टि से उत्तर वैदिक काल के आर्यों के इतिहास की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात नहीं थी। उससे अधिक महत्त्व के परिवर्तन धीरे-धीरे समाज और धर्म में होने लगे थे। इस विकास में सबसे बड़ा हाथ जिस बात का था और जिससे सभी परवर्ती परिवर्तनों की बात समझी जा सकती है वह यह है कि मंत्रों की भाषा दुरूह होती जा रही थी। भाषाओं का भी मनुष्यों की तरह ही उत्थान, विकास और पतन होता है और प्रकृति के अन्य क्षेत्रों की तरह ही पुरानी व्यवस्था बदलकर नयी व्यवस्था आती है। क्रमशः प्राचीन वैदिक मंत्रों की भाषा सर्वसाधारण की समझ में नहीं आने लगी और उसपर अधिकार करने के लिए विशेष शिक्षा की आवश्यकता होने लगी। इस प्राकृतिक बात का परिणाम बहुत बड़ा हुआ और उसका प्रभाव भी बहुत दूर तक पड़ा। पहली बात तो यह हुई कि लोगों को ऐसे व्यक्तियों की आवश्यकता जान पड़ने लगी जो प्राचीन वैदिक साहित्य का विशेष ज्ञान रखते हों। उससे व्यावसायिक ब्राह्मण वर्ग का विकास हुआ और उसने शीघ्र एक अपरिवर्तनीय जाति का स्थायी रूप धारण कर लिया। दूसरे, वैदिक ऋचाएँ अब एक प्रकार का धार्मिक ग्रन्थ समझी जाने लगीं, जिनमें किसी प्रकार की वृद्धि सम्भव नहीं थी। इस प्रकार धर्म ने बहुत कुछ रूढ़िवादी रूप धारण कर लिया।

वैदिक भाषा की दुरूहता

वस्तुतः उत्तर वैदिक काल का धर्म तत्त्वतः मंत्रों के धर्म से भिन्न न था, यद्यपि कुछ नये देवता अवश्य उत्पन्न हो गये थे और कुछ पुराने देवता भूले जा चुके थे। किन्तु बीती हुई अवधि को देखते हुए देव-परिवार का यह परिवर्तन कुछ आश्चर्यजनक नहीं जान पड़ता। सबसे महत्त्व की बात तो यह थी कि पुराने धर्म-विधान के रहते हुए भी धार्मिक तत्त्वों और भावनाओं में घोर परिवर्तन हो गया। विभिन्न देवताओं की स्तुति के रूप में प्रकृति के सौन्दर्य और अस्तित्व की सराहना जिस प्रकार लोगों के मुख से फूटी पड़ती थी, वह अब विगत युग की बात हो

धार्मिक भावना में परिवर्तन

गयी। सर्जनात्मक काल का स्थान आलोचनात्मकयुग ने लिया और प्रेरणा का स्थान रूढ़िवादी व्यवहार ने। ईश्वर और मनुष्य के बीच स्वस्थ और निकट संबंध की भावना को दिखानेवाली पूजा के सरल विधान के स्थान पर अब हम पुरोहित वर्ग की शक्ति को अनेक कर्मकाण्डों में लगा हुआ पाते हैं। इन कर्म काण्डों का विकास उन्होंने असीम विस्तार के साथ किया। उन्हें वे अत्यन्त कल्पनात्मक और रहस्यपूर्ण महत्त्व का मानते थे। सच तो यह है कि पुरोहित वर्ग की सारी शक्ति कर्म और विधान के गुह्य और रहस्यपूर्ण तात्पर्य की खोज में लगने लगी। इन कर्मकाण्डों में गृहकर्म के साथ २ महायज्ञों के भी विधान हैं, जो सम्भवतः इतने विराट् और दुरूह हैं, जिनसे अधिक की कल्पना मनुष्य ने शायद ही कभी की हो। गृह कर्मों में मनुष्य के सारे जीवन—गर्भाधान से लेकर मृत्यु पर्यन्त, का ही विधान नहीं है, अपितु उससे आगे का भी। अनेक कर्म दिवंगत आत्मा से संबंध रखते हैं। चालीस संस्कारों को निम्नलिखित सूची यद्यपि बहुत पीछे चलकर तैयार हुई, किन्तु उससे पूर्ववर्त्ती काल की अवस्था पर भी प्रकाश पड़ता है। इससे न केवल कर्म और विधान के स्वरूप का ही पता लगता। वरन् उस युग के रीति और रिवाजों पर भी प्रकाश पड़ता है।

(१) *गर्भाधान*—गर्भ धारण करने के निमित्त कर्म।

(२) *पुंसवन*—पुत्र उत्पन्न होने के निमित्त कर्म। इसमें सोम अथवा, किसी अन्य वृक्ष की डाल को पीस कर उसे भावी माता को दाहिनी नाक में चार वैदिक मंत्रों के साथ डाला जाता था।

(३) *सीमन्तोन्नयन*—इसमें पति अपनी गर्भवती पत्नी के बाल उचित यज्ञ के पश्चात् साही के काँटे से संवारता था और विष्णु से प्रार्थना करता था कि वे गर्भ की रक्षा करें।

(४) *जातकर्म*—नवजात शिशु के उत्पन्न होने पर कर्म।

(५) *नामकरण*—बालक को नाम देने संबंधी कर्म।

(६) *अन्नप्राशन*—छठें महीनें बच्चे को पहली बार ठोस पदार्थ खिलाने का कर्म। यदि पिता अपने बच्चे को पुष्ट बनाना चाहता था तो बकरे का मांस, यदि स्फूर्तिवान् तो मछली, यदि ऐश्वर्यवान तो घी—भात खिलाता था। इस प्रकार का भोजन दही, शहद और घी के साथ मिलाकर देवताओं को भोग लगानेके पश्चात वैदिक मंत्र के साथ खिलाया जाता था।

(७) *चूड़ाकर्म*—बालक का मुण्डन संस्कार।

(८) *उपनयन*—इस कर्म द्वारा बालक ब्रह्मचर्य अथवा विद्यार्थी जीवन में प्रविष्ट होता था। शतपथ ब्राह्मण (*ग्यारहवां* ३३—१—७) के एक अनुच्छेद से

ज्ञात होता है कि परवर्ती गृह्य-सूत्रों में उल्लिखित इस संस्कार से संबंधित सभी प्रमुख बातें इस युग में भी प्रचलित थीं।

(९–१२) *चार प्रतिज्ञायें*—इनके विभिन्न सूत्रों में विभिन्न नाम दिये गये हैं। ये प्रतिज्ञाएँ वैदिक साहित्य के विभिन्न भागों के अध्ययन के निमित्त की जाती थीं।

(१३) *समावर्त्तन*—विद्यार्थी-जीवन समाप्त होने पर यह कर्म होता था। विद्यार्थी गुरुदक्षिणा देता और अपनी दाढ़ी बाल तथा नाखून कटा और नहा धो कर घर लौटता था।

(१४) *सहधर्मचारिणी संयोग*—धार्मिक कर्त्तव्यों को पूर्ण करने के निमित्त सहचारिणी ग्रहण करना, दूसरे शब्दों में विवाह करना। विद्यार्थी-जीवन समाप्त होने पर गार्हस्थ्य जीवन आरम्भ होता था। गृहस्थ का पहला कर्त्तव्य था कि वह समान कुल की ऐसी लड़की से विवाह करे जो किसी दूसरे व्यक्ति की न हो चुकी हो, उससे उम्र में छोटी हो और जिसका पुरुष की माता और पिता के कुलों से कतिपय सीमा तक कोई सम्बन्ध न हो।

आठ प्रकार के विवाह प्रचलित थे :—

(क) यदि पिता अपनी पुत्री को दो कपड़े और गहने पहना कर किसी ऐसे व्यक्ति को देता जो विद्वान्, धार्मिक, सम्बन्धियों से युक्त और सुन्दर आकृति वाला हो, तो वह ब्राह्म विवाह कहा जाता था।

(ख) प्राजापत्य विवाह—ब्राह्म विवाह की ही तरह होता था किन्तु उसके वैवाहिककृत्य में कहा जाता था कि—"दोनों मिलकर अपना कर्त्तव्य पूरा करो।" यद्यपि अन्य प्रथाओं के अनुसार विवाहित पत्नियाँ भी पति के साथ सभी कामों में भाग लेती थी तथापि प्राजापत्य पद्धति विवाह के इस रूप पर विशेष जोर देती थी। उस पद्धति के कारण पति न तो कोई दूसरा आश्रम ग्रहण कर सकता था और न कोई दूसरा विवाह ही कर सकता था।

(ग) आर्ष विवाह में वर, वधू के अभिवावकों को एक गाय और एक बैल भेंट देता था।

(घ) यदि कन्या गहने कपड़े पहना कर यज्ञ के समय यज्ञ करानेवाले पुरोहित को भेंट की जाय तो वह दैवविवाह कहा जाता था।

(ङ) कुमारी की सहमति से किया जाने वाला आकस्मिक सहवास गान्धर्व-विवाह के रूप में स्वीकार कर लिया जाता था।

(च) यदि लड़की के अभिभावकों को धन देकर विवाह किया जाय तो वह असुर विवाह कहलाता था।

(छ) यदि कन्या बलपूर्वक उठा ली जाय तो वह राक्षस विवाह होता था।

(ज) यदि अचेतन अवस्था में कन्या का अपहरण हो तो वह पैशाच विवाह कहा जाता था।

इनमें से प्रथम चार को एकमत से वैध और प्रशस्त माना जाता था। पाँचवें और छठें को केवल कुछ ही लोग वैध समझते थे। अन्तिम दो तो सदैव निकृष्ट और निन्द्य माने गये।

(१५–१६) *पंच महायज्ञ*—पाँच दैनिक यज्ञ जो देवताओं, पितरों, मनुष्यों, भूतों और ब्राह्मणों के प्रति नित्य किये जायँ। पढ़ना और पढ़ाना ब्राह्मण के प्रति किया जाने वाला यज्ञ था। जल और भोजन द्वारा पितरों के प्रति किये जाने वाला यज्ञ था। देवताओं के प्रति हवन द्वारा यज्ञ होता था और भूतों को बलि दी जाती थी और अतिथि—सत्कार मनुष्य के प्रति किया जाने वाला यज्ञ था। गृहस्थ के लिए नित्य प्रति इन्हें करना आवश्यक बतलाया गया है।

(२०–२६) सात प्रकार के पाक यज्ञ, अर्थात् अष्टका, आग्रहायणी, चैत्री, आश्वयुजी, पार्वण और श्राद्ध। अष्टका यज्ञ कार्तिक से माघ तक के चार महीनों में कृष्ण पक्ष की अष्टमी को किया जाता था। श्रावणी श्रावण की पूर्णिमा को आग्रहायणी अगहन मास की चतुर्दशी अथवा पूर्णिमा को, चैत्री चैत्र की पूर्णिमा को और आश्वयुजी आश्विन की पूर्णिमा को किया जाता था। श्राद्ध एक महत्त्वपूर्ण गृहकर्म है। वह प्रति मास की शुक्लप्रतिपदा को पितरों के प्रति तर्पण के रूप में किया जाता।

(२७–३३) सात प्रकार के हविर्यज्ञ।

(३४–४०) सात प्रकार के सोमयज्ञ।

हविर्यज्ञ और सोम यज्ञ ऊपर लिखित कर्मों की अपेक्षा बहुत अधिक विकसित थे और उनका विस्तृत वर्णन श्रौत सूत्रों में पाया जाता है। इन दोनों में कम से कम तीन पवित्र अग्नियां प्रज्वलित की जाती थीं और उन्हें अन्न, दूध, शहद, पकवान आदि भेंट की जाती थी। सोम यज्ञ में इनके अतिरिक्त सोम की भेंट एक आवश्यक अंग थी। इनमें से अधिकांश यज्ञों में पशु-बलि होती थी। इनमें और गृह्यसूत्रों में उल्लिखित अन्य (१-२६) यज्ञों में एक मुख्य भेद यह था कि श्रौत कर्मों में पुरोहित का मुख्य भाग होता और गृह्य कर्मों में गृहस्थ स्वयं आवश्यक कर्म करता था।

सात प्रकार के हविर्यज्ञ निम्नलिखित हैं :—

(१) अग्न्याधेय—तीन या अधिक अग्नियों की स्थापना—प्रत्येक गृहस्थ का यह अनिवार्य कर्त्तव्य था कि वह अपने घर में इन अग्नियों की स्थापना करे। ये अग्नि-कुण्ड देव-मन्दिरों का काम देते थे।

(२) अग्निहोत्र—नित्य प्रति तीन अग्नियों में हवन।

(३) दर्शपौर्णमास—प्रतिपदा और पूर्णिमा को यज्ञ।

(४) आग्रायण—नवान्न का हवन।

(५) चातुर्मास्य—तीन ऋतुओं में प्रत्येक के आरम्भ का यज्ञ।

(६) निरुद्ध पशुबन्ध—अन्य कर्मों से स्वतन्त्र पशु बलि।

(७) सौत्रामणि—इसका मूल कर्म अश्विनों और सरस्वती को सुरा भेंट करना था। यह सामान्यतः सोम यज्ञों के पश्चात् किया था और जो लोग उन यज्ञों में अधिक सोम पान कर लेते थे उनकी चिकित्सा ही इसका उद्देश्य था।

सात प्रकार के सोम यज्ञ हैं:—

अग्निष्टोम अथवा ज्योतिष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशिन्, वाजपेय, अतिरात्र और आप्तोर्याम। ये सभी कम या अधिक मात्रा में अग्निष्टोम के ही रूप थे। अन्तर उनमें केवल कुछ ब्यौरों और बलि की संख्या का था।

अग्निष्टोम का वास्तविक कर्म केवल एक दिन का होता था। जिसमें प्रातः-काल, दोपहर और शाम को सोम पीसा जाता था और अग्निको पशु बलि दी जाती थी। किन्तु इस यज्ञ कर्म से पूर्व बहुत दिनों तक—कभी २ एक वर्ष तक—दीक्षा होती थी जिसमें यज्ञकर्त्ता और उसकी पत्नी आस-पास की स्वतन्त्र झोपड़ियों में सात्विक और तामसिक जीवन व्यतीत करते थे। इस कर्म में सबसे मजे की बात यह होती थी कि सोम वृक्ष का क्रय किया जाता था। वह गाड़ी में लाद कर लाया जाता और अतिथि की भाँति उसका स्वागत होता था।

ऊपर की सूची में वर्णित यज्ञों के अतिरिक्त अन्य अनेक यज्ञ होते थे। उन सब के वर्णन की आवश्यकता नहीं, किन्तु चार उल्लेखनीय हैं। इनमें पहला

व्रात्यस्तोम

व्रात्यस्तोम है। इसमें चार कृत्य होते थे जिनके द्वारा ब्राह्मण धर्म से बाहर का व्यक्ति परंपराप्रिय समाज में ग्रहण किया जाता था। इस यज्ञ का अस्तित्व इस बात का प्रमाण है कि प्राचीन काल में हिन्दू समाज आज की तरह कठोर और अनमनीय न था तथा उसका द्वार प्रत्येक के लिए खुला हुआ था।

अन्य दो कृत्य—राजसूय और अश्वमेध तो बहुत ही प्रसिद्ध हैं।

राजसूय, राजाके राज्याभिषेक के निमित्त होता था। अग्निष्टोम की भाँति-वह भी एक दिन का कर्म था। उसमें सोम पीसा जाता था और अन्य कर्म पूरे होते, किन्तु उसके पूर्व एक वर्ष की लम्बी अवधि तक विभिन्न छोटे-मोटे कृत्य किये जाते थे। प्रमुख राज्याधिकारी इस कृत्य में भाग लेते और राजा राजवेश में पुरोहित से धनुष-बाण ग्रहण करता और अपने को राजा घोषित करता था। वह चतुर्दिक् विजय को व्यक्त करने वाले अनेक लाक्षणिक कृत्य करता और तत्पश्चात् एक पुरोहित, एक गोत्रीय, एक क्षत्रिय और एक वैश्य उसका अभिषेक करते थे।

राजसूय

अश्वमेध यज्ञ में एक घोड़ा अभिषेक के पश्चात् सैनिकों द्वारा सुरक्षित १०० अन्य घोड़ों के साथ स्वतन्त्रविचरण के लिये छोड़ दिया जाता था। वह जहाँ चाहे घूमता-फिरता। इसका उद्देश्य अन्य राज्यों को चुनौती देना था। लगभग एक वर्ष तक राजा अपनी रानी तथा दासियों सहित उच्चाधिकारियों के साथ नित्य यज्ञ करता और उसके साथ २ उसके पूर्वजों का यशोगान होता। वर्ष पूरा होने पर घोड़ा लौटा लाया जाता और राजा का अभिषेक होता था। रानियाँ घोड़े का तिलक करती और विभिन्न कृत्य होते थे। उसके बाद वह मार डाला जाता और उसका मांस भुना जाता। राजसूय और अश्वमेध निस्संदेह शक्तिशाली राजाओं द्वारा ही किये जाते थे और अन्य राजाओं पर प्रभुत्व के प्रतीक समझे जाते थे। इस तथ्य पर जोर देने के निमित्त कभी २ इन यज्ञों में, विशेषतः राजसूय में, अधीनस्थ राजाओं से सेवा कार्य भी कराये जाते थे।

अश्वमेध

अश्वमेध से भी अधिक फल दायक किन्तु अधिक भयानक पुरुषमेध था जिसमें अश्व के स्थान पर मनुष्य की बलि दी जाती। दोनों ही यज्ञों में प्रायः एक से कृत्य होते। जिस प्रकार एक वर्ष के लिये घोड़ा मुक्त छोड़ दिया जाता, उसी प्रकार बलि का मनुष्य उस अवधि तक आनन्द भोग करने के लिये स्वतन्त्र होता। इस काल में उसकी सारी इच्छाएँ पूरी की जातीं। रानी उस पुरुष-बलि के साथ अश्वमेध बलि के घोड़े के समान ही व्यवहार करती।

पुरुषमेध

इस संसार में सफलता और स्वर्ग में आनन्द प्राप्त करने के लिये ये कर्म और विधान एकाकी साधन न थे। इनकी अथवा इनसे अधिक महत्व के फलों की प्राप्ति के निमित्त शीघ्र ही तपस् अर्थात् अपने को कष्ट देने की भावना का विकास हुआ। तपस् का तात्पर्य शारीरिक कष्ट सहन के साथ ध्यान है। इन्होंने अनेक रूप धारण किये। यथा-एक ही

तपस्

आसन से महीनों, वर्षों तक रहना। अल्पतम आहार करना, गर्मी, धूप और जाड़े में ठण्ड में खड़े रहना, कीलों की शय्या पर सोना, अथवा इसी प्रकार के अन्य कार्य करना जिनसे शरीर पर पूर्ण अधिकार व्यक्त हो। लोग एकान्त में चले जाते और इस विश्वास से कठिन साधनायें करते कि उन्हें न केवल स्वर्ग की प्राप्ति होगी वरन् असाधारण दैवी रहस्यमय और अतिप्राकृतिक शक्ति भी प्राप्त होगी। इस प्रकार उस युग के धार्मिक विचारों में पीछे चलकर यज्ञ का स्थान तपस् ने बहुत कुछ अंशों तक ग्रहण कर लिया।

जहां एक ओर पुरातन काल की सरल वैदिक क्रियाओं का स्थान विस्तृत कर्मकाण्ड और तपस्—क्रियाएं ले रही थी, वहाँ दूसरी ओर विचारशील जनता में यह विश्वास बढ़ रहा था कि आनन्द और मुक्ति केवल सत्य ज्ञान से ही सम्भव है। इन लोगों ने यज्ञ, कर्मकाण्ड और तपस् की पूर्णतः उपेक्षा तो न की किन्तु उसे विशेष महत्त्व न दिया तथा इस मत का प्रतिपादन किया कि "जो ईश्वर को जानता है वह ईश्वर को प्राप्त करता है। यही नहीं, वह स्वयं ही ईश्वर है"। इस प्रकार के दार्शनिक विचार सर्वथा नवीन न थे। उसके तत्व ऋग्वेद में भी पाये जाते हैं और वेदों में सदैव कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड अर्थात् यज्ञ और ज्ञान में अन्तर किया गया है। किन्तु वैदिक काल के अन्तिम भाग में ही इस प्रकार के दार्शनिक विचार व्यवस्थित होकर वैदिक साहित्य में सम्मिलित हुए और उन्हें महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ।

प्रारम्भिक दार्शनिक साहित्य का सामान्य रूप उपनिषद् नाम से प्रसिद्ध है। उपनिषदों की ज्ञात संख्या बहुत बड़ी—लगभग २०० है। किन्तु उनमें से कितने ही बहुत पीछे के हैं। बृहदारण्यक और छान्दोग्य जैसे प्राचीनतम उपनिषद् ६०० ई० से भी पूर्व के हैं और उनमें ईश्वर, मनुष्य और विश्व सम्बन्धी मनुष्य के विचार में आने वाले शाश्वत प्रश्नों के ऊपर दृढ़ता के साथ मत प्रतिपादित किये गये हैं। इसमें संदेह नहीं कि कर्मकाण्डियों और दार्शनिकों में उस समय एक प्रकार का विरोध सा था और यह कुछ विशेष सार्थक प्रतीत होता है कि क्षत्रिय लोगों ने विशुद्ध विचार के क्षेत्र में अपने को आगे बढ़ाया। जहाँ तक यज्ञ और कर्मकाण्ड से सम्बन्धित प्रश्न थे, ब्राह्मण ही उसके एक मात्र अधिकारी थे, किन्तु दार्शनिक विचारों के क्षेत्र में क्षत्रिय उनके प्रतिद्वन्दी थे। कभी २ तो ब्राह्मण लोग क्षत्रियों से दार्शनिक प्रश्नों पर शिक्षा लेते हुए भी पाये जाते हैं।

उपनिषद्

उपनिषदों के दार्शनिक विचारों का उल्लेख विस्तारपूर्वक करना तो सम्भव नहीं है। इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि वे संसार के आध्यात्मिक विचार कोष

में भारत की सबसे महत्त्वपूर्ण देन समझे जाते हैं। उनसे भारतीयोंके असाधारण बौद्धिक ज्ञान का प्रमाण मिलता है। सारे संसार के विद्वानों ने उनकी भूरि २ सराहना की है। महान् दार्शनिक शोपेनहार एक उपनिषद् के फारसी अनुवाद के लैटिन अनुवाद को पढ़ कर इतना विभोर हो गया था कि उसके कण्ठ से सपरमानन्द फूट पड़ा—

"प्रत्येक पंक्ति से गहरे मौलिक और उच्च विचार प्रकट होते हैं। उन सबमें उच्च पवित्र तथा सत्य भावनायें भरी हुई हैं। भारतीय वायुमण्डल हमें घेर लेता है। अपनी ही आत्मा के मौलिक भाव प्रकट होते हैं। ओह! इनमें यहूदियों के पुराने अन्धविश्वास और उन अन्धविश्वासों से लगे हुए दर्शनों से मस्तिष्क कितना मुक्त और स्वच्छ हो उठा है। सारे संसार में मूल स्रोतों को छोड़ कर उपनिषद् के समान कोई अध्ययन नहीं है जो इतना लाभदायक और इतना ऊँचा उठाने वाला हो। यह मेरे जीवन का सुख-संतोष है और वह मेरे मरण का भी सुख-सन्तोष होगा।"[1] यह कथन कुछ अत्युक्तिपूर्ण कहा जा सकता है किन्तु मैक्समूलर सदृश गम्भीर विचारकों का भी कहना था कि दार्शनिक साहित्य के इन प्राचीनतम ग्रंथों का विश्व के साहित्यों में सर्वदा अपना स्थान होगा। वे किसी भी काल और किसी भी देश के मानव मस्तिष्क की अद्भुत सृष्टि समझे जायेंगे।[2]

मिस्रियों और भारतीयों—दोनों के सम्मुख मृत्यु सम्बन्धी एक ही महान् समस्या थी—"क्या साँस बन्द होते ही मनुष्य का पूर्णान्त हो जाता है?" यह उनकी जिज्ञासा का समान विषय था और उसे रोकने का दोनों ही का प्रयत्न रहा। किन्तु एक को इसका उत्तर विशाल पिरैमिडों के रूप में मिला जिनमें शव तैल-सुरक्षा से रक्खे गये हैं, और दूसरे ने अमर उपनिषदों का विकास किया। यह वैषम्य मजेदार एवं शिक्षाप्रद है। उससे न केवल भारतीय संस्कृति का सच्चा स्वरूप व्यक्त होता है वरन् उसके पूर्व की सभी संस्कृतियों से उसकी विशेषता एवं प्रधानता भी प्रकट होती है।

चार आश्रम

इस प्रकार जिस काल की हम चर्चा कर रहे हैं उसके अन्तिम चरण में जहाँ एक ओर कर्म और विधान की बृहत् व्यवस्था और कष्ट सहन के विचित्र ढंग का विकास हो रहा था वहीं साथ ही साथ दूसरी ओर रहस्यों के प्रति विस्तृत दार्शनिक जिज्ञासाऔर विचार-विमर्श का भी विकास हो रहा था। इन परस्पर विरोधी धाराओं का प्राचीन भारतीयों के जीवन पर जो प्रभाव पड़ा उसकी कल्पना चतुराश्रम

---

१ सैक्रेड बुक्स आफ् दि ईस्ट, भाग १ पृष्ठ ६१

२ वही, पृष्ठ ६७

की व्यवस्था के अध्ययन से की जा सकती है। ये चार आश्रम थे ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य; वानप्रस्थ और संन्यास। गुरु के घर रह कर शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् प्रत्येक व्यक्ति को अपने भावी जीवन के रूप में इन चारों में ही एक को चुनना पड़ता था।

वह चाहे तो पहले आश्रम को चुने और आपना सारा जीवन अध्ययन में व्यतीत करे। वैसी अवस्था में उसे मृत्युपर्यन्त गुरु आश्रम में रहना और ब्रह्मचर्य जीवन के सभी नियमों और व्रतों का पूर्णतः पालन करना पड़ता था। उसे पूर्णतः सात्विक जीवन व्यतीत करना, अपनी इन्द्रियों पर पूर्ण अधिकार रखना और जीवन के सभी आमोद-प्रमोदों से विरत रहना होता था।

यदि वह दूसरा आश्रम चुनता तो उसे गुरु आश्रम से शिक्षा समाप्त होने के पश्चात् लौटकर विवाह करना और गृहस्थी सँभालनी पड़ती। उसका मुख्य कर्त्तव्य वेदाध्ययन, अग्नि का प्रज्वालन और पीछे वर्णित विविध कर्मकाण्डों का पालन था।

अथवा वह चाहे तो तीसरा आश्रम ग्रहण कर गुरु के घर से सीधे साधु के रूप में निकल जाय। ऐसी अवस्था में उसे बिना अग्नि, घर, सुख और रक्षण के रहना होता। उसे मौन रहना पड़ता और केवल वेद-मंत्र पाठ के समय बोल सकने की स्वतंत्रता थी। गाँवों से केवल खाने भर को भिक्षा लेता हुआ लोक तथा परलोक की परवाह किये बिना वह आजीवन इधर-उधर घूमता रहता। दूसरे के उतारे हुए अथवा बेकार कपड़ों को वह पहनता अथवा नग्न रहता, किन्तु यों नंगा रहना लोग पसन्द न करते थे। विश्व के सारे प्राणियों से उदासीन होकर, भले ही वे उसे हानि अथवा लाभ पहुचायें, इस लोक एवं परलोक के निमित्त कुछ न कर वह आत्मा की खोज करता रहता अर्थात् वह अपना सारा जीवन दार्शनिक चिन्तन में व्यतीत करता। इसमें संदेह नहीं कि ऐसे ही लोगों के प्रति हम अपने दर्शन शास्त्र के विकास के लिये ऋणी हैं।

चौथे, कोई चाहे तो शिक्षा समाप्त करने के बाद जंगलों में जाकर संन्यास जीवन व्यतीत कर सकता था। संन्यासी को तपोव्रत के निमित्त जंगल में रहना पड़ता। वह अग्नि प्रज्वलित रखता और ऊपर बताये हुए पंचमहायज्ञों का पालन करता। वह गाँव में नहीं जा सकता था तथा केवल वल्कल और चर्म पहनता था। आरम्भ में उसे कन्द, मूल, फल, पत्ती और घास पर रहना पड़ता पुनः जो कुछ बैठे बैठाये मिल जाये उसी पर सन्तोष करना होता, तत्पश्चात् केवल जल पर और अन्त में बिना कुछ खाये जीवन व्यतीत करना होता।

प्रत्येक व्यक्ति के लिये गुरु-आश्रम में शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् यद्यपि इन चार आश्रमों में से किसी एक में प्रवेश करने का मार्ग खुला हुआ था किन्तु वह

चाहे तो दो या अधिक आश्रमों का भी पालन कर सकता था। इस प्रकार वह चाहे तो कुछ दिनों तक गृहस्थ रहकर वृद्धावस्थामें वानप्रस्थी वा संन्यासी हो सकता था। ऐसा संप्रमाण जान पड़ता है कि प्रायः यही क्रम पालन किया जाता था। जीवन के अन्तिम भाग में राजा लोग भी प्रायः संन्यास ग्रहण कर जंगल में चले जाते थे।

चतुराश्रम व्यवस्था भारतीय समाज की एक अनोखी वस्तु है। यद्यपि इतिहासकार का संबन्ध उनमेंसे केवल एक अर्थात् गृहास्थाश्रम से ही है किन्तु वह उस पर पड़ने वाले अन्य तीन आश्रमों के प्रभाव की उपेक्षा नहीं कर सकता। ज्ञान और मुक्तिदायक आध्यात्मिक सत्य के अन्वेषकों के धार्मिक एवं निस्वार्थ समाज के कारण जनसमुदाय के आचार का स्तर निसन्देह काफी ऊँचा रहा होगा। उनमें से अनेक; लौकिक जीवन से अलग रहते हुए भी समाज से अत्यन्त निकट का सम्पर्क बनाये रखते थे ताकि उसे निरन्तर सलाह देते रहें और आवश्यकता पड़नेपर उसमें हस्तक्षेप भी कर सकें। उदाहरणतः विधि और विधानों का वे ही लोग संग्रह करते थे और अत्याचारी राजा उनके शाप और क्रोध से प्रायः थर्राते रहते थे। अनेक ऐसे लिखित उदाहरण हैं जिनमें ऋषियों द्वारा अत्याचारी राजाओं का अन्त करने में सहयोग और हस्तक्षेप पाया जाता है।

इस युग का एक अन्य महत्वपूर्ण परिवर्तन जाति कही जानेवाली अनोखी समाजिक व्यवस्था का विकास है। पीछे कहा जा चुका है कि आरम्भ में

जाति व्यवस्था

आर्य लोगों का एक संयुक्त समूह था किन्तु धीरे धीरे दो वर्गों के लोगों ने अन्य लोगों से भिन्न सम्मान और ऊँचाई का स्थान प्राप्त कर लिया। अविकसित जाति स्वभावतः धार्मिक साहित्य और धार्मिक कर्मकाण्ड का ज्ञान अथवा राजनीतिक अधिकार रखनेवाले लोगों से डरती और उनका सम्मान करती है इस प्रकार वैश्य कही जानेवाली समूची जनताके बीच से दो प्रमुख वर्गों के रूप में ब्राह्मणों और क्षत्रियों का विकास हुआ।

ऋग्वेद के रचना काल में ही इस भेद ने किसी प्रकार का निश्चित रूप धारण कर लिया था या नहीं यह कहना कठिन है। किन्तु अधिक सम्भावना इस बात की ही है कि आरम्भिक वैदिक काल में वास्तविक भेद श्वेत वर्ण—आर्य और उन आर्यों द्वारा विजित और समाज में सम्मिलित कर लिये जानेवाले आदिवासियों अर्थात् कृष्णवर्ण दास और शूद्रों का होगा। उत्तर वैदिक काल की वैदिक साहित्य की दुरूहता के कारण पेशेवर अभिभाषकों की जब आवश्यकता हुई, तो उसी युग में ब्राह्मणों के निश्चित वर्ग का विकास हुआ। उसी समय आर्यों के बढ़ाव के कारण

सैनिक नेताओं की भी महत्ता बढ़ी, जिन्होंने विभिन्न दिशाओं में अपनी राजनैतिक प्रभुता स्थापित कर ली और इस प्रकार स्पष्ट क्षत्रिय वर्ग का विकास हुआ।

वैश्य कहे जाने वाले शेष आर्य निस्सन्देह शूद्रों से काफी ऊँचे थे किन्तु क्रमशः उनकी पदप्रतिष्ठा घटती गई। ऐतरेय ब्राह्मण के एक स्थल में तो यहाँ तक कहा गया है कि "एक वैश्य दूसरे का उपजीव्य है और इच्छानुसार उसे सताया जा सकता है।" इससे वैश्योंकी ऊपर के अन्य दो वर्णों पर पूर्ण निर्भरता ज्ञात होती है।

यद्यपि समाज चार विभागों में बँट तो गया था तथापि जाति व्यवस्था ने उस समय तक कठोर रूप धारण न किया था। ऐसी कोई बात नहीं मालूम होती जिससे प्रकट हो कि केवल ब्राह्मण का पुत्र ही ब्राह्मण हो सकता था। अनेक अनुच्छेदों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि किसी व्यक्ति को ब्राह्मण मानने में उसका वैदिक साहित्य और धार्मिक कर्मकाण्डों का ज्ञान ही मुख्य गुण माना जाता था और वंश का महत्त्व कुछ भी न था। सूत्र काल में यह नियम अवश्य बना कि वह व्यक्ति पुरोहित नहीं हो सकता जो अपने को ऋषियों की तीन पीढ़ी का वंशज न सिद्ध कर सके। किन्तु इन नियमों से यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि ब्राह्मण के लिये क्रमागत वंश परम्परा एक आदर्श मात्र था, यथार्थ नहीं। उनसे यह भी प्रकट होता है कि व्यवस्था को अधिकाधिक कठोर बनाने का प्रयत्न जान बूझकर किया जाने लगा था। इस बात के अनेक प्रमाण मिलते हैं कि जाति का निर्णय केवल जन्म से ही नहीं होता था और विभिन्न जातियों के लिए निर्धारित व्यवसायों का भी अक्षरशः पालन व्यवहार में नहीं था। रही जाति के अन्य अनिवार्य तत्त्वों की बात। इस सम्बन्ध में विभिन्न जातियों के परस्पर खान-पान के निषेध की तो कल्पना भी इस काल में न थी और विभिन्न जातियों में परस्पर विवाह प्रचलित थे। शूद्र के साथ प्रथम तीन वर्णोंके विवाह को लोग हेय दृष्टि से अवश्य देखते थे किन्तु उसका कोई स्पष्ट निषेध न था। ब्राह्मणों को अभी निष्कंटक महत्ता उस समय तक प्राप्त नहीं हुई थी और क्षत्रियों के साथ इस सम्बन्धमें बहुत दिनों तक उनका संघर्ष चलता रहा।

कठोरता का अभाव

उत्तर-वैदिक काल में आर्य और शूद्रों का भेद धीरे २ बढ़ता गया। कहा जाने लगा कि शूद्रों को पवित्र अग्नि के निकट जाने अर्थात् यज्ञ करने अथवा धार्मिक साहित्य पढ़ने का अधिकार नहीं है; किन्तु आरम्भिक साहित्य में अनेक स्थलों पर उनके इन अधिकारों को स्वीकार किया गया है। यही नहीं, शूद्रों को अपने मुर्दों को जलाने का भी अधिकार न था। किन्तु प्राचीन साहित्य इस दिशा में इतना आगे बढ़ा था कि

शूद्र

उसमें उनकी शव-समाधियों की नाप तक दी गई है। शूद्र के साथ विवाह धीरे २ हेय दृष्टि से देखा जाने लगा, यह ऊपर कहा ही जा चुका है। यद्यपि ये सब शूद्रों की बुरी अवस्था के द्योतक हैं, तथापि उस समय तक उन्हें एक दम हेय समझने वाली वैसी कोई बात न थी जैसी पीछे समझी जाने लगी।

क्षत्रियों ने आर्य उपनिवेशों का सुदूर और अज्ञात देशों तक विस्तार किया और ब्राह्मणों ने नवविजित प्रदेशों और उनके बहुत बाहर तक आर्य संस्कृति का विस्तार और उद्योग तथा अन्य कला और कौशलों के द्वारा वैश्य और शूद्र लोगों ने धनी लोगों की बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्त्ति की और सुखी तथा समृद्ध जीवन का विकास किया।

स्त्रियों की अवस्था

इस काल में नारी की सामान्य स्थिति बिगड़ने लगी। उनका उपनयन संस्कार का अधिकार जाता रहा। विवाह के अतिरिक्त उनके सारे संस्कार बिना वैदिक मंत्रोच्चार के होने लगे। पूर्वकाल की भाँति ही स्त्रियों का विवाह युवती होने पर होता था। बहुपत्नीत्व की प्रथा तो निश्चय ही थी। अथर्ववेद की एक ऋचा (पञ्चम १७.८) से बहुपतित्व और अन्तर्जातीय विवाह का बोध होता है। उसमें कहा गया है कि यदि किसी स्त्री के पहले दस अब्राह्मण पति रहे हों तो भी ब्राह्मण के द्वारा उसका पाणिग्रहण कर लिये जाने पर केवल वही उसका पति होता (माना जाता) है।

सैद्धान्तिक रूप से पत्नी का अब भी उच्च स्थान था। शतपथ ब्राह्मण (पञ्चम २.१.१०.) में कहा गया है कि वह अपने पति की अर्द्धांगिनी है और उसे पूर्ण करती है। किन्तु इस बात के स्पष्ट लक्षण ज्ञात होते हैं कि स्त्री की स्थिति और उसका सम्मान इस काल में बहुत कुछ गिर गया था। बहुत से धार्मिक कृत्य, जो पहले पत्नी किया करती थी अब पुरोहित करने लगे थे। राजनीतिक सभाओं में उन्हें नहीं जाने दिया जाता था। पत्नी के लिये आदर्श अब यह माना जाने लगा कि वह पति की आज्ञाकारिणी हो, अपना मुँह बन्द रखे, और पति के भोजन के पश्चात् भोजन करे। पुत्री के जन्म को लोग नापसन्द करने लगे थे, क्योंकि वह कष्टदायिनी समझी जाती थी। केवल पुत्र वंश का रक्षक माना जाता था।

स्त्रियों को नृत्य और गान सिखाये जाते तथा ढोल मजीरा, वीणा, करताल और शंख आदि अनेक वाद्य यन्त्रों का उल्लेख पाया जाता है। वीणा के विभिन्न प्रकारों के उल्लेख पाये जाते हैं। कुछ स्त्रियाँ तो उच्चशिक्षित भी थीं। सामाजिक स्थिति गिर जाने पर भी उपनिषदों वाले उत्तर-वैदिक काल में स्त्रियों ने विद्वत्ता के क्षेत्र में अपनी स्थिति कायम रक्खी, यह जानकर प्रसन्नता होती है। इस

संबंध में बृहदारण्यकोपनिषद् में उल्लिखित दो मनोरंजक घटनाओं की चर्चा अप्रासंगिक न होगी।

विदेह के महाराज जनक ने एक बार यज्ञ किया। उसमें बहुत से विद्वान् ब्राह्मण पधारे जिनमें कुरु और पांचाल के भी ब्राह्मण थे। जनक ने परखना चाहा कि उनमें कौन सबसे अधिक विद्वान् है? उन्होंने एक हजार गायें खड़ी कर दीं, प्रत्येक गाय के दोनों सींगों में दस-दस स्वर्ण-पाद बाँध दिये और उपस्थित ब्राह्मणों से कहा कि आपमें जो सबसे विद्वान् हो इन गायों को हाँक ले जाय। महान् दार्शनिक याज्ञवल्क्य ने अपने शिष्य से उन्हें हाँक ले जाने को कहा। इस पर दूसरे ब्राह्मण बहुत क्रुद्ध हुए और याज्ञवल्क्य से प्रश्न पर प्रश्न करने लगे। याज्ञवल्क्य ने सबको निरुत्तर कर दिया। उनसे प्रश्न करने वालों में विदुषी गार्गी वाचक्नवी भी थी। वह सभा में उठ खड़ी हुई और याज्ञवल्क्य से दार्शनिक विवाद करने लगी। तब याज्ञवल्क्य ने कहा—"ओ गार्गी, बहुत मत पूछ, भय है कहीं तेरा सिर गिर न पड़े। तू ऐसे देवता के संबंध में बहुत पूछती है जिसके सम्बन्ध में अधिक पूछना उचित नहीं।" गार्गी एक क्षण के लिए रुकी और फिर उठ कर गर्व के साथ बोली—विद्वत् ब्राह्मण वर्ग, मैं इनसे केवल दो प्रश्न पूछूँगी। अगर इन्होंने उनका उत्तर दे दिया, तो मैं समझती हूँ आप में से कोई भी ब्रह्म संबंधी किसी भी प्रश्न पर उन्हें पराजित न कर सकेगा। प्रश्न पूछे गये और याज्ञवल्क्य ने उनका उत्तर दिया।[1]

दूसरी घटना भी याज्ञवल्क्य से ही सम्बन्ध रखती है। उन्होंने अपनी पत्नी मैत्रेयी को सम्बोधित करते हुए कहा—"मैं अपना यह घर छोड़ कर वन में जा रहा हूँ। आओ अपनी दूसरी पत्नी कात्यायिनी और तुम्हारे बीच निबटारा कर दूँ।"

मैत्रेयी ने कहा—"नाथ! यदि यह सारा संसार स्वर्ण से भी भरा मेरा हो, तो भी बताइये क्या मैं उससे अमर हो जाऊँगी?" याज्ञवल्क्य ने कहा—"नहीं।" मैत्रेयी ने कहा—"मैं यह सब लेकर क्या करूँगी जिससे मुझे अमरत्व प्राप्त न हो। अमरत्व के सम्बन्ध में आप जो कुछ भी जानते हों वही मुझे बता दीजिये।"

याज्ञवल्क्य ने कहा—"तू सचमुच मुझे प्रिय है और तूने मुझसे प्रिय वाक्य कहे। आ बैठ, मैं तुझे समझाऊँगा। मैं जो कहता हूँ उसे ध्यान से सुन।" तत्पश्चात् ब्रह्माण्ड और व्यक्ति के साथ ब्रह्माण्ड के सम्बन्ध पर एक अत्यन्त ही

---

१ सेक्रेड् बुक्स आफ् दि ईस्ट, जिल्द १५ पृष्ठ १२१ और आगे।

बहुत दार्शनिक विवेचन चलता है।[1] ये दोनों ही घटनाएँ प्राचीन भारत की स्त्रियों के उच्च स्थान, ज्ञान और बौद्धिक विकास को स्पष्ट बताती हैं। उसकी तुलना में विश्व के इतिहास में अन्यत्र कहीं कुछ पाना कठिन है।

ये दो प्रतिभाशील स्त्रियाँ उस काल में अकेली नहीं थीं। उच्च आध्यात्मिक ज्ञान वाली अनेक स्त्री–शिक्षिकाओं की चर्चा पायी जाती है। परवर्ती साहित्य में भी ब्रह्मवादिनियों का उल्लेख है जो अपना सारा जीवन अध्ययन और आध्यात्मिक चिन्तन में बिताती थीं। मनुस्मृति जैसे परवर्ती साहित्य में व्यक्त अवस्था से इस काल की अवस्था की तुलना करने पर आश्चर्यजनक अन्तर ज्ञात होता है। मनु-संहिता में तो स्त्रियों के लिए वेद का पाठ निषिद्ध है।

इस प्रकार का विकसित बौद्धिक जीवन और वैदिक साहित्य का अपार भंडार इस बात का द्योतक है कि उस काल में शिक्षा की सुनियोजित व्यवस्था रही होगी। ऊपर कहा जा चुका है कि उपनयन के धार्मिक कृत्य द्वारा बालक विद्यार्थी जीवन में प्रविष्ट होता और गुरु अथवा आचार्य को सौंप दिया जाता था। इसके बाद उसे गुरु के घर में रह कर ब्रह्मचारी का पवित्र जीवन व्यतीत करना होता था। उसका मुख्य कर्त्तव्य अध्ययन और गुरु–सेवा होता था। गुरु सेवा में लकड़ी बटोरना, गायें चराना और भीख माँगना भी सम्मिलित था। उस समय आज की तरह सार्वजनिक स्कूलों की प्रथा तो न थी किन्तु विद्यार्थियों को अपने गुरु के साथ निरन्तर सहवास से पूर्ण नैतिक और बौद्धिक शिक्षा मिलती थी। विद्यार्थी गुरु के घर रहता और वहीं खाता पीता था और बदले में उनकी सेवा करता तथा शिक्षा समाप्त हो जाने पर उसे दक्षिणा भेंट करता। हाँ, कभी-कभी धनी माता पिता के लड़के उन दिनों भी गुरु को नियमित रूप से शुल्क (दक्षिणा) देते रहते थे।

शिक्षा

सुविख्यात गुरुओं के अधीन अनेक वैदिक शिक्षा केन्द्र थे, जो पीछे चलकर सूत्र और चरण के नाम से प्रसिद्ध होनेवाली संस्थाओं के पूर्ववर्ती थे और इनके कारण ही विभिन्न वैदिक शाखायें बनीं और वैदिक साहित्य के विभिन्न पाठ स्थिर हुए। गार्गी की जो कहानी ऊपर दी गयी है वह इस बात की द्योतक है कि विद्वत् समाज का दार्शनिक वाद-विवाद तत्कालीन शिक्षा-व्यवस्था की एक विशेषता थी।

शिक्षा के मुख्य विषय निस्सन्देह वैदिक साहित्य, इतिहास और पुराण (प्राचीन ऐतिहासिक अनुश्रुतियाँ), ब्रह्मविद्या (दर्शन और आत्मज्ञान) तथा

---

१. वही, पृष्ठ १०६ और आगे।

वेदांग के अन्तर्गत आने वाले अन्य विषय थे। किन्तु शिक्षा के अन्य अधिक लौकिक विषय भी उपेक्षित न थे। उपनिषदों में ऐसे विषयों की कई सूक्तियां दी हुई हैं जो नियमित शिक्षा के अंग रहे होगें। इनमें वाकोवाक्य (तर्क-विद्या) राशि (गणित) निधि, सैनिक विज्ञान , सर्पविद्या, शकुन विचार तथा पित्र्य, देव-विद्या, भूतविद्या तथा देवजन विद्या आदि अनेक ऐसे विषय थे जिनका स्पष्ट रूप और क्षेत्र बता सकना तो कठिन है; पर जान पड़ता है कि उनका सम्बन्ध देवताओं और पार्थिव तत्त्वों से था। एकायन (आचार शास्त्र) भी अध्ययन का विषय था। चरित्र निर्माण और व्यक्तित्व का विकास करने वाली उच्च आचार शिक्षा शिक्षा-व्यवस्था की रीढ़ थी। विद्यार्थी अध्ययन और गुरु के आचार का अनुकरण कर ज्ञान प्राप्त करते थे।

खण्ड २

६०० ई० पू० से ३०० ई० तक

पहला अध्याय

छठी से चौथी शताब्दी ई० पू० का राजनीतिक इतिहास

मगध साम्राज्य की स्थापना

भारतीय इतिहास का स्वरूप बहुत कुछ सातवीं शताब्दी ई० पू० के अन्तिम चरण में निखरने लगा। उस समय उत्तरी भारत में कोई बड़ी अधिशक्ति नहीं थी, और सारा देश अनेक स्वतंत्र राज्योंमें विभक्त था। चौथी शताब्दी ई० पू० के साहित्यिक ग्रंथों में प्रमुख राज्यों की संख्या सोलह दी हुई है किन्तु सम्भवतः उनकी वास्तविक संख्या इस रूढ़िगत संख्या से कहीं अधिक थी। इन राज्यों में से कुछ का संविधान तो राज्यतंत्रीय था और कुछ का लोकतंत्रीय अथवा उच्चकुलतंत्रीय। इस समय के चार प्रमुख और प्रभावशाली राजवंश थे—मगध में हर्यंक्ष, कोशल में इक्ष्वाकु, वत्स (कौशाम्बी) में पौरव और अवन्ति में प्रद्योत[1]। महाभारत में उल्लिखित कुरु-पाञ्चाल, काशी और मत्स्य राज्यों का अस्तित्व इस समय भी था किन्तु उनकी गणना छोटे राज्यों में थी। अराजक राज्यों में मिथिला के वज्जि, कपिलवस्तु के शाक्य, तथा पावा और कुशीनगर के मल्लों का नाम हम प्रायः सुनते हैं। वज्जियों का तो आठ जातियों का एक सङ्घ था जिनमें लिच्छवि प्रमुख थे और उनकी राजधानी वैशाली थी।

सोलह महाजनपद

इन राज्यों में से अनेकों के परस्पर वैवाहिक संबंध थे। किन्तु इससे उनकी पारस्परिक शत्रुता का अन्त नहीं हुआ था। ऊपर जिन चार प्रमुख राजवंशों का उल्लेख हुआ है, उनमें से हरएक अपनी प्रभुता स्थापित करनेकी कोशिश में लगा हुआ था और छोटे राज्यों का नाश कर अपनी शक्ति बढ़ाने के यत्न में था। उदाहरणतः अवन्ति का राजा प्रद्योत कौशाम्बी के राजा और अपने ही दामाद उदयन से जो लड़ा और एक अन्य बार उसने मगधकी राजधानी राजगृह पर भी धावा

(१) हर्यंक्ष एक नये राज्यवंश का नाम है जिसे मगध में बिम्बिसार ने बार्हद्रथों को उखाड़ करके स्थापित किया था। प्रद्योत का नाम उसके संस्थापक के नाम पर पड़ा।

किया। कोशल के राजा प्रसेनजित का अधिकार काशी पर पहले ही से था। बादमें उसके बेटे ने कपिलवस्तु के शाक्य राज्य को भी जीत लिया। मगध के राजा बिम्बि-सार ने अंग को अपने राज्य में मिला लिया। पश्चात् उसके बेटे अजातशत्रु ने वैशाली के लिच्छवियों को जीत लिया। ये सभी राजे—प्रद्योत, उदयन, बिम्बिसार और प्रसेनजित—छठीं शताब्दी ई० पू० के उत्तरार्ध में हुए।

मगध का उत्थान

पाँचवी शताब्दी ईसा पूर्व के आरम्भ में पौरव और प्रद्योत प्रभुता की लड़ाई से अलग हो गये जान पड़ते हैं। फलतः अब वह लड़ाई मगध के हर्यंकों और कोशल के इक्ष्वाकुओं के बीच में ही रह गयी। प्रसेनजित और अजातशत्रु के बीच निरन्तर घमासान लड़ाइयाँ हुईं। बहुत दिनों तक तो उनका कोई परिणाम न हुआ। किन्तु अन्त में विजयश्री मगध को मिली। इस समय से मगध उत्तरी भारत का सर्वोच्च राज्य बन गया और आगे चल कर वही भारतवर्ष के इतिहास का महत्तम साम्राज्य बना। इस प्रकार अपने पिता की हत्या करके राज्य प्राप्त करनेवाला अजातशत्रु मगध की प्रभुता का संस्थापक हुआ। उसकी मृत्यु ४७५ ई० पू० में हुई और उदयी[1] उसका उत्तराधिकारी हुआ। कहा जाता है कि उदयी ने मगध राज्य की नयी राजधानी पाटलिपुत्र की स्थापना की। महाकाव्यों के अनुसार चिरकाल से राजगृह, जिसके ध्वंसावशेष अब पटना जिले में राजगिर के नाम से प्रसिद्ध हैं, मगध की राजधानी थी। लिच्छवियों से लड़ते समय अजातशत्रु ने गंगा और सोन के संगम पर पाटलग्राम नामक ग्राम में सुरक्षा की दृष्टि से एक दुर्ग बनवाया था। इस स्थान के सामरिक महत्त्व की ओर बाद में यथासमय मगध के राजनीतिज्ञों का ध्यान अवश्य गया होगा और उदयी ने स्पष्टतः उसे अपनी राजधानी बनाने के लिये अधिक योग्य समझा। मगध साम्राज्य अब चारों ओर काफी बढ़ भी गया था।

शिशुनाग

बौद्ध-परम्परा के अनुसार उदयी और उ. के तीन उत्तराधिकारी पितृघाती थे। इससे जनता उनसे ऊब गयी और अन्तिम पितृघाती के मंत्री शिशुनाग को उसने राजा निर्वाचित किया। किन्तु पुराणों में शिशुनाग को बिम्बि-सार के राज्यवंश का संस्थापक माना है और उसे उन्होंने शैशुनाग वंश कहा है। जो भी हो, पुराणों का यह कथन कि उन्होंने प्रद्योतों की शक्ति को नष्ट कर दिया, सत्य जान पड़ता है।

---

(१) पुराणों के अनुसार अजातशत्रु का उत्तराधिकारी दर्शक हुआ किन्तु यहाँ बौद्ध-परम्परा का ही अनुसरण किया गया है। वह अधिक प्रामाणिक जान पड़ती है।

शिशुनाग के बेटे और उत्तराधिकारी कालाशोक को कुछ स्रोतों में नाई कहे जाने वाले महापद्म नामक एक शूद्र ने मार डाला और खुद गद्दी पर आ बैठा।

नन्दवंश

उसने एक नये राजवंश की स्थापना की जो नन्दवंश के नाम से प्रसिद्ध है। जान पड़ता है कि महापद्म की सैनिक प्रतिभा उच्चकोटि की थी। उसने सुप्रसिद्ध क्षत्रियवंश में पौरवों, इक्ष्वाकुओं और प्रद्योतों को नष्ट कर दिया जो क्रमशः कौशाम्बी, कोशल और अवन्ति में राज्य करते थे और एक ऐसे साम्राज्य की स्थापना की जिसके अन्तर्गत काश्मीर, पंजाब और सिन्ध को छोड़कर उत्तरी भारत का शेष अधिकांश भाग शामिल था। इस प्रकार जिस कार्य को अजातशत्रु और बिम्बिसार ने आरम्भ किया था उसकी सफल प्रगति हुई।

सिकन्दर का आक्रमण

इस काल में भारत की पश्चिमी सीमा—पंजाब, सिन्ध और अफगानिस्तान—में राजनीतिक शक्ति और प्रतिष्ठा की कमी जान पड़ती है। भारतीय साहित्य में

पंजाब

परम्परागत ढंग से उल्लिखित सोलह महाजनपदों में इस सीमान्त प्रदेश के केवल दो जनपदों—काम्बोज और गन्धार के नाम मिलते हैं। जान यह पड़ता है कि यह प्रदेश चौबीस-पचीस छोटे २ स्वतंत्र राज्यों में विभक्त था। कुछ राज्यों में तो राजतन्त्र थे, शेष में लोकतान्त्रिक विधान प्रचलित थे। वे अक्सर परस्पर लड़ा करते थे और इस कारण सरलता से विदेशी आक्रमण के शिकार हो गये।

फारस के शक्तिशाली हखामनी सम्राटों की ललचायी आँखें इस प्रदेश की ओर पड़ीं और सम्भवतः कुरुष् (५५८—५३० ई० पू०) ने हिन्दुकुश पर्वत के दक्षिण में रहने वाली अनेक जातियों को अपने अधीन कर लिया था! किन्तु दारयवहु (५२२–४८६ ई० पू०) से पूर्व भारत में हखामनी राज्य के विस्तार के निश्चित प्रमाण हमें नहीं मिलते। उसके ५१८ और ५१५ ई० पू० के बीच के दो शिलालेखों में हि (न)दु का उल्लेख उसके राज्य के अन्तर्गत हुआ है; किन्तु उसके दो वर्ष पहले के एक लेख में यह नाम नहीं है। हिन्दु शब्द का निश्चित तात्पर्य क्या था, नहीं कहा जा सकता किन्तु इतना तो निश्चित है कि सिन्धु के पूर्व का कुछ भाग दारयवहु के राज्य के अन्तर्गत था, जिसे उसने लगभग ५१८ ई० पू० के जीता होगा। यूनानी इतिहासकार हिरोदोत का कहना है ५१७ ई० पू० में दारयवहु ने स्काईलैक्स के नेतृत्व में सिन्धु नदी की घाटी की जाँचपड़ताल के लिये एक नाविक अभियान भेजा था। उसी स्रोत से यह भी ज्ञात होता है कि

भारतीय प्रदेश दारयवहु के साम्राज्य का बीसवाँ क्षत्रप-क्षेत्र (प्रान्त) था, और राज्य की सारी आय का एक तिहाई स्वर्णधूल के रूप में देता था जो दस लाख पौण्ड से भी अधिक होता था।

यह निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है कि कितने दिनों तक पारसीकों का उन भारतीय प्रदेशों पर अधिकार रहा। जर्क्सीज (४८६–४६५ ई० पू०) के समय में जिस हरवामनी सेना ने यूनान को जीता था और ३३० ई० पू० में जो सेना सिकन्दर के विरुद्ध गौगामेला में लड़ी थी उसमें भारतीय सिपाही भी थे और इस आधार पर साधारणतः समझा जाता है कि हरवामनी राज्य भारत में ३३० ई० पू० तक रहा किन्तु इससे यह निश्चित निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। हो सकता है कि भारतीय उसकी सेना में वेतनभोगी के रूप में सम्मिलित हुए हों। यही अधिक संभव है क्योंकि बाद में सिकन्दर की लड़ाई के समय हरवामनी साम्राज्य के अन्य प्रान्तों के क्षत्रपों के नेतृत्व में भी भारतीय सैनिकों के लड़ने का स्पष्ट उल्लेख मिलता है! इससे जान पड़ता है कि उस समय भारत में कोई फारसी क्षत्रप न था।

हरवामनी शासक दारयवहु तृतीय के सिकन्दर के हाथों गौगामेला में पराजित होने का प्रभाव भारतीय इतिहास की गतिविधि पर बहुत पड़ा। सिकन्दर ने उस भगोड़े राजा का पीछा किया और पूर्व में स्थित जेक्जारटस तक स्थित सारे फारसी साम्राज्य को रौंद डाला। उसके बाद लौटकर तथा हिन्दुकुश को पुनः पारकर वह मई ३२७ ई० पू० में भारत की ओर बढ़ा। तक्षशिला (पंजाब में रावलपिण्डी के निकट) के राजा ने सिकन्दर को सहायता का वचन दिया। एक शताब्दी पूर्व कुछ यवन राजकुमार और राजनीतिज्ञ अपने स्वार्थ और सुरक्षा के निमित्त हरवामनी सम्राटों से जा मिले थे और यूनानी हितों के प्रति विश्वासघात किया था। तक्षशिला के शासक ने भी वैसा ही कार्य किया। यद्यपि उसके इस अप्रतिष्ठित पथ का अनुसरण एक दो अन्य भारतीय राजाओं ने भी किया किन्तु अफगानिस्तान, पंजाब और सिन्धु के असंख्य राजाओं और जनतन्त्रीय जातियों ने उसका बहादुरी के साथ डटकर सामना किया। पर उनके प्रयत्न विफल रहे।

हिन्दुकुश के पार सिकन्दर

ये छोटे रजवाड़े और जातियाँ सिकन्दर की तपी तपाई सेना के सम्मुख कुछ भी नहीं थीं। यह जानते हुए भी कि उनकी सफलता की कोई आशा नहीं थी, उन्होंने बिना लड़े झुकने से इन्कार किया। यूनानी लेखकों ने उनमें से अधिकांश की बहादुरी और भक्ति की समुचित सराहना की है। खेद है कि उनके अपने देशवासियों के पास

भारतीय प्रतिरोध

उनकी वीर गाथा का कोई उल्लेख सुरक्षित नहीं है और यहाँ तक कि हम उनके नाम भी भूल चुके हैं। इन बहादुरों और देशभक्तों की असंख्य लाशों के ऊपर से होने वाली सिकन्दर का विजय-यात्रा यूनान के इतिहास की निःसंदेह एक प्रकाशमान कहानी है, किन्तु परोक्ष रूपसे यह बताते हुए कि भारत के सपूतों ने कैसी स्वातन्त्र्य-प्रियता और मृत्यु के प्रति निर्भीकता दिखाई वह भारत के इतिहास को भी गौरवान्वित करती है। इस युद्ध में जिन जातियों ने अपनी वीरता के द्वारा अमर ख्याति प्राप्त की उनमें से कुछ का ही उल्लेख यहाँ किया जा सकता है। यूनान का इतिहास उनकी चर्चा से भरा हुआ है।

सिकन्दर ने अपने दो सर्वोत्तम सेनानायकों के नेतृत्व में सेना का एक भाग काबुल नदी की ओर भेजा। उनका प्रतिरोध पुष्कलावती (पेशावर के निकट चरसद्दा) के राजा ने किया! उसने तीस दिन तक अपनी राजधानी की रक्षा की और अन्त में वह लड़ता हुआ मारा गया। सिकन्दर स्वयं सेना के अन्य भाग को

अश्वक

लेकर कुनार, पंचकोरा और स्वात नदियों की घाटी की ओर अपनी पांत मजबूत करने के लिए बढ़ा। उसका प्रतिरोध उन पर्वतीय जातियों ने किया, जिन्हें यवनों ने अस्पसिओय और अस्सेकेनाय, (सम्भवतः अश्वक के विकृत रूप) के नाम से पुकारा है। उन्होंने अपने दुर्गों में जमे रहकर उसका घोर प्रतिरोध किया। उनमें से एक पर आक्रमण करते हुए सिकन्दर स्वयं घायल हुआ और प्रतिशोधस्वरूप उसने वहां की सारी जनसंख्या को तलवार के घाट उतार दिया। जब अस्सेकेनाय का राजा लड़ता हुआ मारा गया तो उसकी रानी ने सेना का नेतृत्व किया और उसकी देखादेखी उस प्रदेश की सारी स्त्रियाँ स्वतन्त्रता की लड़ाई में जूझ पड़ी। कई दिनों के वीरतापूर्ण प्रतिरोध के पश्चात् उनकी राजधानी मसग का पतन हुआ। उस युद्ध में बहुत बड़ी वीरता दिखाने वाले सात हजार वेतनभोगी सैनिकों को सिकन्दर ने एक विशेष सन्धि के अनुसार अभय दान दिया, किन्तु रात के समय उन्हें धोखे से घेरकर एक एक कर मार डाला। इस नृशंस हत्या की यवन लेखकों ने भी भर्त्सना की है। अस्सकेनाय के सुदृढ़ दुर्ग औरनास के कब्जे का वर्णन यवन लेखकों ने विस्तार के साथ किया है और वे उसे सिकन्दर की भारतीय यात्रा का सबसे बड़ा सैनिक करिश्मा समझते हैं।

अस्सकेनाय और कुछ अन्य जातियों को इस प्रकार हराकर सिकन्दर अपनी सेना के उस दूसरे भाग से आ मिला जो इस बीच सिन्धु तक पहुँच गया था और

अटक से सोलह मील ऊपर ओहिन्द में नावों का पुल बना रक्खा था। सिकन्दर अपनी सेना के साथ नदी पार कर तक्षशिला पहुँचा। वहाँ पहुँच कर उसने आस-पास के राजाओं से अपनी अधीनता स्वीकार करने को कहा। झेलम और चेनाब के बीच का राजा उन सबमें सबसे शक्तिशाली था। उसे यूनानियों ने पोरस के नाम से पुकारा है जो सम्भवतः पौरव का विकृतरूप है। जब सिकन्दर के दूत ने उसे सम्राट से मिलने का निमंत्रण दिया तो उसने गर्व के साथ कहा—"मैं जरूर मिलूँगा किन्तु अपनी सीमा पर और सेना के साथ।" उससे लड़ने के लिए सिकन्दर ने विस्तृत तैयारी की। जिस ढंग से यवन लेखकों ने इस युद्ध का वर्णन किया है उससे जान पड़ता है कि सिकन्दर को अपने सारे साधन और अपनी सारी बुद्धि उस युद्ध में खर्च करनी पड़ी थी। किन्तु यह याद रखने की बात है कि पोरस एक छोटे प्रदेश का राजा था, जो पंजाब के किसी वर्तमान जिले से कदापि बड़ा न था। पोरस बहादुरी के साथ लड़ा और अपने शरीर पर हुए नौ घावों के साथ बन्दी बनाया जाकर वह सिकन्दरके सामने लाया गया। सिकन्दर ने उससे पूछा—"तुम्हारे साथ कैसा व्यवहार किया जाय ?" उसने अभिमान पूर्वक तुरत उत्तर दिया—"एक राजा के समान।" उस वीर राजा की मैत्री सिकन्दरने उसका राज्य लौटा कर प्राप्त की। बाद में सिकन्दर ने जिन पन्द्रह लोकतन्त्रीय जातियों के पाँच हजार नगर और असंख्य गाँव तथा चेनाब और रावी के बीच स्थित पोरस द्वितीय के राज्य को जीता, वे सभी उसके राज्य के साथ जोड़ दिये गये। अपने अभियान में आगे बढ़ते हुए उसे व्यास नदी पर स्थित कैथेयाय (कठ) लोगों के विरुद्ध अत्यन्त कठिन संग्राम करना पड़ा, जिसमें सत्रह हजार सैनिक मारे गये और सत्तर हजार बन्दी हुए।

सिकन्दर का लौटना

व्यास नदी के किनारे पहुँच कर सिकन्दर का बढ़ाव रुक गया। उसके सिपाहियों ने विद्रोह कर दिया और आगे बढ़ने से इन्कार दिया (३२३ ई० पू० की जुलाई का अन्त)। यवन लेखकों का जैसा कथन है, सिपाहियों का यह विद्रोह लड़ते-लड़ते थक जाने के कारण अथवा नदी के उस पार स्थित नन्दों के शक्तिशाली साम्राज्य से भयभीत हो जाने के कारण हुआ, कहना कठिन है। किन्तु उल्लेखनीय बात यह है कि सिकन्दर के तर्कों के जबाब में वे लोग इस बात पर ज्यादा जोर दे रहे थे कि यदि अभियान में सिकन्दर दुर्घटनाग्रस्त हुआ तो सारी सेना पर क्या विपत्ति आयेगी।

वास्तविक कारण जो भी रहा हो, विद्रोही सैनिकों के आगे सिकन्दर को झुकना पड़ा। वह जिस रास्ते आया था उसी रास्ते झेलम नदी तक लौटा और वहाँ से अपनी सेना के एक अंश के साथ हजार नावों में नदी के बहाव की ओर चला। शेष सेना नदी के दोनों ओर उसकी रक्षा करने के लिये चलती रही। झेलम और चेनाब के संगम पर उसे मल्लोई (मालव) और आक्सी ड्रकेयो (क्षुद्रक) नामक जातियों के नेतृत्व में एक लोकतान्त्रिक संघ से लड़ना पड़ा। मालवों के सभी नगर प्रतिरोध के दुर्ग बन गये। एक नगर के तो पाँच हजार ब्राह्मणों ने लेखनी छोड़ कर तलवार उठाई और लड़ते हुए मारे गये। उनमें से कुछ थोड़े से ही बन्दी हुए। एक अन्य नगर पर आक्रमण कर जब सिकन्दर उसे जीत रहा था, उसे गहरी चोट लगी। विजय हो जानेपर उसके क्रुद्ध सिपाहियोंने ने नगर के भीतर के सभी लोगों को अवस्था और स्त्री-पुरुष का बिना कोई भेद किये तलवार के घाट उतार दिया। एक अन्य जाति अगलस्सोई (आर्जुनायन ?) भी बड़ी बहादुरी के साथ लड़ी। जब सिकन्दर ने उनके एक नगर पर अधिकार कर लिया तो बीस हजार की संख्या वाले उसके सभी नागरिक वीरतापूर्ण प्रतिरोध के पश्चात् अपनी स्त्रियों और बच्चों के साथ आग में जल मरे। भारतीय इतिहास में जौहर की यह पहली लिखित घटना है, जिसकी भयावह पुनरावृत्ति बाद में पुनः पुनः और अनेक बार हुई।

मालव और अन्य जातियाँ

जब मूसीकेनास (मूषिक लोगों का राजा ?) और सिन्ध की निचली घाटी में स्थित आक्सीकेनास नामक दो राजाओं ने सिकन्दर की अधीनता स्वीकार कर ली तो ब्राह्मणों ने उन्हें देशद्रोही घोषित कर दिया और जनता को धर्म के नाम पर विदेशी आक्रामकों से लड़ने को ललकारा। फलतः राजाओं ने सिकन्दर की शरण जाना अस्वीकार कर दिया और वे उसके साथ वीरता से लड़े, पर ब्राह्मणों के साथ ही वे भी तलवार के घाट उतार दिये गये।

ब्राह्मण

सितम्बर ३२५ ई० पू० में सिकन्दर पटल पहुँचा, जहां से सिन्धु समुद्र तक पहुँचने से पहले दो शाखों में फट गयी थी। वहां से वह अपने देश की ओर रवाना हुआ। उसकी सेना के दो भाग हुए एक तो स्थल मार्ग से चला और दूसरा समुद्री मार्ग से। स्थल मार्ग से आनेवाली सेना के नेता के रूपमें सिकन्दर स्वयं चला और ३२४ ई० पू० में फारस स्थित सूसानामक स्थान में पहुँचा। वहाँ दूसरे वर्ष उसकी मृत्यु हो गई। उसने विजित प्रदेशों के शासन के लिये समुचित व्यवस्था की थी। विभिन्न

सिकन्दर की मृत्यु

भागों में उसने अनेक क्षत्रप नियुक्त किये थे। किन्तु कुछ विजित जातियों ने विद्रोह कर दिया और उसके भारत छोड़ने से पूर्व ही कुछ अन्य उपद्रव भी उठ खड़े हुए। उसकी मृत्यु के पश्चात् थोड़े ही दिनों में उसकी सारी व्यवस्था विशृंखल हो गयी।

सिकन्दर महान् के आक्रमण की चर्चा यवन इतिहासकारों ने बहुत विस्तार में साधारण से साधारण बातों के उल्लेख के साथ की है। स्वाभाविक है कि वे अपने वीर के द्वारा प्राप्त जल और स्थल प्रदेशों की विजय पर गर्व

सिकन्दर के आक्रमण पर एक दृष्टि

गुम्फित हों। भारतीय दृष्टिकोण से इसका महत्त्व इस बात में है कि उसने भारत और पश्चिमी देशों के बीच आवागमन का मार्ग खोल दिया जिसका आगे चल कर बहुत बड़ा परिणाम हुआ, अन्यथा भारतीय इतिहास में उसके आक्रमण का कोई विशेष स्थान नहीं है। उसे महान् सैनिक सफलता भी नहीं कह सकते। जो कुछ भी सैनिक सफलता उसके हाथ लगी वह छोटी २ जातियों और राज्यों पर धीरे २ प्राप्त विजय मात्र थी। भारतीय सैनिक शक्ति का दुर्ग समझे जानेवाले स्थान के निकट तो क्या, उसकी छाया तक भी बढ़ने का साहस वह न कर सका। उसे झेलम और चेनाव के नीचे के छोटे से प्रदेश के शासक पोरस के विरुद्ध जिस प्रकार लोहा लेना पड़ा और उसके लिये जो प्रयत्न करने पड़े उसको देखते हुए इस बात की सम्भावना नहीं जान पड़ती कि शक्तिशाली नन्द साम्राज्य को पराजित करना उसके लिए सरल होता। इन सभी बातों को देखते हुए यवन सभ्यता की चकाचौंध से चकित न होनेवाला कोई भी आधुनिक इतिहासकार इस बात के लिये दोषी नहीं ठहराया जा सकता यदि वह यह समझे कि यवन लेखकों में से अधिकांश ने सिकन्दर की वापसी के कारणों को बतलाते हुए जो उसके सैनिकों के आगे बढ़ने की अनिच्छा मात्र व्यक्त की है वह सम्पूर्ण सत्य नहीं है। और न वह एक से अधिक प्राचीन यवन लेखकों के इस कथन को मन गढ़न्त कहकर उपेक्षा कर सकता है कि सिकन्दर के लौटने का कारण नन्दों की अपरिमित शक्ति का आतङ्क था।

किन्तु यद्यपि सिकन्दर को नादिरशाह और तैमूरलंग की तरह सैनिक सफलता नहीं मिली तो भी उसकी नृशंसता को परवर्ती वीर आक्रामकों की नृशंसता की तुलना में किसी प्रकार कम नहीं कहा जा सकता। मसग की सेना की विश्वासघात-पूर्वक हत्या और खून के प्यासे यवन सैनिकों द्वारा विजित नगरों के निवासियों के कत्ल की लिखित घटनाएँ अपनी कहानियाँ स्वयं कहती हैं। उन्होंने स्त्री-पुरुष, बच्चों किसी को भी नहीं छोड़ा। यवन इतिहासकारों ने लिखा है कि अकेले निचले सिन्ध के अभियान में अस्सी हजार निवासी मारे गये और असंख्य गुलामों के रूप में बेंच दिये गये। इन अपराधों को आधुनिक यूरोपीय इतिहास-लेखक चाहे

कितना भी कम करके दिखावें अथवा उसका औचित्य सिद्ध करने की चेष्टा करें, किसी भारतीय इतिहासकार को सिकन्दर को नादिरशाह और तैमूरलङ्ग का पूर्वगामी समझने में किसी प्रकार से दोषी नहीं कहा जा सकता।

सिकन्दर की मृत्यु उसके विशाल साम्राज्य के विघटन के लिए संकेत थी। तीन वर्षों तक नृशंस और कठिन युद्ध कर जिन भारतीय प्रदेशों पर उसने अधिकार किया था उन सबने अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी और पाँच वर्ष के भीतर ही पंजाब से यवन प्रभुत्व का नामोनिशान मिट गया।

परिशिष्ट

तैथिक-क्रम की समस्या

सिकन्दर के आक्रमण से पूर्व के तैथिक-क्रम के निर्धारण के लिए हमारे पास कोई निश्चित साधन नहीं है। बौद्धों की सर्वमान्य परम्परा के अनुसार बुद्ध को मृत्यु अजातशत्रु के शासन काल के आठवें वर्ष में हुई थी और प्रायः इसी सूत्र के आधार पर इस सारे युग का तैथिक-क्रम निर्धारित किया जाता है। किन्तु खेद है कि बुद्ध की निधन-तिथि निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है। सिंहल में प्रचलित परम्परा के अनुसार यह घटना ५४४ ई० पू० में हुई थी। किन्तु इस तिथि का सिंहली इतिवृत्तों के इस कथन से सामञ्जस्य नहीं हो पाता कि अशोक का राज्याभिषेक बुद्ध के निधन के १८ वर्षों बाद हुआ। यवन लेखकों के कथनानुसार तथा अशोक के अभिलेखों में उल्लिखित समकालिक यवन राजाओं की ज्ञात तिथियों के आधार पर जान पड़ता है कि अशोक का राज्याभिषेक निश्चितरूपेण २६६ ई० पू० के आस पास हुआ होगा। फलतः कुछ विद्वान् बुद्ध की निधन-तिथि ४८७ (२६९ – २१८) ई० पू० मानते हैं। इस मत का समर्थन 'बिन्दु-कृत लेख' से भी होता है। कहा जाता है कि बुद्ध के निधन के पश्चात् एक लेख में प्रतिवर्ष एक बिन्दु अङ्कित कर दिया जाता था और यह प्रथा ४८९ ई० तक कैण्टन में चलती रही। चूँकि उस वर्ष बिन्दुओं की कुल संख्या ९७५ थी, अतः बुद्ध की निधन-तिथि ४८६ ई० पू० ठहरती है। यद्यपि बुद्ध की निधन-तिथि का निश्चय अब भी एक उलझी हुई समस्या है फिर भी इस पुस्तक में यही तिथि मानी गयी है और उसी के अनुसार कालक्रम निर्धारित किया गया है।

यदि बुद्ध की निधन-तिथि के आधार पर अजातशत्रु के राज्याभिषेक की तिथि निश्चित हो जाय तो हम उसके पूर्ववर्ती और परवर्ती राजाओं की तिथियाँ पुराणों और सिंहली इति वृत्तों में उल्लिखित उनके शासन-वर्षों की सहायता से जोड़ और घटाकर बहुत कुछ ठीक-ठीक निश्चित कर सकते हैं। इस प्रकार महाभारत काल तक के घटना-क्रम का निर्धारण बहुत कुछ निश्चित रूप में किया जा सकता है।

सिकन्दर के आक्रमण की ज्ञात तिथि से भारतीय इतिहास के काल-क्रम की पहली स्थिर तिथि प्राप्त हो जाती है और उसकी सहायता से चन्द्रगुप्त मौर्य की तिथि हम निश्चित करते हैं। कुषाण शासक कनिष्क को छोड़कर चन्द्रगुप्त के बाद के अधिकांश राजाओं की तिथियाँ प्रायः निश्चित रूप से ज्ञात हैं।

दूसरा अध्याय

मौर्य-साम्राज्य

१. चन्द्रगुप्त

यवनों की पराधीनता से देश को मुक्त करने का श्रेय लोग एक स्वर से चन्द्रगुप्त को देते हैं। इस वीर का आरम्भिक जीवन प्रायः पूर्णतः अज्ञात है, परन्तु उसने अपने परवर्ती जीवन में जो महान् सफलताएं प्राप्त कीं, उसके कारण उसकी स्मृति असंख्य दंतकथाओं में सुरक्षित है। बाद के ब्राह्मण ग्रंथों में उसे मगध के नन्द शासककी एक नीच कुलोत्पन्न मुरा नामक स्त्री से उत्पन्न कहा गया है और उस मुरा नाम पर ही मौर्य वंश के नाम का भी पड़ना मान लिया गया है। तिथि की दृष्टि से पूर्व के बौद्ध-इतिवृत्तों में उसे क्षत्रिय माना गया है। अधिक सम्भावना इस बात की ही है कि चन्द्रगुप्त महा परिनिब्बान सुत्त में उल्लिखित पिप्फलीवन के मोरिय नामक क्षत्रिय कुल में जन्मा था। इस बौद्ध-सुत्त के अनुसार गौतम बुद्ध के समय में मोरिय लोग एक गणतंत्रीय जाति के रूप में प्रसिद्ध थे।

चन्द्रगुप्त

चन्द्रगुप्त को सफलताओं का श्रेय उसकी सैनिक प्रतिभा के साथ-साथ उसके प्रधान मन्त्री कौटिल्य की कूट-नीतिज्ञता को भी है, ऐसा मानने के अनेक कारण हैं। पंजाब और सिन्ध से यवन सेनाओं को भगाकर चन्द्रगुप्त स्वयं उन प्रान्तों का स्वामी बन बैठा। तत्पश्चात् ३२२ ई० पू० के लगभग वह नन्दवंश का उन्मूलन कर मगध के सिंहासन पर बैठा और अनेक सैनिक विजयों के पश्चात् उसने एक विस्तृत साम्राज्य की स्थापना की जो सिन्धु के मुहाने से लेकर गंगा के मुहाने तक विस्तृत था। यह सौभाग्य की ही बात थी कि वह ऐसा कर सका। कुछ ही दिनों बाद उसे एक भयंकर शत्रु का सामना करना था।

सिकन्दर के एशियाई राज्य का अधिकार उसके एक योग्यतम सेनापति सेल्यूकस को मिला। सीरिया से अफगानिस्तान तक अपने साम्राज्य का

सेल्यूकस का आक्रमण

संघटन करने के पश्चात् वह पंजाब पर अधिकार करने के लिए बढ़ा। उसकी यह इच्छा सिकन्दर की विजय को देखते हुए न तो अस्वाभाविक थी और न अवैध ही। किन्तु अपने दुर्भाग्य से सेल्यूकस को एक भिन्न प्रकार के शत्रु का सामना करना पड़ा। इस समय पंजाब ऐसे छोटे छोटे राज्यों में न बँटा था, जो विदेशी आक्रमण के विरुद्ध मिलकर लड़ने में असमर्थ हों अथवा लड़ने को तैयार न हों। वह अब एक ऐसे सुसंघटित साम्राज्य का अंग था जिसका नेतृत्व एक अत्यन्त योग्य और प्रतिभाशील सैनिक और दूरन्देश राजनीतिज्ञ के हाथ में था। आश्चर्य है, चन्द्रगुप्त और सेल्यूकस की लड़ाई का विस्तृत वर्णन यवन लेखकों ने नहीं दिया है, फलतः कुछ लोगों ने तो यह भी सन्देह किया है कि उन दोनों में कोई युद्ध हुआ भी। किन्तु यूनानी लेखकों के मौन और युद्ध के परिणाम का निःसंदेह निष्कर्ष यही है कि सेल्यूकस निश्चित और घोर रूप से पराजित हुआ। उसे न केवल पंजाब को फिर से जीतने की आकांक्षा का त्याग करना पड़ा वरन् उसे तीन धनी प्रान्तों-परोपनिषदे, अराकोशिया और एरिया, जिनकी राजधानी क्रमशः काबुल, कंधहार और हेरात नामक नगर थे, तथा जेड्रोशिया (बलूचिस्तान) अथवा उसके कुछ अंश को देकर सन्धि भी मोल लेनी पड़ी। विजयी मौर्य शासक ने सम्भवतः अपने यवन प्रतिद्वंदी की बेटी से विवाह भी किया और अपने ससुर को पांच सौ हाथी भेंट में दिये। कुछ यवन लेखकों ने इस भेंट को सेल्यूकस द्वारा दिये गये धनी प्रान्तों का मूल्य बताया है किन्तु यह निश्चय ही विचारविरुद्ध है। यह विश्वास करना कठिन है कि सेल्यूकस उस तुच्छ सी भेंट के लिये उन धनी प्रांतों को देने के लिये आसानी से बिना विवश हुए तैयार हो जाता। अतः यह मानना न्याय्य प्रतीत होता है कि चन्द्रगुप्त से हुए युद्ध में सेल्यूकस को मुंह की खानी पड़ी थी।

सेल्यूकस और चन्द्रगुप्त मौर्य की लड़ाई यवन और भारतीय सैनिक शक्ति की बहुत कुछ सच्ची आजमायिश कही जा सकती है, जिसका इतिहास वर्णन करता है। पंजाब के छोटे छोटे रजवाड़ों और संसार के महत्तम सैनिक और एड्रियाटिक से सिन्धु तक फैले हुए तीन महाद्वीपों पर विस्तृत साम्राज्य की शक्ति और साधनों से युक्त सिकन्दर का कोई मुकाबला नहीं था। किन्तु साधनों की दृष्टि से सेल्यूकस और चन्द्रगुप्त के साम्राज्य के सम्बन्ध में ऐसा नहीं कहा जा सकता। दोनों की बराबरी थी, दोनों ने ही हाल में लड़-भिड़ कर शासनाधिकार प्राप्त किया था और दोनों ही अपने अपने देश के सैनिक नेतृत्व के साधारण

तथा अच्छे नमूने थे। ऐसी अवस्था में यदि डाक्टर विन्सेन्ट स्मिथ के शब्दों[1] में कहा जाय कि "यूरोपीय सेनाओं के कौशल और अनुशासन के मुकाबले में महत्तम एशियाई सेनाओं की निहित दुर्बलतायें सिकन्दर के हिमालय से सागर तक के विजयपूर्ण बढ़ाव से प्रगट हो गयीं" तो सेल्यूकस पर चन्द्रगुप्त की विजय के सम्बन्ध में अधिक तर्कपूर्ण ढंग से यह कहा जा सकता है कि जब महत्तम यवन सेनाओं का मुकाबला भारतीय कौशल और अनुशासन से पड़ा तो उनकी निहित दुर्बलतायें प्रकट हो गयीं।

२. मौर्य-साम्राज्य

सेल्यूकस की यवन सेना की पराजय के फलस्वरूप चन्द्रगुप्त को अपने विस्तृत साम्राज्य को संघटित करने का अवसर मिला। किन्तु खेद है कि अब तक इस वीर के उज्ज्वल जीवन का वृत्त लिखना सम्भव नहीं हो पाया है। हम यह भी नहीं बता सकते कि उसने किस प्रकार धीरे-धीरे अखिल भारतीय साम्राज्य के अभूतपूर्व स्वप्न को साकार किया। जो कुछ सामग्री उपलब्ध है उससे इतना तो निस्संदिग्ध जान पड़ता है कि चन्द्रगुप्त और उसके बेटे एवं उत्तराधिकारी बिन्दुसार के शासन काल में मौर्यों के साम्राज्य का विस्तार पूर्वी समुद्री तट को छोड़कर सारे दक्षिणापथ तक हो गया था और दक्षिणी प्रायद्वीप का बहुत बड़ा भाग या तो उनके साम्राज्य में शामिल था अथवा वह उनके प्रभावक्षेत्र में था। दूसरी अथवा तीसरी शताब्दी में होनेवाले तमिल कवि मामूलन्नार ने दक्षिण में किसी तमिल राजा को हराने के लिये भेजी जानेवाली मरियर (मौर्यों) की सेना का उल्लेख किया है। मौर्यो के लिये उपयुक्त विशेषण 'वम्ब' (तुरत उठा हुआ) से यह प्रतीत होता है कि यह उल्लेख चन्द्रगुप्त अथवा बिन्दुसार जैसे किसी प्रारम्भिक मौर्य सम्राट का है। इस प्रकार मौर्यों की सैनिक शक्ति भारतीय प्रायद्वीप के दक्षिण छोर तक पहुँच चुकी थी और मौर्य-पताका उत्तर-पश्चिम में हेरात से लेकर दक्षिण में मदुरा तक फहराती थी।

परराष्ट्र संबंध

भारत इस समय संसार की प्रधान शक्तियों में हो गया था और उसका दौत्य-सम्बन्ध बाहर के देशों से भी था। सेल्यूकसवंश बराबर अपने दूत पाटलिपुत्र के दरबार में भेजता था। उनमें से दो दूतों के सम्बन्ध में तो हम निश्चित रूप से जानते हैं। मेगस्थनीज चन्द्रगुप्त के दरबार में था और उसके स्थान पर बिन्दुसार के समय में डायमेक (Diamachus) आया था। बिन्दुसार और सेल्यूकस के बेटे और

१. अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया, तृतीय संस्करण, पृष्ठ ११२

उत्तराधिकारी अन्तियोक के बीच मैत्रीपूर्ण पत्र-व्यवहार होने का भी पता है। भारत तथा चीन और मध्य एशिया के राज्यों के साथ भी उस समय परराष्ट्र सम्बन्ध होने के प्रमाण पाये जाते हैं। मिश्र के यवन शासक तुरमय द्वितीय (Ptolemy philadelphus) ने मौर्य दरबार में अपना राजदूत भेजा था। मौर्य राजाओं ने भी दूरस्थ देशों में अपने दूत भेजे थे। उनका उल्लेख आगे किया गया है।

मगध साम्राज्य की इस काल में जो शक्ति और विशाल सेना थी इसका बहुत कुछ अनुमान हमें मेगस्थनीज एवं अन्य यवन लेखकों के वृत्तान्त से हो सकता है। इस विस्तृत साम्राज्य के पास एक अत्यन्त, सुसंघटित और सुसज्जित चतुरङ्गिणी सेना थी। नियमित सेना में ६,००,००० पदाति ३०,००० घुड़सवार, ६,००० हाथियों के साथ ३६,००० गज सैनिक, और ८००० रथों के साथ २४,००० रथ सैनिक—अथवा कुल ६,९०,००० सैनिक थे। सेवकों और अनुचरों की संख्या इसके अतिरिक्त थी।

सैनिक शक्ति

सैनिक प्रबन्ध के लिये अत्यन्त सुसंघटित व्यवस्था थी। पांच पांच सदस्यो की छः परिषदें, सेना के छः विभागों—यथा (१) नौसेना (२) वहन और साज-सामान (३) अश्व सेना (४) पदाति (५) रथ और (६) हस्ति सेना की देख भाल करती थीं। तीसों सदस्य संयुक्त रूप से सारी सैनिक व्यवस्था के लिए उत्तरदायी थे।

सैनिक-परिषद्

राजधानी, पाटलिपुत्र (आधुनिक पटना) गङ्गा और सोन नदी के सङ्गम पर स्थित थी और वह भारत का सबसे बड़ा नगर था। वह नौ मील लम्बा और डेढ़ मील चौड़ा था। नगर के चारों ओर लकड़ी का विशाल परकोटा, सम्भवतः शालवृक्षों का बना हुआ था। उसमें ६४ फाटक और ५७० बुर्ज थे। परकोटे के बाहर ३०० फुट चौड़ी और तीस हाथ गहरी खाई थी। नगर के बीच राजप्रासाद था जो संसार के सर्वोत्तम भवनों में से था। उसके चमकते हुए खम्भों की, जिन पर सोने के बेल-बूटे और चाँदी के पक्षी बने हुए थे, यवनों ने बड़ी प्रशंसा की है।

राजधानी

नगरों की व्यवस्था भी अत्यन्त संतोषजनक थी। तीस सदस्यों की एक परिषद द्वारा नगर का प्रबन्ध होता था, उसमें पाँच २ सदस्यों की छः उपसमितियाँ थीं। पहिली समिति के सदस्य उद्योग सम्बन्धी सभी कामों को देखते थे, दूसरी समिति का काम नगर में रहने वाले विदेशियों की सुख सुविधा देखना था,

तीसरी का काम जन्म-मरण का लेखा रखना और चौथी का काम वाणिज्य और व्यवसाय की देख-रेख करना था, पाँचवी समिति वस्तुओं के उत्पादन की देख-रेख करती थी और छठीं बिकी हुई वस्तुओं के मूल्य का दशवाँ अंश उगाहती थी। ये समितियाँ अपने-अपने कामों के अतिरिक्त संयुक्त रूपेण परिषद् के रूप में सामान्य लोक-हित के कामों, यथा सार्वजनिक भवनों की उचित मरम्मत, मूल्य का नियंत्रण तथा हाटों-घाटों और मन्दिरों की देख-रेख को करती थीं। इस प्रकार की व्यवस्था साम्राज्य के अन्य अनेक नगरों में भी थी, इस बात में कोई सन्देह नहीं हो सकता।

शासन-व्यवस्था

मौर्य साम्राट् संभवतः स्वयं मगध और आस पास के प्रदेश के शासन की व्यवस्था करता था। दूर के प्रान्त वाइसरायों के अन्तर्गत थे जो प्रायः राजपरिवारों से ही चुने जाते थे। केन्द्रीय-सरकार उनके कार्यों पर संवाद-लेखक नामक कर्मचारियों के माध्यम से दृष्टि रखती थी। केन्द्रीय सरकार और प्रान्तों दोनों में ही शासन-व्यवस्था अनेक विभागों के अधीन थी। प्रत्येक विभाग का एक अध्यक्ष होता था और उसकी सहायता के लिए अनेक विभागीय कर्मचारी होते थे। विस्तृत साम्राज्य के कार्यों के सुचारु संचालन के लिये एक अत्यन्त सुसंघटित नौकरशाही की व्यवस्था थी। साम्राज्य के विभिन्न भाग सड़कों द्वारा एक दूसरे से सम्बद्ध थे, जिनमें से एक सड़क तो भारत की सारी चौड़ाई को पार करती हुई सिन्धु से लेकर गङ्गा के मुहाने तक जाती थी। सिंचाई की व्यवस्था काठियावाड़ जैसे साम्राज्य के दूरस्थ प्रान्तों में भी की गयी थी और समग्र रूप से सुव्यवस्थित शासन के साथ २ देश में शान्ति तथा समृद्धि और जनता में संतोष व्याप्त था।

३. अशोक-महान्

प्राचीन भारत का महत्तम शासक अशोक

चन्द्रगुप्त और बिन्दुसार ने लगभग आधी शताब्दी तक राज्य किया। २७३ ई० पू० या उसके आस-पास मगध का शासन अशोक के हाथ में आया। उसका नाम संसार के इतिहास में महान् व्यक्तियों की श्रेणी में गिना जाता है। बिन्दुसार के इस पुत्र के अतिरिक्त अपने विशाल व्यक्तित्व की छाप छोड़ने वाला प्रख्यात व्यक्ति भारत के प्राचीन इतिहास में कोई दूसरा नहीं दीख पड़ता।

इसका मुख्य कारण यह है कि भारतीय इतिहास में वह पहला राजा है जिसके सम्भवतः स्वयं लिखे हुए मौलिक लेख हमें मिलते हैं। अशोक के ये

अशोक के अभिलेख लेख कभी नष्ट न होनेवाली चट्टानों और प्रस्तर-स्तम्भों पर लिखे गये हैं। उनसे हमें उसके जीवन और राज्य का ऐसा विस्तृत विवरण मिलता है जो किसी अन्य प्राचीन भारतीय शासक के बारे में नहीं प्राप्त हुआ है। उसके मुख्य लेखों का वर्गीकरण इस प्रकार हो सकता है।

(१) चौदह शिलाभिलेख—निम्नलिखित स्थानों में चट्टानों पर चौदह लेख खुदे हुए हैं। शहबाजगढ़ी (जिला पेशावर), मानसेरा (जिला हजारा), कालसी (जिला देहरादून), गिरिनार (काठियावाड़ में जूनागढ़ के निकट), सुपारा (जिला थाना; बम्बई), धौली और जौगढ़ (उड़ीसा) और एरागुंडी (जिला कुर्नूल, आंध्र, गूटी रेलवे स्टेशन से आठ मील दूर)। मौर्य साम्राज्य के विस्तार की जानकारी के लिये मूल्यवान् और प्रत्यक्ष प्रमाण की दृष्टि से इन स्थानों का विशेष महत्त्व है।

(२) छोटे शिलाभिलेख—निम्नलिखित बारह स्थानों में एक एक प्रस्तर-प्रज्ञप्ति अङ्कित है। रूपनाथ (जिला जबलपुर), बैराट (जयपुर, राजस्थान), सहसराम (जिला शाहाबाद, बिहार), मास्की (जिला रायचूर), गवीमठ और पालकीगुण्डु (कोपबल ताल्लुका, मैसूर), गुजर्रा (दतिया जिला, मध्य-प्रदेश), राजुल मराडगिरि (आंध्र प्रदेश के कुर्नूल जिले में पट्टिकोण्ड से ३ मील उत्तर उत्तर-पूर्व) एरागुण्डी और मैसूर के चित्तलद्रुग जिले में तीन अन्य स्थानों पर जो पास ही पास हैं। अन्तिम पांच स्थानों में एक एक पूरक प्रज्ञप्तियाँ भी हैं।

(३) सात स्तम्भाभिलेख—ये लेख छः अत्यन्त सुन्दर एक शिलवाले प्रस्तर स्तम्भों पर लिखे गये हैं जिनका उल्लेख आठवें अध्याय में किया जायगा। सातों लेख एक साथ केवल एक स्तम्भ पर पाये गये हैं जो अब दिल्ली में है और टोपरा नामक स्थान से लाया गया था। अन्य स्तम्भों में से अधिकांश उत्तरी बिहार में पाये गये हैं और उन पर केवल छः लेख हैं। इनमें से एक दिल्ली में है जो मिरत से लाया गया था।

(४) शेष लेख प्रस्तरों स्तम्भों अथवा गुफा—भित्तियों पर अंकित हैं और वे विविध विषयक हैं। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण रुम्मिनदेई (नेपाल तराई) के स्तम्भ पर अंकित लेख है। उसमें अशोक के गौतम बुद्ध के जन्मस्थान (लुम्बिनो वन) की यात्रा का उल्लेख है और उसी स्थान पर वह है। अरमी लिपि में लिखे दो छोटे छोटे लेख—एक तक्षशिला में और दूसरा अफगानिस्तान के जलालाबाद जिले में—मिले हैं। अरमी और यूनानी में लिखित एक द्विभाषी अभिलेख अफगानिस्तान में कन्धार के निकट सरे-कुन में एक चट्टान पर मिला है।

अशोक सम्बन्धी इतिहास प्रस्तुत करने के लिए इन लेखों से अत्यन्त महत्त्व की सामग्री प्राप्त होती है। कमी केवल इस बात की है कि उनसे उसके शासन के आरम्भिक जीवन पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। उसके लिए बहुत पीछे के इति-वृत्तों से संकलित बौद्ध अनुश्रुतियों पर निर्भर करना पड़ता है। उनके अनुसार आरम्भ में अशोक क्रूर तथा रक्तपिपासु था और उसने अपने ९८ भाइयों को मारकर गद्दी प्राप्त की थी। अन्य अनेक कथाओं में उसके क्रूर स्वभाव की चर्चा पायी जाती है। इस कारण उसे लोग चण्डाशोक कहने लगे। किन्तु इन पर विश्वास नहीं किया जा सकता। ऐसा लगता है कि उसके पिछले जीवन से, जिसमें बौद्ध धर्म के प्रभाव के कारण वह धर्माशोक कहा जाने लगा था, उसके पूर्व जीवन का घोर वैषम्य प्रकट करने के लिये ही इन कथाओं की रचना की गई। उसके अपने भाइयों की हत्या के सम्बन्ध में इस बात की ओर संकेत करना उचित होगा कि अपने शासनाधिकार प्राप्त करने के बहुत दिनों बाद में लिखे शिलालेखों में अशोक ने अपने भाइयों के परिवारों के प्रति काफी ममत्व व्यक्त किया है और उनके कुशलक्षेम की चिन्ता व्यक्त की गई है। जो भी हो, चण्डाशोक से सम्बन्धित कहानियों को सही इतिहास नहीं माना जा सकता।

आरम्भिक जीवन

इन्हीं सूत्रों से यह भी ज्ञात होता है कि शासनारूढ़ होने के पश्चात् चार वर्षों तक अशोक का राज्याभिषेक नहीं हुआ। आधुनिक विद्वानों ने इस कथन को स्वीकार कर लिया है, किन्तु इसकी सत्यता में मुख्यतः इस कारण संदेह किया जा सकता है कि इस अति विलम्ब का कारण उत्तराधिकार के लिए भ्रातृ-संघर्ष बतलाया जाता है।

अशोक के शासनकाल की जिस पहली घटना की प्रामाणिक जानकारी हमें है वह राज्यभिषेक के नौ वर्ष बाद होनेवाली कलिंग-विजय है। सुवर्ण रेखा और गोदावरी नदियों के बीच भारत के पूर्वी तट की लम्बी पट्टी को प्रायः कलिंग कहा जाता है; किन्तु उसकी अशोककालीन निश्चित सीमा नहीं बतायी जा सकती। किन्तु निसंदेह ही वह एक जन-बहुल और शक्तिशाली राज्य था। अशोक के तेरहवें अभिलेख में भीषण युद्ध के पश्चात् कलिंग की विजय का विस्तृत वर्णन किया गया है। इस युद्ध में डेढ़ लाख आदमी पकड़े गये। एक लाख मारे गये और इनसे कई गुने अधिक दूसरी प्रकार नष्ट हुए थे। सम्भवतः अशोक ने स्वयं इस युद्ध का संचालन किया था तथा उसकी विभीषिका और

कलिंग विजय

उसके परिणाम स्वरूप कष्ट और रक्तपात से उसका हृदय विचलित हो उठा। उसके कारण उसके हृदय में जो भावनायें उठीं उनका सम्भवतः निज के शब्दों में उसने इस प्रकार वर्णन किया है।

"इस प्रकार कलिंग जीतनेवाले देवानांप्रिय को बड़ा खेद है, क्योंकि किसी अविजित देश की विजय में वध, मरण और लोगों का बंदीकरण होता है। यह देवानांप्रिय को अत्यन्त दुखद और खेदजनक जान पड़ता है। देवानांप्रिय को इससे भी अधिक यह इसलिए खेदजनक है कि वहाँ ब्राह्मण, श्रमण तथा दूसरे धर्म वाले और गृहस्थ रहते हैं। ऐसे देश में ऐसे लोगों की हत्या, हिंसा और उनका प्रियजनों से वियोग होता है, अथवा मित्रों, परिचितों सहायकों और कुटुम्बियों को जो स्वयं तो सुरक्षित हैं और जिनका स्नेह अबाध है, कष्ट होता है। इस प्रकार उनका भी एक प्रकार से उपघात होता है।[1]"

इस दुख और ग्लानि से अभिभूत होकर अशोक ने बौद्ध धर्म ग्रहण किया, जिसका एक प्रमुख सिद्धान्त जीवमात्र को कष्ट न पहुँचाना है। लगभग ढाई वर्ष तक तो वह केवल एक गृहस्थ उपासक रहा, पश्चात् वह विधिवत् बौद्ध-संघ में सम्मिलित होकर भिक्षु हो गया। उस समय से वह उस धर्म का निरन्तर प्रचार करता रहा, जिसमें उसे जीवन का संतोष और सुख मिला था। अनेक साधनों से उसने अपने इस लक्ष्य की पूर्ति की चेष्टा में जिन साधनों को अपनाया, उनका विस्तृत वर्णन उसके लेखों में पाया जाता है। अपने शासन के शुरू में ही—ग्यारहवें वर्ष—उसने देश भर में घूम कर अपने निजी उद्योग से तीर्थयात्रा और धर्म का प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया। वह बौद्ध तीर्थ-स्थानों में गया और जहाँ जहाँ गया वहाँ उसने धार्मिक शास्त्रार्थ की व्यवस्था की। उसने अपने उच्चाधिकारियों के नाम आदेश जारी किया कि वे प्रति पाचवें वर्ष अपने क्षेत्रों में घूमें और अपने साधारण कार्यों के साथ साथ जनता में धर्म का प्रचार भी करें। यही नहीं, जनता में धर्म प्रचार करने के लिए ही उसने धर्म-महामात्र नामक विशेष अधिकारियों की नियुक्ति की। बौद्धधर्म के आन्तरिक मतभेदों को दूर करने के लिए उसने बौद्धों की एक संगीति भी बुलाई, जो तीसरी संगीति के नाम से प्रसिद्ध है।

अशोक ने निकट और दूर के देशों में धर्म-प्रचार के लिए धर्म प्रचारक मण्डलों का एक जाल सा संगठित कर दिया। उसके धर्म प्रचारकों ने भारत के विभिन्न भागों और लंका तक का ही भ्रमण नहीं किया, वरन् पश्चिमी

---

१. तेरहवां अभिलेख, विन्सेन्ट स्मिथ-अशोक, पृष्ठ १७२, १७३

एशिया, मिस्र और पूर्वी यूरोप भी वे गये। बुद्ध का संदेश जिन विदेशी राज्यों में पहुँचा उनमें से इन पाँच का उल्लेख अशोक के लेखों में नाम से मिलता है—सीरिया और पश्चिमी एशिया का राजा अन्तियोक थियोस, मिस्र का राजा तुरमय द्वितीय (फिलोडेल्फस), मकदूनियाँ का राजा अन्तिकिन, साइरीन का राजा मग और एपिरस का राजा सिकन्दर। जिन प्रचारकों ने भारत में धर्म प्रचार का काम किया उनका नाम सिंहली साहित्य में सुरक्षित है। लगभग पचास वर्ष पूर्व भिलसा में जो अस्थि—मंजूषाएँ[1] निकली थीं उन पर उन प्रचारकों में से कुछ के नाम अंकित हैं और वे अशोक के अद्भुत प्रचार—कार्य का परिचय देती हैं। उस महान् सम्राट ने अपने बच्चों—बेटे महेन्द्र और बेटी संघमित्रा—को भी धर्म प्रचारार्थ लंका भेजा था।

अशोक का धर्म

जनता को बौद्ध धर्म से परिचित कराने के निमित्त अशोक ने अपने विस्तृत साम्राज्य में चट्टानों, स्तम्भों और गुफाओं पर बौद्धधर्म के मूल तत्वों को अंकित कराया। उनमें से कई तो लुप्त हो चुके हैं फिर भी पैंतीस ज्ञात हैं जो कुछ दृष्टियों से तो प्राचीन काल के जो भी अवशेष हमें प्राप्त हैं उन सब में अद्भुत हैं। उनमें सम्राट के व्यक्तिगत जीवन का एक उज्वल उल्लेख तो है ही, वह जिस रूप में धर्म को समझता था, उसकी भी विस्तृत चर्चा है। इस धर्म के प्रचार के लिए उसने जो कुछ किया उसका भी इनमें विवरण है। धर्म के मूल तत्वों को बता कर जनता के सदाचार को उठाना उसका प्रधान लक्ष्य और उसकी चिन्ता थी। इसलिये उसने इन अमिट चट्टानों पर लेखों को अंकित कराया जो दो हजार से अधिक वर्षों के बीत जाने पर भी उसके जीवन की पवित्रता और विचारों की उच्चता के अमर स्मारक हैं। धर्म के जिस स्वरूप पर उसने जोर दिया, वह किसी धार्मिक सिद्धान्त की अपेक्षा सदाचार के नियमों का एक संग्रह है। उसने न तो कभी तत्व-विज्ञान की चर्चा की और न ईश्वर और आत्मा का उल्लेख। उसने केवल जनता से अपनी वासनाओं को नियन्त्रित करने; अपने भीतरी विचारों में जीवन और आचरण को पवित्र बनाने; अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णु होने; जानवरों को न सताने और न मारने; उनकी चिन्ता रखने, सबके प्रति उदार होने, माता, पिता, गुरु, सम्बन्धियों, मित्रों और साधुओं के प्रति उचित सम्मान प्रकट करने;

---

१. मौदगल्यायन और सारिपुत्र की अस्थि-मंजूषाएँ अभी हाल में देश के कई नगरों में प्रदर्शित की गयी थीं। उनके प्रति लोगों ने एक अप्रतिम रुचि दिखाई।

नौकरों और दासों के प्रति उदारता और दया का भाव रखने और सर्वोपरि सत्य बोलने को कहा।

सम्राट ने इन सत्यों का न केवल प्रचार मात्र ही किया वरन् स्वयं भी उन पर आचरण किया। उसने आखेट छोड़ा और मांस-भक्षण त्याग दिया। उसने मनुष्यों और पशुओं के लिए न केवल अपने साम्राज्य में वरन् पड़ोसी राज्यों की सीमा में भी अस्पताल स्थापित किए। उसने ब्राह्मणों और अन्य धर्मावलंबियों को मुक्त-हस्त से दान दिया। उसके लेखों से यह भी ज्ञात होता है कि कैसे उसने मनुष्यों और पशुओं के उपयोग के लिए सड़कों के किनारे पांथशालायें बनवाईं, कुएं खुदवाये और पेड़ लगवाये। पशु वध रोकने के लिए उसने अनेक नियम जारी किये।

अशोक की सफलता

अशोक के अद्भुत उत्साह और प्रयत्न के फलस्वरूप बौद्ध-धर्म, जो अभी तक एक नगण्य संप्रदाय मात्र था, विश्व धर्म बन गया। अपने पूर्वजों की आक्रामक साम्राज्यवादी नीति को त्याग कर उसने धर्म द्वारा विश्व-विजय करने की नीति ग्रहण की। इसमें उसे कल्पनातीत सफलता मिली। उसे ही इस बात का श्रेय दिया जाना चाहिए कि उसके निधन के दो हजार वर्षों से अधिक बाद आज भी संसार के एक तिहाई लोग बुद्ध के उपदेशों का अनुगमन करते हैं।

बौद्धधर्म विश्व धर्म हो गया

अशोक के संबन्ध में सबसे बड़ी बात यह है कि बौद्ध धर्म के प्रति उसके असीम उत्साह ने कभी उसे शासक के कर्त्तव्य से च्युत नहीं होने दिया। वस्तुतः सारे संसार के प्राचीन और अर्वाचीन महान् राजाओं में उसकी गणना की जा सकती है। एक शासक के कर्त्तव्य और उत्तर-दायित्व संबंधी उसकी जो भावना थी, जिस उत्साह से उसने अपने आदर्शों का पालन किया, और जिस सीमा तक उन्हें कार्यान्वित करने में वह सफल हुआ, वह सब भूरि भूरि सराहनीय है। संभवतः किसी भी राजा ने कभी राजा और प्रजा के संबंध को इतने सरल और ऊँचे शब्दों में व्यक्त नहीं किया। उसका कहना था—"सभी प्रजा मेरी संतान है और जिस प्रकार मेरी इच्छा है कि मेरी संतान इहलोक और परलोक में सुख और शान्ति का उपभोग करे उसी प्रकार मैं सभी प्रजा के सुख और समृद्धि का इच्छुक हूँ।" इसी प्रवाह में उसने पुनः लिखा है—"जिस प्रकार एक मनुष्य अपने बच्चे को योग्य धात्री को देकर संतुष्ट होता है और सोचता है कि मेरे बच्चे के सुख की देख भाल वह चतुर धात्री उत्साहपूर्वक करेगी, इसी प्रकार देश के हित और सुख के लिए मेरे कर्मचारी नियुक्त किये गये हैं।"

शासकरूप में अशोक

अशोक लोक-हित और शासक के रूप में सौंपी गयी थाती के उत्तरदायित्व के प्रति कितना सतर्क और उत्साही था, यह उसके एक दूसरे लेख से ज्ञात होता है। उसमें लिखा है कि "बहुत दिनों से हर घड़ी काम करने और समाचार प्राप्त करने की प्रथा नहीं रही, अतः अब मैं यह व्यवस्था करता हूँ कि सब समय और सब जगह चाहे मैं भोजन करता रहूँ, चाहे अन्तःपुर में रहूँ, अथवा शयनागार में, अथवा गोपनागार में, या अपने यान में अथवा राजोद्यान में, लोक-कार्य की सूचना प्रतिवेदकों द्वारा मुझे दी जाय। मैं जनता के कार्य को हर जगह करने को प्रस्तुत हूँ .... मैंने आदेश दे रखा है कि प्रत्येक समय और प्रत्येक स्थान में मुझे तुरत सूचना मिलनी चाहिए क्योंकि अपने कार्यों और प्रयत्नों से मुझे कभी भी पूर्ण संतोष नहीं होता, क्योंकि जनता के हित के लिए ही मुझे सतत प्रयत्न करना चाहिये और उसका मूल कार्यों के संचालन और प्रयत्न में है। जो कुछ मैं प्रयत्न करता हूँ उसका उद्देश्य यही है कि मैं चेतन-मात्र के प्रति अपने ऋण से उऋण हो सकूँ और मैं उन्हें यहाँ प्रसन्न रख सकूँ तथा परलोक में वे स्वर्ग प्राप्त कर सकें।"

अशोक की राज-कर्त्तव्य की यह कल्पना बहुत उच्च थी। लोक हित के लिए किये जाने वाले अपने प्रयत्नों का कुछ भी श्रेय वह स्वयं नहीं लेता, क्योंकि अपनी दृष्टि में उसने केवल ऋण से उऋण होने का प्रयत्न किया। वह प्रजा-हित को बहुत विस्तृत रूप में देखता था। इस लोक में धन और प्रजा की सुरक्षा तथा उसकी आर्थिक समृद्धि मात्र को ही उसने प्रजा का हित नहीं माना, वरन् परलोक में सुख देनेवाले उच्च आचरण को भी वह उसके अन्तर्गत समझता था। कर्त्तव्य की यह कल्पना उसके इस प्रसिद्ध सिद्धान्त का तार्किक परिणाम थी कि सारी प्रजा राजा की संतान है। जिस प्रकार पिता को अपने बच्चों की लौकिक समृद्धि के विस्तार मात्र से संतुष्ट नहीं होना चाहिए वरन् उसके नैतिक विकास की ओर भी ध्यान देना चाहिए उसी तरह राजा का भी कर्त्तव्य है कि वह प्रजा की लौकिक समृद्धि और नैतिक हित-सुख का भी ध्यान रक्खे।" इसी के फलस्वरूप अशोक ने सदाचार के उन नैतिक सिद्धान्तों के प्रचार की विस्तृत व्यवस्था की जिनका उल्लेख ऊपर हो चुका है। कुछ अंशों में उसकी यही भावना उसके बौद्ध संप्रदाय का नेतृत्व ग्रहण करने के पीछे भी थी। अशोक केवल कोरा सैद्धान्तिक नहीं था। वह योग्य शासक भी था। अपनी धार्मिक भावनाओं और अहिंसात्मक नीति के होते हुए भी उसने अपने विस्तृत साम्राज्य में शान्ति और समृद्धि की स्थापना की थी।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, एक ओर युद्ध के पश्चात् उसने कलिङ्ग को अपने साम्राज्य में मिला लिया था। लगता है कि सुदूर दक्षिण के तमिल-प्रदेश

साम्राज्य का विस्तार

मौर्य साम्राज्य से निकल गये थे किन्तु वे अशोक के शासन काल में अथवा उसके राज्यारोहण से पूर्व अलग हुए थे, कहना कठिन है। इतना तो निश्चित है कि उसके शासन काल के तेरहवें वर्ष में केर, चोल, पाण्ड्य और सतियपुत्र स्वतंत्र राज्य थे और मौर्य-साम्राज्य की दक्षिणी सीमा नेल्लोर से लेकर पश्चिमी तट पर स्थित कल्याणपुरी नदी के मुहाने तक खींची जाने वाली एक रेखा के आस पास तक थी ! किन्तु उसके साम्राज्य के अन्तर्गत सारा भारतवर्ष (संभवतः आसाम को छोड़कर) था और इसके अतिरिक्त उसमें आधुनिक अफ़गानिस्तान और बलूचिस्तान भी शामिल थे। इस विशाल क्षेत्र के अन्तर्गत कुछ प्रदेश ब्रिटिश भारत के देशी रजवाड़ों की तरह आन्तरिक मामलों में स्वतन्त्रता का उपभोग करते थे। साम्राज्य के शेष भागों का शासन अनेक वाइसरायों द्वारा होता था, जिनकी प्रान्तीय राजधानियाँ सुवर्णगिरी, तोसलि, तक्षशिला और उज्जयिनी जैसे नगरों में थीं। यह विस्तृत राज्य-संघटन काफी सफल सिद्ध हुआ प्रतीत होता है। अशोक जिन अद्भुत कला-कृतियों को छोड़ गया है, और जिनकी चर्चा आगे एक स्वतन्त्र अध्याय में होगी, वे निस्संदेह इस बात को प्रमाणित करती हैं कि उसके काल में साम्राज्य महत्ता और गौरव की चरम सीमा पर पहुँचा हुआ था।

भारत की राजनीतिक एकता

अशोक का साम्राज्य न केवल विस्तार से फैला हुआ था वरन् शासन की इकाई के रूप में सुगठित भी था। एक ही राज्यादेश पेशावर से बङ्गाल तक और कश्मीर से मैसूर तक चलता था। प्राचीन भारत में तो ऐसा फिर कभी हुआ ही नहीं और उन्नीसवीं शताब्दी ई० के मध्य से पूर्व भी यदा कदा ही देखने में आया। अशोक के लेखों से यह भी प्रमाणित होता है कि सारे साम्राज्य की भाषा एक थी और सुदूर उत्तर-पश्चिम के एक छोटे से प्रदेश को छोड़कर सारे साम्राज्य में एक ही लिपि प्रचलित थी। इस प्रकार अशोक के साम्राज्य में वह राजनीतिक और सांस्कृतिक एकता स्थापित हुई थी, जिसका स्वप्न आधुनिक भारत अशोक स्तम्भ के शीर्ष को अपने राज्यचिन्ह के रूप में अपनाकर साकार करना चाहता है।

लेखन-कला

अन्य कई कारणों से भी अशोक का शासन काल चिरस्मरणीय है। भारत की सर्वप्रथम लिखित सामग्री उसीके शासन काल से मिलती है। यूनानी अथवा अरमी लिपि में लिखे गये तीन लेखों को छोड़ कर उसके शेष लेख दो प्रकार के अक्षरों (लिपियों) में खुदे हैं। एक का नाम खरोष्ठी है जो अरमी से निकली हुई थी और

शाहबाजगढ़ी तथा मनसरा तक सीमित थी। यह लिपि कुछ ही काल के बाद लुप्त हो गयी। दूसरी लिपि का नाम ब्राह्मी है, जिसका प्रयोग अन्य सभी लेखों में हुआ है। यह भारत की सबसे प्राचीन ज्ञात लिपि है और सभी आधुनिक समय में ज्ञात भारतीय लिपियाँ अन्ततः इसी से निकली हुई हैं।

कला

इसी प्रकार भारतीय कला का इतिहास भी प्रायः अशोक के राज्यकाल से ही प्रारम्भ होता है। सिन्धु घाटी में मिले प्रागैतिहासिक नमूनों को छोड़ कर ललितकला के कोई ऐसे दूसरे नमूने अभी तक देखने में नहीं आये जो निश्चित रूप से अशोक काल के पूर्व के कहे जा सकें। जान पड़ता है, पत्थर के भवन निर्माण की कला भी अशोक ने पहले पहल चलायी। यद्यपि उसके अनेक निर्माणों में कुछ थोड़े ही से नमूने बचे हैं, वे भारतीय-कला के निरन्तर पाये जाने वाले इतिहास के प्रथम और गौरव पूर्ण अध्याय का निर्माण करते हैं। सच-मुच उसके एक एक शिला खण्डों वाले प्रास्तरिक स्तम्भ और उनकी अद्भुत ओप और उससे भी अद्भुत शीर्ष स्थित जन्तु-मूर्त्तियाँ आज भी न केवल अद्वितीय हैं वरन् संसार में उसके निकट पहुँचने वाली भी दूसरी कोई कृति नहीं है। इन सब की चर्चा कला वाले अध्याय में अधिक सुविधा के साथ की जायगी।

४ साम्राज्य का पतन

साम्राज्य का पतन

अशोक की मृत्यु २३२ ई० पू० में हुई। उसके पश्चात् लगभग ५० वर्षों के बीच एक के बाद दूसरे करके सात राजे हुए। इन राजाओंके संबंध में विस्तृत रूप से कुछ ज्ञात नहीं है किन्तु साम्राज्य का विघटन अशोक के निधन के एक दशक के भीतर ही आरम्भ हो गया। दक्षिण की शक्तिशाली आंध्र जाति ने, जिसे अशोक के राज्यकाल में आन्तरिक स्वतन्त्रता प्राप्त थी, विद्रोह का झंडा खड़ा कर दिया और मौर्यों की अधीनता से विंध्य के दक्षिण के प्रदेश को स्वतन्त्र कर लिया। उत्तरी भारत में मौर्य लगभग १८५ ई० पू० तक राज्य करते रहे, जब वे अन्त में आन्तरिक वैमनस्य और विदेशी आक्रमणों के शिकार हुए।

जिन विदेशी आक्रमणों के कारण मौर्यों का पतन हुआ उन्हें समझने के लिए कुछ पीछे जाना होगा। जैसा कि कहा जा चुका है सेल्यूकस और उसके वंशज सीरिया में रहकर पश्चिमी एशिया पर हिन्दुकुश पर्वत तक राज्य करते थे। लगभग २५० ई० पू० में उनके विस्तृत साम्राज्य के प्रान्तों—बाख्त्री और पार्थ—ने सेल्यूकस

वंश के विरुद्ध विद्रोह कर अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी। बल्ख के यवन यूथिडेमस और उसके वंशजों ने हिन्दुकुश के उत्तर एक स्वतन्त्र यूनानी वंश की स्थापना की। वर्तमान फारस के पूर्वी भाग—पार्थ में—अर्सेस नामक मुखिया के नेतृत्व में राष्ट्रीय सरकार की स्थापना हुई। सेल्यूकस वंशीय सम्राटों ने विद्रोही प्रदेशों पर अपना प्रभुत्व जमाने की असफल चेष्टा की। इस उद्देश्य से अन्तियोक तृतीय ने बाख्त्री प्रदेशों पर धावा भी किया किन्तु उसे सफलता न मिली। अन्ततोगत्वा उसने लगभग २०८ ई० पू० में बाख्त्री प्रदेश और पार्थ की स्वतन्त्रता को स्वीकार कर लिया। इसके थोड़े ही दिनों बाद यवन-बाख्त्री राजाओं ने अपनी दृष्टि भारत की ओर फेरी और १९० ई० पू० के लगभग तत्कालीन शासक के बेटे और अन्तियोक तृतीय के दामाद दिमित्र ने भारत पर आक्रमण किया और अशोक के सातवें वंशज मौर्य सम्राट् बृहद्रथ से उसके साम्राज्य के उत्तर पश्चिम का बहुत बड़ा भाग छीन लिया।

आन्ध्रों के सफल विद्रोह, यवन राजा के मगध साम्राज्य के भीतर बहुत दूर तक सफल धावे और उत्तरी-पश्चिमी प्रदेशों की हानि से मौर्य साम्राज्य की शक्ति और प्रतिष्ठा को गहरा धक्का लगा। कदाचित् इस अराजक अवस्था का लाभ उठा कर बृहद्रथ के सेनापति पुष्यमित्र ने अपने स्वामी के विरुद्ध षड्यन्त्र किया और सेना का निरीक्षण करते समय उसे मार डाला। इस प्रकार १३७ (३२२–१८५ ई०पू०) वर्षों के शासन के पश्चात् चन्द्रगुप्त और अशोक के वंश का शासन खतम हो गया।

पुष्यमित्र राज्यद्रोही और राजहन्ता था। किन्तु कुछ आधुनिक इतिहासकार उसके दोष को देश को बचाने के लिये आवश्यक समझकर क्षमा कर देते हैं। किन्तु

पुष्यमित्र

इस नरम विचार की संपुष्टि के लिये हमारे पास अत्यन्त अल्प प्रमाण हैं। यद्यपि पुष्यमित्र गद्दी पर बैठ गया, यह अजीब बात है कि वह अपने को सेनापति ही कहता रहा। अपने इस कुकर्म को मिटाने का प्रयत्न उसने राज्य में फैली अराजकता को रोकने में प्राणपण से लग कर किया। कुछ ऐसे प्रमाण हैं जिनसे विश्वास होता है कि वह मगध-साम्राज्य की सैनिक शक्ति को सफलतापूर्वक सिन्धु तट तक ले गया और अपनी विजयों की परिणति उसने दो अश्वमेध यज्ञों से की। महान् वैय्याकरण पतंजलि ने उन यज्ञों में एक की चर्चा की है और संभवतः उसमें उन्होंने पौरोहित्य किया था। संस्कृत नाटक "मालविकाग्निमित्र" में कहा गया है कि उसके वीर पौत्र और विदिशा (भिलसा) के शासक अग्निमित्र के पुत्र वसुमित्र ने यज्ञ के घोड़े की रखवाली का काम किया था और उसने सिन्धु तट पर यवनों से घोर युद्ध कर उसकी रक्षा की। इस सिन्धु को बहुत से लोगों ने मध्यप्रदेश की काली सिन्धु से मिलाया है परन्तु इस बात के विरुद्ध कोई भी पुष्ट प्रमाण नहीं है कि उपर्युक्त नाटक की सिन्धु

को उस नाम की प्रसिद्ध नदी सिन्धु से क्यों न मिलाया जाय। पुष्यमित्र और उसके वंशजों के राज्यकाल में यवनों से निरन्तर लड़ाइयाँ होती रहीं। अन्तमें पजाब और सिन्धु मगध साम्राज्य से निकल गये तथा ये प्रदेश भारत में बाढ़ की तरह आनेवाले विदेशी आक्रामकों के बीच, प्रभुता के निमित्त संघर्ष के अखाड़े बन गये। अब भी पाटलिपुत्र के सम्राट् समस्त उत्तरी भारत पर अपनी राजनीतिक सत्ता की व्याप्ति का दावा करते थे, यद्यपि वह दावा नाम मात्र को ही था। यह स्पष्ट था कि उनकी शक्ति नित्यप्रति क्षीण होती जा रही थी और देश में धीरे २ चारों ओर राजतन्त्रीय और लोकतन्त्रीय स्वतन्त्र राज्य स्थापित होने लग गये थे।

इतिहास में शुङ्ग नाम से प्रसिद्ध पुष्यमित्र का वंश विश्वासघात के साथ उदित हुआ था और उसका अन्त भी उसी प्रकार हुआ। इस वंश का दसवाँ शासक देवभूमि दुराचारी था और उसके मंत्री वसुदेव ने उसे मरवा डाला। शुंग वंश के दस राजाओं ने एक सौ बारह (१८५–७३ ई० पू०) वर्षों तक राज्य किया।

वसुदेव द्वारा स्थापित कण्व वंश में केवल चार राजे हुए और उन्होंने मगध साम्राज्य पर पैंतालीस वर्षों तक राज्य किया। आन्ध्रों ने चौथे राजा सुशर्मन को उखाड़ फेंका। आन्ध्रों की चर्चा आगे की जायगी।

कुछ आधुनिक विद्वानों का मत है कि महान् मौर्य साम्राज्य के पतन के लिए मुख्य रूपसे से अशोक को उत्तरदायी ठहराया जाना चाहिए। साम्राज्य की स्थापना रक्त और लौह की नीतिसे हुई थी और उसी के द्वारा उसकी रक्षा हो सकती थी। किन्तु युद्ध और आक्रामक साम्राज्यवादी नीति को त्याग कर अशोक ने साम्राज्य की नींव को ही कमजोर बना दिया। यदि उसने बौद्ध प्रचारकों के स्थानपर एक शक्तिशाली सेना भेजने की चिन्ता की होती तो निस्संदेह वह सुदूर दक्षिण में तमिल देश को जीतकर भारत की राजनीतिक एकता को पूरा कर सकता था। यह भी कहा जाता है कि कलिंग युद्ध के पश्चात् सैनिक कार्यों का अभाव और स्वयं सम्राट द्वारा दी जानेवाली अहिंसा के उच्च आदर्श की निरन्तर शिक्षा का प्रभाव न केवल राजा की सैनिक व्यवस्था पर ही पड़ा वरन् जनता की सैनिक योग्यता भी क्षीण हो गयी। सैनिक अपना कौशल और अनुशासन भूल गये और भारतीय साधारणतया युद्धविमुख हो गये। यही मुख्य कारण है कि जिस सेना ने सेल्यूकस के आक्रमण का सफलतापूर्वक सामना किया था वही उससे कम शक्तिशाली बाख्त्री—यवनों के सम्मुख असफल रही।

अशोकका उत्तरदायित्व

इन दोषारोपणों में कुछ तथ्य हो सकता है; किन्तु यह भूलना न चाहिए कि मौर्य साम्राज्य का अन्त भारत के अन्य अनेक शक्तिशाली साम्राज्यों के अन्त के

मुकाबले कुछ विशेष भिन्न नहीं है। उसका उत्तरदायित्व अशोक की शान्तिवादी नीति सरीखे किसी कारण पर नहीं लादा जा सकता। मौर्य साम्राज्य के पतन के अन्य अनेक कारण थे, जिनमें मुख्यतः अशोक के उत्तराधिकारियों की निर्बलता और भारतीय राजनीति की विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्तियाँ हैं। यह तो मानी हुई बात है कि यदि अशोक की यह नीति न भी होती तो भी शक्तिशाली मौर्य साम्राज्य का कभी न कभी अन्त होता ही। किन्तु इस नीति द्वारा ही उसे संसार के विस्तृत भू-भाग पर नैतिक शक्ति का प्रभाव स्थापित करने का श्रेय मिला है और वही उसकी विशेषता भी है। सभी युद्धों के अन्त करने के प्रयोग का भी श्रेय उसे ही है, जिसकी आवश्यकता और बुद्धिमत्ता का अनुभव संसार के किसी भी राजनीतिज्ञ को वर्तमान शताब्दी के दूसरे दशक तक नहीं हो सका। यदि अशोक के विरुद्ध लगाये गये सभी दोषारोपण सच्चे भी हों, तो भी उसे इस विचार से संतोष तो हो ही सकता है कि उसने २१७५ वर्षपूर्व विश्वशान्ति की जिस नीति की कल्पना की थी उसे ही मानवता की मुक्ति के निमित्त एकमात्र उपाय समझकर आज सारा संसार धीरे-धीरे अपना रहा है। आधुनिक इतिहासकार थ्यूसिडिड की इस महान् युक्ति को याद कर लाभ उठा सकता है कि लौकिक वैभव की अपेक्षा महानता की स्मृति अधिक चिरस्थायी होती है। मौर्य साम्राज्य की वही गति हुई जो सभी लौकिक उत्कर्षों की हुआ करती है किन्तु अशोक की स्मृति सदा बनी रहेगी।

तीसरा अध्याय

प्रथम मगध साम्राज्य के अन्त से दूसरे मगध साम्राज्य के प्रारंभ तक

(दूसरी शती ई० पू० से चौथी शती ई० तक)

१. विदेशी आक्रमण

पहले कहा जा चुका है कि दूसरी शताब्दी ई० पू० के आरम्भ में भारत में मगध साम्राज्य के उत्तर-पश्चिमी प्रान्तों को बाख्त्री-यवन शासक दिमित्र ने ले लिया था। अपने भारतीय अभियान में वह इतना सफल रहा कि यवन लेखकों ने उसे "भारतीयों का शासक" की उपाधि दे दी। किन्तु जिस समय वह भारतीय अभियान में व्यस्त था उसके बाख्त्री सिंहासन को युक्रेतिद नामक व्यक्ति ने हड़प लिया। दिमित्र ने उसे हटाने की चेष्टा की पर असफल रहा। दिमित्र के विरुद्ध सफल होते भी युक्रेतिद कुचक्र से प्राप्त अपने राज्य का उपभोग अधिक दिनों न कर सका। उसे अपने बेटे ने ही क्रूरतापूर्वक मार डाला और उसके शव के ऊपर से अपना रथ ले गया।

यवन

यूनानियों की इन आन्तरिक अशान्तियों के कारण ही सम्भवतः पुष्यमित्र को खोये हुए कुछ प्रदेशों को प्राप्त करने और साम्राज्य में शान्ति स्थापित करने का पुनः अवसर मिला। यही नहीं, यवनों को अन्य भयङ्कर स्थितियों का भी सामना करना पड़ा। जिन दिनों वे परस्पर लड़ रहे थे, बल्ख पर शकों का आक्रमण हुआ और वंक्षु की घाटी से यवन प्रभुत्व सदा के लिए मिट गया (१२० ई० पू०) वंक्षु से निकाले जाने पर यवन अपने अफगानिस्तान और पश्चिमी पञ्जाब स्थित भारतीय प्रदेश में शरण लेने को बाध्य हुए। वे इस प्रदेश में दो सौ वर्षों तक राज्य करते रहे। इस प्रदेश के विभिन्न क्षेत्रों में उनके प्रतिस्पर्धी वंशों के अनेक राजाओं का राज्य था, किन्तु वर्तमान स्थिति में उनका क्रमबद्ध उल्लेख करना संभव नहीं है। मजे की बात यह है कि यूनान की मुख्य भूमि से अलग होकर इस सीमित और घिरे हुए क्षेत्र में दो या अधिक वंशों के

लगभग तीस राजे इस प्रदेश में इस अवधि के बीच राज्य करते रहे जिनका पता यवन इतिहासकारों को नहीं है। सिकन्दर और उसकी सेना नहीं, अपितु ये लोग यवन संस्कृति के कुछ तत्वों को भारत में प्रसारित करने के माध्यम बने। उसकी चर्चा आगे की जायेगी।

इन यवन शासकों के नाम हमें उनके सिक्कों से ही ज्ञात हुए हैं। परन्तु उनमें से अधिकांश के संबंध में हम कुछ भी नहीं जानते। कुछ अन्य साधनों से भी ज्ञात होनेवाले इक्के-दुक्के यवन राजाओं में मेनान्डर, बौद्ध साहित्य का राजा मिलिन्द, सर्वमुख्य है। उसकी राजधानी शाकल (वर्तमान स्यालकोट) थी। ऐसा जान पड़ता है कि उसने उत्तरी भारत के आन्तरिक भागों में कई बार विजयी धावे किये। एक अन्य शासक अपलदत्त के संबंध में भी कहा जाता है कि उसने काठियावाड़ प्रायद्वीप जीत लिया था। किन्तु सामान्यतः यवन राजाओं की प्रभुता अफगानिस्तान और पञ्जाब तक ही सीमित थी और यदा-कदा ही वे क्षणिक रूप से उत्तर भारत के भीतरी भागों में अपनी सेना ले जा सके।

अकेले यवन ही भारतीय सीमा पर उपद्रव मचाने वाले न थे। अन्य कईयों ने उनका अनुसरण किया, जिनमें विशेष उल्लेखनीय पार्थव, शक और कुषाण हैं। ऊपर बताया जा चुका है कि कैसे तीसरी शताब्दी ई० पू० के मध्य में सीरिया के सेल्यूकस-वंशी राजा के विरुद्ध सफल विद्रोह के परिणामस्वरूप पार्थ में स्वतन्त्र राष्ट्रीय शासन की स्थापना हुई थी। दूसरी शताब्दी ई० पू० के मध्य में ही पार्थव राजा मिथ्रदात प्रथम अपनी सेना सिन्धु नद तक लाया। कुछ दिनों पश्चात् माव (Maues) नामक एक शक्तिशाली व्यक्ति ने पश्चिमी पञ्जाब में अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। इसी समय पार्थव राजाओं का एक दूसरा वंश कन्धार के प्रदेश में राज्य करता था जिनमें वोनोन (Vonones) और अय (Azes) प्रमुख हैं। पहली शताब्दी के अन्तिम भाग में पार्थव राजा निचले सिन्ध पर अधिकार जमाने के लिए लड़ते-झगड़ते रहे। पेशावर की घाटी में भी कुछ पार्थव राजाओं का शासन था। इन भारतीय पार्थव राजाओं में गुदूफर, जिसका अभिलेख तख्त-ए-बाही (सीमान्त प्रदेश) में पाया गया है, विशेष उल्लेखनीय है। एक प्राचीन ख्रीष्टीय जनश्रुति के अनुसार संत टामस नामक ईसाई साधु उसके दरबार में आया था और उसने उसको और उसके परिवार को ईसाई धर्म में दीक्षित किया था।

(पार्थव)

आरम्भ में शक एक घुमक्कड़ जाति थी और सीर दरिया के उत्तरी किनारे पर रहती थी। यूची नामक एक अन्य घुमन्तू जाति द्वारा अपने प्रदेश से निकाले

शक

आने पर वे बल्ख में आ पड़े, और जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, उस प्रान्त के यवन राजतन्त्र का अन्त कर दिया। पश्चात् वे दक्षिण और पूरब की ओर बढ़े और कई समूहों में विभिन्न मार्गों से भारत में प्रविष्ट हुए। हलमूद नदी के किनारे उनका विशाल उपनिवेश रहा होगा क्योंकि वह प्रदेश उन्हीं के नाम पर शकस्थान (अब सीस्तान) कहा जाता था। भारत में शकों के तीन राज्य स्पष्ट रूप से ज्ञात होते हैं। दो तो उत्तर भारत में थे जिनकी राजधानी क्रमशः मथुरा और तक्षशिला थीं। तीसरा राज्य पश्चिमी भारत में मालवा और काठियावाड़ प्रायद्वीप में था। इन सभी देशों के शासक अपने को क्षत्रप अर्थात् वाइसराय कहते थे। इन वाइसरायों का कौन मुख्य शासक था, यह बता सकना असंभव है। साथ ही यह भी निस्संदिग्ध है कि वे स्वतन्त्र शासक थे। फिर भी आधुनिक लेखकों ने उन्हें क्षत्रप ही कहना उचित समझा है। मथुरा और तक्षशिला के शक शासक उत्तरी क्षत्रप और मालवा-काठियावाड़ के शासक पश्चिमी क्षत्रप कहे जाते हैं। यद्यपि उत्तरी भाग के चार क्षत्रपों के नाम हमें ज्ञात हैं, उनके संबंध में हमारी जानकारी नाम मात्र की ही है। पश्चिमी क्षत्रपों की संख्या बीस से अधिक थी और वे तीन शताब्दियों तक राज्य करते रहे। उनकी चर्चा अगले खण्ड में की जायेगी।

विदेशी आक्रामकों में अन्तिम कुषाण थे; किन्तु उनका महत्त्व किसी से भी कम नहीं है। वे यूची नामक घुमन्तू जाति के थे, जो मूलतः उत्तरी-पश्चिमी चीन

कुषाण

के कान्सु प्रान्त में रहती थी। हिंगनु (हूण) नामक एक दूसरी घुमन्तू जाति द्वारा लगभग ६५ ई० पू० में भगाये जानेपर वे पश्चिम की ओर जाने को बाध्य हुए और शकों पर जा टूटे, जो सीर दरिया के उत्तर वाले प्रदेश में रहते थे। अभी वे शकों के प्रदेश पर कब्जा भी न कर पाये थे कि उनके पुराने शत्रुओं-हूणों—ने उन्हें एक बार पुनः हराया और वे दक्षिण की ओर बढ़ने को विवश हुए। इस घटना के कारण शकोंको जो आगे बढ़ना पड़ा और जो वे भारत में जा बसे, उसकी चर्चा की जा चुकी है। जैसा कि कहा जा चुका है यूची जाति ने शकों को भगा दिया और वंक्षु के दक्षिणी बल्ख पर अधिकार कर लिया। यहाँ उनमें दो महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। एक तो उन्होंने घुमन्तू आदत छोड़ कर स्थिर जीवन अपनाया। दूसरे विशाल यूची जाति की एकता नष्ट हो गयी। उसकी पाँच शाखाओं ने विजित प्रदेशों में पाँच स्वतन्त्र राज्य स्थापित किये।

एक शताब्दी से अधिक बीत जाने पर इन पाँच यूची शाखाओं में से एक कुषाण शाखा का शासक अन्य चार शाखाओं को अपने अधीन करने में सफल

हुआ। कुजुल कदफिसस अथवा कदफिसस प्रथम ने इस कार्य को पूरा कर अपनी जाति की महत्ता स्थापित की। किन्तु वह संयुक्त यूची राज्य स्थापित करके ही संतुष्ट न हुआ। उसने अपनी ललचायी आंखें भारत की ओर फेरीं और उसे जीतने की तैयारी की। सबसे पहले उसे यवन और पार्थव लोगों के विरुद्ध युद्ध करना पड़ा जिनके अधिकार में हिन्दुकुश के तुरत दक्षिण का भूभाग इस समय था। आजीवन दीर्घकाल तक वह इस कार्य में लगा रहा और अन्ततोगत्वा भारत के उत्तरी-पश्चिमी सीमा से पार्थव और यवन शासन का उन्मूलन करने में सफल हुआ। किस प्रकार काबुल के अन्तिम यवन शासक हरमाय के हाथ से अधिकार धीरे-धीरे कदफिसस प्रथम के हाथ में आ गया, यह बात कतिपय सिक्कों से बड़ी भली प्रकार ज्ञात होती है।

यद्यपि कदफिसस प्रथम अपने शत्रुओं—यवन और पार्थवों—का उन्मूलन कर काबुल पर अधिकार करने में सफल तो हुआ किन्तु अपने श्रम का उपभोग उसके भाग्य में बदा नहीं था। ८० वर्ष की दीर्घ अवस्था में, जब वह भारतीय साम्राज्य हथियानेवाला ही था, उसकी मृत्यु हो गयी। किन्तु उसने जो कार्य छोड़ा था उसे उसके बेटे और उत्तराधिकारी विम् कदफिसस अथवा कदफिसस द्वितीय ने पूरा ही नहीं किया वरन् भारत को, यदि पूरब में अधिक दूर तक नहीं तो कम से कम बनारस तक तो जीत ही लिया। भारतीय प्रदेशों का स्वयं शासन न करके उसने अपनी ओर से शासन करने के लिये सेनापतियों को नियुक्त किया। इस प्रकार उसने एक विशाल कुषाण साम्राज्य स्थापित किया जिसके अन्तर्गत हिन्दुकुश पर्वत के दोनों ओर के विशाल क्षेत्र थे।

कदफिसस द्वितीय

दूसरा कुषाण सम्राट—सुप्रसिद्ध कनिष्क, संभवतः अशोक के पश्चात् प्राचीन भारत का सबसे अधिक परिचित व्यक्ति है। बौद्धों ने उसको प्रेमपूर्वक बहुत २ चर्चायें की हैं। वे उसे अपना एक बहुत बड़ा संरक्षक मानते हैं। उसके नाम से चारों ओर अनेक अनुश्रुतियाँ भी प्रचलित हो गई हैं। उनके अनुसार उसने समस्त उत्तरी भारत, जिसके अन्तर्गत काश्मीर और मगध भी थे, जीत लिया था। उसकी शक्ति मध्य एशिया में गोबी की मरुभूमि की सीमा तक फैली हुई थी। पार्थव और चीनियों के विरुद्ध युद्ध में जीतने का श्रेय भी उसे दिया जाता है और कहा जाता है कि उसने चीन के तीन समृद्धिशाली प्रदेश काशगर, यारकन्द और खोतान जीत लिये थे। यह भी कहा जाता है कि उसके दरबार में एक चीनी शासक के बंधक भी रहते थे। इन अनुश्रुतियों में कितनी ऐतिहासिकता है, कहना कठिन है। किन्तु इतना तो

कनिष्क

निःसंदिग्ध है कि कनिष्क के भारतीय साम्राज्यमें काश्मीर और सिन्ध का उपरला भाग सम्मिलित था और उसका विस्तार पूर्व में बनारस और दक्षिण में विन्ध्य तक था।

विमकदफिसस के साथ कनिष्क का संबंध अज्ञात है। विम के विपरीत कनिष्क अपने भारतीय प्रदेशों पर स्वयं शासन करता था और उसने पुरुषपुर में अपनी राजधानी बनायी थी। उसने वहाँ एक विशाल स्तूप बनवाया था, जिसे देख-देखकर सैकड़ों वर्षों तक लोग आश्चर्य चकित होते रहे और उसकी सराहना करते नहीं अघाते थे। इस स्तूप के अवशेष पेशावर के निकट मिले हैं। यह स्थान उसकी प्राचीन राजधानी को व्यक्त करता है। इससे तथा मथुरा में मिली कनिष्क की मूर्ति के कारण यह सुविख्यात सम्राट हमारे लिए चिरपरिचित सा लगता है। अनुश्रुतियों के अनुसार कनिष्क के दरबार में दो सुविख्यात विद्वान रहते थे, जिनमें एक तो सुप्रसिद्ध बौद्ध विद्वान एवं कवि अश्वघोष थे और दूसरे चरक, जो संभवतः वही वैद्य थे, जिनकी पुस्तकें आज भी भारतीय चिकित्सा-पद्धति में सर्वोच्च स्थान रखती हैं

कनिष्क के उत्तराधिकारी

कनिष्क के बाद वाशिष्क, हुविष्क और वासुदेव नामक तीन राजा हुए। उनके संबंध से सिवा इस बात के कि उन्होंने संभवतः साम्राज्य को अक्षुण्ण बनाये रखा और कोई बात ज्ञात नहीं है। कनिष्क ने एक संवत् चलाया था। समझा जाता है कि वह आजकल प्रचलित शाक संवत् ही है। इसके अनुसार कनिष्क का राज्यारोहण ७८ ई० में ठहरता है लेकिन इस संबंध में विद्वानों में घोर मतभेद है।[1]

---

(१) कनिष्क की तिथि भारतीय तैथिकक्रम की सबसे उलझी हुई समस्या है। इस विषय पर बहुत कुछ लिखा गया है किन्तु नये प्रमाणों के अभाव में कोई बात निश्चित रूप से नहीं कही जा सकती। कुछ लोग उसके राज्यारोहण को तिथि ७८ ई० में रखते हैं और उसे शाक संवत् का संस्थापक मानते हैं। स्वर्गीय डाक्टर फ्लीट एवं उनके अनुसरणपर कुछ अन्य विद्वान इस घटना को ५८ ई० पू० में रखते हैं और इस प्रकार उसे विक्रम संवत् का संस्थापक समझते हैं। कुछ अन्य विद्वान उसके राज्यकाल को दूसरी शताब्दी ई० में रखते हैं। ऐसे भी कुछ अन्य विद्वान हैं जो उसे तीसरी शताब्दी में खींच लाते हैं।

देखिये "जर्नल ऑफ रॉयल एशियाटिक सोसाइटी" १९०३ (पृ० १-६५), १९१३ (पृ० ६२७ से आगे; पृ० ९११ से आगे); इण्डियन एण्टिक्वेरी १९०८ (पृ० २५ से आगे); इस तथा इससे सम्बन्धित विषयों पर रॉयल एशियाटिक पत्रिका में १९०३ से १९१५ तक अनेक लेख प्रकाशित हुए हैं और कारपस इन्स-

इतना निश्चित है कि चारों राजाओं ने लगभग १०० वर्षों तक राज्य किया। इसके बाद कनिष्क का महान् साम्राज्य विलुप्त हो गया।

यह बात अब प्रायः सभी स्वीकार करते हैं कि कुषाण साम्राज्य का पतन उन सासानियों के आक्रमणों के फलस्वरूप हुआ जिन्होंने अरसेकी वंश को हरा कर तीसरी शताब्दी ई० के आरम्भ में फारस में एक शक्तिशाली राज्य की स्थापना की। सासानी राजा शापुर प्रथम (२४१-२७७ ई०) ने बल्ख और अफगानिस्तान में विस्तृत विजयें की थीं और कुषाणों को अधीनस्थ कर लिया था। इस विषय में नवीनतम मतों के अनुसार शापुर का आक्रमण जो २४१ और २५० ई० के बीच किसी समय हुआ माना जाता है, प्रायः वासुदेव के राज्य के अन्तिम काल से मेल खाता प्रतीत होता है। फलतः कनिष्क का राज्यारोहण, जो इस घटना से सौ वर्ष पूर्व हुआ था, १४२ ई० में ठहरता है।

सासानीय आक्रमण

कुषाणों की पराजय मात्र से भारत से कुषाण शक्ति का अन्त नहीं हो गया। इसके बाद भी इतिहास में परवर्त्ती कुषाण के नाम से प्रसिद्ध कुषाण शासक काबुल और पंजाब की घाटी के एक भाग में बहुत दिनों तक राज्य करते रहे। इनके नाम कनिष्क और वासुदेव हैं। उन्हें उन्हीं की जाति की एक दूसरी शाखा ने, जो किदार कुषाण कही जाती है, निकाल बाहर किया। किदार कुषाण इस क्षेत्र में चौथी शताब्दी ई० तक शासन करते रहे।

परिवार के अन्य शासक वंश

२.—पश्चिमी-क्षत्रप

पीछे मालवा और काठियावाड़ प्रायद्वीप में शासन करने वाले शक क्षत्रपों अथवा शासकों की चर्चा की जा चुकी है। इसके सम्बन्ध में हमारी जो जानकारी है, उसके अनुसार भूमक सर्वप्रथम क्षत्रप था। वह क्षहरात वंश का था और मालवा, गुजरात तथा काठियावाड़ प्रायद्वीप के विस्तृत प्रदेश एवं सम्भवतः राजपूताना और सिन्ध के कुछ भाग पर राज्य करता था। उसके सम्बन्ध में इससे अधिक कुछ भी ज्ञात नहीं है।

दूसरा क्षत्रप नहपान अधिक प्रसिद्ध है। उसने राजन् की उपाधि धारण की। उसकी ज्ञात तिथियां ११९-१२५ ई० के बीच तक ही हैं। उसके सिक्कों और लेखों

---

१. कार्पस इन्स्क्रिप्शनम् इण्डिकेरम् भाग २ की स्टेन् कोनो लिखित भूमिका तथा जर्नल ऑफ इण्डियन हिस्ट्री भाग १२ पृष्ठ १४६ में उनका लेख द्रष्टव्य है। इस विषय पर सबसे ताजा विचार जर्नल एशियाटिकके, भाग २३४, पृष्ठ ५९ पर प्रकाशित हुआ है।

है आवश्यकता है कि निस्सन्देह वह एक ऐसे विस्तृत क्षेत्र का स्वतंत्र शासक था जो उत्तर में अजमेर और दक्षिण में नासिक और पूना के जिलों तक फैला हुआ था। किन्तु उसकी शक्ति को सातवाहन राजा गौतमीपुत्र शातकर्णि ने कुचल डाला और क्षत्रपाधिकार एक नये वंश के हाथ में चला गया जो कार्दमक नाम से प्रसिद्ध है।

नहपान

कार्दमक वंश के संस्थापक चष्टन का उल्लेख तुरमय के भूगोल (१४० ई० में लिखित) में टियेस्टेन (Tiastenee) नाम से हुआ है। कहा गया है कि ऊजेन (oogene) (उज्जयिनी) उसकी राजधानी थी। जान पड़ता है कि सातवाहनों से उसने नर्मदा के उत्तर नहपान वाले कुछ प्रदेश जीत लिये थे। यह संघर्ष कुछ दिनों तक चलता रहा। चष्टन का उत्तराधिकारी और उसका पौत्र रुद्रदामन गौतमी पुत्र शातकर्णि द्वारा जीते गये समस्त प्रदेशों का स्वामी कहा गया है। रुद्रदामन का यह दावा है कि उसने दक्षिणापथ के स्वामी शातकर्णि को दो बार हराया किन्तु निकट (अनतिदूर) सम्बन्धी होने के कारण उसने उसका नाश नहीं किया। एक थोड़े से भग्न अभिलेख में एक महाक्षत्रप की पुत्री का उल्लेख वाशिष्ठीपुत्र शातकर्णि की पत्नी के रूप में हुआ है। इस महाक्षत्रप के नाम का पहला अक्षर "रु" ही केवल उस अभिलेख पर बच रहा है। इस आधार पर उचित ही अनुमान किया जाता है कि वह महाक्षत्रप रुद्रदामन के अतिरिक्त कोई अन्य न था और उसका दामाद पुलुमाई (अथवा कुछ लोगों के कथनानुसार उसका भाई) था। लोग रुद्रदामन द्वारा पराजित दक्षिणापथ के स्वामी को पुलुमाइ ही मानते हैं; किन्तु कुछ लोग उसकी पहचान उसके पिता गौतमीपुत्र से भी करते हैं।

रुद्रदामन

जो भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि शातवाहन मालवा, गुजरात और काठियावाड़ से निकाल बाहर किये गये थे। रुद्रदामन न केवल उन प्रदेशों पर ही राज्य करता था वरन् कच्छ, स्वभ्र (साबरमती घाटी), मरु (मारवाड़), सिन्धु और सौवीर (पूर्वी सिन्ध) भी उसके अधिकार में थे और उसने १५० ई० से पूर्व (यह तिथि जूनागढ़ अभिलेख की है जिससे ये सारी बातें ज्ञात होती हैं) यौधेयों को बुरी तरह पराजित किया था। इसी महत्वपूर्ण अभिलेख में रुद्रदामन के विविध गुणों की भी प्रशंसा की गई है। कहा गया है कि वह व्याकरण, राजनीति, संगीत और तर्कशास्त्र में निपुण था और संस्कृत के गद्यपद्य के रचयिता के रूप में उसकी ख्याति थी। इस लेखन के सम्बन्ध में चाहे जो कुछ भी हमारे विचार हों, तथ्य तो यह है ही कि १५० ई० में लिखा जाने वाला यह लम्बा अभिलेख एक दो छोटे

लेखों को छोड़ कर सैकड़ों ज्ञात अभिलेखों में संस्कृत भाषा में लिखित पहला राजकीय लेख है। इसके अनुसार रुद्रदामन ने स्वयम्वर में अनेक राजकुमारियों को प्राप्त किया था। जान पड़ता है कि हिन्दू समाज में मिलने के निमित्त कार्दमकों ने भारतीय राजपरिवारों से अन्तर्विवाह करने की नीति जान बूझ कर अपनायी थी।

रुद्रदामन के उत्तराधिकारी

रुद्रदामन के बाद उसका बेटा दामजदश्री गद्दी पर बैठा। उसने अपने पिता के शासन काल में ही शासन प्रबन्ध में हाथ बटाया था। यह परम्परा सी जान पड़ती है कि राजा, जो महा क्षत्रप की उपाधि धारण करता था, अपने बेटे अथवा भाई को क्षत्रप उपाधि से युक्त कर संयुक्त शासक नियुक्त करता था, जिसे सिक्के जारी करने का भी अधिकार होता था। वस्तुतः इन महाक्षत्रपों और क्षत्रपों द्वारा चलाये गये तिथियुक्त सिक्कों से ही पश्चिमी क्षत्रपों की तीन शताब्दियों तक की अटूट वंशावली निर्धारित की जा सकती है। उसमें यदा कदा ही कोई छूट है।

गृह-कलह और पतन

दामजदश्री की मृत्यु के पश्चात् दूसरी शताब्दी के अन्त में उसके बेटे और भाई में एक विनाशकारी गृहयुद्ध आरम्भ हो गया, जिससे इस वंश की शक्ति और प्रतिष्ठा को काफी धक्का लगा। सातवाहन राजा ने उनके राज्य का कुछ अंश जीत लिया और एक अन्य नये शासक ने, जिसका नाम ईश्वरदत्त था और जो आभीर समझा जाता है, अपने नाम के सिक्के चलाये और महाक्षत्रप की उपाधि धारण की। यद्यपि शीघ्र ही शान्ति पुनः स्थापित हो गयी और कुछ काल तक उस परिवार के लोग सुखपूर्वक राज्य करते रहे, तृतीय शताब्दी के द्वितीय चरण में पुनः कठिनाइयाँ उठ खड़ी हुईं। भीतरी कलह पुनः शुरू हो गये तथा उत्तर में मालवों ने और दक्षिण में आभीरों ने पश्चिमी क्षत्रपों की शक्ति को चुनौती दी। मालवों ने उनके राज्य के उत्तरी क्षेत्र के एक भाग को जीत लिया और आभीरों ने सात वाहन राज्य के खण्डहर पर उत्तरी महाराष्ट्र में एक नया शक्तिशाली राज्य स्थापित किया। समझा जाता है कि २४८–९ ई० में आरम्भ होनेवाला संवत्, जो पीछे कलचुरि संवत् के नाम से प्रसिद्ध हुआ, आभीरों ने ही सम्भवतः इस घटना की स्मृति में चलाया था। संभवतः मालवा भी क्षत्रपों के हाथ से निकल गया था क्योंकि श्रीधरवर्मन् नामक एक शक शासक को हम वहाँ स्वतन्त्र राजा के रूप में राज्य करते पाते हैं।

महा क्षत्रप भर्तृदामन, जिसकी ज्ञात तिथि २८९ और २९६ के बीच है, चष्टन वंश का, महा क्षत्रप की उपाधि धारण करनेवाला, अन्तिम व्यक्ति था। उसका बेटा विश्वसेन ३०५ ई० तक क्षत्रप के रूप

वंश-परिवर्तन

में राज्य करता रहा। उसने महा क्षत्रप की उपाधि धारण नहीं की। उसके बाद भी हम ३४८-४९ तक इस उपाधि को धारण करते किसी को नहीं पाते। विश्वसेन को रुद्रसिंह द्वितीय ने निकाल बाहर किया। दोनों के बीच पारस्परिक सम्बन्ध क्या था, यह ज्ञात नहीं है। राज्य के उत्तराधिकार में परिवर्तन और महाक्षत्रप उपाधि का स्थगन एक उपद्रव-ग्रस्त काल का द्योतक समझा जाता है। कहा जाता है कि उनके राज्य को सासानियों ने जीत लिया था और अपने करद के रूप में किसी नये राजा को नियुक्त किया था। किन्तु सासानियों के राजनीतिक प्रभाव के इतनी दूर तक फैलने का कोई निश्चित प्रमाण नहीं है। इस राज्य का परवर्ती इतिहास गुप्त साम्राज्य के इतिहास के साथ तृतीय खण्ड में लिखा जायेगा।

३. उत्तरी भारत के देशी राज्य

इसमें सन्देह नहीं है कि निरन्तर विदेशी आक्रमणों और कुषाण साम्राज्य की स्थापना के बावजूद उत्तरी भारत में पहले मगध साम्राज्य के ह्रास और दूसरे के उत्थान के बीच की इन चार शताब्दियों (१०० ई० पू० से ३०० ई० तक) के दीर्घकाल में उत्तरी भारत में अनेक देशी राज्य जीवित थे। यद्यपि इन राज्यों का अस्तित्व अनेक सिक्कों और कुछ अभिलेखों से ज्ञात तो होता है, अभी उनका विस्तृत इतिहास उपस्थित कर सकना सम्भव नहीं है। उनमें अनेक छोटे-छोटे राजतन्त्रीय और जनतंत्रीय राज्य थे, जिनमें से अनेक को कुछ काल के लिए विदेशी आक्रामकों—विशेषतः कुषाणों की आधीनता भी स्वीकार करनी पड़ी थी किन्तु विदेशी शक्तियों के ह्रास के साथ ही उनमें से कुछ फिर शक्तिशाली हो उठे और चौथी शताब्दी में गुप्त साम्राज्य के उत्थान से पूर्व उनको कोई नष्ट न कर सका।

रुहेलखण्ड में अहिच्छत्र एवं उसके निकट उत्तरी भारत के एक व्यापक क्षेत्र में मित्र नामान्त बहुसंख्यक राजाओं के सिक्के पाये जाते हैं। सम्भवतः इनमें से कुछ राजे पुराणों में उल्लिखित शुंग और काण्व

अहिच्छत्र

वंश के ही थे और अन्य सम्भवतः काण्वों के विनाश के पश्चात् राज्य करते थे। इससे ऐसा जान पड़ता है कि काण्व वंश के ह्रास काल तक ही नहीं वरन् उनके बाद भी थोड़े समय तक साम्राज्य का कुछ रूप बचा था।

अहिच्छत्र (बरेली जिले में आधुनिक रामनगर) के खण्डहरों में अधिक संख्या में मिलने वाले इन सिक्कों से ज्ञात पड़ता है कि पुरातन काल में प्रसिद्ध उत्तर पांचाल की यह राजधानी इस काल में भी अपना राजनीतिक महत्त्व रखती थी। यदि इनमें से कुछ राजाओं के शुंग और काण्व वंश के होने की बात न मानी जा सके तो हम उन्हें, जिनको संख्या लगभग बीस के है, अहिच्छत्र का शासक कह सकते हैं। उन्होंने समय २ पर दूर दूर के प्रदेशों में भी अपना प्रभुत्व स्थापित किया। वे सम्भवतः ५० ई० पू० से २५० ई० तक राज्य करते रहे।

अभिलेखों से ज्ञात होता है कि अहिच्छत्र और कौशाम्बी के शासकों में कभी कभी परस्पर वैवाहिक-सम्बन्धजन्य सन्धि की अवस्था भी थी। कौशाम्बी के अनेक शासकों के नाम सिक्कों और अभिलेखों से ज्ञात होते हैं। आरम्भिक राजवंश को सम्भवतः कुषाणों ने निकाल बाहर किया किन्तु कुछ दिनों पश्चात् एक दूसरा राजवंश उठ खड़ा हुआ जिसके राजाओं के नाम के अन्त में 'मघ' शब्द लगा होता था। यह सुझाया जाता है कि वे पुराणों में उल्लिखित मेघ वंश के थे। उनका ज्ञान सिक्कों और मुहरों (जो इलाहाबाद के निकट भीटा से मिली हैं) तथा कोसम (कौशाम्बी) और बन्धोगढ़ (भूतपूर्व रीवाँ राज्य) से मिले अनेक अभिलेखों से होता है। इनमें से अनेक में तो तिथियाँ है जो प्रायः शक सम्वत् में अंकित की गई हैं। इस प्रकार इन राजाओं की तिथियाँ दूसरी और तीसरी शताब्दियों में ठहरती हैं।

कौशाम्बी

एक तीसरे राज्य के राजाओं के नाम भी, जिसकी राजधानी अयोध्या थी, हमें ज्ञात हुए हैं। उनमें से एक-धन देव-का उल्लेख एक लेख में द्विअश्वमेधयाजी सेनापति पुष्यमित्र के छठें वंशज के रूप में हुआ है। यह पुष्यमित्र निस्संदेह शुंगवंश का संस्थापक था और धनदेवने सम्भवतः उससे अपना सम्बन्ध दामाद के रूप में अथवा किसी स्त्री-सम्बन्ध के कारण जोड़ा है। धनदेव पहली शताब्दी ई० पू० के अन्त में हुआ और अन्य राजे, जो सम्भवतः उसके उत्तराधिकारी थे, उसके बाद दो शताब्दियों तक राज्य करते रहे। बिल्कुल भिन्न ढंग के सिक्के चलाने वाला एक अन्य राजवंश, सम्भवतः तीसरी शताब्दी में, यहाँ राज्य करता था। इस प्रकार प्राचीन काल के तीन महत्त्वपूर्ण राज्यों—पांचाल, कोशल और वत्स से मिलते हुए राज्य इस काल में भी थे किन्तु उनके संबंध में राजाओं के नाम के अतिरिक्त और कुछ भी ज्ञात नहीं है।

अयोध्या

ईसा की आरम्भिक शताब्दियों में नाग वंश के राजाओं द्वारा शासित तीन अथवा चार राज्य थे। पुराणों में उनकी राजधानियाँ विदिशा (भिलसा), कान्तिपुरी, मथुरा और पद्मावती (भूतपूर्व ग्वालियर राज्य में नरवर के निकट पदमपवाया) उनको शक्ति-केन्द्र के रूप में बतायी गयी हैं। साधारणतः समझा जाता है कि नाग लोग अनार्य थे। वे या तो नागों की पूजा करते थे अथवा नाग उनका लक्षण था। किन्तु ये राजवंशीय नाग इस प्रकार की किसी रक्त सम्बन्धी अथवा किसी अन्य विशेषता से युक्त थे इसमें सन्देह किया जा सकता है। अनेक नागनामान्त राजा सिक्कों, अभिलेखों और साहित्यिक अनुश्रुतियों से ज्ञात होते हैं। सम्भवतः उनका इन्हीं नाग वंशों में किसी न किसी से सम्बन्ध था। यह भी सम्भव है कि दत्त अथवा मित्र नामान्त वाले कुछ राजे, जो मथुरा में मिले सिक्कों से ज्ञात होते हैं, नाग परिवार के ही रहे हों। पुराणों के अनुसार मथुरा में सात नाग राजाओं ने राज्य किया। उन्हीं के अनुसार पद्मावती में नव नाग राजा हुए। उनमें से एक—भव नाग—का नाम उस क्षेत्र में मिले सिक्कों से ज्ञात होता है।

नाग

सम्भवतः यह भवनाग भारशिव वंश का महाराज भवनाग ही है, जिसका उल्लेख वाकाटक वंश के अभिलेखों में रुद्रसेन प्रथम के नाना के रूप में हुआ है। इन लेखों से ज्ञात होता है कि उसके वंश का भारशिव नाम इस लिए पड़ा था कि उन्होंने अपने कन्धों पर शिवलिंग वहन किया था। यह भी कहा गया है कि उन्होंने भागीरथी (गंगा) के पवित्र जल से, जिसे उन्होंने अपनी शक्ति से प्राप्त किया था, अवभृथ स्नान किया और दश अश्वमेध किये। कुछ आधुनिक लेखकों का मत है कि बनारस के दशाश्वमेध घाट का नाम इसी घटना के कारण पड़ा। उन लोगों का यह भी मत है कि भारशिवों ने ही कुषाणों को भारत से निकाल बाहर किया। यद्यपि इनमें से कोई भी सिद्धान्त न तो सही जान पड़ता है और न उसे विशेष मान्यता ही प्राप्त है, इसमें सन्देह नहीं कि भारशिवों का तीसरी और चौथी शताब्दी में एक शक्तिशाली राजवंश था। जैसा ऊपर सुझाया गया है, वे सम्भवतः पद्मावती के नाग वंश के थे और उनका अधिकार काफी दूर तक, कम से कम गंगा के किनारे तक, फैला हुआ था।

भारशिव

इन राज्यों के अतिरिक्त उत्तरी भारत में—विशेषतः राजपूताना और पूर्वी पंजाब में—अनेक गणतन्त्र अथवा उच्चकुलतन्त्रीय राज्य थे। उनका परिचय अधि-

कांशतः उनके सिक्कों से ही मिलता है जो किसी शासक विशेष के नाम से प्रचलित न होकर गणसमूह के नाम पर जारी किये गये थे। इनमें से कई गण-राज्य अभिलेखों से भी ज्ञात होते हैं। इनमें मुख्य मालव और यौधेय थे।

मालव लोग अत्यन्त प्राचीन हैं और उनका उल्लेख पाणिनि के व्याकरण में क्षुद्रक लोगों के साथ आयुधजीविन् (जो शस्त्र धारण करके अपनी जीविका चलाते हैं) के रूप में हुआ है। ऊपर कहा जा चुका है कि इन दोनों जातियों ने सिकन्दर के विरुद्ध एक संयोगसंघ स्थापित किया था। उन दिनों मालव लोग पञ्जाब में रावी और चिनाब के संगम के उत्तर और क्षुद्रक उनके पड़ोस में माण्टगुमरी जिले में रहते थे। इनकी संयुक्त सेना में ९०,००० पदाति १०,००० घुड़सवार और ९०० रथ थे।

मालव

उसके तीन शताब्दियों पश्चात् तक मालवों की कोई चर्चा सुनाई नहीं पड़ती, किन्तु ईसवी शताब्दी के आरम्भ में हम एक मालव गण के सिक्के प्रचलित पाते हैं जो हजारों की संख्या में जयपुर राज्य के उनियारा ठिकाना के नगर अथवा कर्कोटनगर नामक स्थान में पाये गये हैं। निस्संदेह यह स्थान इस जनतन्त्रीय राज्य की राजधानी प्राचीन मालव नगर है। मालव लोग शक और अन्य विदेशियों से दूसरी शताब्दी ई० के आरम्भ में सफलता पूर्वक लड़े और २२६ ई० के एक अभिलेख मे ज्ञात होता है कि एक मालव नेता की अद्भुत सफलताओं के कारण (जिसका नाम दुर्भाग्यवश लेख से नहीं ज्ञात होता) देश में शान्ति और समृद्धि की स्थापना हुई। शक क्षत्रपों के विरुद्ध उनकी बहुत पुरानी लड़ाई थी और संभवतः यह मालवो की सफलता को प्रकट करती है। यह भी बहुत संभव है कि शक क्षत्रपों के विरुद्ध अपनी लड़ाई के दौरान में मालव लोग धीरे २ दक्षिण और पश्चिम की ओर बढ़ते गये और उस प्रदेश में जा बसे जो अब भी उनके नाम पर मालवा कहा जाता है। इस नाम से संभवतः वह छठीं शताब्दी ई० से पहले भी पुकारा जाता था।

५८ ई० पू० मे आरम्भ होने वाला संवत्, जो पीछे विक्रम संवत् के नाम से प्रसिद्ध हुआ, बहुत दिनों तक मालव गण के साथ संबद्ध था और ५वीं शताब्दी में मालव संवत् के नाम से प्रख्यात था। इसके पूर्व वह कृत संवत् कहा जाता था। इस नाम की कोई संतोष जनक व्याख्या अभी तक नहीं की जा सकी है किन्तु जैसा कि कुछ विद्वान् समझते हैं, यदि इस संवत् की स्थापना मालवों ने की थी तो हम कृत को उस नेता का नाम मान सकते हैं जिसने संभवतः उन्हें विदेशी दासता से मुक्त किया, और उस घटना की स्मृति में यह संवत् चलाया

गया तथा उसके नाम पर उसका प्रथम नामकरण हुआ। किन्तु कुछ लोगों का मत है कि इस संवत् की स्थापना पार्थव शासक अय (Azes) ने की थी और पीछे चलकर उसे मालवों ने अपनाकर लोकप्रिय बनाया। कभी बाद में उसके साथ विक्रमादित्य का नाम जुट गया। यह कहना कठिन है कि यह नाम अथवा उपाधि किसी ऐसे ऐतिहासिक व्यक्ति की है, जो ५८ ई० पू० में हुआ अथवा वह पाँच शताब्दी पश्चात् होनेवाले किसी गुप्त सम्राट (यथा चन्द्रगुप्त) का है, जिसके साथ किसी अज्ञात कारण से इस संवत् का संबंध जुट गया। यद्यपि ५८ ई० पू० में आरम्भ होनेवाले संवत् की उत्पत्ति अन्धकार में है तथापि मालवों के साथ उसके दीर्घ कालीन और निकट संबंध में कोई संदेह नहीं जान पड़ा।

यौधेय

यौधेय लोगों की भी काफ़ी प्राचीन जाति थी और पाणिनि ने उनकी भी गणना आयुधजीवी संघों में की है। यौधेयों की मिट्टी की मुहरों और सिक्कों से ज्ञात होता है कि उनकी मुख्य बस्तियों के पूर्वी पञ्जाब में होते हुए भी उनका राजनीतिक अधिकार उत्तर प्रदेश और राजपूताना में पड़नेवाले पार्श्ववर्त्ती जिलों के विस्तृत क्षेत्रों तक फैला हुआ था। भरतपुर राज्य के विजयगढ़ नामक स्थान से एक अभिलेख मिला है जिसमें इस जनतन्त्र के एक सेनापति के निर्वाचन का उल्लेख है। यह भी बहुत संभव है कि प्राचीन यौधेयों के प्रतिनिधि बहावलपुर राज्य की सीमा पर स्थित जोहियावार के जोहिया राजपूत हों।

मालवों तथा अन्य जनतन्त्रीय जातियों की भाँति यौधेयों को भी विदेशी आक्रामकों के सम्मुख झुकना पड़ा था, किन्तु जब कभी भी उपयुक्त अवसर आया, उन्होंने उनके प्रभुत्व को चुनौती दी। शक क्षत्रप रुद्रदामन (‧ १५० ई०) से वे लड़े थे और संभवत: कुषाण शक्ति के ह्रास के पश्चात् वे बहुत अधिक शक्तिशाली हो गये।

४. कलिंग

मगध साम्राज्य के खण्डहरों से उठने वाले शक्तिशाली राज्यों में कलिङ्ग भी था। भुवनेश्वर के निकट उदयगिरि की पहाड़ी में हाथी-गुम्फा नामक गुफा में एक बड़ा अभिलेख मिला है जिसमें खारवेल नामक राजा का जीवन चरित विस्तार के साथ लिखा हुआ है। भारतीय इतिहास में यह एक अनोखी बात है। चट्टान की टूटी-फूटी अवस्था के कारण इस अभिलेख का पूरा भाव तो नहीं समझा जा सका है, तथापि जो कुछ भी अवशिष्ट अंश है उससे यह स्पष्ट जान पड़ता है कि खारवेल ने कलिङ्ग को एक साम्राज्य की शक्ति प्रदान की थी, जिसने

उत्तर-भारत के इतिहास में महत्त्वपूर्ण भाग लिया था। खारवेल कलिङ्ग के चेदि राजवंश को तीसरी पीढ़ी में था। बचपन में एक राजकुमार की भाँति उसे लेखन, गणित, शासन और न्याय व्यवस्था की पूर्ण शिक्षा मिली थी। सोलह वर्ष की अवस्था में वह युवराज पद पर नियुक्त किया गया और शासन प्रबन्ध देखने लगा। आठ वर्ष पश्चात् उसका राज्याभिषेक हुआ और उसने दिग्विजय आरम्भ की। अपने राज्यकाल के दूसरे वर्ष में उसकी सेना कृष्णवेण अर्थात् दक्षिण में कृष्णा नदी तक पहुँच गयी। चौथे वर्ष में उसने राष्ट्रिक और भोजकों को परास्त किया, जो सम्भवतः बरार में रहते थे। सात वर्ष पश्चात् उसने मसुली (मछली) पट्टम् के आस-पास का प्रदेश जीत लिया। दक्षिण में विस्तृत विजय करते हुए भी उसने उस प्रदेश के शक्ति-शाली आन्ध्रों के साथ मैत्री कायम रखी। उनसे अपनी शक्ति की आजमाईश किये बिना ही खारवेल ने उत्तर की ओर आँख फेरी। आठवें वर्ष में उसने गोरथगिरि (गया के निकट बराबर की पहाड़ी में स्थित एक दुर्ग) को नष्ट किया और राज्यगृह नगर पर आक्रमण किया। दूसरे वर्ष उसने मगध के शासक बहसतिमित्र को, जो सम्भवतः उपरुल्लिखित मित्र शासकों में कोई था, हराया और अङ्ग को जीता। उसने उत्तरापथ के अन्य शासकों को धमकाया और एक यवन शासक को इतना आतङ्कित कर दिया कि वह मथुरा भाग गया। इस शासक का नाम संदिग्ध रूप से दिमित पढ़ा गया है और उसकी पहचान भारत के यवन शासक दिमित्र (Demetrius) से की गयी है, किन्तु यह अत्यन्त संदिग्ध है। मगध की विजय के पश्चात् खारवेल सुदूर दक्षिण की ओर बढ़ा और पांड्य-राज को पराजित किया।

खारवेल कोरा विजेता ही न था। वह सुशासक और शान्ति कालीन कलाओं में भी दक्ष था। वह स्वयं एक अच्छा संगीतज्ञ था और नृत्य-समाजों जैसे मनोरंजक आयोजनों द्वारा लोकरंजन किया करता था। उसने सिंचाई एवं अन्य जनोपयोगी कार्यों पर बहुत धन व्यय किया। वह एक बहुत बड़ा निर्माता भी था तथा उसने राजधानी को उपवनों, तोरणों और भवनों से सुसज्जित किया। नगर के बीच उसका विशाल महाविजय-प्रासाद था। वह कट्टर जैन था। मगध और अंग से लूट के रूप में वह उन जैन मूर्तियों को ले गया जिन्हें कलिंग से कोई नन्दराज उठा ले आया था। खारवेल ने कुमारी पर्वत (खण्डगिरि) में अनेक गुफाएं बनवायीं और सम्भवतः उसके आसपास ही एक विहार भी बनवाया था।

किसी राज्य-प्रशस्ति के स्वाभाविक अतिरंजनों को ध्यान में रखते हुए भी यह कहना होगा कि खारवेल भारत के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति था। उसकी विजय यात्राओं से ज्ञात पड़ता है कि देश में राजनीतिक अव्यवस्था व्याप्त

थी, जिसका होना मगध साम्राज्य के पतन के पश्चात् स्वाभाविक ही था। खेद है कि हम यह न जान सके हैं कि उसके निधन के पश्चात् उसके साम्राज्य का क्या हुआ। कलिंग का इतिहास पुनः अंधकार ग्रस्त हो गया और खारवेल का उज्ज्वल व्यक्तित्व एक उल्का की भाँति चमका और बिना किसी प्रकार का चिन्ह छोड़े लुप्त हो गया।

खारवेल की तिथि निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है। अपने लेख में उसने एक नहर की मरम्मत और विस्तार की चर्चा की है जिसे तीन शताब्दियों पूर्व किसी नन्दराज ने खुदवाया था। यह नन्दराज सम्भवतः महापद्मनन्द था जिसने ३५० ई० पू० के आसपास एक शक्तिशाली साम्राज्य की स्थापना की थी और कदाचित् कलिंग पर भी विजय प्राप्त की थी। ऐसी दशा में खारवेल की तिथि प्रथम शताब्दी ई० पू० में होगी किन्तु कुछ विद्वान् उसे दूसरी शताब्दी ई० पू० के पूर्वार्ध में मानते हैं।

५. आन्ध्र

जिन दिनों यवन, पार्थव, शक और कुषाण भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा को ध्वस्त कर रहे थे, दक्षिण में आन्ध्रों ने एक शक्तिशाली राज्य की स्थापना की। आन्ध्र लोग चिरकाल से ज्ञात हैं। उनका उल्लेख ऐतरेय ब्राह्मण के एक आख्यान में हुआ है। उससे ज्ञात होता है कि वे लोग आर्य बस्तियों की सीमा पर रहते थे और उनमें आर्यों और अनार्यों का संकर रक्त था। इस उल्लेख की तिथि लगभग ८०० ई० पू० निर्धारित की जा सकती है। ५०० वर्ष पश्चात् इनकी चर्चा हम ऐसी शक्तिशाली जाति के रूप में पाते हैं, जिसके पास असंख्य गांव और बुर्जों तथा प्राकारों से सुरक्षित तीस नगर थे। इनके पास १,००,००० पदाति १००० हाथी और २,००० घुड़सवार थे।[१] इसके थोड़े ही दिनों पश्चात् उन्हें मौर्यों की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। किन्तु जान पड़ता है कि आन्तरिक मामलों में उन्हें काफी स्वतन्त्रता प्राप्त थी। उनके इतिहास का तो निश्चित पता नहीं है, किन्तु यह अत्यन्त सम्भव है कि अशोक के निधन के पश्चात् वे मौर्य वंश की अधीनता से मुक्त होकर स्वतन्त्र हो गये; और जैसा कि कहा जा चुका है, उसके पतन के कारण बने। यह कार्य करनेवाला सातवाहन वंश का शासक सिमुक था। सातवाहन शब्द अपने अपभ्रंश स्वरूप, शालिवाहन, के रूप में सारे भारतवर्ष के घर २ में चलता है; किन्तु लोक कल्पना ने किसी भूलभुलैया में पड़कर उसे एक राजा का व्यक्तिगत नाम मान लिया है। वस्तुतः

विकास और आरम्भिक इतिहास

---

१. यह बात प्लिनी ने लिखी है। इसकी सूचना सम्भवतः उसे मेगस्थनीज से मिली होगी।

शालिवाहन अथवा सातवाहन सिमुक द्वारा स्थापित राज्यवंश का नाम था। सिमुक और उसके दो उत्तराधिकारियों ने अपने राज्य का विस्तार कृष्णानदी के मुहाने से सारे दक्षिणी पठार तक किया। गोदावरी के किनारे स्थित प्रतिष्ठान, (आधुनिक पैठन) उनकी पश्चिमी राजधानी और बेजवाड़ा के निकट कृष्णा के किनारे पर स्थित धान्यकटक उनकी पूर्वी राजधानी थी। लगभग २०० वर्षों तक इस वंश की शक्ति विन्ध्य के दक्षिण के प्रदेशों तक ही सीमित थी; किन्तु पुराणों के अनुसार सातवाहनों ने अन्तिम काण्व शासक को मार डाला और स्वयं ई० पू० की अन्तिम शताब्दी में मगध के शासक बन बैठे।

प्रथम शासक सिमुक की तिथि

पुराण इसका श्रेय सिमुक को देते हैं। तदनुसार कुछ विद्वान् उसके अस्तित्व तथा सातवाहन वंश की स्थापना की तिथि २७ ई० पू० अथवा उसके थोड़ा पूर्व मानते हैं। किन्तु यह बात उन्हीं पुराणों के उस दूसरे कथन से मेल नहीं खाती कि सातवाहन ४५६ वर्षों तक राज्य करते रहे, क्योंकि इस कथन के अनुसार सातवाहन शासन का अन्त ५ वीं शताब्दी में ठहरेगा जब दक्षिण में वाकाटकों का शासन था। सच तो यह है कि सातवाहन शासन का अन्त ३री शताब्दी ई० के मध्य में निश्चित रूप से हो गया था। अस्तु, यदि पुराणों के इस कथन को हम स्वीकार करें कि सातवाहन शासक सिमुक ने काण्व वंश का अन्त किया तो उनके सम्पूर्ण शासन काल की अवधि केवल ३०० वर्ष माननी पड़ेगी जिसके लिये वायुपुराण के अनुसार कुछ आधार भी है। इस प्रकार सिमुक की तिथि के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। कुछ लोग उसे २२० ई० पू० में मानते हैं और कहते हैं कि आन्ध्रों ने अशोक के निधन के पश्चात् ही अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी। किन्तु अन्य लोग सिमुक को ई० पू० की अन्तिम शताब्दी के अन्त में मानते हैं और कहते हैं कि उसने ही काण्व लोगों के प्रभुत्व का अन्त किया। किन्तु दोनों ही इस बात में सहमत हैं कि इस वंश का अन्त तीसरी शताब्दी के मध्य में हुआ।[1]

---

१. इस विषय की अधिक जानकारी के लिए देखिये—

सर रा० गो० भण्डारकर— अर्ली हिस्ट्री आफ दी डेकेन (तीसरा संस्करण)

डा० दे० रा० भण्डारकर—डेकेन आफ दि सातवाहन पीरियड (इण्डियन एण्टीक्वेरी १६१८, १६२०)

रैप्सन—कैटेलाग ऑफ् दी क्वायन्स आफ दि आन्ध्र डायनेस्टी (भूमिका)

वि० स्मिथ—आन्ध्र हिस्ट्री (Z. D. M. G. १६०४) सर आशुतोष मेमोरियल वाल्यूम, जे. एन समद्दर द्वारा प्रकाशित (१६२६–१६२८) भाग दो पृष्ठ २०७।

जो भी हो, इतना तो निश्चित है कि ई० पू० की पहली शताब्दी में एक विस्तृत आन्ध्र साम्राज्य था, जिसके प्रभाव में न केवल समस्त दक्षिणापथ और दक्षिणी भारतीय प्रायद्वीप ही था वरन् मगध और मध्य भारत (मालवा सहित) भी था। इस राजवंशके १०० वर्ष से अधिक समय तो शान्ति और समृद्धि के साथ बीते; किन्तु उसके बाद उसे विदेशी आक्रामकों के उत्तरी-पश्चिमी भारत को थर्रा देने वाले भयंकर धक्के सहने पड़े। आन्ध्र साम्राट को यवन, शक और पार्थव लोगों से लड़ना पड़ा था। किन्तु उनके इस युद्ध का विस्तृत विवरण प्राप्य नहीं है। पहली शताब्दी ई० के अन्त में मालवा और काठियावाड़ प्रायद्वीप के पश्चिमी क्षत्रप के नाम से पुकारे जाने वाले शक शासकों ने, जिनके इतिहास का उल्लेख ऊपर हो चुका है, आन्ध्रों से मालवा का प्रदेश छीन लिया, दक्षिणापथ के उत्तरी-पश्चिमी भाग पर कब्जा कर लिया और नासिक के महत्त्वपूर्ण नगर पर अधिकार कर लिया। यह न केवल आन्ध्र राज्य वरन् समस्त दक्षिणी भारत के लिए घोर संकट का समय था। स्थिति ऐसी आ गई थी कि लगता था सारा देश बर्बर आक्रमणों के बीच डूब जायेगा। सौभाग्य से सातवाहन वंश में गौतमीपुत्र शातकर्णि के रूप में एक महान् वीर पैदा हुआ। उसने १०६ ई० में गद्दी धारण की और मालवा और काठियावाड़ प्रायद्वीप के शक शासकों को बुरी तरह पराजित किया। इस प्रकार उसने न केवल दक्षिण स्थित अपने पैत्रिक प्रदेशों को ही पुनः प्राप्त किया वरन् गुजरात और राजपूताना के एक बड़े भूभाग को भी अधिकार में कर लिया।

विदेशी आक्रामकों से संघर्ष

गौतमी पुत्र शातकर्णि

इसके महान् कार्यों का उल्लेख विस्तार के साथ उसकी माँ रानी गौतमी बालश्री के एक लेख में पाया गया है। उसने अपने बेटे को "एक ब्राह्मण" कहा है और लिखा है कि उसने क्षहरात वंश को उखाड़ फेंका तथा शक, यवन और पल्लवों को निकाल बाहर किया। उसे अपरान्त (उत्तरी कोंकण), सुराष्ट्र (काठियावाड़), आकरावन्ति (पूर्वी और पश्चिमी मालवा), अनूप और मुकुट (आकरावन्ति के निकट का प्रदेश) सहित अनेक प्रदेशों का स्वामी कहा गया है। उसने क्षहरात शासक नहपान को पूर्णतः पराजित किया, उसे महाराष्ट्र से एकदम निकाल बाहर किया और तत्काल प्रचलन के लिए उसके सिक्कों पर अपना ठप्पा लगाया।

२५ वर्षोंतक शान के साथ शासन करने के बाद गौतमीपुत्र की मृत्यु हुई और उसका बेटा पुलुमायि उत्तराधिकारी हुआ। उसी समय मालवा और काठिया-

बाद प्रायद्वीप के दो एक राज्य रुद्रदामन के नेतृत्व में एक हो गये। दोनों शासकों-पुलुमायि और रुद्रदामन—में बहुत दिनों तक युद्ध चलता रहा। जान पड़ता है, रुद्रदामन आन्ध्रों को दक्षिणापथ की ओर खदेड़ने में सफल रहा और वह अपने मालवा, गुजरात तथा राजपूताना के विस्तृत राज्य पर निष्कंटक राज्य करने लगा। दोनों विरोधी वंशों ने परस्पर वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया। पुलुमायि (अथवा उसके भाई) का विवाह रुद्रदामन की पुत्री के साथ हुआ किन्तु दोनों के वैमनस्य में अन्तर न आया और उनमें परस्पर युद्ध चलता रहा।

बाद के एक सातवाहन शासक यज्ञ शातकर्णि ने शायद पश्चिमी क्षत्रपों के राज्य के दक्षिणी भाग को जीत लिया। उसके सिक्कों पर पोत बने हुए हैं, जो सम्भवतः आन्ध्रों की जल-शक्ति के द्योतक हैं। वह न केवल अपरान्त और सम्पूर्ण दक्षिण का शासक था वरन् मध्य भारत का पूर्वी भाग भी उसके अधिकार में था। वह सातवाहन वंश का अन्तिम महान् शासक था। उसकी मृत्यु के तुरत पश्चात् विस्तृत आन्ध्र साम्राज्य कई भागों में बंट गया, जिनपर सम्भवतः उसी वंश के सदस्यों का अधिकार था। यज्ञ शातकर्णि के मुख्य वंश में चार या पाँच उत्तराधिकारी हुए, जो लगभग तीसरी शताब्दी ई० के मध्य तक राज्य करते रहे।

एक पौराणिक कथन के अनुसार इस वंश में तीस राजे हुए, जो ४५० वर्ष तक शासन करते रहे। भारतीय इतिहास में इतना लम्बा राज्यकाल असाधारण है। किन्तु एक अन्य पौराणिक ख्याति के अनुसार इस वंश में केवल १९ राजे हुए जिन्होंने ३०० वर्षों तक राज्य किया।

केन्द्रिय प्रभुता के ह्रास के पश्चात् विभिन्न भागों में राज्य करनेवाली आंध्र वंश की विभिन्न शाखाओं को नई शक्तियों ने अपदस्थ कर दिया। ये शक्तियां संभवतः पहले उन्हीं की करद थीं। ऊपर कहा जा चुका है, आभीरों ने उत्तर-पश्चिम दक्षिणापथ में अपना एक राज्य स्थापित किया, जिसके अन्तर्गत सम्भवतः उत्तरी कोंकण और दक्षिणी गुजरात सम्मिलित थे। इक्ष्वाकुओं ने कृष्णा और गोदावरी के मुहानों के बीच वाले मुख्य आन्ध्र देश पर अधिकार कर लिया।

बोधि और चुटु लोगों ने क्रमशः उत्तरीपश्चिमी और दक्षिण या पश्चिमी दक्षिणापथ; वृहत्फलायनों ने पल्लीपट्टम प्रदेशों में तथा पल्लवों ने कांची (मद्रास का आधुनिक कांजीवरम्) के आसपासवाले दक्षिणी प्रायद्वीप पर अधिकार कर लिया। आन्ध्र राज्य के ह्रास के पश्चात् सामने आनेवाले इन तथा अन्य राज्यों में वाकाटक राज्य मुख्य और सर्वशक्तिमान् था। तीसरी शताब्दी के अन्त से छठीं शताब्दी के मध्य तक दक्षिणापथ में उसकी प्रधानता थी।

६. दक्षिण भारत

दक्षिण भारत से तात्पर्य भारत के उस विशेष भाग से है जो कृष्णा और तुंग-भद्रा के दक्षिण पड़ता है। उपलब्ध इतिहास के अनुसार आरम्भ से ही इस भूभाग पर तीन प्रमुख राज्य पल्लवित हुए। पांड्य राज्य, जो सम्भवतः महाभारत के पांडु के नाम पर है, एक तट से दूसरे तट तक दक्षिणतम प्रदेश में था। उसकी उत्तरी सीमा पुदुकोटई जिले में वालरू नदी थी। उसके उत्तर-पूरब और उत्तर-पश्चिम में क्रमशः चोल और चेर राज्य पड़ते थे। चोलों के अन्तर्गत कावेरी का काठा और इसके आस-पास के प्रदेश थे। कभी २ उसके अन्तर्गत काँची के आस पास का प्रदेश तुंडई भी सम्मिलित रहता था। किन्तु वह प्रायः एक स्वतन्त्र राज्य ही था। चेर राज्य पश्चिमी तट पर सम्भवतः कोंकण तक फैला हुआ था। उसकी राजधानी वंजी की स्थिति के सम्बन्ध में विद्वानों में घोर मतभेद है। बहुत लोग तो उसे कोचीन स्थित तिरुवंजईकलम ही मानते हैं किन्तु कुछ आधुनिक विद्वान उसे करूर से मिलाते हैं। मैसूर का पठार और इन तीन राज्यों से बाहर के भूभाग में अनेक ऐसे छोटे २ राज्य थे जो इनमें से किसी न किसी की अधिसत्ता स्वीकार करते थे। यह समस्त प्रदेश तमिल कहा जाता था और उसकी उत्तरी सीमा तिरुपति की पहाड़ी थी।

तीन राज्य

आर्य लोग दक्षिण भारत के सम्पर्क में ई० पू० की चौथी शताब्दी से बहुत पहले ही आये होंगे। तमिल अनुश्रुति के अनुसार अगस्त्य ऋषि ने उत्तर से आकर इस प्रदेश को सभ्य बनाया। मेगस्थनीज ने लिखा है कि पाण्ड्य देश पर एक रानी कुशलतापूर्वक राज्य कर रही थी। प्राचीन तमिल साहित्य में उल्लिखित अनुश्रुतियों के अनुसार वोम्ब (आरम्भिक) मोरीय लोगों ने उस समस्त प्रदेश को मदुरा तिन्नेवली की सीमा पर स्थित पोडीइल पहाड़ी तक जीत लिया था। इन तीन राज्यों तथा सतियपुत्र नामक एक अन्य राज्य का उल्लेख अशोकके अभिलेखोंमें स्वतन्त्र राज्यों के रूप में हुआ है। सतियपुत्र स्पष्टतः एक जातीय नाम है, किन्तु इसके बारे में किसी और प्रकार की जानकारी के अभाव से इसकी पहचान कठिन है। कुछ विद्वानों ने यह सुझाया है कि सत्यपुत्र (सत्य बोलने वाले परिवार के सदस्य) से तात्पर्य तमिल साहित्य में उल्लिखित उस सुज्ञात कोसर जाति से है, जो अपने वचन पालन के लिये प्रसिद्ध थी। उसका निवासस्थान सलेम और कोयम्बटूर जिलों के कोंगुदेश में था।

इन राज्यों का शृङ्खलाबद्ध इतिहास लिखना सम्भव नहीं है। इस आरम्भिक काल के सम्बन्ध में हमारे ज्ञान के एकमात्र साधन प्राचीन तमिल साहित्य में बिखरे

सामान्य-स्थिति

हुए उल्लेख हैं। उनसे ऐसा जान पड़ता है इन तीनों राज्यों में प्रभुत्व के लिए निरन्तर संघर्ष होते रहे। दक्षिण भारत के इतिहास की तत्कालीन विशेषता यह थी कि उनमें से कोई न कोई एक अन्य किसी दो राज्यों पर प्रभुत्व बनाये रखता था। दक्षिण भारत के तत्कालीन इतिहास की मुख्य विशेषता है—चोल लोगों का ई० पू० की पहली शताब्दी से लेकर पहली शताब्दी ई० के अन्त अथवा कुछ और काल पश्चात् तक चेर और पाण्ड्य लोगों पर प्रभुत्व। उसके बाद पाण्ड्य और चेरों की प्रधानता हुई। किन्तु इतिहास की घटनाएं पूर्णतः इसी क्रम से नहीं घटीं। प्रभुत्व क्रम बहुत कुछ तो शासक के व्यक्तित्व पर निर्भर करता था। योग्य और शक्तिशाली शासकों ने अपने समय में अपने राज्य को विशेष शक्तिशाली बना लिया।

इन राजाओं में से कुछ का उल्लेख उस प्राचीन तमिल साहित्य में विशिष्टता-पूर्वक मिलता है, जो ईसा की प्रथम पांच शताब्दियों में रचित समझा जाता है। यद्यपि हाल में कुछ विद्वानों ने यह भी सुझाया है कि वह साहित्य इस अवधि के कुछ पूर्व अर्थात् १०० ई० से २५० ई० के बीच लिखा गया। इनमें सबसे प्रसिद्ध चोल नरेश करिकाल था। उसके जीवन के सम्बन्ध में अनेक रोमांचक कहानियां प्रचलित हैं, किन्तु उसकी सफलताओं में दो विशेष उल्लेखनीय हैं। एक तो उसने चेर और पाण्ड्य राज्यों की संयुक्त सेनाओं को पूर्णतः पराजित किया और दूसरा सिंहल पर सफलता पूर्वक आक्रमण।

ऐसा प्रतीत होता है कि उसने चेर और पाण्ड्य राजाओं के नेतृत्व में लड़ने वाले लगभग बारह राजाओं के एक संयोगसंघ को तंजौर से १५ मील पूर्व वेणी की एक बड़ी लड़ाई में हराया और प्रायः सारे तमिल देश पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। उसे यह भी श्रेय दिया जाता है कि उसने कावेरी के पानी को रोक कर सिंचाई के निमित्त बड़ी २ नहरें बनवाईं थीं और कावेरी के मुहाने पर स्थित पुहार के बन्दरगाह को दुर्ग से सुरक्षित किया था। इस काम में उसने सिंहल के युद्धबन्दियों को लगाया था। इसके फलस्वरूप उसके राज्यकाल में उद्योग और व्यापार की उन्नति हुई और सर्वतोमुखी आर्थिक समृद्धि छाई। वह तमिल साहित्य का बहुत बड़ा संरक्षक था। उसके सद्न्याय की अनेक कहानियां कही जाती हैं। वह वैदिक धर्म का माननेवाला था और उसने अनेक यज्ञ भी किये। साथ ही साथ वह विलासी भी था। मौज का खाना-पीना और निर्बाध मद्यपान और नारी-विलास उसका जीवन था। जो भी हो, करिकाल का महान् व्यक्तित्व मानवता का एक अनोखा चित्र प्रस्तुत करता है। उसकी राजधानी उरय्यूर थी।

दूसरा उल्लेखनीय व्यक्ति पाण्ड्य नरेश नेडुञ्जेलियन था। चेर, चोल और पाँच अन्य छोटे राज्यों के राजाओं ने उसके विरुद्ध संघटित होकर उसकी राजधानी मदुरा पर आक्रमण किया। नेडुञ्जेलियन ने उन्हें मार भगाया और तेला-

पाण्ड्य

ईयालंगनम् नामक स्थानमें उसने जो विजय प्राप्त की उसकी याद चिर-काल तक बनी रही; यहाँ तक कि दसवीं शताब्दी के एक अभिलेख में उसका उल्लेख हुआ है। नेडुञ्जेलियन ने कोंगु और कुछ अन्य छोटे राज्यों को जीत कर अपने राज्य का विस्तार किया। उसके संरक्षण में रहनेवाले अनेक कवियों ने उसका प्रशस्ति-गान किया है। वह स्वयं भी उच्च-कोटि का कवि था। कहा जाता है कि उसने अनेक वैदिक यज्ञ भी किये थे।

करिकाल और नेडुञ्जेलियन के समान तो नहीं, फिर भी चेरनरेश नेडुनजराल आदन का स्थान देश के इतिहास में महत्त्वपूर्ण है। उसने समुद्र के निकट कदम्बु के प्रदेश को जीता था। सम्भवतः यही प्रदेश पीछे चल कर

चेर

कदम्ब नाम से प्रसिद्ध हुआ और उसकी राजधानी गोआ के निकट बनवासी बनी। बताया जाता है कि कई वर्षों तक चलने वाले युद्धों में उसने सात राजाओं को पराजित कर आधिराज्य प्राप्त किया। अन्त में उसकी चोल नरेश से लड़ाई हुई। दोनों ही राजे मारे गये और उनकी रानियां सती हो गईं। कहा जाता है कि उसने यवनों को भी पराजित किया था और उनमें से कुछ को बन्दी करके लाया भी था। "इन बन्दियों के हाथ पीछे बँधे थे और उनके सिरों पर तेल चुपड़ा हुआ था।" यह उल्लेख सम्भवतः उन यवन अथवा रोमक व्यापारियों से सम्बन्ध रखता है जो बड़ी संख्या में आकर दक्षिण में अपना उपनिवेश स्थापित कर बस गये थे। इन लोगों का उल्लेख प्राचीन तमिल कवियों एवं प्राचीनकाल के पाश्चात्य विद्वानों के लेखों में हुआ है। ईसाकी आरम्भिक शताब्दियों में और सम्भवतः उससे पहले से भी दक्षिण भारत के बन्दरगाहों तथा रोम साम्राज्य के बीच बहुत बड़ा सामुद्रिक व्यापार होता था। इस सामुद्रिक व्यापार से तीनों राज्य बहुत धनाढ्य हो गये थे और उनके कुछ राजाओं ने रोम के साथ दौत्य सम्बन्ध भी स्थापित कर रक्खा था। नेडुञ्जेराल आदन का छोटा भाई भी एक शक्तिशाली राजा था। उसने चेर राज्य को समुद्र से समुद्र तक बढ़ाया। बाद के एक युग के तमिल साहित्य में आदनके पुत्र शेंगुट्टुवन का भी प्रमुखरूप से उल्लेख हुआ है। इन तीन राज्यों के इतिहास के सम्बन्ध में एक मजेदार बात यह है कि तमिल साहित्य में अनेक पाण्ड्य और चेर राजाओं के सम्बन्ध में यह दावा किया गया है कि उन लोगों ने उत्तर में हिमालय तक सैनिक अभियान किया था। वस्तुतः चेर राज्य नेडुञ्जेराल आदन को इमयवरम्बन-

अर्थात् वह व्यक्ति जिसकी राज्य सीमा हिमालय पर्वत हो—कहा गया है। यही दावा दक्षिण के सातवाहन राजाओं के सम्बन्ध में भी किया गया है। किन्तु यह विश्वास करना कठिन है कि इन में से किसी भी राजा के पास ऐसे सैनिक कार्यों के लिए भरपूर शक्ति और साधन थे। इन कहानियों से सम्भवतः यह बात प्रकट होती है कि दक्षिण भारत के शासक उत्तर भारत की राजनीति से पूर्णतः परिचित थे।

इस परिचय को समाप्त करने के पूर्व तमिल देश में कुछ जातियों का जो विस्तार हुआ उसकी भी चर्चा यहाँ कर देना उचित होगा। भविष्य में उसका बड़ा ही परिणाम हुआ। तमिल देश की उत्तरी सीमा पर अधिकतर रहनेवाली कलवार नाम की एक जाति आन्ध्रों के बढ़ाव के कारण दक्षिण की ओर जाने को मजबूर हुई। कलवारों ने चोल और पाण्ड्य राज्यों के बीच से जाते हुए कुछ काल के लिए वहाँ की राजनीतिक स्थिति को डाँवाडोल कर दिया था; किन्तु अन्ततोगत्वा वह सँभाल ली गयी। फिर भी कांची के आस-पास के प्रदेश तोंडइ में उसका अधिक स्थायी प्रभाव पड़ा। आगे चलकर जब वहाँ का इतिहास पुनः प्रकाश में आता है तो हम तीसरी शताब्दी ई० के अन्तिम भाग में इस प्रदेश में एक नयी जाति पल्लवों को पल्लवित होते पाते हैं। बाहर से आनेवाले (?) अज्ञात उत्पत्ति के ये लोग आगे को अनेक शताब्दियों तक तमिलों पर शासन करने का सौभाग्य प्राप्त कर सके। किन्तु वह इतिहास वस्तुतः अगले युग का विषय है।

कलवार

चौथा अध्याय

राजनीतिक सिद्धान्त और शासन संगठन

अ. राजनीतिक सिद्धान्त

१. अर्थशास्त्र

विचारणीय युग में राजनीतिक सिद्धान्त और शासन व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण विकास हुए। इस विषय पर एक बहुत बड़ी संख्या में ग्रन्थ लिखे गये; किन्तु आज उनमेंसे अधिकांश लुप्त हो गये हैं और केवल थोड़से ही सौभाग्य-

कौटिलीय अर्थशास्त्र

वश बच रहे हैं। इन सब में महत्त्वपूर्ण पुस्तक अर्थशास्त्र है जो चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रधान मंत्री कौटिल्य का लिखा बताया जाता है। यह अपने विषय की अति विस्तृत पुस्तक है और हिन्दू काल में और सम्भवत: उसके बाद भी बहुत दिनों तक वह अपने विषय की आदर्श पुस्तक समझी जाती रही। आश्चर्य की बात तो यह है कि यह पुस्तक किसी प्रकार एक दम लुप्त हो गयी थी और इस शताब्दी के आरम्भ तक इसका कुछ पता भी न था। उस समय इसकी एक प्रति पण्डित शामशास्त्री ने दक्षिण भारत के एक सुदूर कोने से खोज निकाली। नई खोजकी यह पुस्तक अपनी ख्यातिके अनुसार खरी उतरी है। परवर्त्ती साहित्य के उल्लेखों और उसमें इसके उद्धरणों के आधारपर इस पुस्तक के विस्तार और विषय के सम्बन्ध में जो भी धारणा थी उसके अनुरूप हो पुस्तक सिद्ध हुई। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण यह है कि पुस्तक में स्वयं इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि वह उस व्यक्ति की रचना है जिसने नन्दराज का नाश किया। इस प्रकार उसकी पहचान चन्द्रगुप्त के प्रधान मंत्री चाणक्य से निश्चित हो जाती है। फिर भी कुछ विद्वान् पुस्तक के पाठों की सूक्ष्म परीक्षा कर इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि यह किसी एकव्यक्ति की रचना नहीं है वरन् राजनीतिज्ञों के सम्प्रदाय की रचना है तथा उसकी रचना तीसरी शताब्दी ई० पू० में नहीं हुई। उनके मतानुसार उसका वर्तमान रूप सम्भवत: तीन-चार शताब्दियों पश्चात् का है। यद्यपि यह मत प्राय: मान्य समझा जाता है तथापि कुछ सुप्रसिद्ध विद्वान् अब भी यह मानते हैं कि यह पुस्तक असली है और कौटिल्य की ही रचना है, जो दीर्घ-

काल तक लुप्त हो गई थी। जिस किसी भी मत को हम स्वीकार करें उसे कौटि-लीय अर्थशास्त्र अथवा बिना किसी विशेषण के केवल अर्थशास्त्र के नाम से,उल्लेख करना प्रचलित प्रथा के अनुरूप एवं सुविधाजनक रहेगा।

अर्थशास्त्र के अतिरिक्त राजनीति पर कई अन्य रचनाएँ भी हैं जिनमें महाभारत के शांतिपर्व के राजधर्म शीर्षक अध्याय और मनुस्मृति का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

इन पुस्तकों से ज्ञात होता है कि हिन्दू लोग आरम्भ से ही राजनीति का अध्ययन एक ऐसे उत्साह और प्रेम से करते थे, जो सम्भवतः प्राचीन संसार में अद्वितीय था। राजनीति विज्ञान समस्त विज्ञानों में अधिक महत्त्वपूर्ण समझा जाता था। कुछ प्राचीन लेखकों ने तो यहाँ तक लिखा है कि विद्या केवल एक ही है और वह दण्डनीति की विद्या है, क्योंकि वही विद्या अन्य विद्याओं का आदि और अन्त है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में राजनीति के कम से कम पांच ऐसे सम्प्रदायों और तेरह लेखकों का उल्लेख है, जिन्होंने उससे पूर्व राजनीति-विज्ञान के विकास में योग दिया था। इन सब बातों से पता लगा है कि प्राचीन भारत में इस विज्ञान ने आश्चर्यजनक विकास और उन्नति की थी।

२. राजत्व की उत्पत्ति

राजत्व की उत्पत्ति राजनीति विज्ञान का एक मूल प्रश्न है। उसकी ओर वैदिक काल में ही विचारकोंका ध्यान जा चुका था। उस काल में अधिक विस्तार के साथ उसका विवेचन हुआ था। यद्यपि उसमें कोई उल्लेखनीय नूतनता नहीं है तथापि अधिक स्पष्टता और पूर्णता के साथ उसकी व्यवस्था की गयी है।

दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त मनुस्मृति में सबसे अधिक विकसित रूप में पाया जाता है। (७.३,४,८) उसमें कहा गया है कि "सारी सृष्टि की रक्षा के निमित्त ईश्वर ने इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्र और कुबेर के अंशों को लेकर राजा का निर्माण किया।" इसका तार्किक सिद्धान्त यह स्थिर होता है कि "शिशु राजा का भी मनुष्य समझ कर अवमान नहीं करना चाहिए; वह मानवरूप में महान देवता है।"

राजत्व की उत्पत्ति के सम्बन्ध में दूसरे मत, अर्थात् लोक-सहमति द्वारा निर्वाचन के सिद्धान्त का जो सुधरा हुआ रूप इस काल में दिया गया था, वह २००० वर्ष पश्चात् यूरोप में लॉक द्वारा प्रस्तुत 'सामाजिक समझौता' से बहुत कुछ मिलता हुआ है। इसका पूर्ण रूप से प्रतिपादन महाभारत में किया गया है और अर्थशास्त्र में उसका सार इन शब्दों में दिया हुआ है। "अराजकतासे पीड़ित मनुष्यों

ने सर्वप्रथम मनु को अपना राजा निर्वाचित किया और कृषि की उत्पत्ति का छठाँ तथा वाणिज्य का दसवाँ भाग राज्य-देय निर्धारित किया। इस देय से पाले जाते हुये राजाओं ने प्रजा की सुरक्षा का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लिया।" इस सिद्धान्त का कुछ अधिक शुद्धरूप बौद्ध साहित्य में पाया जाता है, जिसके अनुसार जनता ने पौराणिक मनु को नहीं, वरन् "अपने में से हो सर्वसुन्दर कान्तियुक्त और शक्ति शाली व्यक्ति को अपने धान्य का कुछ भाग देनेकी शर्तपर राजा निर्वाचित किया।" बौद्ध संघ के जनतान्त्रिक विधान के बौद्ध अनुयायियों को इस सिद्धान्त को अपने चरम रूप में स्वीकार करने को प्रेरित किया था। एक बौद्ध भिक्षु एक अभिमानी राजा को इन शब्दों में सम्बोधित करता पाया जाता है - "तुम्हारे गर्व का मूल्य ही क्या है राजा! *तुम तो गण-प्रजा के दास मात्र हो और छठां भाग मजदूरी के रूप मे पाते हो।"* इसमें साथ ही यह मानना भी उचित होगा कि समाजिक समझौते के सिद्धान्त ने शासन के व्यावहारिक पक्ष को भी अनेक प्रकारों से प्रभावित किया था। उदाहरणार्थ, धर्म शास्त्र के अनेक ग्रंथों में वर्णित उस नियम की चर्चा की जा सकती है जिसमें कहा गया है कि "यदि राजा चोरी गये हुए धन का पता नहीं लगा सकता तो उसे उसके स्वामी की क्षतिपूर्ति करनी चाहिए।

३. राज्य

राजत्व के विकास के विभिन्न सिद्धान्त इस अनुमान पर आश्रित थे कि आरंभ में अराजकता और अशान्ति की अवस्था रही, जिसके कारण एक रक्षक की आवश्यकता हुई। कहा गया है कि आरम्भ में मनुष्य सुखी था और वह शान्ति तथा समृद्धि का उपभोग करता था। किन्तु उसकी दुष्टता की वृद्धिसे अराजकता उत्पन्न हुई और लोगों को कष्ट होने लगा। उस समय "जिसकी लाठी उसकी भैंस" का बोल बाला था और समाज की दशा उस तालाब के सदृश थी जिसमें बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियों को निगल जाती हैं। इस उदाहरण के आधार पर ही अराजकता की अवस्था को 'मात्स्य न्याय' का नाम दिया गया। इस विचार की तुलना हाब्स और रूसो द्वारा प्रतिपादित "प्राकृतिक अवस्था के सिद्धान्त (State of nature) से की जा सकती है।

निर्वाचन

भारत के प्राचीन राजनीति-विचारकों ने राजा और राज्य में स्पष्ट भेद किया है। उन्होंने राज्य की कल्पना मनुष्य शरीर की भांति विभिन्न अंगों की समष्टि के रूप में की है और उसके भाग वस्तुतः अंग कहे भी गये हैं। राज्य की पूर्ण कल्पना का विश्लेषण करने के पश्चात् उसके सात अंग स्वीकार किये गये, यथा-

सप्तांग

राजा, मंत्री, जनपद, दुर्ग, कोष, बल और मित्र। कौटिल्य ने इनमें से प्रत्येक की विस्तृत विवेचना की है और उस विवेचन के आधार पर राज्य के लिए आवश्यक तत्वों को आसानी से जाना जाता है। वे हैं; निश्चित प्रदेश, आन्तरिक शान्ति रखने और विदेशी आक्रमणों को रोकने के निमित्त आर्थिक और सैनिक संघटनों से सुसम्पन्न सरकार तथा अन्य राज्यों द्वारा मान्यता। यह धारणा आश्चर्यजनक रूप से आधुनिक जान पड़ती है, किन्तु अन्य कई राजनीतिक सिद्धान्तों के समान ही परवर्ती कालमें इसका विकास नहीं हो पाया।

प्राचीन भारत में राज्य की भावना एक बात में आज की भावना से भिन्न थी। उसका कार्यक्षेत्र सर्वव्यापक था। व्यक्तिगत और नागरिक अधिकारों और कर्त्तव्यों के बीच एवं नैतिक सिद्धान्तों और व्यवस्थित कानून के बीच कोई भेद न किया जाता था। मनुष्य के नैतिक एवं आध्यात्मिक जीवन अथवा लौकिक अवस्था से सम्बन्ध रखने वाली प्रत्येक वस्तु राज्यकार्य की परिधि में आती थी। इसका पता अर्थशास्त्र में वर्णित विषयों की सूची देखने से अच्छी तरह लग सकता है। उसमें राज्य कार्य के अन्तर्गत धन-जन की सुरक्षा, न्याय की व्यवस्था आजकल के विकसित जन-कल्याण राज्यों के द्वारा स्वीकृत और कार्यरूप से परिणत उद्योग और व्यवसाय के राष्ट्रीयकरण जैसे आर्थिक नियन्त्रण की चर्चा तो है ही, परिवार के लोगा के बीच उचित सम्बन्ध की रक्षा और धर्म, सामाजिक रिवाज एवं व्यवहार द्वारा निर्धारित नियमों के पालन भी राज्यकार्यों में गिनाये गये हैं।

इस प्रकार अर्थशास्त्र में न केवल राज्य द्वारा बड़े उद्योगधन्धों के प्रबन्ध और प्रत्येक पेशों (चिकित्सक और वेश्याओं के भी) और सार्वजनिक मनोरंजनों (द्यूत भी) पर कठोर नियन्त्रण की व्यवस्था है, वरन् उसमें राज्य का यह भी कर्त्तव्य निर्धारित किया गया है कि वह असहायों, बूढ़ों और अनाथों की रक्षा करे और लोगों को प्राकृतिक आपदाओं से बचाये। इसके साथ ही उसमें यह भी बताया गया है कि पति-पत्नी, पिता और पुत्र, बहन और भाई आदि का कैसा पारस्परिक सम्बन्ध होना चाहिए; किस आयु और परिस्थिति में गृहस्थ संसार से विरक्त होकर वानप्रस्थ और संन्यासी हो सकता है; पत्नी और प्रेमिका का प्रेम प्राप्त करने के लिए जादू-टोना करना कब वैध समझा जा सकता है; और बिगड़ी हुई स्त्री को किस प्रकार ठीक किया जा सकता है; इत्यादि। संक्षेप में राज्य का मनुष्य के सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, नैतिक और यहां तक कि आध्यात्मिक जीवन में भी सक्रिय भाग होता था। उसके कार्य क्षेत्र की कोई सीमा नहीं जान पड़ती।

यह विस्तृत दृष्टिकोण निःसन्देह जीवन को समष्टि के रूप में देखने की उस दार्शनिक भावना का परिणाम था, जिसमें मनुष्य के कार्य सामाजिक, आर्थिक,

धार्मिक आदि नामों से पुकारे जानेवाले संकुचित विभागों में स्पष्ट रूपसे विभक्त न थे। उसका आधार धर्म की वह भावना थी जो मनुष्य के सारे कार्यों को एक दूसरे से सम्बद्ध और जीवन से अभिन्न मानती है और मानव-अस्तित्व का एक मात्र उद्देश्य आध्यात्मिक मुक्ति समझती है। जीवन के इस सम्पूर्णवादी विचार द्वारा राज्य के सम्पूर्णवादी स्वरूप की व्याख्या की जा सकती है।

यद्यपि राज्य अपने कार्य क्षेत्र के मामले में सम्पूर्णवादी था, किन्तु व्यवहार में वह अधिनायकवादी नहीं था। बहुत बड़ी मात्रा में कार्यारम्भ की प्रेरणा और उसके कार्यान्वय का अधिकांश भार स्थानीय सभाओं एवं धार्मिक और सामाजिक संस्थाओं पर छोड़ दिया जाता था और आज की अपेक्षा उस समय अधिकारों का बहुत अधिक विकेन्द्रीकरण था।

४—अन्तर्राज्य—सम्बन्ध

विभिन्न राज्यों के बीच के आपसी सम्बन्धों पर भी विशेष ध्यान दिया गया है। कौटिल्य ने उसकी विस्तृत चर्चा की है। साधारण कल्पना यह की गई है कि दो पड़ोसी राज्यों में स्वभावतः अमैत्री-सम्बन्ध होता है और दो राज्यों के बीच का राज्य दोनों का समान शत्रु होता है, इस कारण किनारों वाले उन दोनों में स्वाभाविक मैत्री सम्बन्ध होता है। इस मूल आधार पर ही अन्तर्राज्य-सम्बन्ध का उसने सारा ढाँचा खड़ा किया है।

कौटिल्य के कथनानुसार परस्पर एक दूसरे राज्य के साथ सम्बन्ध का निर्धारण लौकिक हित की दृष्टि से ही किया जाना चाहिए। राजा को न्याय अथवा नैतिकता की परवाह किये बिना ऐसी नीति अपनानी चाहिए जो उसके राज्य की शक्ति और धन में वृद्धि करने वाली हो। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए परम्परागत चार साधन बताये गये हैं। वे हैं—साम (मैत्री, सन्धि), दाम (अर्थ-सहायता), भेद (शत्रु राज्य के भीतर अथवा विभिन्न शत्रु राज्यों में फूट पैदा करना) और दण्ड (आक्रमणादि)। इनमें से कब किसका प्रयोग करना चाहिए, अर्थशास्त्र में बड़े विस्तार के साथ बताया गया है। कौटिल्य की दृष्टिमें राज्य-शास्त्र में नैतिकता का कोई स्थान नहीं जान पड़ता। किन्तु कुछ राजनीति-शास्त्री इस बात पर जोर देते हैं कि व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन-दोनों में ही नैतिकता ही मान दण्ड होनी चाहिए। किन्तु बहुत कठोर दृष्टि से कौटिल्य को परखना उचित न होगा, क्योंकि स्पष्ट शब्दों में उसने वही कहा है जो संसार के प्रत्येक राज्य ने वस्तुतः पहले किया था और उस समय से अब तक, उच्च नैतिक आदर्शों की बात कहते हुए भी, झूठे बहानों को बनाकर करता आ रहा है। इस सम्बन्ध में भूलना न

होगा कि कौटिल्य ने राजनीतिज्ञों के निर्देशन के निमित्त एक व्यावहारिक पुस्तक लिखी। राजनीति-शास्त्र का कोरा सैद्धान्तिक विवेचन उसका उद्देश्य न था।

ब—शासन संघटन

१—राज्य

राजनीति विज्ञान के विस्तृत और चिन्तनशील अध्ययन, ऊपर वर्णित राज्य के विकास के सिद्धान्त और अन्ततोगत्वा मगध के विशाल साम्राज्य के रूपमें विकसित हो जाने वाले बड़े-बड़े राज्यों के उदय आदि ने सामूहिक रूप से शासन की व्यावहारिक प्रणाली पर निश्चित ही काफी प्रभाव डाला होगा। किन्तु विस्तार के साथ यहां उनकी चर्चा करना सम्भव नहीं है। अतः प्राचीन भारत की शासन व्यवस्था की मुख्य विशेषताओं की संक्षिप्त चर्चा से ही हमें यहाँ सन्तोष करना होगा।

शासन यन्त्र अत्यन्त सुसंगठित था। सर्वोपरि राजा था, जिसकी सहायता अनेक मंत्री तथा एक परिषद् करती थी। शासन के अनेकानेक कार्य अनेक विभागों में बंटे हुए थे जिनका प्रबंध एक कुशल और सुसंघटित नौकरशाही के द्वारा होता था। शासन प्रणाली के स्वरूप को साधारणतया समझने के लिए चारों तत्वों अर्थात् राजा, मंत्री, परिषद् और नौकरशाही का परिचय आवश्यक है।

राजा शासन की व्यवस्था, न्याय और सैनिक विभागों का प्रधान था। कभी कभी राजा प्रजा द्वारा निर्वाचित होते थे, पर वंशगत राजत्व ने धीरे धीरे प्रथा का रूप धारण कर लिया था। स्त्रियाँ राज्याधिकारिणी होने से

राजा

पूर्णतः वंचित न थीं किन्तु रानियों का शासन बहुतकम ही सुनने में आता है। राजाकी पद-मर्यादा में स्थान और समय भेद से अन्तर हुआ करता था। उसे विशेष सम्मान और सुविधाएं प्राप्त थीं और राजत्व की उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त के कारण वह अवध्य माना जाता था। किन्तु व्यवहार में यह सिद्धान्त इस सीमा तक कभी भी प्रयुक्त नहीं हुआ कि राजा को प्रजा के जीवन और संपत्ति पर अबाध अधिकार मिल जाय। राजत्व के दैवी-विकास के सिद्धान्त का घोर प्रतिपादन करनेवाली मनुस्मृति में भी स्पष्ट रूप से लिखा है कि 'जो राजा विलासरत, पक्षपाती और धोखेबाज होगा वह नष्ट हो जायेगा, और राजत्व का प्रतीक दण्ड कर्तव्यच्युत राजा का हनन करता है' ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जब कि अत्याचारी राजा पदच्युत कर दिये गये और कभी २ तो मार भी डाले गये। स्मृतियों में राजाओं को चेतावनी देने के निमित्त प्राचीन इतिहास और परम्परासे ऐसे उदाहरण उद्धृत किये गये हैं और इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूपसे राजाओं को दंडित करनेका समर्थन किया गया है।

भावी राजा को विद्या और आचार की शिक्षा देने की ओर विशेष ध्यान रखा जाता था। राजनीति की पुस्तकों में इस बात पर बहुत जोर दिया गया है और यहाँ तक कहा गया है कि यदि राजकुमार योग्यता के आवश्यक स्तर तक न पहुँचे, उच्छृङ्खल जान पड़े, उसमें दुष्टता के लक्षण दिखाई दें अथवा वह दुश्चरित्र हो, तो वह राजगद्दी के अधिकार को खो देता है और उसके स्थान पर दूसरा व्यक्ति बैठाया जायगा। कौटिल्य ने तो यहां तक कहा है कि यदि राजा का उत्तराधिकार पाने वाला उसका एक मात्र पुत्र भी ज्ञान और चरित्र से अयुक्त हो तो राजाको चाहिए कि नियोग द्वारा अपनी पत्नी से एक पुत्र उत्पन्न करे किन्तु कभी उस दुष्ट और एक मात्र पुत्रको गद्दी पर न बैठाये।

राजनीति के प्राचीन लेखकों ने राजाओं के लिए दैनिक कार्यक्रम भी निर्धारित किया था। राजाओं से आशा की जाती थी कि वे उस कार्यक्रम का पालन करेंगे। इसके लिए दिन और रात आठ विभागों में विभाजित किये गये थे जो जल-घटी अथवा सूर्य की छाया द्वारा निर्धारित होते थे। इस प्रकार प्रत्येक भाग का कार्यक्रम इस प्रकार बताया गया है—

दिन—

(१) रक्षा-विधान और आय-व्यय संबंधी सूचनाएं प्राप्त करना।

(२) प्रजा के आवेदन और प्रार्थनायें सुनना।

(३) स्नान, भोजन और स्वाध्याय।

(४) विभागीय अध्यक्षों से मिलना और राज्य की आय सम्बन्धी जानकारी प्राप्त करना।

(५) मंत्रि-परिषद् से विचार विमर्श करना और चरों से गुप्त सूचनाएं प्राप्त करना।

(६) आमोद प्रमोद अथवा राज्य कार्य की देख-भाल।

(७) राजसेना का निरीक्षण।

(८) सेनापति से सैनिक विचार-विमर्श।

रात्रि—!

(१) गुप्तचरों से भेंट।

(२) स्नान, भोजन, और स्वाध्याय।

(३–५) शयन।

(६) धार्मिक साहित्य एवं अपने कर्त्तव्यों का चिन्तन।

(७) मंत्रियों से परामर्श और गुप्तचरोंको कार्य सहेजना।

(८) गृह-कार्य, धार्मिक कर्म और अनुष्ठान आदि करना।

विभिन्न पुस्तकों में थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ यही कार्य-क्रम दिया हुआ है। यह न समझना चाहिए कि यह कार्यक्रम राजाओं द्वारा अक्षरशः पालन किया ही जाता था, तथापि यह इस बातका द्योतक अवश्य है कि प्राचीन काल के राजा व्यवस्थित और कार्य परायण होते थे। इसके साथ ही साथ इससे उनके जीवन और कर्तव्यों की भी एक झलक मिलती है।

राजा के पास साधारण प्रजा सरलता से पहुँच सकती थी। कौटिल्य का कहना है कि 'जब राजा अपने को प्रजा के नैकट्य से दूर कर लेता है और अपना कार्य नजदीकी अधिकारियों पर छोड़ देता है तो उसके कार्य का अव्यवस्थित हो जाना और उसके फलस्वरूप जनता में असन्तोष फैलना तथा उसका शत्रु का शिकार हो जाना निश्चित है।

राजा का सर्वप्रधान कार्य प्रजा की रक्षा और उसका हित-चिन्तन था। कौटिल्य ने इस बात को बड़े ही सुन्दर ढंग से इस प्रकार व्यक्त किया है—

प्रजासुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम्।
नात्मप्रियं हितं राज्ञः प्रजानां तु प्रियं हितम्॥

'प्रजा के सुख में राजा का सुख है, प्रजा की भलाई में उसका भला है। अतः जो उसको अच्छा लगे उसे ही वह अच्छा न माने, वरन् जो उसकी प्रजा को पसन्द हो उसे ही वह अच्छा समझे।

राजनीति शास्त्र के प्राचीन लेखकों ने राजपद के भारी उत्तरदायित्व पर भी जोर दिया है। प्रजा से कर ग्रहण कर राजा निश्चित रूप से उनके प्रति कर्त्तव्य-बद्ध हो जाता है जिसका पालन उसे अपने कर्त्तव्य को पूरा करके करना चाहिए। प्राचीन भारतीय राजत्व का यह आदर्श बहुत कुछ अंशों में महान् सम्राट अशोक के चरित्र में देखा जा सकता है, जिसकी चर्चा पीछे की जा चुकी है।

साथ ही यह भी ध्यान रखना होगा कि प्राचीन भारत में सभी राजा इस उच्च आदर्श तक नहीं पहुँचते थे। अच्छे, बुरे और सामान्य सभी प्रकार के राजा होते थे। किन्तु यह बात भारत ही नहीं वरन् संसार के प्रत्येक देश पर लागू होती है। भारत की महत्ता इस बात में है कि उसने कम से कम अशोक सदृश एक ऐसा व्यक्ति पैदा किया जो आज भी विश्व के इतिहास में अद्वितीय है।

राजा के बाद महत्त्वपूर्ण पद मंत्री का था। कौटिल्य का कहना है 'सहायसाध्यं राज्यत्वं, चक्रमेकं न वर्तते। कुर्वीत सचिवाँस्तस्मात् तेषां च श्रृणुयान्मतम्॥' अर्थात् राजत्व सहायता द्वारा ही सम्भव है। अकेले पहिये से गाड़ी नहीं चलती। अतः राजाको चाहिए

मन्त्री

कि वह मंत्रियों की नियुक्ति करे और उनके मत को सुने। इसी प्रकार राजनीति शास्त्र के अन्य लेखकों ने भी मंत्री को सरकार का अभिन्न अंग माना है।

मंत्री के महत्वपूर्ण पद को देखते हुए प्राचीन लेखकों ने उनके निर्वाचन के विधान की विस्तारपूर्वक चर्चा की है। कौटिल्य का मत है कि मंत्री की नियुक्ति एक मात्र योग्यता पर होनी चाहिए न कि वंश का विचार अथवा परोक्ष प्रभाव से प्रभावित होकर। उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य में मंत्रियों को नियुक्त करने से पूर्व गुप्तचरों द्वारा उनके चरित्र की परीक्षा की जाती थी और केवल ऐसे ही लोग मंत्री नियुक्त किये जाते थे जो उस मोह और तृष्णा से सर्वोपरि ठहरते थे जिसके कारण लोग बहुधा कर्त्तव्यच्युत हो जाया करते हैं। ऐसे लोग जो सर्वप्रकार योग्य होते हुए भी एक वा अधिक परीक्षा में असफल हो जाते थे वे भी अपनी सफाई के अनुसार मंत्री पद से नीचे विभिन्न अमात्य पदों पर नियुक्त कर लिये जाते थे।

सभी प्रकार के शासन कार्यों पर उनके कार्यान्वित होनेसे पूर्व मंत्री परिषद् में विचार किया जाता था। परिस्थिति के अनुसार मंत्रियों की संख्या तीन अथवा चार से लेकर बारह तक होती थी। कभी २ उनमें से एक प्रधान मंत्री नियुक्त किया जाता था और प्रत्येक मंत्री अलग अलग विभाग का अधिकारी होता था यथा—अर्थ मंत्री, सन्धि-विग्रह मंत्री। किन्तु संयुक्त रूपसे सभी राज्य के सभी आवश्यक मामलों पर राजा को सलाह दिया करते थे। कौटिल्य के निम्न लिखित शब्दों से मंत्री के अधिकार और उत्तरदायित्व का पता लगता है। 'अकेला मंत्री बिना किसी नियन्त्रण के जानबूझ कर कार्य करता है, दो मंत्रियों से परामर्श करने में दोनों ही मिल कर अपने कार्यों द्वारा राजा पर हावी हो सकते हैं अथवा परस्पर फूट के कारण उसे खतरे में डाल सकते हैं, किन्तु तीन अथवा चार मंत्रियों से सलाह लेने में कोई ऐसी हानि होने की सम्भावना नहीं रहेगी और वह सन्तोष-जनक निष्कर्ष पर पहुँच सकेगा। स्थान और समय की आवश्यकता तथा कार्य के महत्व को देखते हुए वह जैसा समझे, एक अथवा दो मंत्रियों से परामर्श कर सकता है अथवा अकेले भी निर्णय कर सकता है। राजा अपने मंत्रियों से सामूहिक अथवा वैयक्तिक रूप से राय पूछ सकता है और उनकी राय के तर्कों का चिन्तन कर उनकी योग्यता निर्धारित कर सकता है।"

बहुत पीछे की रचना होने पर भी पुरानी परम्पराओं को सुरक्षित रखनेवाली शुक्रनीति में भी कहा गया है कि राजा को चाहिए कि वह प्रत्येक मंत्री से उसकी लिखित राय प्राप्त करे जिसमें उसने अपने सभी तर्क स्पष्ट बताये हों; पश्चात्

उनको अपनी राय से मिलाये और तब बहुमत की जो राय हो उसके अनुसार कार्य करे।

मंत्रि-गण के अतिरिक्त शासन कार्य में राजा की सहायता के लिए राजसभा भी होती थी। कहा जाता है कि ८०,००० ग्रामों के स्वामी राजा बिम्बिसार ने एक बार ८०,००० मुखियों की परिषद् आमंत्रित की थी। किन्तु इतनी बड़ी परिषदें किन्हीं विशेष अवसरों पर ही यदा-कदा बुलाई जा सकती थीं। एक छोटी परिषद् भी थी जो शासन के अंग के रूप में काम करती थी। कौटिल्य ने उसे मंत्रि-परिषद् का नाम दिया है किन्तु स्पष्टतः वह मंत्रियों की परिषद् से भिन्न थी। हम उन्हें क्रमशः राजपरिषद् (स्टेट कौंसिल) और व्यवस्थापरिषद् (एक्जीक्युटिव कौंसिल) कह सकते हैं।

परिषद्

जान पड़ता है कि राज-परिषद् ने वैदिक काल की समितिका स्थान ग्रहण कर लिया था। उसमें कभी २ बड़ी संख्या में लोग होते थे। उसकी संख्या १२, १६ अथवा २० तक सीमित करने वाले राज्य शास्त्रियों के मत के विरुद्ध कौटिल्य का मत था कि उनकी संख्या राज्य की सीमा की आवश्यकता के अनुसार होनी चाहिए। उसके अधिकार के सम्बन्ध में कौटिल्य ने स्पष्ट बताया है कि उस परिषद् में राजा और उसके शत्रु, दोनों से सम्बन्ध रखने वाली सभी बातों पर विचार होता था। आवश्यक मामलों में राजा व्यवस्थापरिषद् और राज-परिषद् दोनों से परामर्श करता था और साधारणतः बहुमत के निर्णय के अनुसार काम करता था। इस संस्था की वैधानिक महत्ता कौटिल्य के इस आदेश से स्पष्ट जान पड़ती है कि यदि कोई सदस्य अनुपस्थित हो तो राजा को चाहिये कि वह पत्र द्वारा उसका मत प्राप्त करे।

महाभारत के एक स्थल के अनुसार एक अन्य वैधानिक विकास का परिचय मिलता है। उसके अनुसार चार ब्राह्मण, आठ क्षत्रिय, इक्कीस वैश्य, तीन शूद्र और एक सूत की एक राज-परिषद् संघटित होती थी। और ३७ में से आठ को राजा अपना मंत्री चुनता था। सम्भवतः यह भारत में वैधानिक विकास का अन्तिम चरण था। यह बात मजे की है कि कुछ सीमाओं तक यह स्थिति इङ्गलैण्ड के संविधान के समान ही है। जिस प्रकार अंग्रेजों की बड़ी 'नेशनल कौंसिल' से पार्लमेन्ट का विकास हुआ और उसमें से राजाने अपने विश्वास पात्र मंत्रियों को चुन कर मंत्रि-परिषद् का निर्माण किया उसी प्रकार वैदिक काल की समिति का स्थान मंत्रि परिषद ने ग्रहण कर लिया, और जिसमें से कुछ को चुन कर राजा अपनी परिषद् (केबिनेट) संघटित करता था।

मंत्री और परिषद् नीति निर्धारित करते थे और शासन का विस्तृत कार्य एक नौकरशाही द्वारा सम्पन्न होता था। नौकरशाही में सर्वोपरि थोड़े से बड़े अफसर होते थे। इनकी संख्या और पदमर्यादा विभिन्न कालों में भिन्न-भिन्न रही होगी। महत्त्वपूर्ण अधिकारियोंकी सूची इस प्रकार है—

नौकरशाही

(१) पुरोहित।

(२) सेनापति।

(३) प्रधान न्यायाधीश।

(४) प्रतिहारी।

(५) सन्निधाता (प्रधान खजांची)।

(६) समाहर्त्ता।

इनके नामों से उनके साधारण कार्यों का बोध हो जाता है। इनके अतिरिक्त कुछ शोभा के अधिकारी भी होते थे, यथा—राजा के सूर्य-छत्र का वहन करने वाले और राजकीय कृपाण को ढोनेवाले उपदिक और दूत सदृश कुछ अन्य अधिकारी भी होते थे जो देश के दूरस्थ भागों में काम करते थे। ये सभी शासनतंत्र के उच्च अधिकारी थे। उनके बाद विभिन्न भागों के अध्यक्ष और उनके सहायकों का स्थान था। इन अध्यक्षों की संख्या विभिन्न राज्यों में विभिन्न रही होगी। कौटिल्य के अर्थ शास्त्र में निम्नलिखित अध्यक्षों का उल्लेख है।

(१) खन्यध्यक्ष (सांभर सम्पत्ति), (२) कोषाध्यक्ष, (३) आकराध्यक्ष, (४) लौहाध्यक्ष (धातु), (५) लक्षणाध्यक्ष (टकसाल), (६) अक्षपटलाध्यक्ष (हिसाब-किताब), (७) सुवर्णाध्यक्ष, (८) कोष्ठागाराध्यक्ष, (९) पण्याध्यक्ष (वाणिज्य), (१०) कुप्याध्यक्ष (वन सम्पत्ति), (११) मुद्राध्यक्ष (पासपोर्ट), (१२) पौतवाध्यक्ष (माप-तौल), (१३) मानाध्यक्ष, (१४) शुल्काध्यक्ष, (१५) सूत्राध्यक्ष (कपड़ा), (१६) सीताध्यक्ष (कृषि), (१७) सुराध्यक्ष, (१८) सूनाध्यक्ष (कसाईखाना), (१९) गणिकाध्यक्ष, (२०) नावाध्यक्ष, (२१) गोऽध्यक्ष, (२२) अश्वाध्यक्ष, (२३) हस्त्यध्यक्ष, (२४) रथाध्यक्ष, (२५) पत्त्यध्यक्ष (पैदल सेना); (२६) आयुधागाराध्यक्ष, (२७) विवीताध्यक्ष, (२८) अन्तःपुराध्यक्ष।

प्रत्येक अध्यक्ष अपने विभाग का (जो उसके नाम से प्रकट होता है) प्रधान होता था और अनेक सहायकों और अधीनस्थ कर्मचारियों की सहायता से अपने विभाग का कार्य-संचालन करता था। उसके कार्य का निरीक्षण समाहर्ता द्वारा नियुक्त आयुक्त करते थे और जो लोग कर्त्तव्यच्युत पाये जाते थे, उन्हें दण्ड मिलता

था। अध्यक्ष लोग कभी कभी एक विभाग से दूसरे विभाग में स्थानान्तरित भी किये जाते थे। विभागों की उपर्युक्त सूची से जाना जा सकता है कि सरकार स्वयं अपनी ओर से उत्पादन और वाणिज्य का भी कार्य करती थी और राज्य की विभिन्न खानों से उत्खनन कराती थी।

उपरुल्लिखित केन्द्रीय शासन के अधिकारियों के अतिरिक्त अनेक प्रकार के स्थानीय अधिकारी भी होते थे। राज्य अनेक विषयों (जिलों) में विभक्त होता था और प्रत्येक विषय अनेक ग्रामों में। प्रत्येक विषयमें एक अधिकारी होता, जो स्थानिक कहलाता और प्रत्येक ग्राम में एक मुनीम, जो गोप कहलाता था। इनके अतिरिक्त प्रत्येक ग्राम में ग्रामणी होता था, जो राजा द्वारा मनोनीत अथवा ग्राम की जनता द्वारा निर्वाचित होता था। वह ग्रामवासियों की परिषद् (ग्रामसभा) की सहायता से गांव के काम-काज को देखता और शान्ति तथा सुरक्षा बनाये रखता था। इस परिषद् के ग्रामवासियों और ग्राम की संपत्ति पर विस्तृत अधिकार होते थे। नियमित रूप से राज्य-कर देने का उत्तरदायित्व भी इस संस्था पर था। यह आवश्यक न था कि राज्य-कर नकद ही दिया जाय। कुछ गांव सैनिक देते थे, कुछ अपना कर अनाज, पशु, सुवर्ण अथवा कच्चे माल के रूप में अदा करतेथे और कुछ ग्रामकर के बदले में निःशुल्क श्रम और गोरस पहुँचाते थे। कुछ गांव तो कर से एक दम मुक्त होते थे। साधारणतः तत्कालीन ग्राम आज के ही गांवों की तरह होते थे किन्तु प्रायः प्राचीन ग्राम परिकर अथवा बाड़े से घिरे होते थे।

स्थानीय शासन

गोप गांव का हिसाब-किताब देखता और एक ग्राम-समूह के आंकड़े रखता था। वह अपने क्षेत्र के खिल और अखिल खेतों, मैदानों, दलदल भूमि, बाग-बगीचों, तरकारी के खेतों, जंगलों, चौरों, देव मंदिरों, सिंचाई के साधनों, श्मशान-भूमियों, सत्रों, पौसरों, तीर्थ-स्थानों, चरागाहों और सड़कों का लेखा जोखा और आंकड़ा रखता था। वह गांवों, खेतों, जंगलों और सड़कों की सीमायें निर्धारित करता था और खेतों के अनुग्रह, विक्रय, दान एवं कर-मुक्ति का पंजीकरण करता था। वह किसानों, गोपालों, व्यापारियों, कारीगरों, मजदूरों, दासों और पशुओं की संख्याओं का भी लेखा रखता था। उसके पास प्रत्येक घर में रहने वाले युवक और वृद्ध पुरुषों का विवरण होता था और वह उनके इतिहास, पेशों तथा आय-व्यय का भी लेखा रखता था।

स्थानिक अथवा विषयाधिकारी अपने क्षेत्र के गोपों के कार्यों की देख रेख करता था। इन कामों का सर्वोपरि अधिकारी, समाहर्ता, ग्रामों और विषयों के अधिकारियों के कामों और काम करने के साधनों की जाँच करने के लिए विशेष

आयुक्त नियुक्त करता था। वह इन अधिकारियों के हिसाब किताब की सचाई जांचने के लिए गुप्तचरों को भी भेजता था।

नगर का शासन छोटे पैमाने पर देश के शासन के समान ही था। जैसे राज्य जिलों और गावों में विभाजित होता वैसे ही नगर अनेक वार्डों में और प्रत्येक वार्ड अनेक गृह-समूहों में विभक्त होता था। उसी तरह गृह-समूहों और वार्डों की देख रेख के लिए एक-एक गोप अथवा स्थानिक नियुक्त किये जाते थे। समाहर्त्ता की भाँति नगर का उच्च अधिकारी नागरक अथवा नगराध्यक्ष कहलाता था। ग्राम परिषदों के समान ही नगरों में नगर परिषदें होती थीं। नगर-परिषद् की रूप-रेखा का परिचय चन्द्रगुप्त-कालीन पाटलिपुत्र की नगर-परिषद् से मिलता है, जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है।

नगर की सफाई और अग्निकांड जैसी दैवी विपत्तियों से बचने के निमित्त विस्तृत विधान बनाये गये थे। अधिकांश महत्वपूर्ण नगरों में दुर्ग, परिकर एवं अन्य सुरक्षा व्यवस्थायें थीं। नगर से बाहर जाने के लिए गुप्त मार्गों का भी उल्लेख पाया जाता है।

वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर नगर-निर्माण की नियमित शिक्षा ग्रहण की जाती थी और अनेक प्राचीन पुस्तकों में नगर-व्यवस्था का विस्तृत वर्णन पाया जाता है।

नगरों में मन्दिर, सड़कें, पटरियां, तालाब, पीने के पानी के कुएँ, पांथशालाएं, चिकित्सालय, चमकती हुई दूकानें, विहार-वन, जलाशय और आमोद-प्रमोद-गृह होते थे। गाँवों की भाँति ही नगर में भी गोप विविध प्रकार के आँकड़े संग्रहीत करते थे।

उपर वर्णित अधिकारियों के अतिरिक्त उनका एक अन्य वर्ग भी था जिसका प्राचीन भारतीय शासन-व्यवस्था में प्रमुख भाग होता था। यह वर्ग गुप्तचरों का था, जो न केवल राजाओं की ओर से ही वरन् सभी प्रमुख अधिकारियों द्वारा भी अपने अधीनस्थ कर्मचारियों पर नियन्त्रण रखने के निमित्त नियुक्त किये जाते थे। ये गुप्तचर अनेक वर्ग के होते और जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न कार्य करने के लिए नियुक्त किये जाते थे। यह मजे की बात है कि इन कर्मचारियों को राज्य की ओर से भोजन मिलता था और उन्हें बचपन से ही इस कार्य की शिक्षा दी जाती थी। स्त्रियाँ, जिनमें ब्राह्मण विधवाएँ भी होतीं थीं, भी जीविका-निर्वाह के निमित्त गुप्तचरों का काम करती थीं। गुप्तचरों की योग्यता, उनकी चातुरी, उनकी व्यक्ति और व्यवहार सम्बन्धी विस्तृत जानकारी के आधार पर आँकी जाती थी। उन्हें विभिन्न भाषाओं तथा विभिन्न देशों और व्यवसायों के अनुरूप वेश बदलने की शिक्षा दी जाती थी। वे

गुप्तचर

लोग गृहस्थ, कृषक, व्यापारी, साधु, संत, जोगी, भिक्षुकों और विद्यार्थी आदि का वेश धारण कर समाज के विभिन्न वर्गों में घुल मिल कर सूचनाएँ प्राप्त करते थे। राजा उनको अपने उच्च अधिकारियों, यथा—पुरोहित, मंत्री और सेनापति के ही नहीं अपने सगे बेटे और युवराज के कार्यों पर भी दृष्टि रखने के निमित्त नियुक्त करता था। अधिकारी गण भी अपने स्वामी का अनुकरण करके स्वयं गुप्तचरों की नियुक्ति करते थे। यही नहीं, गुप्तचरों का पता रखने के निमित्त प्रति गुप्तचर भी रक्खे जाते थे। बहुधा एक दूसरे से अपरिचित अनेक गुप्तचर एक ही काम पर नियुक्त किये जाते थे ताकि उन सब की दी हुई सूचनाओं को जाँच कर सत्यता का निर्णय किया जा सके।

गुप्तचरों में एक दूसरे को सूचना देने के निमित्त चिन्हों, प्रतीकों और गुप्त लिपियों का प्रचलन था।

न्याय-शासन के निमित्त देश भर में न्यायालयों का संघटन था। ये न्यायालय स्थानीय एवं केन्द्रीय दोनों प्रकार के थे। स्थानीय न्यायालय तीन प्रकार के थे। एक तो अभियुक्त के सजातीय लोगों का, दूसरा श्रेणी और तीसरा गाँव की परिषद् का था। इन स्थानीय न्यायालयों का बहुत महत्त्व होता था। वे शुक्र नीति में उल्लिखित इस व्यावहारिक सिद्धान्त पर आश्रित थे कि "किसी मुकदमे में तत्त्व का निर्णय वहीं के लोग सबसे अच्छा कर सकते हैं जहाँ का निवासी अभियुक्त हो और जहाँ झगड़ा उठ खड़ा हुआ हो।" इसी सिद्धान्त के आधार पर बृहस्पति ने कहा है कि जंगल में घूमते हुए व्यक्तियों के लिए जंगल में ही न्यायालय किया जाना चाहिये। उसी प्रकार सैनिकों के लिये शिविर में और व्यापारियों के लिए सार्थवाह में न्यायालय होना चाहिए।

न्याय-व्यवस्था

केन्द्रीय न्यायालय राजधानी में होता था। राजा स्वयं अथवा प्राड्विवाक् (प्रधान-न्यायाधीश) उसका अध्यक्ष होता था। उसमें चार या पाँच न्यायाधीश होते थे जो अपने चरित्र और शास्त्रीय ज्ञान के आधार पर मनोनीत किये जाते थे। यह न्याय की सर्वोच्च संस्था थी और देश भर की न्याय व्यवस्था पर एक प्रकार की देख-रेख रखती थी।

राज्य के न्यायालय और स्थानीय न्यायालयों के बीच मुख्य मुख्य नगरों में भी न्यायालय थे जहाँ राज्याधिकारी न्यायशास्त्रियों की सहायता से न्याय किया करते थे। इस प्रकार न्यायालयों का नियमित क्रम था, यथा—सजातियों की पंचायत, श्रेणी, ग्राम परिषद्, नगर न्यायालय और राजा का न्यायालय। इनमें से प्रत्येक अपने पूर्व के न्यायालय की अपेक्षा अधिक महत्त्व रखता था और वे वह उनके फैसलों की

अपील सुनता था। यद्यपि ये अपील की अदालतें थीं तथापि प्रत्येक को अपनी सीमा क्षेत्र के मूल मुकदमों को सुनने का भी अधिकार था। पहली तीन अदालतें संगीन जुर्म के मुकदमों की सुनवाई नहीं कर सकतीं थीं। वे नगर न्यायालयों में उपस्थित किये जाते थे। दीवानी और फौजदारी दोनों ही तरह के मुकदमों की सुनवाई एक ही अदालत में होती थी।

विधिनिर्माण

कानून और उसके निर्माण के सम्बन्ध में प्राचीन और आधुनिक समाज के दृष्टिकोण में महान अन्तर देखने में आता है। हम लोग एक निश्चित अधिकारी (संस्था) द्वारा स्वीकृत व्यवस्थित नियमों से परिचित हैं। हमारे लिए किसी ऐसी व्यवस्था से सामंजस्य कर सकना बहुत कठिन जान पड़ता है जिसमें निश्चित विधान (पोलिटिकलॉ) और आचारादेश (मारल लॉ) इन दोनों के बीच कोई स्पष्ट अन्तर न किया गया हो और नये नियमों को बनाने के अधिकार को मान्यता प्राप्त न हो।

प्राचीन भारत में धार्मिक आदेश, आचार-व्यवहार और लौकिक विधान के निश्चित आदेशों के बीच कोई स्पष्ट अन्तर न था। धर्म शास्त्रों में इन सबका एक साथ ही उल्लेख है। प्रत्येक व्यक्ति से आशा की जाती थी कि वह यथाशक्ति अपने को उनके अनुरूप ढाल लेगा।

धर्म (कानून) के स्रोत के सम्बन्ध में शास्त्रज्ञों में घोर मतभेद है; किन्तु सभी जगह धार्मिक साहित्य और लौकिक आचार का उल्लेख दो मुख्य स्रोतों के रूप में किया गया है। धार्मिक साहित्य में वेद, स्मृति और पुराण आते हैं। किन्तु उनमें कानून संबंधी किसी स्पष्ट नियम को खोज निकालना सरल नहीं है। अतः इन धार्मिक साहित्यों के आधार पर धर्मशास्त्रों (कानूनी पुस्तकों) की रचना कर इस कठिनाई को दूर किया गया और उन्होंने--धीरे-धीरे व्यवहार और शासननिर्णय ने कानून का रूप धारण कर लिया।

स्थानीय परम्पराएँ कितना महत्त्व रखती थीं यह हमारी कल्पना के परे है। न केवल देश में प्रचलित रीति-रिवाज वरन प्रत्येक ग्राम, प्रत्येक पेशे; प्रत्येक धर्म और यहां तक कि प्रत्येक परिवार का रीति-रिवाज और परम्परा कानून के समान समझी जाती थी। राजा को उन्हें मानना ही पड़ता था और वह देश, ग्राम, परिवार और निगमों के रीति रिवाजों के इतिहास का निश्चित विवरण रखता था।

कानून का स्रोत इन दोनों तक ही सीमित होने के कारण सिद्धान्त रूप से नये विधान बनाने का कोई मार्ग न था, किन्तु व्यवहार में वस्तुतः यह बात न थी। दो तरीकों से कानून में परिवर्तन अथवा परिवर्धन होता ही रहता था। धर्मशास्त्रों

में स्पष्टीकरण के लिए समय समय पर जो टीकाएँ लिखी जाती थीं, उनमें अक्सर शब्दों को तोड़ मरोड़ कर मूल भाव की व्याख्या बदलते हुए समाज की आवश्यकता और रुचि के अनुकूल की जाती थी। फलस्वरूप धर्मशास्त्र के एक ही स्थल के आधार पर देश के विभिन्न भागों में परस्पर विरोधी कानून प्रचलित हुए।

दूसरे, धर्मशास्त्रों के संदिग्ध स्थलों के सम्बन्ध में परिषद् नामक ब्राह्मणों की एक अधिकृत संस्था से व्यवस्था लेने की प्रथा का विकास हुआ। यद्यपि इन परिषदों का संघटन धर्मशास्त्रों में उल्लिखित धर्म (कानून) का मूल मन्तव्य व्यक्त करने के लिए हुआ था किन्तु वे ,अपने व्यवहार द्वारा शास्त्रों में परिवर्तन और परिवर्धन कर उन्हें बहुत कुछ बदल दिया करती थीं। इस प्रकार परिषद् बहुत कुछ एक विधि-निर्मातृ संस्था के नजदीक पहुँचती है। उसका संघटन रूढ़ि-बद्ध न था और स्थान भेद के अनुसार उसके स्वरूप में भिन्नता होती थी। एक अत्यन्त प्राचीन प्रमाण के अनुसार उसमें चार वेदज्ञ (प्रत्येक वेद का एक एक जानकार) एक मीमांसक, एक अंगों का विशेषज्ञ, एक धर्मशास्त्र-वक्ता और विभिन्न आश्रमों के तीन ब्राह्मण होते थे।

आरम्भ में राजा को कानून बनाने का कोई अधिकार न था; किन्तु राजनीतिक विचारों के विकास के साथ-साथ राज्यशासन भी कानून माना जाने लगा। इस दिशा में प्राचीनतम उल्लेखनीय उदाहरण महान् मौर्य सम्राट अशोक का है। उसने अनेक अध्यादेश जारी किये, यथा—कुछ निश्चित दिनों में कुछ निश्चित पशुओं का वध-निषेध और मृत्यु दण्ड पाये हुये बन्दियों को तीन दिन का जीवन-दान। यही नहीं, वह और भी आगे गया। उसके साम्राज्य में अनेक देश थे जहाँ विभिन्न कानून और व्यवहार प्रचलित थे। उसने इस बात की चेष्टा की कि सारे देश की न्याय पद्धति एवं दण्ड व्यवस्था एक समान हो।

राजतन्त्रीय शासनतंत्र पर विचार समाप्त करने के पूर्व आवश्यक जान पड़ता है कि उसके सामान्य स्वरूप पर भी दृष्टि डाली जाय। बहुधा इस बात पर विवाद होता रहा है कि क्या प्राचीन भारतीय राजतन्त्र निरंकुश था अथवा उसकी शक्ति पर किसी प्रकार का नियन्त्रण भी था। वैधानिक व्यवस्था सम्बन्धी विकास के आधुनिक विचारों से ओत-प्रोत होने के कारण, स्वभावतः राजाओं पर हम उस प्रकार का नियन्त्रण देखना चाहते हैं जैसा कि आधुनिक यूरोप के राजतन्त्रीय देशों में है। इस प्रकार का एक मात्र प्राचीन भारतीय नियंत्रण मंत्रियों अथवा मंत्रिपरिषदों का जान पड़ता है, जो आधुनिक शासन एवं विधान परिषदों से मिलती जुलती हैं। ऊपर जो कुछ कहा गया है,

प्राचीन राजतन्त्र का स्वरूप

उससे जान पड़ता है कि मंत्रियों का राजा पर बहुत कुछ नियन्त्रण होता था। यह भी हम देख चुके हैं कि उपर्युक्त दोनों संस्थाओं की संयुक्त बैठक के निर्णय से सामान्यतः राजा बद्ध था और उसे उन्हें मानना पड़ता था। किन्तु इस सम्बन्ध में हमारा ज्ञान अत्यन्त सीमित है। यद्यपि व्यवस्था–परिषद् प्रतिनिधित्वपूर्ण जान पड़ती है पर निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि उसके सदस्य मनोनीत अथवा निर्वाचित होते थे।

इसके अतिरिक्त राजा के अधिकार पर अनेक अप्रत्यक्ष नियंत्रण थे। पहली बात देश का कानून धार्मिक ढंग का था और वह राजा और प्रजा दोनों पर समान रूप से लागू होता था। दूसरी बात देश के विद्वान् ब्राह्मण कानून के रक्षक और व्याख्याकार होते थे। समाज में उनके स्थान को देखते हुए शायद ही ऐसा कोई धृष्ट राजा होता जो उनकी आज्ञाओं का उल्लंघन कर सकता। तीसरी बात, राजा के कर्तव्य की व्याख्या शास्त्रों में स्पष्ट रूप से कर दी गयी थी। उन दिनों मनुष्य की सामाजिक स्थिति उसके अधिकारों की दृष्टि से नहीं, वरन् उसके कर्तव्यों की दृष्टि से आंकी जाती थी, जिसके पीछे नैतिक तथा धार्मिक बल था। यदि कोई राजा कर्त्तव्यच्युत होता तो उन दिनों उससे उसी प्रकार की सनसनी फैल सकती थी जैसी कि आज जनता के अधिकारों की उपेक्षा होने पर फैला करती है।

इसके बावजूद राजा स्वच्छन्द राज्य कर सकता था और शायद अक्सर किया भी करता था। किन्तु यह याद रखना होगा कि पश्चिमी देशों में बाद के युग में जो वैधानिक नियंत्रण अत्यधिक सफल समझकर बनाये गये, वे भी राजा के निरंकुश अधिकार को रोकने में तब तक असफल रहे जब तक कि जनता ने उसे उनको मानने के लिए विवश करने के निमित्त अपनी सारी इच्छा और शक्ति न लगा दी। इगलैंएड का इतिहास इसका अच्छा खासा उदाहरण है। उससे यह स्पष्ट है कि राजतन्त्र के स्वरूप का निर्धारण संविधान के शब्दों से ही नहीं होता वरन् इस बात से होता है कि जनता अपने निःसंदिग्ध अधिकारों को कार्यान्वित करने को कहाँ तक प्रस्तुत और सक्षम है। यही बात प्राचीन काल के इतिहास के लिए भी लागू होती है, यथा–आक्टावियस पुराने संविधान को मानता रहा, किन्तु उन दिनों के साम्राज्यवादी रोम को प्राचीन गणतंत्र अथवा एक सीमित राजतन्त्र भी कहना एक नकल सी जान पड़ेगी।

अतः किसी संविधान का मूल्यांकन करते समय सबसे महत्व की बात होती है जनता की राजनीतिक चेतना और स्थिति को देखना। अर्थशास्त्र के ध्यानपूर्वक अध्ययन से पता लगता है कि प्राचीन भारत में प्रजा राज्य का एक महत्वपूर्ण

अंग समझी जाती थी। इसकी सैद्धान्तिक मान्यता इस पुस्तक में अनेक स्थलों में पाई जाती है। उनमें से कुछ की चर्चा पहले की जा चुकी है और दो की यहाँ भी की जाती है। सेना को संबोधित करते हुए राजा कहता है—"तुम्हारी ही तरह मैं भी वेतनभोगी सेवक हूँ।" आगे लिखा है, "जनता के क्रोध को भड़काने वाला काम करना अधार्मिक है।" व्यावहारिक राजनीति में भी कौटिल्य ने जनशक्ति को उचित महत्त्व दिया है। उसने बार-बार प्रजा के राजनीतिक संघटन एवं उनके असंतोष के कारणों और परिणामों की चर्चा की है। उसका कथन है कि राजा असंतुष्ट लोगों को समझा बुझा कर शान्त करे और प्रजा की इच्छा को महत्त्वपूर्ण स्थान दे। नये प्रान्त पर विजय करनेवाले राजा को कौटिल्य की सलाह है कि "उसे जनता के हितैषियों और नेताओं का अनुगमन करना चाहिए। जो कोई जनता की इच्छा के विरुद्ध कार्य करता है वह अविश्वस्त हो जाता है। राजा को चाहिए कि वह प्रजा का सा ही जीवन अपनाये, उन्ही का सा वस्त्र पहने, उन्हीं की भाषा बोले और उन्हीं के रीति रिवाजों को माने। प्रजा जिस विश्वासभाव से अपने राष्ट्रीय, धार्मिक और सामूहिक उत्सव मनाती और आमोद-प्रमोद करती हो उसी का अनुकरण राजा को भी करना चाहिए। जो कोई जनता को भड़काये अथवा उसे असंतुष्ट करे उसे निकाल बाहर करना चाहिए और किसी भयदायक स्थान में रख देना चाहिए। जन मत के प्रति कौटिल्य के भाव इस आदेश से स्पष्ट व्यक्त होते हैं कि 'राजकुमार चाहे कितनी भी कठिनाई में क्यों न हो और अपनी योग्यता के अननुरूप काम में भी चाहे क्यों न लगाया गया हो उसे अपने पिता का अनुसरण तब तक करते रहना चाहिये, जब तक या तो उसको जान का खतरा न हो अथवा उसका काम प्रजा में असन्तोष उत्पन्न करने वाला तथा पातक कर्म न हो। इसी भाव से शुक्रनीति का लेखक कहता है कि राजा को ऐसे अधिकारी को निकाल बाहर करना चाहिए जिस पर सौ व्यक्तियों ने आरोप लगाये हों। सभी प्राचीन लेखक इस बात पर एक मत हैं कि यदि राजा अत्याचारी हो तो उसे राज्यच्युत करने, यहाँ तक कि मार डालने का अधिकार प्रजा को है।

इन सब बातों से स्पष्ट है कि प्रजा को उच्च राजनीतिक स्वत्व प्राप्त थे और सभी बातों को देखते हुए यह सरलता से कहा जा सकता है कि प्राचीन भारत में राज्य का ऐसा आदर्श रूप था जिसमें राजा, नौकरशाही और प्रजा तीनों ही बराबरी में सुसंतुलित थे और एक दूसरे पर नियंत्रण रखते थे। यदि आज हम उसका उदाहरण ढूंढें तो प्रथम महायुद्ध के पूर्व की जर्मनी-सरकार—यदि स्वरूप में नहीं तो कम-से-कम भाव में तो अवश्य ही, भारत के सुदिनों के आदर्श संविधान से मिलती-जुलती जान पड़ती है।

२—अराजतंत्रीय राज्य

यह पहले कहा जा चुका है कि प्राचीन भारत में केवल राज तन्त्रात्मक शासन ही नहीं था। इस देश में आरम्भ से लोकतांत्रिक और कुलतांत्रिक दोनों ही प्रकार के शासन प्रचलित रहे। उनकी चर्चा न केवल प्राचीन साहित्य, सिक्कों और अभिलेखों में मिलती है, वरन् उन यवनों ने भी की है, जो स्वयं इस प्रकार के संविधान के व्यवहार का ज्ञान इतिहास में वर्णित किसी भी प्राचीन समाज की अपेक्षा अधिक रखते थे।

इस प्रकार के शासनों की स्थिति छठीं शताब्दी ई० पू० में लिच्छवि, शाक्य, मल्ल तथा अन्य अनेक जातियों में थी। लिच्छवियों आदि की तरह इनमें से कुछ जातियाँ तो अत्यन्त शक्तिशाली थीं और प्राचीन भारत में उन्होंने काफी ख्याति प्राप्त की थी।

खेद है कि इन राज्यों के संविधान के सम्बन्ध में ब्योरे की बातें विशेष और निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है। हम कुछ ऊपरी बात ही कह सकते हैं। जान यह पड़ता है कि सारा राज्य छोटी छोटी शासन इकाईयों में बंटा था और प्रत्येक इकाई अपने में स्वयं एक छोटे राज्य की सी थी और स्थानिक शासन के निमित्त अपने में पूर्णायंत्र थी। समस्त राज्य की शासन-सत्ता एक परिषद् के अधीन थी, जिसके सदस्य उन शासन—इकाइयों के सभी प्रधान होते थे। एक निश्चित काल के लिए सबका एक प्रमुख अथवा अध्यक्ष निर्वाचित होता था। यदि परिषद् बड़ी होती तो उसके सदस्यों में से एक कार्यकारी समिति भी निर्वाचित होती थी। यह शासन व्यवस्था एथेन्स में क्लाइस्थेनीज के संविधान से मिलती जुलती है और उस समानता का बहुत वर्णन करना अप्रासंगिक होगा।

परिषद् में युवक और वृद्ध सभी वय के लोग होते थे। उनकी बैठक एक भवन में होती थी, जो संथागार कहलाता था। भगवान बुद्ध लिच्छवि परिषद् के बड़े प्रशंसक थे। कहा जाता है कि एक बार उन्होंने अपने शिष्यों से कहा था कि "जिन लोगों ने तावत्रिंश देवताओं को नहीं देखा है, वे लिच्छवियों को इस परिषद् को आंख खोलकर देखें और इस परिषद् में तावत्रिंश देवताओं की परिषद् की कल्पना करें।" बुद्ध लिच्छवियों के संविधान की निहित शक्ति से भी बड़े प्रभावित थे। अजातशत्रु ने लिच्छवियों को जीतने का विचार कर जब अपने मंत्रियों को सलाह के लिये भगवान बुद्ध के पास भेजा तो उन्होंने उत्तर दिया कि लिच्छवि तब तक अजेय हैं जब तक उनका संविधान ठीक-ठीक चलता है। बुद्ध ने अपने संघ का लोकतान्त्रिक संघटन लिच्छवियों के संविधान के आधार पर ही किया था, ऐसा मानने के अनेक कारण जान पड़ते हैं।

लिच्छवियों की न्याय व्यवस्था के सम्बन्ध में भी हमें कुछ बातें ज्ञात हैं। उनकी व्यवस्था में लोकतन्त्र की भावना चरम सीमा तक पहुँची हुई थी और इससे उन वैराज्यों के शासन सिद्धान्त का भी पता लगता है। एक प्राचीन उल्लेख से ज्ञात होता है कि अपराधी पहले विचारार्थ विनिश्चयमहामात्त नामक अधिकारी के पास उपस्थित किया जाता था। यदि वह अभियुक्त को निरपराधी समझता तो उसे मुक्त कर देता था। यदि वह उसकी दृष्टि में अपराधी होता तो भी वह उसे दण्ड नहीं दे सकता था। वह उसे अपने से ऊँचे न्यायालय के पास भेज देता। इस प्रकार अभियुक्त को छः उच्च न्यायालयों के सम्मुख उपस्थित होना पड़ता। यदि उनमें से कोई भी न्यायालय उसे निर्दोष समझता तो वह उसे मुक्त कर देता था। किन्तु यदि उसकी दृष्टि में वह अपराधी प्रमाणित होता तो वह उससे ऊँचे न्यायालय के सम्मुख उपस्थित किया जाता था। केवल राजा (गणतंत्र के अध्यक्ष) को ही उसे दण्ड देने का अधिकार था। वह दण्ड व्यवस्था पवेनि-पुस्तक अर्थात् धर्मशास्त्र और पूर्व की नजीरों के आधार पर ही देता था। इस प्रकार मनुष्य की व्यक्तिगत स्थिति जिस सीमा तक सुरक्षित थी, वैसी सुरक्षा शायद ही संसार के किसी अन्य देश में पायी जा सके। वह तभी दण्डित किया जा सकता था जब क्रमशः समस्त न्यायालय उसे अपराधी समझें। यदि किसी एक न्यायालय की दृष्टि में भी वह निर्दोष समझा जाता तो उसका जीवन पूर्णतः सुरक्षित था। ऐसे राज्य में, जहाँ का शासन प्रजा स्वयं करती हो, इस प्रकार की प्रजा के अधिकार की सुरक्षा उचित ही जान पड़ती है।

चौथी शताब्दी ई०पू० में बहुत से लोकतन्त्रीय राज्य थे। मेगस्थनीज का कहना है कि उसके समय में अधिकांश नगरों ने लोकतान्त्रिक व्यवस्था अपना रक्खी थी। अन्य लेखकों ने उसकी इस बात का समर्थन किया है। चौथी शताब्दी ई० पू० के उल्लेखनीय राज्यों में एक सबरकेय (Sabarcae) था जो अन्य अनेक लोक-तन्त्रीय राज्यों के समान सिकन्दर की सेना से लड़ा था। उसका राज्यक्षेत्र सिन्धु नदी के किनारे था और उनके पास ६१००० पदाति ६००० अश्वारोही और ५०० रथ थे। सिकन्दर के आक्रमण के प्रसंग में कुछ अन्य लोकतन्त्रीय जातियों का उल्लेख किया जा चुका है।

यूनानी लेखकों ने अनेक उच्चकुलतंत्री राज्यों की भी चर्चा की है, यथा-निसा (Nysa) के नगर-राज्य में कुलतंत्री ढंग का राज्य था और उसकी शासन संस्था में अध्यक्ष के अतिरिक्त अभिजात वर्ग के ३०० सदस्य थे। कुछ राज्यों में तो शासन संस्था में पांच-पांच हजार तक सदस्य होते थे। एक ऐसे राज्य का भी उल्लेख पाया जाता है जहाँ युद्ध का नेतृत्व दो विभिन्न वंश के दो राजाओं के हा'

में था और राज्य पर वरिष्ठ परिषद् पूर्ण अधिकार के साथ शासन करती थी। यवन लेखकों का स्पार्टा के संविधान से इसकी स्पष्ट समानता पर जोर देना स्वाभाविक था।

मौर्य साम्राज्य की स्थापना इन वैराज्यों के लिए विनाशकारी सिद्ध हुई। केन्द्रीय साम्राज्य की भावना से स्वतन्त्र लोकतन्त्रीय राज्यों का सामंजस्य संभव नहीं था। कौटिल्य ने अपने अर्थ-शास्त्र में लिखा है कि उचित-अनुचित चाहे जिन भी उपायों से हो उनको समाप्त करना चाहिए। ऐसा जान पड़ता है कि वह अपने शैतानी कुचक्रों द्वारा उनका नाश करने में सफल रहा और मगध के आस-पास के लोकतांत्रिक एवं उच्चकुलतांत्रिक राज्यों का सदा के लिए लोप हो गया। किन्तु मौर्य साम्राज्य के पतन के पश्चात् कुछ नये लोकतांत्रिक राज्यों ने जन्म लिया। यौधेय, मालव और आर्जुनायन आदि अनेक राज्यों के संविधान लोकतान्त्रिक थे और भारतीय इतिहास में उनका महत्वपूर्ण भाग है। अपने पूर्ववर्तियों की भाँति ही वे विदेशियों के साथ जम कर लड़े किन्तु उन्हीं की भाँति उन्हें एक साम्राज्य शक्ति के सम्मुख झुकना भी पड़ा। चौथी शताब्दी ई० में समुद्रगुप्त ने उनमें से अधिकांश को जीत लिया। इस प्रकार देश के भीतरी साम्राज्यवाद और विदेशी आक्रमणों के शिकार होने से ५ वीं शताब्दी ई० के लगभग वैराज्यों का सर्वथा लोप हो गया। प्राचीन भारत में वैराज्यों के सम्बन्ध में परस्पर विरोधी मत रखने वाली दो विचारधारायें थीं एक के मत का प्रतिनिधित्व अर्थशास्त्र करता है जो सुदृढ़ राज्य और साम्राज्यवाद का घोर पक्षपाती था। वैराज्यों को वह इस आदर्श के मार्ग में बाधक समझता था और सभी उपायों द्वारा उनके विनाश की हिमायत करता था। दूसरी विचारधारा इन वैराज्यों को सुरक्षित रखने के पक्ष में थी। उसने उनमें निहित खामियों और खतरों की ओर संकेत कर उन्हें दूर करने का उपाय बताया है, यथा-शान्ति पर्व के अध्याय १०७ में इन वैराज्यों की एक घनिष्ठ जानकारी प्रदर्शित है और उनको सुरक्षित रखने पर जोर दिया गया है। केवल यही अनुच्छेद उन राजनीतिक विचारकों का भाव व्यक्त करने वाला बच रहा है जो सौ वर्षों से अधिक काल तक भारतवर्ष में प्रचलित लोकतान्त्रिक राज्योंके बनाये रहने के पक्षपाती थे।

पाँचवां अध्याय

नये धार्मिक आन्दोलन

भारत के सांस्कृतिक इतिहास में ६ ठी शताब्दी ई० पू० को एक महत्त्वपूर्ण मंजिल कह सकते हैं। प्राचीन वैदिक धर्म का जीवित शक्ति के रूप में धीरे धीरे ह्रास हो चुका था, और उपनिषदों ने जीवन के मूलभूत प्रश्नों पर चिन्तन के स्वतन्त्रता की आवाज उठायी थी। यथास्थिति से असंतोष, जीवन के दुख और चिन्ताओं के सम्बन्ध में विचार, मुक्ति के नये उपाय ढूंढ़ने की आन्तरिक इच्छा और ध्रुव सत्य की खोज की उत्कट अभिलाषा लोगों के मन में जाग उठी थी। इस प्रकार के विचार साधारण नियम बन गये थे। फलस्वरूप नये विचारों और दार्शनिक सिद्धान्तों का एक बवंडर उठ खड़ा हुआ और अनेक धार्मिक सम्प्रदायों ने जन्म लिया। भारत में ऐसी अवस्था न तो पहले कभी हुई थी और न तो पीछे फिर कभी हुई।

इस युग की विचारधाराओं के प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष परिणाम स्वरूप जो धार्मिक सम्प्रदाय उत्पन्न हुए उनमें चार विशेष उल्लेखनीय हैं, क्योंकि उन्होंने ही भारत के धार्मिक इतिहास पर स्थायी प्रभाव डाला है। इनमें से दो-जैन और बौद्ध—परंपरा विरोधी और क्रान्तिकारी थे और शेष दो—वैष्णव और शैव—सुधार वादी आन्दोलन कहे जा सकते हैं।

१–बौद्ध धर्म

बौद्ध धर्म के संस्थापक गौतम शाक्य जाति के क्षत्रिय थे। ये लोग नेपाल की तराई के उस भाग में रहते थे जो उत्तर-प्रदेश के बस्ती जिले के ठीक उत्तर पड़ता है। परवर्ती काल की लोक-श्रुतियों में गौतम को एक शक्तिशाली राजा का बेटा बताया गया है और कहा गया है कि उनका पालन-पोषण राजप्रासाद के विलासों में हुआ था। किन्तु तथ्य तो यह है कि शाक्यों का शासन-विधान लोक-तन्त्रीय था और गौतम के पिता कुछ काल के लिए उस राज्य के प्रधान चुने गये थे। गौतम की जन्म-तिथि के संबंध में काफी विवाद है, किन्तु वह ५६६ ई० पू०

गौतम बुद्ध

के आस पास मानी जा सकती है। युवा होने पर वे सामयिक चेतना के प्रवाह में पड़ गये। यह भावना आध्यात्मिक खोज की ओर प्रेरित करने वाली एक प्रकार की निराशावादिता थी। जन-श्रुतियों में नाटकीय ढंग पर कहा गया है कि किस प्रकार गौतम एक वृद्ध, एक रोगी और शव को देख कर खिन्न हो उठे और एक साधु के भव्य रूप से आकृष्ट होकर त्याग के आवेश में पत्नी और बच्चे को छोड़ कर अकस्मात घर से निकल गये। वस्तुतः बात यह जान पड़ती है कि संसार के दुखों से मुक्त होने की समस्या आर्यों के सुलझे हुए मस्तिष्क को आन्दोलित कर रही थी। वार्धक्य रोग और मृत्यु आदि सांसारिक दुःख इनमें प्रधान थे। उन लोगों ने भौतिक सुखों को व्यर्थ माना। गौतम भी उस बढ़ती हुई निराशावादिता से प्रभावित हुए और उच्च सत्य की खोज में घर से निकल पड़े। उन्होंने कुछ दिनों तक राजगृह के दो प्रसिद्ध उपाध्यायों की दार्शनिक शालाओं में अध्ययन किया। तत्पश्चात् गया के निकट उरुविल्व गये। वहाँ छः वर्ष की निरन्तर साधना और एकाग्रचित्तता के पश्चात उन्हें उस सत्य का बोध हुआ, जिससे उनका कहना था कि संसार के दुःखों का विनाश हो सकता है। इस प्रकार गौतम बुद्ध हुए।

बौद्धधर्म के मौलिक सिद्धान्त

बुद्ध की शिक्षा के मूलभूत सिद्धान्त चार आर्य सत्यों में व्यक्त किये गये हैं, अर्थात् (१) संसार दुख पूर्ण है (२) भौतिक अस्तित्व का कारण तृष्णा, इच्छा, मोह आदि हैं। (३) इन सबका विनाश कर उसे रोका जा सकता है (४) और इसके लिए सत्पथ का जानना आवश्यक है। उसमें दुःखों की उत्पत्ति के कार्य कारणों की विस्तृत चर्चा की गयी है और उनसे मुक्ति पाने का उपाय बताया गया है। यह प्रसिद्ध उपाय अष्टाङ्गिक मार्ग कहलाता है, यथा—सम्यक् वाक्, सम्यक् कर्म, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति, सम्यक् समाधि, सम्यक् संकल्प और सम्यक् दृष्टि। जीवन का अन्तिम लक्ष्य निर्वाण प्राप्त करना है। निर्वाण उस स्थायी शान्ति और सुख की स्थिति है, जो दुख और इच्छा, विनाश और रोग तथा जीवन और मरण से परे है।

बौद्ध धर्म के सदाचार सिद्धान्त

बुद्ध ने सदाचार की जो शिक्षा दी वह अत्यन्त सरल है। मनुष्य अपने भाग्य का स्वयं विधायक है; न कि कोई ईश्वर अथवा देवता। यदि वह इस जीवन में सत्-कर्म करता है तो उसका पुनर्जन्म उच्चतर जीवन में होगा और इसी प्रकार ऊँचा उठता जायेगा और अन्ततोगत्वा वह निर्वाण अथवा जीवन-मरण से मुक्ति प्राप्त कर लेगा। उसके विपरीत दुष्कर्मों का अवश्य दंड मिलता है। उनसे न केवल मनुष्य निर्वाण से वंचित होगा वरन् वह निम्न और निम्नतर जीवन में जन्म लेता जायेगा। मनुष्य

को सर्व प्रकार की अति से अलग रहना चाहिए अर्थात न तो अधिक भोग-विलास का जीवन व्यतीत करना चाहिए और न कठोर तप साधना का। उसके लिए मध्यम मार्ग सर्वोत्तम है। सदाचार की साधारण बातों, यथा—सत्य, दान, शुद्धता और भावनिग्रह के अतिरिक्त बौद्ध धर्म ने प्रेम, दया, समानता और शब्द अथवा कर्म से जीव मात्र को कष्ट न पहुँचाने पर बहुत जोर दिया है।

निषेधात्मक रूप में बौद्ध धर्म वैदिक यज्ञों और कर्मकाण्डों को निर्वाण का साधन नहीं मानता और ब्राह्मणों की सर्वोच्चता को चुनौती देता है।

गौतम बुद्ध ने पैंतीस वर्ष की अवस्था में धार्मिक आचार्य का रूप ग्रहण कर अपना नव संदेश सुनाते हुए मगध, कोशल और उसके आस पास के अनेक भागों में भ्रमण किया। इस प्रकार उन्होंने जो शिष्य बनाये वे दो प्रकार के थे—एक तो उपासक जो गृहस्थ रहकर अपने परिवारों में रहते थे और दूसरे भिक्षु जिन्होंने संसार त्याग कर संन्यास जीवन ग्रहण कर लिया था। बुद्ध में बहुत बड़ी संघटन शक्ति थी उन्होंने बौद्ध भिक्षुओं का जो संघ स्थापित किया, वह संसार के बड़े से बड़े धार्मिक संगठनों में एक था।

बौद्ध धर्म की कुछ उल्लेखनीय विशेषतायें इस प्रकार हैं। प्रथमतः सङ्घ में भिक्षुणी के रूप में स्त्रियों का प्रवेश। बुद्ध पहले इसके विरोधी थे, किन्तु जब उनके प्रिय शिष्य आनन्द ने आग्रह किया तो उन्होंने इसकी स्वीकृति दे दी पर साथ ही उन्होंने संघ के भविष्य के प्रति काफी सन्देह भी प्रगट किया। दूसरे, संघ में बिना किसी जाति और वर्ण भेद के प्रत्येक सदस्य के समान अधिकार थे। तीसरे, बुद्ध ने साहित्यिक संस्कृत भाषा को छोड़कर लोक भाषा में धार्मिक उपदेश देने की प्रथा आरम्भ की। संस्कृत को साधारण जनता समझ न पाती थी।

इन सभी कारणों से बुद्ध का धर्म बहुत लोकप्रिय हुआ और जब वे ८० वर्ष की अवस्था (४८६ ई० पू० में) में कुशीनगर में मरे तो बहुत बड़ी संख्या में भिक्षुओं और उपासकों ने शोक मनाया।

प्रथम संगीति

गौतम बुद्ध के निधन के कुछ ही दिनों पश्चात् उनके शिष्य राजगृह की संगीति में एकत्र हुए और यथासम्भव उन्होंने अपने गुरु की शिक्षा का पूर्ण और प्रामाणिक संग्रह प्रस्तुत किया। यह इस दृष्टि से आवश्यक था कि बुद्ध ने संघ के प्रधान रूप में किसी व्यक्ति को अपना उत्तराधिकारी मनोनीत नहीं किया था और अपने शिष्यों से स्पष्ट कहा था कि "धम्म एवं संघ के जो नियम मैंने तुम्हारे लिये निर्धारित कर दिये हैं, वे ही मेरे पश्चात् तुम्हारे गुरु बनें।"[1]

बौद्धों का धार्मिक साहित्य, जिसने सम्भवतः अपने एक अथवा दो शताब्दियों तक पूर्ण रूप धारण नहीं किया, त्रिपिटक अर्थात् तीन पिटारियों के नाम से प्रसिद्ध है। पहला विनय पिटक है, जिसमें बौद्ध भिक्षुओं के लिए निर्देश एवं संघ की व्यवस्था के नियम आदि हैं। दूसरे, सुत्त (सूत्र) पिटक में बुद्ध के धार्मिक उपदेशों का संग्रह है और तीसरे, अभिधम्म पिटक, में धर्म में निहित दार्शनिक सिद्धान्तों की व्याख्या है।[1]

बुद्ध और त्रिपिटक में संकलित उनके विचारों के अतिरिक्त तीसरी महत्त्वपूर्ण वस्तु संघ भी था। आज भी लाखों बौद्ध इन तीन पवित्र वस्तुओं में यह कह कर अपना विश्वास प्रकट करते हैं कि "बुद्धं शरणं गच्छामि, धम्मं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि" (बुद्ध की शरण में जाता हूँ, धर्म की शरण में जाता हूँ, संघ की शरण में जाता हूँ।) समान धर्म के लोगों का संघटन अर्थात् संघ की कल्पना नयी न थी। गौतम बुद्ध के पूर्व और उनके समय में इस ढंग की अनेक संस्थाएँ थीं; किन्तु बुद्ध को इस बात का श्रेय है कि उन्होंने इन संस्थाओं को पूर्ण एवं व्यवस्थित रूप दिया।

बौद्ध संघ की सदस्यता बिना किसी जातीय भेद-भाव के १५ वर्ष के ऊपर के स्त्री, पुरुष सभी के लिए समान रूप से खुली हुई थी। केवल कोढ़ी आदि जैसे रोगी, दास और दण्डापराधी आदि कुछ लोग उससे

संघ-सदस्यता

वंचित थे। बौद्धधर्म के मानने वाले नये व्यक्ति को अपना एक गुरु चुनना पड़ता था जो उसे भिक्षुओं की सभा में उपस्थित कर संघ में उसके सम्मिलित किये जाने का प्रस्ताव करता था। उस स्वीकृति के मिलने पर उसे दीक्षा दी जाती थी और एकांतिक तथा सदाचार पूर्ण जीवन की सारी बातें उसे समझा दी जाती थीं और आशा की जाती थी कि वह उनका पूर्ण रूप से पालन करेगा। नये विचारों और व्यवहारों से परिचित होने के निमित्त उसे विशेष शिक्षा आवश्यक थी; इसलिए पहले दस वर्ष तक उसे पूर्ण रूप से अपने गुरु के आश्रित रहना पड़ता था। उस विनय के युग के बाद वह धर्म-संघ का अंग बन जाता था। पश्चात् उसके छोटे से छोटे कार्य धर्म के निश्चित अध्यादेशों द्वारा नियंत्रित होते थे। छोटी से छोटी अवज्ञा के लिए उपयुक्त दण्ड का विधान था। बौद्ध संघ का मुख्य सिद्धान्त यह था कि संस्थापक के अतिरिक्त संघ के नियम कोई अन्य नहीं बना सकता। दूसरे लोग उनकी केवल व्याख्या कर सकते हैं, नये नियम नहीं बना सकते।

---

१. बौद्ध साहित्य के विस्तृत विवरण के लिये देखिये आगे छठाँ अध्याय—

बौद्ध संघ में भिक्षुओं के अनेक स्थानीय संघ थे किन्तु उन संघों को एक सूत्र में आबद्ध करने वाला कोई केन्द्रीय संघ न था। इस त्रुटि को दूर करने के निमित्त आवश्यकता होने पर समय २ पर समीतियाँ हुआ करती थीं। सैद्धान्तिक रूप से ये स्थानीय सङ्घ एक महान् सङ्घ के अंश मात्र थे। इस प्रकार किसी एक सङ्घ का सदस्य किसी दूसरे सङ्घ में आने पर स्वतः उसका सदस्य बन जाता था। ये स्थानीय सङ्घ पूर्ण रूप से लोकतान्त्रिक सिद्धान्तों द्वारा नियंत्रित होते थे। एक स्थान में रहने वाले सभी भिक्षुओं की परिषद् सर्वोच्च सत्ता समझी जाती थी; और सारी बातें मतदान द्वारा निश्चित होती थीं। परिषद् की कोई भी बैठक बिना सब सदस्यों की उपस्थिति के वैध न समझी जाती थी! अतः यदि कोई भिक्षु अनुपस्थित होता तो वह अपनी सहमति पहले दे जाता था। परिषद् की कार्यप्रणाली और संविधान आज के किसी भी चरम लोकतन्त्र में विश्वासी व्यक्ति को सन्तुष्ट करने में अलम् था। परिषद का प्रत्येक भिक्षु पर पूर्ण अधिकार था और वह उसके अपराधों के लिए विभिन्न प्रकार के दण्ड दे सकती थी। विहार के आवश्यक लौकिक कार्यों के चलाने के निमित्त वे लोग वैधानिक ढंग से अनेक अधिकारियों को नियुक्त करते थे। भिक्षुणियों का एक स्पष्ट वर्ग था जो प्रायः भिक्षुओं के सङ्घ के अधीन समझा जाता था। बौद्ध धर्म शास्त्रों की सामान्य दृष्टि भिक्षुणियों को निम्न पद देने की रही है; क्योंकि भगवान् बुद्ध का मत था कि उनके बौद्ध सङ्घ में प्रवेश से उसकी पवित्रता नष्ट हो जाने की आशंका है। इस दोष को दूर करने के निमित्त अनेक प्रकार की सुरक्षा व्यवस्थायें की गयी थीं। अन्यथा भिक्षु-सङ्घों पर लागू होने वाले सभी सिद्धान्त भिक्षुणी-सङ्घों पर भी समान रूप से लागू होते थे।

संघ का लोकतान्त्रिक स्वरूप

बौद्ध सङ्घ के दो महत्वपूर्ण व्यवहारों का उल्लेख करना आवश्यक जान पड़ता है। एक तो यह कि धर्म के पठन के निमित्त प्रति पक्ष अष्टमी, चतुर्दशी और पंचदशी को सभी स्थानीय भिक्षु नियमित रूप से एकत्र होते थे। अन्तिम दो दिनों में से एक दिन कोई विद्वान् भिक्षु पातिमोक्ख का पाठ करता था। इस पुस्तक में उन अपराधों की सूची दी हुई है जिनसे बौद्ध भिक्षुओं को बचना चाहिए। पाठ के साथ प्रत्येक अपराध के वर्णन के पश्चात् उपस्थित भिक्षु और भिक्षुणियों से पूछा जाता था कि क्या वे उस अपराध से मुक्त हैं या नहीं। यदि किसी का वह अपराध होता तो उसे अपना अपराध स्वीकार करना पड़ता और पुनः नियम और विधान के अनुसार उस पर विचार किया जाता।

पापों की स्वीकृति

वस्स

सङ्घ की दूसरी विशेषता वस्स थी। आदेश यह था कि प्रतिवर्ष वर्षा के दिनों में तीन महीने तक भिक्षुओं को एक स्थान पर स्थिर रहना चाहिए और अति आवश्यकता होने पर ही बाहर जाना चाहिए। वर्ष के शेष भाग में भिक्षु देश भर में घूमा करते थे।

दूसरी संगीति

ऊपर वर्णित सङ्घ के सङ्घटन के विकास में शताब्दियाँ लगे होंगे; किन्तु उसकी नींव स्वयं बुद्ध ने रक्खी थी। उसका मुख्य दोष यही था कि उसमें एकसूत्रता में आबद्ध करने वाली कोई केन्द्रीय अधिकारी शक्ति न थी, जिसके कारण सङ्घ में अक्सर फूट पड़ा करती थी। बुद्ध के निर्वाण के लगभग १०० वर्षों पश्चात् वैशाली के भिक्षु कुछ ऐसा कार्य करने लगे थे जिसे कुछ अन्य भिक्षु अनियमित समझते थे। फलतः बौद्धों की एक सङ्गीति हुई जिसमें उत्तरी भारत के विभिन्न भागों के भिक्षु सम्मिलित हुए। इस सङ्गीति का विवरण बहुत ही अस्पष्ट और उलझा हुआ है। किन्तु इतना निश्चित है कि उस सङ्गीति में गहरी फूट हुई और एक नया सम्प्रदाय उठ खड़ा हुआ।

अशोक

बौद्ध धर्म के इतिहास की मौर्य सम्राट अशोक के राज्यकाल से पूर्व हुई किसी महत्त्वपूर्ण बात का पता नहीं चलता। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, अशोक ने ही इस नगण्य सम्प्रदाय को विश्वधर्म में परिवर्तित किया। उसके ही राज्य काल में बौद्धों की तीसरी सङ्गीति पाटलिपुत्र में हुई। अशोक के महान् व्यक्तित्व और उसके उद्देश्य की दृढ़ता ने, शक्तिशाली साम्राज्य के साधनों का बल पाकर इस संरक्षित धर्म को अभूतपूर्व प्रोत्साहन दिया। मनुष्य ऐसे ज्ञान के भूखे थे, जो उन्हें दुनियाँ के दुखों और कष्टों से मुक्त कर सके। यह ज्ञान शाक्यपुत्र को प्राप्त हुआ और गया के बोधि वृक्ष के नीचे वह प्रकाश उत्पन्न हुआ जो अज्ञान और अंधकार के दुख को मिटानेवाला था। इस घटना के २०० वर्ष पश्चात् वह प्रकाशवाहक उत्पन्न हुआ जिसने इस पवित्र प्रकाश को गाँव-गाँव, नगर-नगर, प्रान्त-प्रान्त, देश-देश और महाद्वीप-महाद्वीप तक फैलाया। मौर्य सम्राट के अदम्य उत्साह और अति-मानवीय शक्ति के फलस्वरूप तीन महाद्वीपों ने इस सुधारस का पान किया और कुछ ही दिनों में बुद्ध का नाम संसार के एक तिहाई घरों में नित्यप्रति जपा जाने लगा। प्रत्येक युग और प्रत्येक राष्ट्र इस ढङ्ग का राजा नहीं उत्पन्न कर सकता और आज भी सम्राट अशोक विश्व के इतिहास में अद्वितीय है।

इस प्रकार बुद्ध धर्म विश्व धर्म की स्थिति में पहुँच गया और वह भारत का प्रधान धर्म बना। भारत भूमि पर आक्रमण करनेवाले विदेशियों का समूह इस धर्म की उदारता से प्रभावित हुआ। सम्भवतः बहुत बड़ी संख्या में उन लोगों ने इस धर्म को अपनाया भी। इनमें यवन राज मिनान्डर आज भी बौद्ध अनुश्रुतियों में राजा मिलिन्द के रूप में जीवित है और उसका नाम बौद्ध दर्शन की एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक के साथ सम्बद्ध है। किन्तु बौद्ध धर्म के विदेशी संरक्षकों में कनिष्क का नाम सबसे अधिक प्रसिद्ध है। बौद्ध धर्म की ख्याति में वह केवल अशोक से पीछे है। मौर्य सम्राट अशोक की तरह ही उसने धर्म पुस्तकों के स्वरूप को निश्चित करने के निमित्त चौथी बौद्ध सङ्गीति बुलायी थी। मध्य एशिया के राज्यों के साथ उसका जो राजनीतिक सम्बंध था उसने सम्भवतः केन्द्रीय और उत्तरी एशिया में बौद्ध धर्म के प्रसार को सहायता दी। बौद्ध धर्म एक ओर तो चीन तक जा चुका था। दूसरी ओर वह बर्मा, स्याम, मलय प्रायद्वीप और भारतीय द्वीपसमूह तक फैल गया। इस प्रकार कुषाण वंश के अन्त होने तक वह समस्त एशिया का प्रमुख धर्म बन गया था।

कनिष्क

किन्तु जिस काल में बौद्ध धर्म का सबसे अधिक विस्तार हुआ, उसी काल में सङ्घ में सबसे बड़ी फूट भी हुई। बौद्ध सङ्घ के विधान की चर्चा करते हुए हमने उसमें किसी केन्द्रीय सूत्र के अभाव का उल्लेख किया है; उसी के कारण फूट और मतभेद को बल मिला जान पड़ता है। बुद्ध के निर्वाण के १०० वर्ष पश्चात् ही वैशाली की सङ्गीति में जो फूट पड़ी थी वह धीरे २ बढ़ती गयी और कनिष्क के समय तक बौद्ध धर्म कम से कम १८ सम्प्रदायों बँट गया था। किन्तु सबसे बड़ी फूट तो अभी बाकी थी। उसी फूट के फलस्वरूप महायान का जन्म हुआ और बौद्ध सङ्घ स्थायी रूप से दो परस्पर विरोधी दलों में विभक्त हो गया।

महायान पंथ का विकास

इस नये परिवर्तन की विस्तृत चर्चा तो यहाँ नहीं की जा सकती लेकिन उसकी मुख्य २ बातें संक्षेप में इस प्रकार हैं। पहली बात तो यह है कि महायानियों ने बोधिसत्वों में विश्वास प्रकट किया। बोधिसत्व वे थे, जिन्होंने बुद्धत्व तो नहीं प्राप्त किया था किन्तु उसकी प्राप्ति की ओर बढ़ते जा रहे थे। इस प्रकार के अनेक बोधिसत्वों को उपासकों ने अपना लिया। साथ ही आरम्भ से चले आनेवाले बुद्ध की सामान्य भक्ति का स्थान मूर्तिपूजा ने ले लिया और बुद्ध ने देवता का रूप धारण किया। फलतः विस्तृत पूजा-पाठ तथा मन्त्र-तन्त्र आरम्भ हुए। दूसरी बात, पुरातन

मतवादी अपना लक्ष्य व्यक्ति का निर्वाण मानते थे; नये मतवादी प्राणीमात्र के मोक्ष की बात करने लगे। तीसरे, हीनयानी (पुरातन वादी लोग इसी नाम से, और नूतन वादी महायानी नाम से पुकारे जाते थे) मोक्ष का साधन आत्मविकास और सत्कर्म को ही मानते थे; किन्तु महायानी लोग उस लक्ष्य की प्राप्ति के साधन के रूप में अनेक बुद्ध और बोधि सत्वों के प्रति विश्वास पर जोर देने लगे। चौथे, धार्मिक साहित्य की भाषा के रूप में संस्कृत अपनायी गयी और नये धर्म ग्रन्थ लिखे गये जो अनेक तात्विक बातों में पुराने ग्रन्थों से भिन्न थे। इन बातों के अतिरिक्त तत्वविज्ञान में, धार्मिक जीवन के अन्तिम लक्ष्य में, बुद्ध के वास्तविक स्वरूप में तथा अन्य अनेक मूलभूत प्रश्नों के बारे में दोनों में गहरे मतभेद थे।

इस सम्प्रदाय के विकास का श्रेय कनिष्क के समकालिक नागार्जुन को दिया जाता है; यद्यपि यह स्पष्ट जान पड़ता है कि कुषाण काल से पूर्व से ही यह बीज रूप में मौजूद था। जो भी हो इस काल के पश्चात् महायान और हीनयान के बीच बढ़ती हुई प्रतिद्वन्द्विता ही बौद्ध इतिहास की मुख्य प्रवृत्ति है। कहा जाता है कि बुद्ध ने भविष्यवाणी की थी कि उनका धर्म केवल ५०० वर्षों तक शुद्ध रहेगा। उस अवधि तक बौद्ध धर्म अपनी शक्ति के चरम उत्कर्ष पर पहुँच चुका था। उसके पश्चात् धीरे २ उसका ह्रास होने लगा। उसके ह्रास और पतन की कहानी एक दूसरे अध्याय में कही जायगी।

२—जैन धर्म

सामान्यतः समझा जाता है कि जैन धर्म की स्थापना बर्द्धमान महावीर ने की; किन्तु कट्टर जैन धर्म के अनुसार वे जैन धर्म के जन्मदाता और विकासक कहे जाने वाले चौबीस धर्मगुरुओं (तीर्थंकरों) में अन्तिम थे। २४ तीर्थंकरों में से पहले बाइस का तो इतिहास में कोई पता नहीं लगता; और उनमें से अनेक के अस्तित्व के सम्बन्ध में काफी सन्देह किया जा सकता है। किन्तु २३ वें तीर्थंकार पार्श्वनाथ का अस्तित्व वास्तविक जान पड़ता है।

पार्श्वनाथ

उनके जीवन और कार्यों की जो रूपरेखा ज्ञात हो सकी है वह बहुत कुछ गौतम बुद्ध और महावीर के जीवनों से मिलती हुई है। वे वैभव और विलास के बीच पले थे और ३० वर्ष की अवस्था में उन्होंने गृहत्याग किया था। तीन मास की घोर तपस्या के बाद उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ और उन्होंने सारा जीवन धार्मिक गुरु के रूप में व्यतीत किया। १०० वर्ष की अवस्था में उनकी मृत्यु हुई। यह बात ८ वीं शताब्दी ई० पू० की समझी जाती है।

पार्श्व के निधन के २५० वर्षों पश्चात् वर्द्धमान हुए। उनका जन्म ५४० ई० पूर्व के आस पास वैशाली के निकट कुण्डग्राम में हुआ था। उनके पिता सिद्धार्थ ज्ञात्रिक क्षत्रिय वंश के धनी व्यक्ति थे और उनकी माता त्रिशला वैशाली के सुप्रसिद्ध लिच्छवि सरदार चेटक की बहिन थीं। वे विवाहित भी हुए और उनके एक पुत्री थी, जिसका विवाह जमालि से हुआ था। माता-पिता की मृत्यु के पश्चात् वर्द्धमान तीस वर्ष की अवस्था में गृह त्याग कर साधु हो गये और १२ वर्ष तक नंगे सन्यासी होकर घूमते रहे और कठोर तपस्या करते रहे। ४२ वर्ष की अवस्था में उन्होंने कैवल्य (ज्ञान) प्राप्त किया और सुख-दुख के बन्धन से उन्हें मुक्ति मिली और तत्पश्चात् वे महावीर तथा जिन (विजेता) कहे जाने लगे। उनके जिन नाम से उनके इस धर्म का नाम जैन पड़ा। इसके पूर्व यह धर्म निर्ग्रन्थ (बन्धनमुक्त) नाम से पुकारा जाता था। महावीर ने अपने जीवन के शेष ३० वर्ष धर्मगुरु के रूप में बिताये और ७२ वर्ष की (४६८ ई० पू०) अवस्था में पावा में उनका निधन हुआ।

महावीर

जान पड़ता है कि वर्द्धमान महावीर ने मुख्य रूप में पार्श्वनाथ के धार्मिक सिद्धान्तों को अपनाया और परिवर्द्धन तथा परिवर्तनादि से उनमें कुछ सुधार किये। पार्श्व आत्मनिग्रह और तपस् पर जोर देते थे और उनके चार आदेश थे—(१) तुम सत्य बोलोगे (२) तुम धन न रखोगे (३) तुम किसी जीव को हानि न पहुँचाओगे (४) तुम ऐसी चीज न ग्रहण करोगे जो मुफ्त न मिली हो। इनमें वर्द्धमान महावीर ने एक पाँचवीं बात और जोड़ी कि 'तुम ब्रह्मचारी रहोगे।' महावीर ने अपने अनुयायियों को वस्त्र का पूर्ण परित्याग कर पूर्णतः नंगे घूमने का आदेश देकर एक नयी परिपाटी आरम्भ की।

महावीर गौतम बुद्ध के कनिष्ठ समकालिक थे और इन दोनों ही उपदेशकों के विचारों में उल्लेखनीय समानता पायी जाती है। दोनों हो ने इस बात को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया कि संसार दुखपूर्ण है और मनुष्य की मुक्ति का अर्थ आवागमन की शृंखला से मुक्ति प्राप्त करना है। दोनों ही के मूल-भूत सिद्धान्त उपनिषदों से लिये गये हैं, किन्तु वे वेदों के सर्वोच्च अधिकार को नहीं मानते और उनमें उल्लिखित कर्मकाण्डों को मुक्तिदाता नहीं समझते। दोनों ही ईश्वर भाव की उपेक्षा करते हैं। दोनों ही मुक्ति के निमित्त ईश्वरोपासना करने की अपेक्षा शुद्ध और सदाचारपूर्ण जीवन व्यतीत करने पर जोर देते हैं। वे जीव मात्र के प्रति अहिंसा भाव रखने पर विशेष जोर देते हैं। दोनों ही मनुष्य के भावी जन्म और मुक्ति पर तथा सत्कर्म और कुकर्म के महत्प्रभाव पर जोर देते हैं। दोनों में ही जाति भेद की

भर्त्सना की है, दोनों ने ही लोकभाषा में अपने धर्म का प्रचार किया और दोनों ने ही संसार-त्याग को प्रोत्साहित किया और भिक्षु तथा भिक्षुणियों के सङ्घ की स्थापना की। वस्तुतः दोनों धर्मों में इतनी अधिक समानता है कि अनेक विद्वानों को यह विश्वास हो गया कि जैन धर्म बौद्ध धर्म की एक शाखा मात्र है। वस्तुतः यह धारणा गलत है। दोनों के स्वतन्त्र ऐतिहासिक विकास के अतिरिक्त उनमें मोक्ष की मूलभूत धारणाओं और अन्य बातों में ऐसी भिन्नता है कि उन्हें बाद में जोड़ा हुआ कहकर नहीं टाला जा सकता। उदाहरणतः आत्मा संबन्धी जैन धारणा बौद्धों की धारणा से एक दम भिन्न है। जैन धर्म तप पर बहुत जोर देता है और उसके कठोर रूप का हिमायती है। इसके विपरीत बुद्ध ने उसकी भर्त्सना की है और अपने शिष्यों से अत्यन्त सुखपूर्ण और अधिक कठोर तप के जीवन के बीच का मध्यम मार्ग अपनाने को कहा है। इसके अतिरिक्त बुद्ध ने नंगे बाहर जाने की प्रथा की भर्त्सना की है। जैन धर्म की अहिंसा भावना जिस चरम सीमा तक गयी है उसको बौद्धधर्म में कहीं कल्पना भी नहीं है। पुनः जैनधर्म जाति का विरोधी नहीं, वह बौद्धधर्म की अपेक्षा हिन्दू धर्म से अधिक मेलजोल वाला है।

इस प्रकार गौतम और महावीर दोनों ही दो स्वतन्त्र धार्मिक सम्प्रदायों के संस्थापक थे, इसमें सन्देह नहीं। दोनों ही तत्कालीन लोगों में उभरती हुई भावना के परिणाम थे और यह तो आश्चर्य की बात नहीं यदि दोनों ही सत्य की खोज में कुछ दूर तक एक ही दिशा में बढ़े। अन्यथा दोनों सम्प्रदायों के बीच उनके संस्थापकों के जीवनकाल में ही घोर प्रतिस्पर्द्धा थी। बुद्ध ने स्पष्ट शब्दों में प्रतिद्वंदी धर्म के कुछ अङ्गों की भर्त्सना की है। दोनों धर्माचार्यों ने एक ही प्रदेश में रह कर अपने धर्म का प्रचार किया और एक ही समाज के लोगों को अपना शिष्य बनाया। जहाँ तक आज आँकना सम्भव है उससे जान पड़ता है कि दोनों ही सम्प्रदाय अपने संस्थापकों के निधन के समय (जो कुछ ही वर्षों के अन्तर से हुए) देश में समान रूप से प्रभावशाली थे। पर पीछे चल कर दोनों की स्थिति में महान् अन्तर उत्पन्न हो गया। ५०० वर्षों के भीतर ही बुद्धधर्म विश्व-धर्म बन गया और संसार के एक तिहाई मनुष्य उसके अनुयायी हो गये। जैनधर्म का प्रसार भारत की सीमा के बाहर कभी न हो पाया। दूसरी ओर ५०० वर्षों से अधिक हुए, जब बौद्ध धर्म का अपनी जन्मभूमि से प्रायः लोप हो गया। जैनधर्म आज भी भारत में एक जीवित शक्ति है और उसका प्रभाव समाज के एक बहुत बड़े प्रभावशाली वर्ग पर है।

आरम्भ में बौद्धधर्म की अपेक्षा जैन धर्म की अधिक उन्नति हुई प्रतीत होती है। ई० पू० की चौथी शताब्दी समाप्त होने से पूर्व ही उसका प्रसार दक्षिण भारत

जैन धर्म का इतिहास

में हो गया था। इस सम्प्रदाय के बढ़ते हुए महत्त्व का बहुत बड़ा कारण सम्भवतः चन्द्रगुप्त मौर्य का संरक्षण था। जैन अनुश्रुतियों के अनुसार चन्द्रगुप्त ने न केवल जैन धर्म की दीक्षा ली थी, वरन् राजत्याग भी किया था और उसकी मृत्यु दक्षिण भारत में एक जैन भिक्षु के रूप में हुई थी।

इस कथन की सत्यता में संदेह किया जाता है, किन्तु उसके साथ के अन्य विवरण जैन इतिहास की दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय हैं। कहा जाता है कि महावीर के कैवल्य के २०० वर्षों पश्चात् मगध में एक घोर अकाल पड़ा। उस समय चन्द्रगुप्त मौर्य शासक और थेर भद्रबाहु जैन समाज के प्रधान थे। ये दोनों अपने कुछ अनुयायियों के साथ कर्णाट गये और स्थूलभद्र को मगध के जैनियों के नेतृत्व के लिए छोड़ गये। अब स्थूलभद्र अन्तिम व्यक्ति बच गये, जिन्हें चौदहों पूर्व, (महावीर के उपदेशों के सङ्कलन) ज्ञात थे। (उन्होंने उसकी शिक्षा भद्रबाहु से प्राप्त की थी) किन्तु भद्रबाहु ने उनके उत्तराधिकारियों को अन्तिम चार पूर्वों की शिक्षा देने का निषेध कर दिया था। इस धार्मिक साहित्य के नष्ट हो जाने की आशङ्का से पाटलिपुत्र में उन्होंने एक परिषद् की जिसमें प्रथम दस पूर्व, बारह अंगों के रूप में पुनर्व्यवस्थित किये गये। जैनों का वर्तमान धार्मिक साहित्य प्रथम ग्यारह अंगों का पुनर्व्यवस्थित रूपमात्र है, जो ५ वीं शताब्दी में वल्लभी में सम्पन्न हुए थे। उस समय तक १२ वाँ अङ्ग लुप्त हो चुका था।

जब भद्रबाहु के अनुयायी मगध लौटकर आये तो वहाँ घोर मतभेद फैला। नियमतः जैन लोग नंगे रहते थे; किन्तु मगध के जैनों ने श्वेत वस्त्र धारण करना आरम्भ कर दिया था। दक्षिण से लौटकर आनेवाले जैनों ने इस पर घोर आपत्ति की क्योंकि उनकी दृष्टि में पूर्ण नग्नता महावीर के उपदेशों का एक महत्त्वपूर्ण अंग थी। दोनों विचारों के लोगों में समन्वय न हो सका और श्वेताम्बर (श्वेत वस्त्र धारण करनेवाले) और दिगंबर (पूर्णतः नग्न रहनेवाले) नामक दो सम्प्रदायों में जैन धर्म बँट गया और आज तक बँटा हुआ है। यह दुर्भाग्यपूर्ण विभाजन अनेक अन्य परिणामों से भी युक्त हुआ। दिगंबरों ने १२ अंगों को सही मानने से इन्कार कर दिया। दिगंबरों की अनुश्रुतियों के अनुसार सभी अंगों को जाननेवाले अन्तिम व्यक्ति की मृत्यु महावीर के कैवल्य के ४३६ वर्ष पश्चात् हो गयी और उसके २५० वर्षों पश्चात् सम्पूर्ण अंगों का ज्ञान लुप्त हो गया।

इस आन्तरिक फूट के होने पर भी जैन धर्म का प्रसार देश में तेजी के साथ हुआ; वह दक्षिण भारत में भी फैला और थोड़े ही दिनों में अखिल भारत के महत्त्वपूर्ण धर्मों में उसका एक स्थान हो गया।

बौद्ध और जैन धर्मों के अतिरिक्त आजीविक आदि कुछ अन्य मुक्तवादी धर्म भी थे, जिनका कुछ काल तक तो काफी प्रभाव था पर शीघ्र ही वे लुप्त हो गये और उनका नामोनिशान तक न बचा।

३—भागवत धर्म[1]

एक ओर बौद्ध और जैन धर्म के सदृश यज्ञविरोधी धर्मों और दूसरी ओर कट्टर वैदिक धर्म के बीच के मार्ग को माननेवाले कुछ अन्य धार्मिक सम्प्रदायों का भी विकास हुआ और वे शीघ्र ही काफी शक्तिशाली भी हो गये। इन धार्मिक सम्प्रदायों का विश्वास वेदों के कर्मकाण्डयुक्त यज्ञ उपासना में न था। इस दृष्टि से बौद्ध और जैन धर्मों से उनकी समानता थी; फिर भी उनका उनसे महान् अन्तर था। बौद्ध और जैनधर्म "ईश्वर के अस्तित्व के सिद्धान्त की या तो उपेक्षा करते थे या उसके प्रति मौन थे। वे आत्म-वैराग्य और कठोर नैतिक साधना को निर्वाण अथवा कैवल्य का साधन मानते थे।" नये ईश्वरवादी धर्म विष्णु, शिव, शक्ति आदि रूपों में ईश्वर की कल्पना करते थे और वही उनका केन्द्रीभूत सिद्धान्त था। उनके अनुसार मोक्ष केवल इन देवताओं के प्रसादस्वरूप सम्भव है और वह भक्ति द्वारा प्राप्त हो सकता है। भक्ति है प्रेम और उपासना की वह चरम सीमा जब भक्त अपने को सभी प्रकार से अपने आराध्यदेव को समर्पित कर दे।

इस नई विचार धारा के मुख्य प्रतिनिधि भागवत धर्म (जो पीछे चलकर वैष्णव धर्म कहलाया) और शैव धर्म थे। भागवत धर्म का विकास उस विचारधारा से हुआ जिसका आरम्भ उपनिषदों में हुआ था और जो बौद्ध और जैन धर्मों के रूप में पूर्व में बिखर गया था। प्रायः साथ ही साथ पश्चिम में भागवत धर्म का विकास यादवों की शाखा सात्वतों में हुआ जो मथुरा प्रदेश में रहते थे। आरम्भ में यह धर्म हरिकहलाने वाले देवताओं के देवता—ईश्वर की भावना पर जोर देता था और यज्ञ तथा तप की अपेक्षा उसकी भक्तिपूर्ण उपासना को अधिक आवश्यक मानता था। उसने यज्ञ और वैदिक साहित्य की पूर्ण उपेक्षा तो न की किन्तु उन्हें गौण माना और उस पशु बलि को एकदम हटा दिया, जो ब्राह्मण धर्म का एक मुख्य अंग थी। इस प्रकार सात्वतों ने "बौद्धों और जैनों की अपेक्षा अधिक रूढ़िवादी सिद्धान्त पर एक धार्मिक सुधार करने का प्रयत्न किया। पशु बलि का निन्दापूर्ण त्याग और यज्ञ और तप की महत्त्वहीनता बौद्ध धर्म के समान ही इस

---

१. यह और अगला अंश मुख्य रूप से डा० भण्डारकर की पुस्तक, "वैष्णविज्म, शैविज्म इत्यादि" के आधार पर लिखा गया है और उद्धरण भी प्रायः उसी पुस्तक के हैं, अन्यथा पुस्तकों का उल्लेख किया गया है।

सुधारवादी धर्म में भी दिखाई गई है। किन्तु उसकी विशेषता है हरि की भक्ति-पूर्ण उपासना और आरण्यकों के शब्दों में विश्वास।"

इस धार्मिक सुधार को वृष्णि वंश के (सम्भवतः यह सात्वतों का दूसरा नाम था) देवकी–पुत्र वासुदेव कृष्ण से विशेष प्रोत्साहन मिला। उन्होंने इस सुधारवादी सिद्धान्त को गीता में दार्शनिक रूप में व्यक्त कर एक निश्चित स्वरूप दिया। इसके फलस्वरूप एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय का नियमित विकास हुआ और शीघ्र ही वासुदेव सबसे बड़े देवता "परम आत्मा, सभी आत्माओं के अन्तरात्मा" समझे जाने लगे।

छान्दोग्य उपनिषद् में ऋषि घोर के शिष्य देवकी–पुत्र ऋषि कृष्ण का उल्लेख है। उसमें उनके द्वारा शिक्षित सिद्धान्तों के भीतर देखने का हमें अवसर मिलता है। वे दान, आर्जव (दया), अहिंसा और सत्यवाचन आदि का उपदेश करते और तपस् पर जोर देते तथा यज्ञ की निन्दा करते हैं। इन्हीं बातों पर कृष्ण ने भी गीता में जोर दिया है। अतः समझा जाता है कि गीतावाले कृष्ण घोर के शिष्य ऋषि कृष्ण ही थे। भागवत धर्म का विकास भी घोर ऋषि की शिक्षा से प्रारंभ हुआ माना जाता है।

इसके साथ ही एक ऐसी भी धारणा है कि वासुदेव से चारव्यूह अर्थात् संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध और महाभूत उत्पन्न हुए। इनमें से प्रथम तीन तो वृष्णि वंश के सुविख्यात व्यक्ति हैं; और इस बात में कोई सन्देह नहीं है कि उन्होंने तथा शाम्ब ने वासुदेव के समान ही देवत्व का सम्मान प्राप्त किया। वासुदेव इनमें सर्वप्रमुख थे और अन्त में उनकी सर्वोपरि प्रधानता हो गई।

भगवद्गीता में विकसित अपने अन्तिम स्वरूप में भागवत धर्म में दो बातें मुख्य रूप से दिखाई देती हैं। वह तपस् जीवन को धार्मिक प्रगति का साधन मानने की प्रवृत्ति के विरोध में कर्म को सर्वोपरि महत्त्व देता है। उसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को संसार में रहकर अपनी सामाजिक स्थिति के अनुसार कर्म करना चाहिए। दूसरी बात भागवत धर्म में यह है कि वह लोगों का ध्यान निर्जीव और नैतिक उपदेशों तथा आत्मा के उत्कर्ष की ऐसी भावना में से हटाता है जिनका संबंध ईश्वरीय आस्था से न हो। ईश्वर–संबंधी विचार उपनिषदों में बिखरे पाये जाते हैं, किन्तु भगवद्गीता में उसे इस प्रकार व्यवस्थित किया गया है कि लोग उसे मुक्ति का साधन मानकर सरलतापूर्वक समझ सकें। यह नया धार्मिक विचार प्रारंभ में केवल मथुरा के आस पास सीमित सा प्रतीत होता है। यवन राजदूत मेगस्थनीज ने लिखा है कि "हिराक्लो का सौर-सेनोय नामक भारतीय जाति जिसके दो बड़े नगर मेथोरा और क्लाइसोबोरा हैं, बड़ा सम्मान करती है।" इस

प्रकार ई० पू० चौथी अथवा ३री शताब्दी के आरम्भ में हेराक्ली की, जो निस्संदेह वासुदेव कृष्ण ही हैं, मथुरा के शूरसेनों द्वारा, विशेष पूजा होती थी। उन्हीं की सीमा से होकर यमुना नदी बहती थी। मेगस्थनीज ने हेराक्ली और दक्षिण के पाण्ड्यों के पाण्ड्य देश से सम्बद्ध होने की कुछ उलझी हुई सी बातें लिखी हैं। उसकी इन बातों तथा पाण्ड्य देश की राजधानी मथुरा के नाम की उत्पत्ति निस्सन्देह मथुरा से होने के कारण कुछ विद्वानों का कहना है कि ई० पू० ४ थी शताब्दी में ही भागवत धर्म दक्षिण में प्रवेश कर चुका था।

प्रभाव का विस्तार

किन्तु ई० पू० दूसरी शताब्दी तक इस नये धर्म का विस्तार मथुरा के बहुत बाहर हो गया था। वासुदेव की उपासना का उल्लेख करने वाले लेख महाराष्ट्र, राजपूताना और मध्य भारत से मिले हैं। इनमें से एक से ज्ञात होता है कि राजा अन्तियालकिद का यवन राजदूत तथा तक्षशिला निवासी हेलियोडोर भागवत धर्म का अनुयायी था। और उसने बेसनगर (भूतपूर्व ग्वालियर राज्य की प्राचीन विदिशा) में देवताओं के देवता वासुदेव के सम्मान में एक गरुड़ध्वज की स्थापना की थी। इस प्रकार स्पष्ट है कि बौद्धधर्म की तरह ही भागवत धर्म में भी विदेशियों ने दीक्षायें ली थीं और दूसरी शताब्दी ई० पू० में उसकी ऐसी ख्याति फैल चुकी थी कि उसकी ओर सर्वसंस्कृत राष्ट्र भी आकृष्ट होने लगे थे। सीरिया की एक दन्त-कथा के अनुसार ई० पू० दूसरी शताब्दी में अर्मीनिया में कृष्णोपासना प्रचलित थी। इस नये धर्म की तत्कालीन लोकप्रियता इस बात से भी प्रकट होती है कि वासुदेव कृष्ण के काल्पनिक कार्यों के आधार पर नाटक भी किये जाने लगे थे। ई० पू० दूसरी शताब्दी से आगे तो इस धर्म की उन्नति अबाध होती गयी और अभिलेखों से ज्ञात होता है कि विचारणीय युग के अन्त तक कृष्णा नदी के पार तक दक्षिण भारत में उसका सिक्का जम चुका था।

ब्राह्मण धर्म से पुनर्मेल

ई० पू० दूसरी शताब्दी में मथुरा के इस स्थानीय सम्प्रदाय के अखिल भारतीय धर्म के रूप में विकसित होने का बहुत बड़ा कारण बहुत कुछ उसका कट्टर ब्राह्मण धर्म में ग्रहण कर लिया जाना है। दोनों धर्मों का आपसी समझौता इस बात से स्पष्ट है कि धीरे-धीरे कृष्ण दो प्रमुख वैदिक देवताओं से मिलाये जाने लगे, यथा—(१) विष्णु, जो आरम्भ में तो सूर्य के उपग्रह मात्र थे पर उत्तर वैदिक काल में एक महान देवता माने जाने लगे थे। (२) नारायण, जो आरंभ में सम्भवतः देवत्व प्राप्त ऋषि थे और पीछे चलकर सनातन, परम, ईश्वर तथा हरि रूप में प्रकट हुए। इस प्रकार का समन्वय ई० पू० दूसरी शताब्दी में हो चुका

था। यह हेलियोडोर द्वारा देवताओं के देवता वासुदेव के सम्मान में स्थापित गरुड़ध्वज से स्पष्ट है, क्योंकि गरुड़ नारायण विष्णु के वाहन थे। ये दोनों देवता अन्त में एक समझे जाने लगे।

इस प्रकार का सम्मिलन क्यों और कैसे हुआ, कहना कठिन है। सम्भवतः बौद्ध धर्म से अपनी रक्षा करने के लिए ब्राह्मणों ने ही इस ओर कदम बढ़ाया होगा इस समय तक अशोक के संरक्षण में बौद्ध धर्म ने प्रधानता प्राप्त कर ली थी। सम्भव है उससे ब्राह्मणों को अपने विनाश का खतरा उत्पन्न हो गया हो। संभव है दूसरी ओर भागवतों ने यह समझा हो कि प्राचीन और परम्परागत धर्म के साथ मिलने से उनकी ख्याति और प्रतिष्ठा अधिक होगी। कारण जो कुछ भी हों, यह सौदा ब्राह्मणों के लिए अवश्य कष्टदायक हुआ होगा। महाभारत की वह घटना जब शिशुपाल ने कृष्ण को अत्यन्त पूजित मानने के कारण भीष्म के प्रति जो विष-वमन किया सम्भवतः उन रूढ़िवादियों की भावनाओं का द्योतक है, जो जन्मना अब्राह्मण व्यक्ति को देवता मानने से इनकार करते थे।

भागवत धर्म का रूढ़िवादी ब्राह्मण धर्म के साथ समन्वय होने से न केवल भागवत धर्म की स्थिति दृढ़ हो गयी वरन् उससे ब्राह्मण धर्म को भी एक मोड़ मिला। अब भागवत् धर्म ने जिसे कि अब हम उसके अधिक लोकप्रिय नाम वैष्णव धर्म से पुकार सकते हैं, शैव धर्म के साथ मिलकर बौद्ध धर्म के विरुद्ध परम्परागत धर्म की रक्षा के निमित्त मुख्य दुर्ग का काम किया। मुख्यतः उसके प्रभाव से ही वैदिक काल के लिए अज्ञात मूर्तिपूजा धीरे धीरे ब्राह्मण धर्म में प्रविष्ट हुई। यद्यपि वेदों में उल्लिखित यज्ञ आदि भी होते रहे किन्तु धीरे-धीरे वे पीछे पड़ गये।

४—शैवधर्म

शैव धर्म की उत्पत्ति ऋग्वेद के रुद्र की भावना में देखी जा सकती है। रुद्र प्रकृति के उन क्रोधपूर्ण और घातक तत्वों के प्रतीक थे जो पशुओं का विनाश करते और मनुष्यों को दुःख देते थे। ऋग्वेद में उनके इस क्रोध को प्रार्थना और भेंट द्वारा शान्त करने की चेष्टा की गयी है। उनकी प्रार्थना का एक मन्त्र इस प्रकार है।

"हे रुद्र! हममें से महान् अथवा छोटे किसी को हानि न पहुँचाओ। अर्भक अथवा पूर्णयुवा किसी की भी हानि न करो। किसी पिता और माता का वध न करो और न हमारे ही प्रिय शरीरों को कष्ट दो। हमारे बीज और वंशों की कोई हानि न करो। हमारी जीविका, गायों और घोड़ों का विनाश न करो। अपनी क्रोधाग्नि में हमारे वीरों का वध न करो। हम सर्वदा हविष् से तुम्हारा आवाहन करते हैं।"

"किन्तु ऋग्वेद में रुद्र का स्थान नगण्य है।" हाँ, अन्य अनेक देवताओं की तरह कहीं २ उन्हें भी सर्वोपरि शक्ति सम्पन्न कहा गया है। कहा जाता है कि वे "तूफान-तूफान भी ऐसा वैसा नहीं वरन् बिजली के विनाशक साधन का सहयोगी, और क्रोध के प्रतीक थे।"

रुद्र की भावना का विकास यजुर्वेद में सुप्रसिद्ध शतरुद्रीय में हुआ है, जहां कि उनके विनाशक रूपों के साथ २ उनके उदार गुणों की भी चर्चा की गयी है। कहा गया है कि "जब उनके क्रोधी स्वभाव को प्रसन्न कर लिया जाता है तो वे शम्भु (दयावान), शंकर, कल्याणकारक और शिव (सुखद) हो जाते हैं।" ये तीनों नाम शतरुद्री के अन्त में आते हैं और शीघ्र ही इन नामों की ख्याति हो गई।

अर्थववेद में रुद्र महादेव के रूप में देखे गये हैं और उसकी चरम सीमा श्वेताश्वतरोपनिषद् में प्रकट होती है जहाँ उपनिषदों के अव्यक्त ब्रह्म के स्थान पर इस सक्रिय व्यक्त देवता की प्रतिष्ठा की गयी है। उसमें कहा गया है कि "केवल रुद्र ही एक ऐसे हैं—वे किसी दूसरे देवता को नहीं मानते—जो इस संसार पर अपनी शासन शक्ति से शासन करते हैं, जो सभी मनुष्यों की अन्तरात्मा हैं और जो सबका सर्जन कर उनकी रक्षा करते हैं।" "जब पूर्णतः अन्धकार था, न दिन था न प्रकाश, न अस्तित्व था न अनस्तित्व, तब अकेले शिव ही थे। वही अकेले अपरिवर्तनशील थे। वही सूर्य के प्रकाश थे, और उनसे ही सारी मेधा प्रकट हुई। वे अदृश्य हैं, कोई उन्हें आँखों से नहीं देखता। जो उन्हें अपने हृदय में बसा हुआ देखता है, वह अपने हृदय तथा अन्तश्चेतना के कारण अमर हो जाता है।" अन्ततः "ईश्वर, स्रष्टा और विनाशक शिव केवल भाव (विश्वास, भक्ति और शुद्ध हृदय) द्वारा जाने जा सकते हैं।" यहाँ यह भी कह देना उचित होगा कि शिव की पत्नी, उमा, हैमवती, केन उपनिषद् में महादेवी के रूप में प्रशंसित है। इस प्रकार स्वतन्त्र सम्प्रदाय के रूप में शैवधर्म बहुत प्राचीन है।

आरम्भ में महादेव रुद्र-शिव किसी सम्प्रदाय विशेष के उपास्य न थे। भारत के समस्त आर्य उनकी पूजा करते थे और यह बात अनेक शैव सम्प्रदायों के बन जाने के बावजूद आज तक चली आती है।

शैव सम्प्रदाय

शैव सम्प्रदायों का अस्तित्व ई० पू० दूसरी शताब्दी से खोजा जा सकता है। यह अत्यन्त सम्भव है कि भागवत सम्प्रदाय के अनुकरण पर ही शैववाद की सम्प्रदाय रूप में निश्चित स्थापना एक व्यक्ति ने की, जिसे लोग लकुलिन्, लकुटिन्, लकुलीश, और नकुलीश आदि भिन्न २ नामों से पुकारते थे। आरम्भ में शैव सम्प्रदाय अपने देवता अथवा ऐतिहासिक प्रतिष्ठाता के नाम-पर लकुल, पाशुपत अथवा माहेश्वर कहा

जाता था। युग के समाप्त होने से पूर्व ही चार मुख्य सम्प्रदाय—पाशुपत, शैव, कापालिक और कालामुख उठ खड़े हुए। इन सम्प्रदायों की क्रियात्मकता मुख्य रूप से अगले युग में हुई। अतः उनकी चर्चा एक स्वतन्त्र अध्याय में की जायेगी।

बौद्ध और भागवतों की भाँति शैवों ने भी विदेशियों को अपनी ओर आकृष्ट किया। भारत के कुषाण विजेता विमकदफिसस ने इस नये धर्म को ग्रहण किया। उसके सिक्कों की पीठ पर त्रिशूलधारी शिव और उनके पीछे उनका नन्दी अंकित पाया जाता है।

यहाँ यह भी बता देना उचित होगा कि उपासनावस्तु के रूप में शिव की प्रतिमा का स्थान लिंग ने शीघ्र ही ग्रहण कर लिया। अनेक विद्वानों का विचार है कि लिंगोपासना का यह तत्व और सम्भवतः ईश्वर के रूप में शिव की कल्पना ही आर्यों ने सिन्धु घाटी की सभ्यता से ग्रहण किया था। लिंगोपासना का व्यापक प्रचार हुआ जिससे शिव प्रतिमा की पूजा एक दम उठ गयी।

अन्य छोटे सम्प्रदाय

वैष्णव और शैव सम्प्रदायों के अतिरिक्त, उन्हीं के ढंग के कुछ अन्य छोटे धार्मिक सम्प्रदाय भी इस काल में प्रचलित हुए। ये सम्प्रदाय शक्ति, गणपति, स्कन्द अथवा कार्त्तिकेय, ब्रह्मा और सूर्य के अनुयायी थे। शक्ति शिव की पत्नी थी; गणपति और कार्त्तिकेय पहले रुद्र शिव के गण थे पर पीछे उनके पुत्र माने जाने लगे। सूर्य वैदिक काल के एक प्रमुख देवता थे।

ब्रह्मा, जो पीछे चलकर विष्णु और शिव के साथ त्रिदेवताओं में गिने जाने लगे, वैदिक देवता न थे। उनकी उत्पत्ति प्रजापति से हुई है, जो ब्राह्मणों में देवताओं के स्रष्टा कहे गये हैं और वहाँ उनका सर्वोच्च स्थान है। उपनिषदों में वे अव्यक्त मूल ब्रह्मन् बताये गये हैं। इसी से ईश्वरवादियों ने ब्रह्मा के नाम की कल्पना की है।

इन उपर्युक्त देवताओं के अतिरिक्त कुछ अन्य वैदिक देवताओं की याद अब भी बनी हुई थी, यद्यपि उनका स्थान निश्चय ही निम्न था। पर बहुतों को तो एक दम भुला दिया गया।

धार्मिक अवस्था का चित्रण पूरा करने के निमित्त यह बताना आवश्यक है कि पृथ्वी और पर्वतों की आत्माओं तथा यक्ष, गन्धर्वों और नागों के प्रति आदिम विश्वास की छाप अब भी जनसाधारण के मन पर बनी हुई थी और वे तथा हाथी, घोड़े, गायें, कुत्ते और कौए जनमानस पर अधिकार रखते थे।

छठाँ अध्याय

साहित्य

१—बौद्ध साहित्य

बौद्धों का धार्मिक साहित्य कई भाषाओं यथा—पालि, जो भारत के प्रादेशिक बोलचाल की भाषा के आधार पर साहित्य की भाषा थी, संस्कृत और कई अन्य बोलियो में लिखा गया। इनमें से केवल पालि संस्करण का पूरा साहित्य प्राप्त है और अन्य संस्करणों के केवल थोड़े से अंश मूल अथवा तिब्बती और चीनी अनुवाद के रूप में बच रहे हैं।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है बौद्धों का पालि धार्मिक साहित्य तीन भागों में बँटा हुआ है (१) विनयपिटक (२) सुत्तपिटक (३) अभिधम्मपिटक, जिनमें क्रमशः अनुशासनिक नियम और विधान, धार्मिक विचार और दार्शनिक सिद्धान्तों की चर्चा है।

विनय पिटक के अन्तर्गत निम्नलिखित भाग हैं। (१) सुत्त विभंग (२) खन्धका (३) परिवार अथवा परिवार-पाठ।

सुत्त विभंग में, जैसा कि नाम से स्पष्ट है, सुत्तों की व्याख्या (विभंग) है। इनमें जिन सुत्तों की व्याख्या की गयी है वे पातिमोक्ख नियम कहलाते हैं। उसमें २२६ प्रकार के अपकर्मों और पापों की सूची और उनके प्रायश्चित्त दिये हैं। इस सूची को विनय का केन्द्रविन्दु समझना चाहिए। प्रति प्रतिपदा और पूर्णिमा के दिन भिक्षु-भिक्षुणियों के सम्मुख इस सूची का पारायण होता था और प्रत्येक व्यक्ति को यदि उनमें से कोई तदुल्लिखित अपकर्मों में से किसी अपकर्म का दोषी होता तो उसे अपना अपकर्म स्वीकार करना पड़ता और उस पाप का उचित प्रायश्चित्त करना पड़ता था।

खन्धका दो भागों—महावग्ग और चुल्लवग्ग—में विभक्त हैं और उनमें संघ में सम्मिलित होने, निश्चित स्थान में चौमासा बिताने, निश्चित तिथियों पर कतिपय कृत्य करने, भिक्षुगतित्व और तपस्या तथा उपानह, आसन, यान, वस्त्र, भिक्षा, आवास, बिछौने एवं भिक्षुओं के द्वारा प्रयोग में लाये जाने वाले अन्य छोटे मोटे सामानों आदि के नियम और विधान बारीकी के साथ बतलाये गये हैं बिना किसी

अतिशयोक्ति के कहा जा सकता है कि इन नियमों में भिक्षु और भिक्षुणियों की दिनचर्या की नगण्य से नगण्य बातें भी उल्लिखित हैं। इन नियमों के आरम्भ में उस अवसर की संक्षिप्त चर्चा है जब बुद्ध ने उनको निश्चित किया था। इस प्रकार प्रसंगवशात् उसमें बुद्ध के जीवन की अनेक कहानियाँ और दन्तकथायें हैं और उनसे तत्कालीन जीवन और रहन-सहन पर काफी प्रकाश पड़ता है।

विनय का अन्तिम भाग—परिवार—एक प्रकार से पूर्वोक्त साहित्य का सारांश तथा अनुक्रमणिका है।

२. सुत्तपिटक बौद्ध साहित्य का सबसे महत्त्वपूर्ण भाग है और वह पाँच निकायों अर्थात् संग्रहों में विभक्त है। यथा—(१) दीघनिकाय (२) मज्झिम निकाय (३) संयुत्तनिकाय (४) अंगुत्तरनिकाय (५) खुद्दकनिकाय।

(१) दीघनिकाय (दीर्घ सूत्रों का संग्रह) में चौतीस लम्बे सुत्त हैं, जिनमें बौद्ध धर्म के एकाधिक अंगों का विवेचन है। इन सुत्तों का एक दूसरे से कोई सम्बन्ध नहीं है और प्रत्येक सुत्त स्वयं अपने में पूर्ण है। प्रत्येक सुत्त में एक छोटी सी भूमिका है जिसमें उस अवसर की चर्चा है जब भगवान् बुद्ध ने उसका प्रवचन किया था। कुछ सुत्तों में गौतम बुद्ध और किसी अविश्वासी के बीच हुई वार्तायें सुकराती रूप में लिखी गयी हैं, यथा—तेविज्ज सुत्त में ब्राह्मण वसिष्ठ (वासेट्ठ) काफी वाद-विवाद के पश्चात् स्वीकार करते हैं कि वेदों का ज्ञान नहीं, वरन् बौद्ध आचार के सिद्धान्त ही पूर्ण ब्रह्म की प्राप्ति की ओर लेजा सकते हैं।

इस निकाय में अन्य महत्त्वपूर्ण उल्लेखनीय विषय हैं—विश्व की उत्पत्ति, जाति व्यवस्था की कृत्रिमता, ईश्वर से मिलन के साधन, पुनर्जन्म, निर्वाण, आत्म-ज्ञान, आत्मचिंतन, संन्यास, चमत्कार, आत्मा सम्बन्धी सिद्धान्त, उदार धार्मिक विचार, पूर्व बुद्ध, वस्तुओं का कारण और ब्राह्मण का वास्तविक स्वरूप। इसमें एक महत्त्वपूर्ण सुत्त है महापरिनिब्बान सुत्त, जिसमें भगवान बुद्ध के अन्तिम दिनों, उनके निधन और अन्त्येष्टि के विस्तृत और रोचक वृत्तांत हैं।

(२) मज्झिम निकाय (मध्यम सूत्रों का संग्रह) में १५२ सुत्त हैं। ये सुत्त दीघ निकाय की अपेक्षा छोटे हैं किन्तु इसमें भी अधिकांशतः उसी प्रकार की बातों की चर्चा है। इनमें उपदेश और वार्तालाप के साथ साथ बहुत से आख्यान भी हैं जो गद्य और पद्य में वर्णित हैं और उनका अन्त किसी शिक्षा अथवा उपदेश में होता है।

(३–४) संयुत्त निकाय (अथवा संयुक्त सूत्रों का संग्रह) में सुत्तों के ५६ समूह हैं जो पाँच बड़े विभागों में बटे हुए हैं। अंगुत्तरनिकाय (अंगुत्तर अर्थात् संख्या के चढ़ते हुए क्रम से संकलित सुत्त-संग्रह) में २३०० से अधिक सुत्त हैं जो ग्यारह

विभागों में इस प्रकार बँटे हुए हैं कि ऐसी एक बात के सभी सुत्त पहले भाग में, दो बातों वाले सुत्त दूसरे भाग में और तीन बातों वाले सुत्त तीसरे भाग में और इसी प्रकार अन्य भागों के अंग के अनुसार उसके विषयों की भी संख्या है। यथा—तीसरे भाग में स्वार्थ-दमन के तीन उपाय बताये गये हैं; कम्म की उत्पत्ति और विनाश के तीन कारण कहे गये हैं; तीन प्रकार के निग्रह बताये गये हैं, आदि आदि। इसी तरह चौथे भाग में आनन्द की चार अवस्थायें, लोक प्रियता के चार तत्व, उत्तम पद प्राप्ति के चार उपाय, आदि-आदि कहे गये हैं।

तीसरे और चौथे निकाय में मुख्यतः पहली और दूसरी निकाय में कही गयी बातें ही दुहरायी गयीं हैं किन्तु दोनों ही वार्तालाप के ढंग पर लिखे गये हैं और उनमें सैद्धान्तिक बातें तर्क पूर्ण ढंग से कही गयी हैं। उनमें एक ही अथवा उनसे सम्बन्धित बातें विभिन्न स्थलों में बिखरी हुई हैं। तीसरे और चौथे निकायों में ये बातें अपनी परस्पर संगति के साथ संकलित की गयी हैं। इस प्रकार किसी विषय पर बौद्ध धर्म की शिक्षा जानने के लिए प्रथम दो निकायों को सम्पूर्ण उलटने की आवश्यकता होती है; किन्तु तीसरे-चौथे निकायों में सभी विभिन्न विचार एक साथ एकत्र कर दिये गये हैं।

(५) सुत्त पिटक के अन्तिम भाग का नाम खुद्दक निकाय (अर्थात् सुत्तों का क्षुद्र संग्रह) भ्रामक है। वस्तुतः उसके अन्तर्गत अनेक विभिन्न प्रकार की रचनाएं हैं और कुछ तो उनमें बहुत ही बड़ी हैं। यही नहीं, यह भी स्पष्ट है कि इस निकाय में संकलित विभिन्न पुस्तकें विभिन्न समयों में रची गयी हैं और वे मूलतः किसी एक संग्रह का अंश नहीं हैं। ये पुस्तकें हैं—

(१) खुद्दकपाठ—इसमें ६ छोटे २ मंत्र हैं जो दीक्षा के समय पढ़े जाते हैं।

(२) धम्मपद—यह बौद्ध साहित्य के सर्वोत्तम और सुप्रसिद्ध पुस्तकों में गिना जाता है और उसमें बौद्ध धर्म के आचार सम्बन्धी शिक्षाओं का विवेचन अत्यन्त सुन्दर ढंग से ४२६ सूत्रों में किया गया है।

(३) उदान (शब्दशः, उत्साहवर्द्धक और आनन्ददायक वचन)—यह १०-१० सुत्तों के ८ भागों में विभाजित है। प्रत्येक सुत्त में बुद्ध के जीवन की कोई न कोई घटना कही गयी है और अन्त में उस अवसर पर बुद्ध द्वारा दिया गया उपदेश अंकित है।

(४) इतिवुत्तक (ऐसा बुद्ध ने कहा)—इसमें गद्य और पद्य में ११२ छोटे २ सुत्त हैं जिनमें बिना किसी विस्तार के बुद्ध की शिक्षायें लिखी गयी हैं। जैसा कि इसके शीर्षक से स्पष्ट है, इसका उद्देश्य बुद्ध के कथन का उद्धरण है।

(५) सुत्तनिपात—इसमें ५ भागों में पद्यबद्ध सुत्तों का संग्रह है। इनमें से अनेक तो प्राचीनता में बुद्ध के समय के हैं और अन्य धार्मिक ग्रन्थों में भी पाये जाते हैं। इस कारण प्रारम्भिक बुद्ध-धर्म की जानकारी के लिए इसका विशेष महत्त्व है।

(६–७) विमानवत्थु और पेतवत्थु—इन पुस्तकों में इस लोक में मनुष्य द्वारा किये गये पाप और पुण्य के आधार पर स्वर्ग और नर्क में मिलनेवाले सुख और दुखों का वर्णन है। ये दोनों पुस्तकें पालि धार्मिक साहित्य की सबसे पीछे की रचनाएं हैं।

(८–९) थेरगाथा ओर थेरीगाथा—इनमें विभिन्न थेर (भिक्षु) और थेरियों (भिक्षुणियों) द्वारा रचित गाथाओं (कविताओं) का संग्रह है। ये गीत इतने सुन्दर हैं कि कुछ आलोचकों का मत है कि वे कालिदास और अमरु की कोटि में रक्खे जा सकते हैं।

(१०) *जातक*—बौद्ध महायान धर्म के अनुसार केवल अनन्त जन्मों के संचित सत्कर्मों के फलस्वरूप ही कोई व्यक्ति बुद्ध का पद प्राप्त कर सकता है। महान् गौतम बुद्ध को भी बुद्ध होने से पूर्व ८४००० योनियों से गुजरना पड़ा था। जातकों में गौतम बुद्ध के इन पूर्व जन्मों की ५०० से अधिक कहानियां संकलित हैं। इनमें से बहुत सी कहानियां तो काफी प्राचीन हैं और संभवतः बुद्ध के जन्म से पूर्व भी प्रचलित थीं और गौतम बुद्ध के पूर्व जन्मों की कथाओं के रूप में बौद्धों ने हल्के से परिवर्तन के साथ सदाचार शिक्षा के निमित्त उन्हें अपना लिया। इन कहानियों में सामान्य जीवन के विभिन्न रूप पाये जाते हैं। इस प्रकार उनमें प्राचीन भारत की आर्थिक अवस्था, सामाजिक रस्मरिवाजों का परिचय देनेवाली बहुमूल्य सामग्री प्राप्त होती है।

ये कहानियां गद्य-पद्य में कही गयी हैं, किन्तु केवल पद्य भाग ही धार्मिक साहित्य का अङ्ग माना जाता है और गद्य भाग को संक्षेप रूप में पद्य में वर्णित कहानी की व्याख्या समझा जाता है। किन्तु वस्तुतः कुछ पद्य तो इतने दुरूह हैं कि साथ की गद्यात्मक कहानी के बिना समझ में ही नहीं आते। गद्यात्मक व्याख्या का अनुवाद सिंहली भाषा में हुआ था और फिर सिंहली भाषा से पाँचवी शताब्दी में उनका पालि में अनुवाद किया गया। मूल गाथाओं के साथ यह पालि पाठ ही वर्तमान जातक साहित्य है।

(११) निद्देस अथवा महानिद्देस–सुत्त निपात के दो भागों की टीका है। इस टीका का धार्मिक साहित्य में सम्मिलित किया जाना इस बात का द्योतक है कि यह बहुत काफी प्राचीन है।

(१२) पटिसम्भिदामग्ग—वस्तुतः यह एक दार्शनिक पुस्तक है और उसका उचित स्थान अभिधम्मपिटक में होना चाहिए।

(१३) अपदान—इसमें प्रमुख स्त्री-पुरुष अरहतों (बौद्ध सन्तों) के पूर्व जन्म के सत्कर्मों की कहानियों का संग्रह है। इस प्रकार इसे जातकों का ही दूसरा रूप समझना चाहिए।

(१४) बुद्ध वंश—इसमें १२ कल्पों में हुए गौतम बुद्ध से पूर्व के २४ बुद्धों की पद्यात्मक कहानियाँ हैं।

(१५) चरियापिटक—इसमें ३५ जातकों का पद्यबद्ध संग्रह है जिसमें बताया गया है कि किस प्रकार पूर्व जन्म में गौतम बुद्ध ने १० पारमिताएँ प्राप्त की थीं।

३. अभिधम्मपिटक—अभिधम्म की व्याख्या उच्च धर्म अथवा तत्व विज्ञान के रूप में की जाती है। किन्तु जैसा कि रीज डेविड्स् ने बहुत पूर्व इङ्गित किया था, अभिधम्म पिटक में तत्व विज्ञान नाम मात्र को भी नहीं है। जहाँ तक इसके दर्शन का सम्बन्ध है, वह प्रायः सुत्तपिटक के ढङ्ग का ही है उसके सम्बन्ध में विदुषी श्रीमती रीज डेविड्स् ने एक बार कहा था कि यदि सम्पूर्ण अभिधम्मपिटक न भी होता तो भी बौद्ध दर्शन के हमारे ज्ञान में तनिक भी कमी नहीं आती। वस्तुतः सुत्त पिटक और अभिधम्म में प्रतिपादित विषय एक से हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि अभिधम्म में उनकी चर्चा व्याख्या, वर्गीकरण, विभाजन आदि अधिक विद्वत्तापूर्ण ढङ्ग से किये गये हैं। अभिधम्म प्रायः प्रश्नोत्तर के रूप में लिखा गया है और प्रतिपाद्य विषय मुख्यतः सुत्त और विनयपिटक से लिये गये हैं। अभिधम्मपिटक के अन्तर्गत सात पुस्तकें हैं। उनमें कथावत्थु, जो तिस्स मोग्गलिपुत्त रचित बतायी जाती है, सबसे महत्व की है। उसमें इस ढङ्ग के प्रश्नों का विवेचन है—"क्या आत्मा है? क्या कोई अरहत अपना अरहतत्व खो सकता है?, क्या दो प्रकार के निर्वाण हैं?, क्या किसी परिवार का पिता अरहत हो सकता है?" इन सभी प्रश्नों का उत्तर नकारात्मक दिया गया है।

पिटकों की उत्पत्ति और प्राचीनता के सम्बन्ध में कुछ शब्द कहने आवश्यक जान पड़ते हैं। कोई भी इस बात को नहीं मानता कि इन ग्रन्थों में, जो बुद्ध रचित बताये जाते हैं, वस्तुतः उनके ही शब्द हैं। निस्सन्देह बुद्ध के अनेक शब्द और सिद्धान्त, जो उनके शिष्यों में प्रचलित रहे, वे इन पिटकों में सङ्कलित किये गये हैं। किन्तु अपने वर्तमान रूप में प्राप्त ये पुस्तकें तथा उनकी वर्तमान व्यवस्था और वर्गीकरण, निश्चय ही बहुत दिनों के श्रम के परिणाम हैं।

कुछ अंशों में तो निस्सन्देह ही वे गौतम बुद्ध के जीवन और उपदेश काल से एक अथवा दो शताब्दियों बाद के हैं।

विनयपिटक का अधिकांश भाग ३५० ई० पू० के पहले अवश्य ही रचा जा चुका होगा। यही बात सम्भवतः सुत्तपिटक के प्रथम चार निकायों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। खुद्दक निकाय के संकलित विभिन्न ग्रन्थों की रचना निश्चय ही विभिन्न कालों में की गयी होगी। इस निकाय का ढीलाढाला स्वरूप और उसकी उत्तरकालीन रचना इस बात से भी स्पष्ट है कि बर्मी संस्करण में चार ऐसे ग्रन्थ हैं जो सिंहल में धर्म ग्रन्थों के अन्तर्गत नहीं माने जाते; और पिटक के स्यामी संस्करण में ७ ग्रन्थों का अभाव है। किन्तु इतना तो है ही कि खुद्दक-निकाय का अधिकांश भाग ३ री शताब्दी ई० पू० में अस्तित्व में आ चुका था। अभिधम्मपिटक की अन्तिम पुस्तक—कथावत्थु, की रचना अशोक के राज्य काल, ई० पू० तीसरी शताब्दी में हुई थी।

धार्मिक साहित्य के अतिरिक्त पालि में अन्य बौद्ध ग्रन्थ भी लिखे गये। उनमें सबसे प्रसिद्ध मिलिन्दपञ्हो है, जिसमें बौद्ध सिद्धान्तों का विवेचन राजा मिलिन्द और बौद्ध भिक्षु नागसेन के वार्तालाप के रूप में किया गया है। राजा मिलिन्द यवन—बाख्त्री नरेश मिनाण्डर है। इस पुस्तक की रचना सम्भवतः उत्तर-पश्चिम भारत में पहली दूसरी शताब्दी ई० में हुई।

धर्मेतर बौद्ध साहित्य

धार्मिक साहित्य की व्याख्या की आवश्यकता के फलस्वरूप टीकाओं के रूप में विस्तृत साहित्य का प्रादुर्भाव हुआ। इन टीकाओं में विवेचनात्मक टिप्पणियों द्वारा न केवल मूल का स्पष्टीकरण किया गया है, वरन् विषयों की दृष्टि से उनको नये सिरे में सजाया भी गया है और इनमें दन्त कथाएँ तथा अन्य अनेक बाहरी बातें भी जोड़ी गयी हैं। टीकाकारों ने पिटकों में बिखरी हुई सामग्री के आधार पर बुद्ध का जीवन-चरित भी प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इसके फलस्वरूप निदानकथा की रचना हुई। उसमें बुद्ध की कहानी उनके दीपङ्कर बुद्ध के समय में सुमेध के रूप में जन्म लेने के समय से उस समय तक की दी गई है जब श्रेष्ठि अनाथपिण्डिक ने बौद्ध सङ्घ को जेतवन का दान दिया।

टीकाएँ

पालि धार्मिक साहित्य का महानतम टीकाकार बुद्धघोष हुआ जो सम्भवतः सिंहल में महानाम के राज्य काल (४१३ ई०) में हुआ था। वह अनुराधपुर के महाविहार में रहता था जहाँ उसने सिंहली अट्ठकथा अथवा टीका का अध्ययन किया। वह विसुद्धिमग्ग का लेखक था, जो कि बौद्ध सिद्धान्त पर प्रथम व्यवस्थित और

दार्शनिक ग्रन्थ है। उसने पालि त्रिपिटक की प्रायः सभी पुस्तकों पर विद्वत्तापूर्ण टीकाएं की हैं कि किन्तु निश्चितरूप से नहीं कहा जा सकता कि बुद्धघोष धम्मपद और जातक को टीकाओं का भी लेखक है या नहीं।

धर्मेतर बौद्ध साहित्य की रूपरेखा पूर्ण करने की दृष्टि से सिंहल के दो सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक ग्रंथों-दीपवंस और महावंस की चर्चा भी आवश्यक है। दीप-वंश (सिंहल द्वीप का इतिहास) ४ थी अथवा ५ वीं शताब्दी के आरम्भ में लिखा गया और वह मुख्य रूप से सिंहली अट्ठकथा पर आश्रित है। किन्तु सिंहल के इतिवृत्त लिखने का अधिक सफल प्रयत्न महावंश में पाया जाता है जो सम्भवतः महानाम नामक उस कवि की रचना है जो ५ वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में हुआ था। सिंहल में अन्य पालि ग्रंथ रचे गये किन्तु उनकी विशेष चर्चा यहाँ आवश्यक नहीं।

जिस पालि साहित्य का संक्षिप्त वृत्तान्त ऊपर दिया गया है वह केवल थेर-वादिन् कहे जानेवाले बौद्धों के एक वर्ग का धार्मिक साहित्य है। अन्य सम्प्रदायों के एकाधिक भिन्न धार्मिक ग्रन्थ हैं जिनमें से कुछ तो संस्कृत में ,और कुछ मध्य-देशीय भाषा में, जो संस्कृत से सम्बद्ध होने के कारण मिश्रित संस्कृत कही जा सकती है, लिखे गये हैं। संस्कृत में लिखा यह धर्म-साहित्य मुख्यतः महायान सम्प्रदाय का है। हीनयान सम्प्रदाय के सर्वास्तिवादियों के भी धर्मग्रन्थ संस्कृत में हैं। इस धार्मिक साहित्य में अनेक बड़े ग्रन्थ थे। किन्तु आज उनमें से कुछ तो अंशतः ही प्राप्त हैं। जो अंश प्राप्त हैं, उनमें से अधिकांश पूर्वी तुर्किस्तान की हाल की खुदाई में पाये गये हैं। अन्यथा, वे तिब्बती और चीनी अनुवादों में ही बचे हैं। अतः इस धार्मिक साहित्य का विस्तृत विवरण देना असम्भव है; किन्तु ऐसा जान पड़ता है कि पालि और धार्मिक साहित्य—दोनों का विकास एक ही स्रोत–संम्भवतः लुप्त मागधी धार्मिक साहित्य, था। मूल सर्वास्तिवादियों के धार्मिक ग्रन्थ अभी तक चीनी और तिब्बती अनुवादों द्वारा ही ज्ञात थे; किन्तु हाल में गिलगिट में जो हस्तलिखित ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं उनसे मूल संस्कृत विनय का अधिकांश भाग प्रकाश में आया है। पालि धार्मिक साहित्य से उनकी काफी समानता है फिर भी उनमें काफी भेद पाया जाता है। इस धार्मिक साहित्य का विनय व्यवस्था एवं तथ्य में पालि विनय के समान ही है और आगम निकायों से मिलते जुलते हैं। दीर्घागम, मध्यमागम, एकोत्तरागम और संयुक्तागम क्रमशः दीघ, मज्झिम, अंगुत्तर और संयुक्त निकायों से मिलते जुलते हैं। एक क्षुद्रकागम भी है। किन्तु पता नहीं कि उसमें खुद्दक निकाय के सभी ग्रन्थ हैं या नहीं। किन्तु, संस्कृत धर्मग्रंथों में सूत्र निपात, उदान, धर्मपद, स्थविर-गाथा, विमानवस्तु और

बुद्धवंश पाये जाते हैं। जो क्रमशः सुत्तनिपात, उदान, धम्मपद, थेरगाथा, विमान वत्थु और बुद्धवंश से मिलते हैं। चीनी भाषा में अनूदित सात अभिधर्म पुस्तकें भी हैं किन्तु उनके मूल धार्मिक साहित्य से विकसित होने में सन्देह है।

थेरवादियों के पालि पिटक और सर्वास्तिवादियों के संस्कृत धर्मग्रंथों के समान अन्य बौद्ध सम्प्रदायों के पास अपने सम्पूर्ण धार्मिक ग्रंथ नहीं थे। किन्तु प्रत्येक सम्प्रदाय एक या अधिक ग्रन्थों को विशेष रूप से पवित्र समझता था और शेष के संबंध में उसने उपलब्ध धर्मग्रन्थों से ही अपने उपयुक्त ग्रन्थ चुन लिये। इन विशेष पुस्तकों में एक महावस्तु है जो लोकोत्तरवादियों का विनयपिटक से सम्बद्ध ग्रंथ है। लोकोत्तरवादिन् वैशाली की संगीति के पश्चात् मूल संघ से अलग होनेवाले महासांघिकों की एक शाखा है। महावस्तु यद्यपि विनय माना जाता है, तथापि उसमें भिक्षुकों के लिए विनय जैसी कोई चीज नहीं है। उसमें बोधिसत्व और बुद्ध के संबंध में वृत्त कथाएँ हैं जो बहुत कुछ पालि पिटक में पायी जाने-वाली कथाओं से मिलती जुलती हैं। इस प्रकार बौद्ध साहित्य में पायी जानेवाली अनेक जातक कथाओं और अन्य कहानियों का वह एक स्रोत है। यद्यपि महावस्तु हीनयान सम्प्रदाय का ग्रन्थ है तथापि उसके कई सिद्धान्त महायान सम्प्रदाय के अत्यधिक निकट हैं। उसकी बुद्ध के प्रति व्यक्त प्रार्थनायें शिव और विष्णु को सम्बोधित पौराणिक स्तोत्रों से मिलती जुलती हैं।

अब हम महायान सम्प्रदाय के समृद्ध संस्कृत साहित्य पर आते हैं। इस सम्प्र-दाय की आरम्भिक पुस्तकों में, जिसे बौद्ध सम्प्रदाय में विशेष ख्याति प्राप्त हुई है, ललित विस्तर है। वह बुद्ध के जीवन की अत्यन्त अलंकृत कहानी है। यह पुस्तक आरम्भ में हीनयान सम्प्रदाय की थी पर पीछे चलकर उसकी गणना वैपुल्य-सूत्र अथवा महायानसूत्र में की जाने लगी।

इन वैपुल्यसूत्रों को महायानियों के धार्मिक ग्रंथ समझना चाहिए। महायानियों के पास रूढ़िवादी अर्थों का कोई धार्मिक ग्रन्थ तो शायद ही था, क्योंकि इन पुस्तकों का विकास विभिन्न समयों में विभिन्न सम्प्रदायों के बीच हुआ था। किन्तु आज नेपाल में उनकी विशेष प्रतिष्ठा है। वैपुल्यसूत्र के अन्तर्गत निम्न-लिखित सूत्र आते हैं :—(१) अष्ट साहस्रिका प्रज्ञापारमिता (२) सद्धर्म पुण्डरिका (३) ललितविस्तर (४) लंकावतार अथवा सद्धर्मलंकावतार (५) सुवर्णप्रभास (६) गण्डव्यूह (७) तथागत गुह्यक अथवा तथागत-गुणज्ञान (८) समाधिराज और (९) दशभूमीश्वर।

इन ग्रन्थों में सबसे महत्त्वपूर्ण सद्धर्मपुण्डरीक (सद्धर्म-कमल) है जिसमें महायान सम्प्रदाय की सभी उल्लेखनीय विशेषताएं निहित हैं। इसमें मानव

शाक्यमुनि की भावना के स्थान पर बुद्ध की प्रतिष्ठा की गयी है, जो देवों के देव स्वयंभू और समस्त विश्व के स्रष्टा कहे गये हैं। इस ग्रन्थ का चीनी अनुवाद २६५ और ३१६ ई० के बीच हो गया था। अतएव इस ग्रन्थ की रचना कम से कम २ री शताब्दी के आरम्भ में तो हो ही गयी होगी।

महायान सम्प्रदाय की सबसे महत्वपूर्ण दार्शनिक पुस्तक "प्रज्ञा पारमिता" है। पारमिता शब्द का तात्पर्य उन गुणों की परम प्राप्ति है जो बुद्धत्व प्राप्त करने के लिए आवश्यक हैं। आरम्भ में ये गुण छः थे (जिनमें बाद में चार और जोड़ दिये गये) यथा—दान, शील, क्षांति, वीर्य, ध्यान और प्रज्ञा। प्रज्ञा पारमिता में इन सभी गुणों की चर्चा है; किन्तु प्रज्ञा पर विशेष रूप से ओर दिया गया है जिसका तात्पर्य मुख्यतः शून्यवाद (संसार कुछ नहीं है) की प्राप्ति है। इस पुस्तक के चार संस्करण हैं जिनमें १,००,०००, २५,०००, १०,००० और ८,००० श्लोक हैं। और ये क्रमशः शत, पंचविंशतिदश और अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता कही जाती हैं।

महायान साहित्य में दन्त-कथाओं का भी बहुत बड़ा भण्डार है। इन कथाओं के, जो अवदान कहे जाते हैं, सर्व प्रसिद्ध संग्रह अवदान शतक और दिव्यावदान हैं, जिनका अनुवाद ३री शताब्दी में चीनी भाषा में हुआ था। इनके अतिरिक्त क्षेमेन्द्रकृत अवदान कल्पलता भी है। क्षेमेन्द्र काश्मीरी कवि था और ११वीं शताब्दी में हुआ था।

बौद्ध संस्कृत साहित्य के कुछ महानतम लेखकों की चर्चा अब की जाती है। इनमें सबसे प्रसिद्ध अश्वघोष था जो कनिष्क का समकालिक और संभवतः अयोध्या का निवासी था। एक फ्रांसीसी विद्वान् ने बड़े उत्साह के साथ उसकी चर्चा इन शब्दों में की है—"ईसा की आरम्भिक शताब्दी में जिन महान् धाराओं ने भारत को रूपान्तरित कर नव-जीवन दिया उनके आरम्भ विन्दु पर वह खड़ा है कवि, संगीतज्ञ, प्रचारक, आचार्य, शास्त्री, दार्शनिक, नाटककार और कथाकार के रूप में। वह इन सब कलाओं को खोज निकालने वाला है और सबमें पारगंत भी। अपनी बहुलता और विभिन्नता में वह मिल्टन, गेटे, काण्ट और वाल्तेयर की याद दिलाता[1] है।

अश्वघोष की रचनाओं में सबसे महत्त्वपूर्ण बुद्धचरित है जिसमें महाकाव्य के रूप में बुद्ध का संपूर्ण चरित्र अंकित किया गया है। इस बौद्ध महाकाव्य की गणना वाल्मीकि और कालिदास की रचनाओं के समकक्ष की जाती है। उसकी दूसरी रचना 'सौन्दरानन्द' काव्यशैली का एक अत्यन्त सुन्दर नमूना है। इसका भी

१ सिल्वेन लेवी—कलकत्ता रिव्यू, सितम्बर १९२३ पृष्ठ १७७

संबन्ध बुद्ध के जीवन से ही है; किन्तु उसने मुख्य रूप से बुद्ध के जीवन की उन घटनाओं की चर्चा है जिनका या तो बुद्धचरित में संक्षिप्त उल्लेख है अथवा जिनकी एक दम चर्चा ही नहीं है। अश्वघोष की तीसरी बड़ी रचना सूत्रालंकार है, जो गद्य और पद्य में लिखी गयी कथाओं का संग्रह है। वज्रसूची नामक एक अन्य ग्रन्थ भी अश्वघोष रचित कहा जाता है। इसमें ब्राह्मणों की जाति-व्यवस्था की भर्त्सना, मुख्यतः ब्राह्मण साहित्य के उद्धरणों अथवा उनके उल्लेखों के आधार पर की गयी हैं। महायानवाद के प्रचारक के रूप में अश्वघोष की ख्याति 'महायान श्रद्धोत्पाद' नामक दार्शनिक ग्रन्थ के आधार पर है, जो आज भी जापान के स्कूलों और बिहारों में प्रमुख ग्रन्थ के रूप में पढ़ा-पढ़ाया जाता है। अश्वघोष कृत "सारिपुत्र प्रकरण" नामक नाट्य काव्य की अकेली हस्तलिखित प्रति मध्य एशिया से प्राप्त हुई है। कुछ अन्य ग्रन्थ भी अश्वघोष कृत बताये जाते हैं; किन्तु उनके रचयिता के संबन्ध में संदेह है।

अश्वघोष के बाद नागार्जुन का नाम आता है। वह शत साहस्रिका प्रज्ञा पारमिता का रचयिता कहा जाता है जो प्राचीनतम महायान सूत्रों में गिना जाता है। वह माध्यमिक सूत्रों का भी रचयिता और माध्यमिक सम्प्रदाय का संस्थापक था। उसका कथन है कि संसार की सारी वस्तुएँ भ्रम मात्र हैं। कुछ अन्य पुस्तकें भी उसकी लिखी बतायी जाती हैं किन्तु यह कहना कठिन है कि वह उन सबका प्रणेता था या नहीं। चीनी भाषा में ५ वीं शताब्दी के आरम्भ में अनूदित होनेवाले नागार्जुन के जीवनचरित्र के अनुसार उसका जन्म दक्षिण भारत के एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उसने वेद तथा अन्य ब्राह्मण धर्मग्रन्थों का अध्ययन किया था, किन्तु अन्त में उसने बौद्धधर्म की दीक्षा ले ली और महायान बौद्धधर्म का सबसे बड़ा उपदेशक बना। वह सम्भवतः २ री शताब्दी ई० के अन्तिम चरण में हुआ था।

आर्यदेव सम्भवतः नागार्जुन का कनिष्ठ समसामयिक था। हाल ही में उसकी एक पुस्तक चतुःशतिका का पता चला है। उसकी एक दूसरी पुस्तक के केवल कुछ अंशमात्र प्राप्त हैं, जिसमें ब्राह्मण कृत्यों का खोखलापन दरसाया गया है।

आर्यदेव के बाद अनेक प्रसिद्ध बौद्ध लेखक हुए, जिनकी इस चर्चा की पूर्ति के निमित्त उल्लेख आवश्यक है। किन्तु उनकी चर्चा करते हुए हमें अपने इस युग को परिधि से बाहर जाना पड़ेगा।

असङ्ग अथवा आर्य असङ्ग महायान बौद्धधर्म के योगाचार सम्प्रदाय का संस्थापक और महायान सूत्रालङ्कार का लेखक था। योगाचार सम्प्रदाय विज्ञान अथवा चेतना के अतिरिक्त अन्य सबको मिथ्या मानता है; इस कारण वे लोग

विज्ञानवादी भी कहे जाते हैं। असङ्ग का छोटा भाई वसुबन्धु अभिधर्मकोष का लेखक था जो आचार मनोविज्ञान और तत्वविज्ञान सम्बन्धी विद्वत्तापूर्ण पुस्तक है। उसकी चीन और जापान के महायानियों में विशेष प्रतिष्ठा है। उसने अन्य अनेक दार्शनिक ग्रन्थ तथा महायान सूत्रों की टीकायें लिखी हैं। बंधुद्वय, असङ्ग और वसुबन्धु, सम्भवतः ४ थी शताब्दी के अन्त अथवा ५ वीं शताब्दी के आरम्भ में हुए थे।

प्रमाणसमुच्चय नामक सुप्रसिद्ध तर्कशास्त्र की पुस्तक के रचयिता दिङ्नाग असङ्ग अथवा वसुबन्धु के शिष्य थे।

असङ्ग परम्परा के सुप्रसिद्ध विद्वान् चन्द्रगोमिन सारे बौद्ध संसार में वैयाकरण, दार्शनिक और कवि के रूप मे प्रख्यात हैं। उनकी काव्य रचनाओं में आज केवल शिष्यलेखधर्मकाव्य ही ज्ञात है, जो एक मनोरम धार्मिक काव्य है और पत्र-रूप में शिष्य के प्रति लिखी गयी है। वे ७ वीं शताब्दी में हुए थे।

प्रायः इसी समय शिक्षासमुच्चय, सूत्रसमुच्चय और बोधिचर्यावतार नामक विद्वत्तापूर्ण ग्रंथों के सुप्रसिद्ध रचयिता शान्तिदेव भी हुए। बोधिचर्यावतार एक ऐसा काव्य है जिसमें धार्मिक हृदय के सच्चे उद्गार व्यक्त होते हैं और बौद्धों के धार्मिक काव्यों में उसका सर्वोपरि स्थान है।

अन्त में इस ओर भी निर्देश करना उचित होगा कि विश्वधर्म के रूप में बौद्धधर्म के प्रसार के साथ-साथ बौद्ध साहित्य भी विश्व-साहित्य के पद पर प्रतिष्ठित हुआ। उसका अध्ययन समस्त एशिया में किया जाने लगा तथा उसकी अनेक दन्तकथाएँ कहानियाँ और चुटकुले योरोप तक फैले। यही नहीं, अनेक लोगों का यह भी अनुमान है कि ईसाइयों की इञ्जील, विशेषतः ईसा के जीवन की कहानी, बौद्धधार्मिक साहित्य से अत्यन्त प्रभावित है। रूडोल्फ सीडेल ने अन्य विद्वानों की अपेक्षा इस विषय का गम्भीर अध्ययन किया है। उन्होंने इस ओर ध्यान आकृष्ट किया है कि बौद्ध और ईसाई दन्तकथा में दृष्टान्त और कहावतें एक दूसरे से बहुत ही मिलती जुलती हैं। इस आधार पर वे इस स्वाभाविक निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि बाइबिल बहुलांशों में बौद्धसाहित्य से प्रभावित है। परवर्ती विद्वानों ने उनके विचारों का विरोध किया है पर वे भी इस सिद्धान्त को धराशायी करने में असमर्थ रहे हैं। इसमें तो सन्देह ही नहीं कि दूसरी-तीसरी शताब्दी ई० में लिखी गयी एपोक्राइफा ने बौद्धसाहित्य से बहुत कुछ ग्रहण किया है। उसे रोमन कैथोलिक लोग प्राचीन धर्मपुस्तकों (ओल्ड टेस्टामेण्ट) में स्थान देते हैं।

बौद्ध धर्म और बौद्ध साहित्य का परवर्ती काल में योरोप पर प्रभाव बरलाम और जोसापट की कथा से प्रकट होता है। यह मध्ययुग की बहुप्रचलित धार्मिक

रोमांचक साहित्यिक कृति है, जिसमें बरलाम नामक ऋषि द्वारा भारतीय राजकुमार जोसफट के दीक्षित करने की कथा है। उसमें कहा गया है कि वह राजकुमार सब प्रकार के लोभों पर विजय प्राप्त कर साधु हो गया था। यह सारी कहानी कमाधिक रूप में बुद्ध के वृत्त कथात्मक इतिहास का ईसाई संस्करण है जो मूल तथा अन्य बातों मे उससे पूर्णतः मिलता जुलता है।[1] इस कृति की रचना ६–७ वीं शताब्दी में मूलतः पालि भाषा में हुई थी जो पीछे अरबी और सीरियायी भाषाओं में अनूदित हुई। सीरियायी संस्करण का यूनानी भाषा में अनुवाद हुआ और यूनानी संस्करण का अनुवाद योरोप की अनेक भाषाओं मे किया गया। इस पुस्तक के लैटिन फांसीसी, हेब्रू, इथोपियन, इटालियन, स्पेनी, जर्मनी, अंग्रेजी, स्वीडिश, डच, आर्मीनियन, रूसी और रूमानियन संस्करण पाये जाते हैं। इसका अनुवाद बहुत पहले १२०४ ई० मे आईसलैंड की भाषा में भी हुआ था। मजे की बात यह है कि १४ वीं शताब्दी में पोप ने बरलाम और जोसाफट को संत रूप से स्वीकार कर लिया। प्रोफेसर मैक्समूलर ने इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट कराया है कि किस प्रकार गौतम बुद्ध संत जोसाफट के नाम से ईसाई सम्प्रदाय के संत के रूप में समस्त कैथोलिक ईसाइयों में विधिवत् स्वीकार किये गये हैं और उनकी पूजा होती है। उन्होंने यह ठीक ही कहा है कि बुद्ध के सिवाय और कोई संत नहीं है जो इस सम्मान का अधिक अधिकारी समझा जा सके।

२—ब्राह्मण साहित्य

बौद्ध साहित्य के अतिरिक्त इस काल में जैन और ब्राह्मण साहित्यों का भी विकास और प्रसार हुआ। किन्तु दुख की बात है कि इस काल का प्रामाणिक जैन साहित्य पूर्णतः लुप्त हो गया है। उसकी रक्षा करनेवाले केवल कुछ परवर्ती काल के साहित्य ग्रन्थ बच रहे हैं जिनकी चर्चा १७ वें अध्याय में की जायगी। ब्राह्मण साहित्य में सबसे महत्त्वपूर्ण साहित्य वेदांग वर्ग का है। इसका सामान्य परिचय पहले दिया जा चुका है। यहां वेदांग के छः अंगों के अन्तर्गत रचे गये महत्वपूर्ण साहित्य का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है :—

(१) शिक्षा—शिक्षा का तात्पर्य उस विद्या से है जिसके अन्तर्गत वर्णों के उच्चारण, ताल, उच्चारण के माध्यम, व्यक्तिकरण और माधुर्य के नियमों का विवेचन हो। इस वर्ग की सबसे प्राचीन पुस्तकें प्रातिशाख्य हैं। इनमें चारों वेदों

---

१. जोसाफट अरबी में यूदसत्फ के रूप में लिखा गया है जो बोधिसत्व का अपभ्रंश मात्र है। अरबी अक्षर 'ये' और 'बे' में बहुधा परस्पर उलझन हो जाती है। बरलाम का मूल सम्भवतः भगवान् है।

की विभिन्न शाखाओं के उच्चारण-नियमों का संग्रह है। वैदिक भाषा के उच्चारण के नियमों के उल्लेख के साथ २ इनमें यह भी बताया गया है कि विभिन्न आचार्यों और उनकी परम्पराओं की क्या विशेषतायें थीं। विभिन्न वेदों से संबंध रखनेवाले उल्लेखनीय ग्रन्थ निम्नलिखित हैं।

(१) ऋग्वेद प्रातिशाख्य। इसके रचयिता शौनक कहे जाते हैं।

(२) तैत्तिरीय प्रातिशाख्य सूत्र।

(३) वाजसनेयि प्रातिशाख्य सूत्र। इसके रचयिता कात्यायन कहे जाते हैं।

(४) अथर्ववेद प्रातिशाख्य सूत्र। यह शौनक शाखा का ग्रन्थ है।

इस वर्ग के और बहुत से परवर्त्ती ग्रन्थ हैं, जिनके रचयिता भरद्वाज, व्यास, वसिष्ठ, याज्ञवल्क्य आदि सुप्रसिद्ध ऋषि कहे जाते हैं।

(२) छन्दस्—छन्दस् का विवेचन ऋग्वेद प्रातिशाख्य, श्रौतसूत्र, शाखा और सामवेद के निदान सूत्र में किया गया है। पिंगल कृत छन्दसूत्र इस विषय का एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। यद्यपि इसके ऋग्वेद और यजुर्वेद से क्रमशः सम्बन्ध रखनेवाले दो संस्करण बताये जाते हैं, यह काफी पीछे का ग्रन्थ है।

(३) व्याकरण—इस विषय के जो प्राचीन ग्रन्थ थे, वे पाणिनि के अष्टाध्यायी नामक व्याकरण के कारण पुराने पड़ गये। इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में ठीक ही कहा गया है कि उसमें "इस पूर्णता के साथ एक भाषा का ऐसा वैज्ञानिक विवेचन किया गया है कि उससे पूर्ण परिचित लोग भी इसपर आश्चर्य करते और उसकी सराहना करते हैं और आज भी वह न केवल अद्वितीय है वरन् उसके समान कोई दूसरा ग्रन्थ नहीं पाया जाता और बहुलांशों में तो वह अपने विषय के ग्रन्थों का आदर्श है।"

पाणिनि का जन्म उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त में सिन्धु नदी के तट पर अटक के निकट शलातुर नामक ग्राम में हुआ था। उनका काल निश्चित रूप से तो ज्ञात नहीं है किन्तु सम्भवतः वे ई० पू० ५ वीं शताब्दी में हुए थे, यद्यपि कुछ लोग तो उन्हें दो शताब्दी और पहले मानते हैं। उनका ग्रन्थ, जैसा कि नाम से स्पष्ट है आठ अध्यायों में बँटा है और उसमें लगभग ४००० सूत्र हैं, जिनमें वैदिक संहिता की लुप्तप्राय भाषा का विवेचन न होकर तत्कालीन प्रचलित भाषा का विवेचन है। किन्तु जिस भाषा का व्याकरण उन्होंने लिखा है, वह संस्कृत साहित्य की अपेक्षा ब्राह्मण ग्रन्थों की भाषा से मिलती हुई है।

पाणिनि के ग्रन्थ पर जिन दो महान् वैयाकरणों ने टीकाएँ लिखी वे थे, वार्तिक के रचयिता कात्यायन और महाभाष्य के लेखक पतंजलि। इन ग्रन्थों में न केवल पाणिनि के सूत्रों की व्याख्या है वरन् पाणिनि के काल की अपेक्षा उनके काल में

बोली जानेवाली भाषा में जो परिवर्तन हो चुके थे उनकी दृष्टि से पाणिनि के सूत्रों में परिवर्तन और परिवर्द्धन भी किये गये हैं। पतंजलि शुंग-नरेश पुष्यमित्र के समकालिक थे और वे ई० पू० २ री शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुए थे। कात्यायन का समय उनसे एक शताब्दी पूर्व का था।

(४) निरुक्त—जिस प्रकार पाणिनि के ग्रन्थ में व्याकरण ने पूर्णत्व प्राप्त किया, उसी प्रकार वैदिक शब्दों की शब्दव्युत्पत्ति भाष्य के निरुक्त में पायी जाती है। वे पाणिनि से पहले हुए थे। व्याकरण की भाँति ही इस विषय के सभी प्राचीन ग्रन्थ इस रचना के बाद पुराने पड़ गये और अन्ततोगत्वा भुला दिये गये।

(५) ज्योतिष—इस विषय का एक मात्र स्वतन्त्र ग्रन्थ ज्योतिष वेदांग है जिसमें केवल ४० श्लोक हैं। इसमें सूर्य, चन्द्र और २७ नक्षत्रों की चर्चा है। इसके सूत्र शैली में न होकर पद्यबद्ध होने से स्पष्ट है कि यह बहुत बाद की रचना है।

(६) कल्प—धार्मिक कर्मकाण्डों के ग्रन्थ तीन वर्गों के हैं—(१) श्रौतसूत्र में उन धार्मिक कृत्यों के कार्य—विधान हैं, जिनका उल्लेख ब्राह्मणों में पाया जाता है और जो आचार्यों की सहायता से किये जाते हैं। इनके अन्तर्गत शुल्व सूत्र हैं जिसमें यज्ञस्थान और अग्निकुण्ड बनाने के नियम दिये गये हैं। इस प्रकार वे भारतीय ज्योमिट्री (Geometry) के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। (२) गृह्यसूत्र में गृहस्थ द्वारा जन्म से मृत्यु पर्यन्त किये जानेवाले संस्कारों की—वे सारे कृत्य जो जन्म, उपनयन, विवाह, मृत्यु आदि में किये जाते हैं—चर्चा है। (३) धर्मसूत्र में व्यक्ति और समाज के प्रति किये जानेवाले कार्यों की दृष्टि से दैनिक जीवन में बरते जानेवाले आचारों का विधान है। इसलिये इसमें राज्य और समाज के साथ व्यक्ति के सम्बन्ध का विवेचन किया गया है।

इन चार प्रकार के सूत्रग्रन्थों (जिसमें शुल्व भी सम्मिलित है) का संग्रह कृष्णयजुर्वेद की बौधायन और आपस्तम्ब शाखाओं में मिलता है। आपस्तम्ब के कल्पसूत्र से मिलते-जुलते हिरण्यकेशिन् के कल्प सूत्र हैं। ये सभी तैत्तिरीय संहिता से सम्बद्ध हैं। मैत्रायणी संहिता से सम्बन्ध मानव शाखा के श्रौत, गृह्य और शुल्वसूत्र हैं। काठक गृह्यसूत्र का सम्बन्ध काठक संहिता से है। इस वर्ग की अन्य महत्त्वपूर्ण पुस्तकों की सूची निम्नलिखित है जिसमें विभिन्न वेदों के साथ उनका सम्बन्ध भी बताया गया है।

शुक्ल यजुर्वेद—(१) कात्यायन श्रौतसूत्र
(२) पारस्कर गृह्यसूत्र
(३) कात्यायन शुल्वसूत्र

ऋग्वेद—(१) आश्वलायन श्रौत सूत्र

(२) आश्वलायन गृह्य सूत्र
(३) शांखायन श्रौत सूत्र
(४) शांखायन गृह्य सूत्र
सामवेद—(१) लाट्यायन श्रौत सूत्र
(२) गोभिल गृह्य सूत्र
(३) खादिर गृह्य सूत्र
अथर्ववेद—(१) कौशिक सूत्र
(२) वैतान श्रौत सूत्र

ऐतिहासिक दृष्टि से ये सारे ग्रन्थ अत्यधिक महत्त्व रखते हैं। उनसे न केवल आर्यों के सामाजिक और धार्मिक जीवन का विस्तृत चित्र उपस्थित होता है वरन् उनके राज्य और राजनीतिक विचारों का भी परिचय मिलता है। दूसरे शब्दों में इस काल की हिन्दू संस्कृति के ज्ञान के वे महत्त्वपूर्ण साधन हैं।

कुछ अन्य ग्रन्थ ऐसे हैं जो वस्तुतः वेदांग वर्ग के हैं, क्यों कि उनका सम्बन्ध संहिताओं से है; किन्तु वे उनके अन्तर्गत नहीं माने जाते। वे हैं अनुक्रमणिकाएँ, जिनमें संहिताओं की विषय-सूची दी गयी है।

अनुक्रमणिकाएँ

शौनक ने इस प्रकार की अनुक्रमणी बनाई। (१) ऋषि (२) छन्द (३) ऋग्वैदिक ऋचाओं के देवता और (४) ऋचाओं की अनुक्रमणिका। सर्वपूर्ण अनुक्रमणी कात्यायनकृत सर्वानुक्रमणी है; जिसमें ऋग्वेद की सभी चीजों की सूची है। उसमें सूत्र रूप में प्रत्येक ऋचा का प्रथम शब्द, ऋचा का अंक, ऋषि का नाम और परिवार, देवता, और छन्द दिया गया है। इसी वर्ग का एक अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ बृहद्देवता है जो शौनककृत कहा जाता है। इसमें ऋग्वेद की ऋचाओं के देवताओं की सूची है और उनके सम्बन्ध में अनेक दन्तकथाएं दी गयी हैं।

उपर्युक्त धार्मिक साहित्य के अतिरिक्त आरम्भ से ही माने जाने वाले दर्शन के छह सम्प्रदाय निश्चित रूप से थे—कपिल का सांख्य, पतंजलि का योग, गौतम का न्याय, कणाद का वैशेषिक, जैमिनि का पूर्व मीमांसा और व्यास का उत्तर मीमांसा अथवा वेदान्त। इनके अतिरिक्त न केवल नाटक और काव्य सदृश लौकिक साहित्य ही हमें प्राप्य हैं वरन् स्मृति, पुराण और अन्य धार्मिक ग्रन्थों का आरम्भ भी इस विवेच्य काल में पाया जाता है। इन सबकी चर्चा एक साथ आगे एक स्वतन्त्र अध्याय में की जायेगी। किन्तु इस काल के दो महाकाव्यों—रामायण और महाभारत—का उनसे स्वतन्त्र एक अध्याय (आठवें) में विवेचन किया गया है।

(३) तमिल साहित्य

तमिल, द्रविड़ भाषा समूह की, जिसके अन्तर्गत कन्नड़, तेलुगु और मलयालम् हैं, सबसे प्राचीन भाषा है। बादवाली तीन भाषाओं के साहित्य का प्रारम्भ क्रमशः ६ वीं, ११ वीं और १४ वीं शताब्दियों से होता है। किन्तु तमिल साहित्य के इतिहास का आरम्भ सुदूर प्राचीन युग से होता है। इस भाषा की आरम्भिक रचनाओं का सम्बन्ध तीन संगमों (विद्वत्-परिषदों) से है जो पाण्ड्य राज्य में हुए थे। प्रत्येक संगम में कुछ विशिष्ट कवि और विद्वान् थे, जो अपने सामने आने वाली रचनाओं पर अपनी स्वीकृति मुद्रा अंकित करते थे। इन स्वीकृत रचनाओं में से अधिकांश अब लुप्त हो गयी हैं। उनमें से अधिकांश का विवरण, कम से कम प्रथम दो संगमों का तो निश्चय ही, दन्तकथात्मक है। तथापि इन संगमों से सम्बद्ध जो कुछ रचनाएं हमारे सामने आयीं हैं, उन्हें तमिल भाषा का प्राचीनतम साहित्य कहा जा सकता है। संगमों की तिथि के सम्बन्ध में घोर मतभेद है। किन्तु उनमें काल की चरम सीमा ई० पू० ५ वीं शताब्दी और ५ वीं शताब्दी ई० के बीच निर्धारित की जा सकती है।

पहले संगम से परम्परागत सम्बद्ध कोई भी रचना आज सुरक्षित नहीं हैं। दूसरे संगम से सम्बद्ध केवल एक ग्रन्थ—तोलकाप्पियम् उपलब्ध है। यह सूत्र रूप में व्याकरण का ग्रन्थ है; फिर भी उसमें कितनी ही अतिरिक्त सामग्रियाँ भी हैं जिससे लोगों के रहन-सहन, रीति-रिवाजों और विचारों पर प्रकाश पड़ता है।

अन्य सारा ज्ञान प्राचीन तमिल साहित्य के तीसरे संगम का है; और मोटे रूप में संग्रह ग्रन्थ और महाकाव्य जैसे दो विभागों में विभाजित किया जा सकता है। संग्रह ग्रन्थों में तीन महत्वपूर्ण हैं। (१) पत्थुपट्टु (दस खण्ड काव्य) (२) एट्टुथोकई (आठ संग्रह) और (३) पेडोनेन कोल्कनक्कू (१८ संक्षिप्त शिक्षात्मक कविताएं)।

खण्ड काव्यों में नक्कीरर कृत नेदुनलवाडई सर्वप्रसिद्ध श्रेणी का है। उसमें शिविर स्थित पाण्ड्य नरेश नेडुल जैलियन और घर पर एकाकी विरहग्रस्त उसकी रानी की मनःस्थितियों के भेद का चित्रण किया गया है। एक दूसरे खण्ड काव्य रुद्रन कन्ननार कृत पत्तिनप्पालइ में दो विरोधी भावों से ग्रस्त नायक के अन्तर्द्वन्द का चित्रण है। एक भाव तो उसे युद्ध स्थल की ओर और दूसरा घर पर याद करती प्रेयसी की ओर खींच रहा है।

आठ संग्रहों में अन्तिम पुरनानूरु अधिक प्रसिद्ध है और उसमें १५० कवियों की रचनाएँ हैं, जिनमें कपिलर अव्वइ, कोवूर किलार के नाम विशेष उल्लेखनीय

है। साहित्यिक विशेषताओं के अतिरिक्त इन काव्यों में तमिल के सामाजिक इतिहास पर प्रकाश डालने वाली भी प्रचुर सामग्री है।

छोटे शिक्षा काव्यों में तिरुवल्लुवर कृत तिरुक्कुरल अथवा कुरल सर्वोत्तम है। उनकी शिक्षायें तमिलवासियों के लिए पथप्रदर्शक और अन्तर्प्रेरक समझी जाती हैं। इस पुस्तक के तीन भाग हैं जो त्रिवर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ और काम से सम्बन्ध रखते हैं। इनमें मानव जीवन से सम्बन्ध रखने वाले १३३ विषयों पर १०-१० पद्य हैं।

दस कहाकाव्यों में अब केवल सात ही प्राप्त हैं। इनमें से दो—शिलप्पादिकारम् और मणिमेखलई तमिल साहित्य में सर्वोच्च स्थान रखते हैं। इन दोनों की तुलना रामायण और महाभारत से की जाती है और उनसे ईसा की आरम्भिक शताब्दियों के तमिल इतिहास के निर्माण की अमूल्य सामग्री प्राप्त होती है।

शिलप्पदिकारम् का शाब्दिक अर्थ नुपूर की कहानी है। नायक कोवलन् मादवी (माधवी) नामक वेश्या के प्रेम में अपना सारा धन लुटा देता है और अन्त में निराश होकर अपनी सती साध्वी पत्नी कण्णक्की के पास लौट आता है। दोनों व्यापार करने की दृष्टि से मदुरा के लिए चल पड़ते हैं। वहाँ कोवलन् व्यापार के लिए पूँजी के निमित्त अपनी पत्नी का एक मात्र बचा आभूषण नुपूर बेचना चाहता है। मदुरा के राजस्वर्णकार के पास वह एक नुपूर लेकर जाता है। उस स्वर्णकार ने रानी का वैसा ही एक नुपूर चुरा लिया था; और वह कोवलन् को ही उसका चोर बताने लगता है। राजा बिना किसी जाँच के कोवलन् को फाँसी की सजा दे देता है। तब विपदग्रस्ता पत्नी अपने पति की निर्दोषिता अपना दूसरा नुपूर तोड़ कर प्रमाणित करती है। अन्याय के इस महान् कार्य के कारण पाण्ड्य नरेश शोकग्रस्त होकर मर जाता है और मदुरा नगर पर विपत्ति आती है। कण्णक्की के शाप के फलस्वरूप सारा नगर जल कर भस्म हो जाता है। स्वर्ग में वह तुरत अपने पति से जा मिलती है और उसे सतीत्व की देवी का सम्मान प्राप्त होता है।

मणिमेखलई इसका समसामयिक ग्रन्थ है और वस्तुतः एक प्रकार से उसका पूरक कहा जा सकता है। नायिका मणिमेखलई माधवी से उत्पन्न कोवलन् की पुत्री है। उसे कण्णक्की से प्रेरणा मिलती है और वह भाग्य चक्र में पिसती हुई अन्ततोगत्वा बौद्ध भिक्षुणी हो जाती है।

सातवाँ अध्याय

महाकाव्य और हिन्दू-समाज

१–महाकाव्य

जहाँ वैदिक सूत्र साहित्य निर्विवाद ब्राह्मणों के ग्रन्थ हैं, वहाँ कहा जा सकता है कि रामायण और महाभारत में क्षत्रियों का दृष्टिकोण व्यक्त किया गया है। इन्हें हम विस्तृत क्षत्रिय साहित्य का, जिसका जन्म और विकास ब्राह्मण साहित्य से स्पष्टतः भिन्न था, अन्तिम अवशेष कह सकते हैं। क्षत्रिय साहित्य से तात्पर्य उन गाथाओं तथा नाराशंसियों से है, जिनमें वीर–चरित के रूप में क्षत्रिय राजकुमारों की वीरता और उनके गुण उदात्तस्वर में गाये गये हैं। यह तो स्पष्ट ही है कि इनमें से अनेक रचनाएं विशेष संस्कारों के अवसर पर गायी जाती थीं। वे अब प्रायः लुप्त हो गयी हैं; किन्तु इसमें संदेह नहीं कि रामायण और महाभारत की उत्पत्ति उन्हीं में खोजी जा सकती है।

यद्यपि पीछे चल कर ब्राह्मणों ने इनका सम्पादन और नवसंयोजन किया; तथापि बहुत अंशों तक इन ग्रन्थों के मूलरूप सुरक्षित हैं। उनसे यह बात स्पष्ट होती है कि तब तक परवर्ती काल के समान क्षत्रियों का राजनीतिक अधिकार ब्राह्मणों के अधीन न हुआ था। यह ऐसा मूल्यवान ऐतिहासिक सत्य है जिसके महत्त्व का अतिरंजन सम्भव नहीं है।

रामायण और महाभारत दोनों ही न तो किसी एक कवि और न किसी एक युग की रचना कहे जा सकते हैं। निश्चय ही दोनों, विशेषतः महाभारत में क्रमागत युगों में काफी परिवर्तन और परिवर्द्धन हुए और तीसरी अथवा चौथी शताब्दी ई० से पूर्व तक उनका वर्तमान रूप स्थिर न हुआ था। उनके आरम्भ की तिथि इससे छः अथवा आठ शताब्दियों पूर्व आँकी जा सकती है। ये दोनों ही महाकाव्य हिन्दू धर्म के नये स्वरूप की देन हैं। इनमें विष्णु के दो मुख्य अवतार राम और कृष्ण मुख्य रूप में अंकित किये गये हैं। साथ ही उनसे यह भी प्रकट होता है कि सारे देश में शैव मत लोकप्रिय था।

इन दोनों ही पुस्तकों का ऐतिहासिक महत्त्व विशेष है। यदि कोई व्यक्ति यह जानना चाहे कि विवेच्य काल में हिन्दू जीवन और समाज का स्वरूप क्या था तो रामायण और महाभारत के पन्ने उलटने से बढ़ कर और कोई दूसरी बात वह नहीं कर सकता। उनमें आइने की तरह २००० वर्ष पूर्व का भारत प्रतिबिम्बित होता है। उसमें जनता के गुण-अवगुण स्पष्ट रूप से अंकित किये गये हैं तथा उन्हें प्रभावित करने वाले आदर्शों का भी वर्णन है।

रामायण की कथा संक्षेप में इस प्रकार है—अयोध्या के राजा दशरथ को तीन रानियाँ थीं और उनसे चार पुत्र उत्पन्न हुए। उन्होंने अपने ज्येष्ठ पुत्र रामचन्द्र को युवराज बनाना चाहा। किन्तु उनकी परमप्रिय रानी कैकयी ने अपने बेटे भरत को गद्दी पर बैठाने की कोशिश की। जिस दिन राजगद्दी होनेवाली थी, उसी रात को उसने राजा को याद दिलाया कि बहुत दिन पूर्व उन्होंने उसे दो वर दिये थे और उन्हें वचनबद्ध किया कि उनके बदले वह जो मांगेगी मिलेगा। उसकी मांगें भयङ्कर थीं—राम चौदह वर्ष के लिए बनवास करें और भरत को गद्दी पर बैठाया जाय। यद्यपि वृद्ध राजा का हृदय इस मांग को सुन कर विदीर्ण हो उठा तथापि वे सत्पथ से विचलित न हुए और वचनबद्ध होने के कारण मांग पूरी करने से इन्कार न कर सके। राम ने सच्चे वीर की तरह पिता की वचनबद्धता के फलस्वरूप उत्पन्न स्थिति को स्वीकार किया और अयोध्या से अपने को निर्वासित कर लिया। उनके स्नेही भाई लक्ष्मण और युवती साध्वी पत्नी सीता उनके साथ वन जाने से किसी भी प्रकार रोकी न जा सकीं। मार्ग में गंगा के तट पर निषादराज गुह ने उनकी खातिरदारी की और वे आधुनिक इलाहाबाद से ६५ मील दूर स्थित बाँदा जिले में चित्रकूट पर्वत (आधुनिक चित्रकोट) पर जा बसे। इस बीच विदीर्णहृदय दशरथ की मृत्यु हो गयी और भरत नाना के घर से तत्काल बुलाये गये। किन्तु कैकेयी की क्रूर इच्छा पूरी न हुई। उसने जो कुछ किया उससे भरत को अत्यन्त ग्लानि और खेद हुआ और अपनी माँ के पापों का परिमार्जन करने के लिए उन्होंने राम से पुनः गद्दी स्वीकार करलेने का आग्रह किया। राम ऐसे योग्य पिता के योग्य पुत्र थे, जिसने सत्पथ से बाल बराबर भी हटने की अपेक्षा दुःख से घुल घुल कर मर जाना श्रेयस्कर समझा। उन्होंने भरत की बात अनसुनी कर दी। निराश हो कर भरत अयोध्या लौटे। उन्होंने ने भी राम की तरह सन्यासी का जीवन व्यतीत करने का निश्चय किया और वे राम की चरणपादुकाओं को गद्दी पर रख कर उनके प्रतिनिधि रूप में राज्य करने लगे। राम और दक्षिण, दण्डक वन, में चले गये और गोदावरी तट पर आधुनिक नासिक के निकट रहने लगे। भक्त भाई और पतिपरायणा पत्नी दोनों उनकी सेवा करते रहे। वहाँ आर्य ऋषियों की रक्षा के

लिए उन्हें जंगली जातियों से लड़ना पड़ा। फलस्वरूप कुछ ही दिनों बाद वे स्वयं विपत्ति में पड़ गये। दक्षिण का सर्वप्रसिद्ध अनार्य राजा रावण सीता को अपनी राजधानी लंका में उठा ले गया। राम ने किष्किन्धा के अनार्य राजा सुग्रीव की सहायता, उसके भाई बालि को मार कर प्राप्त की। बालि की विधवा पत्नी तारा ने सुग्रीव से विवाह करना स्वीकार किया। सुग्रीव की सहायता से राम ने रावण को पराजित कर सीता को प्राप्त किया। सीता के सतीत्व की परीक्षा अग्नि द्वारा की गयी। तब तक बनवास के १४ वर्ष बीत चुके थे और वे लोग अयोध्या लौटे। रावण का द्रोही भाई विभीषण, जो राम से जा मिला था, लंका की गद्दी पर बैठाया गया।

राम अब अयोध्या में राज्य करने लगे; किन्तु दुख और दुर्भाग्य ने उनका पीछा न छोड़ा। उनके मुख्य गुप्तचर ने एक दिन यह सूचना दी कि उनकी प्रजा रावण के घर अधिक दिनों तक रहने के कारण सीता के सतीत्व के प्रति अविश्वास करती है। सीता के निःसंदिग्ध सतीत्व को समझते हुए भी राम ने राजा की हैसियत से जनमत को स्वीकार करना अपना कर्त्तव्य समझा और दुखी मन से सीता को बाल्मीकि के आश्रम में भेज दिया, जो सुप्रसिद्ध ऋषि और रामायण के प्रणेता हैं। वहाँ सीता ने यमज पुत्रों को जन्म दिया जिनसे आगे चल कर वंश चलता रहा।

रामायण से निकाला जानेवाला ऐतिहासिक तथ्य

ऐतिहासिक दृष्टि से रामायण इस काल की सबसे उल्लेखनीय घटना पर प्रकाश डालता है। उसमें दक्षिणापथ और दक्षिणी भारत में आर्य संस्कृति के प्रसार के के लिए विजेताओं द्वारा प्रयुक्त उपायों—रामायण से निकाला जानेवाला ऐतिहासिक तथ्य, शांतिमय प्रचार के प्रयत्न के साथ साथ सैनिक शक्ति के प्रयोग और एक अनार्य जाति के विरुद्ध दूसरी अनार्य जाति के भिड़ा देने—का स्पष्ट संकेत है। साथ ही इसमें अप्रत्यक्ष रूप से अनार्यों की भौतिक और नैतिक उच्चावस्था की सराहना भी की गयी है। राम ने बालि को और लक्ष्मण ने इन्द्रजित को जिस अनुचित ढङ्ग से मारा वह यही प्रमाणित करता है कि विजयी जाति युद्ध में युद्ध-नीति के प्रति सत्यनिष्ठ नहीं रह सकती। रावण की शक्ति और साधन किसी प्रकार कम न थे और उसके देश की भौतिक सभ्यता भी उसके विरोधियों से किसी प्रकार कम न थी। नैतिकता में भी, कम से कम रावण में एक ऐसी बात थी जिसके कारण उसके विरोधियों के सम्मुख उसका सिर ऊँचा है। इस सम्बन्ध में लक्ष्मण द्वारा रावण की बहिन शूर्पणखा के साथ किये जानेवाले बर्बर व्यवहार की तुलना इस क्षुब्ध अनार्य राजा द्वारा वन्दिनी सीता के साथ किये जानेवाले व्यवहार के साथ करना पर्याप्त होगा।

किन्तु आर्य संस्कृति की शक्ति और महत्ता उसके पारिवारिक गुणों में थी। एक ओर तो राम के भाइयों की स्नेहसिक्त भक्ति और सीता के चिरप्रेम और दूसरी ओर विभीषण सुग्रीव और तारा के आश्चर्यजनक द्रोह और विश्वासघात में बड़ा विरोध है। दशरथ और उनके तीन पुत्रों में आर्य-चरित्र की दृढ़ता और त्याग की जो भावना प्रकट होती है उसकी कोई तुलना रावण के स्त्रैण और भोगविलास पूर्ण परिवार में नहीं पायी जा सकती।

आर्यों के अन्य गुणों में उनकी सत्यनिष्ठा, उनका निर्भीकतापूर्ण साहस, धैर्य, दृढ़ता गिनायी जा सकती है, जिसके फलस्वरूप सामने आनेवाली कोई वस्तु ठहर नहीं पाती। उनमें से प्रत्येक विशेषताएँ विपद्ग्रस्त राम के सफल अभियोग में चित्रित की गयी हैं। उस असहाय राम से बढ़ कर कोई दूसरा उत्तम और उत्साह प्रद उदाहरण हो नहीं सकता जो किसी सम्मानजनक व्यक्ति पर आनेवाली विपत्तियों से ऊपर उठकर अपनी अदम्य इच्छाशक्ति, क्रियात्मकता और साहस से सफलता का पथ निर्माण करते हैं। आर्य जीवन के सभी उच्च आदर्श राम में निहित हैं—भक्त और कर्त्तव्यपरायण पुत्र, स्नेहशील भाई, प्रेमी पति, कठिन दुर्धर्ष वीर और आदर्श राजा, जिसने व्यक्तिगत इच्छाओं को राज्य के हित के सम्मुख कोई महत्त्व न दिया। एक प्राचीन कविता के शब्दों में उनमें पुष्प की कोमलता और वज्र की कठोरता—दोनों का अद्भुत सम्मिश्रण है।

किन्तु इसके साथ ही आर्य जीवन की कमजोरियों का भी रामायण में संकेत है। बहुविवाह की प्रथा और राजा दशरथ की नारी सौंदर्य के प्रति दुर्बलता के कारण ही उन पर और उनके राज्य पर विपत्तियाँ आयीं। इन्हीं कीटाणुओं से राजमहल में कुचक्र और राजदरबार की स्वच्छन्दता विकसित हुई जिसने प्राचीन भारत के राजनीतिक जीवन की शक्ति का ह्रास किया। सीता की अग्नि-परीक्षा उस बढ़ते अन्धविश्वास की ओर संकेत करती है जिसका फल भविष्य के लिए अच्छा और शकुनकारक न हुआ। राम की निषाद तथा अन्य अनार्य राजाओं के साथ मित्रता से स्पष्ट है कि उस समय तक जातिभेद का पतनकारी प्रभाव तनिक भी न पड़ा था। साथ ही बाद के जोड़े गये हुए रामायण के अन्तिम काण्ड में तपस्या करनेवाले एक शूद्र को राम के द्वारा हत दिखाया गया है जो बाद में उत्पन्न होनेवाले दुःखद जातिभेद का द्योतक है।

महाभारत की कहानी का स्वरूप दुरूह है और उसका बहुत कुछ महत्त्व उसकी गौण कथाओं एवं राजनीतिक, सामाजिक; नैतिक और धार्मिक विषयों पर लम्बे-लम्बे प्रवचनों में है जो मुख्य कथा के साथ ढीले-ढाले ढङ्ग से जोड़ दिये गये हैं।

इस महाकाव्य की मुख्य कथावस्तु के ऐतिहासिक आधार की चर्चा पहले की जा चुकी है। रामायण की तरह ही भारत के विवेच्य काल के इतिहास की महत्व पूर्ण बातों—प्रभुत्व के लिए परस्पर लड़नेवाले छोटे २ राज्यों से साम्राज्य का निर्माण, पर उससे प्रकाश पड़ता है। इसमें रामायण-काल की अपेक्षा युद्ध और कूटनीतिज्ञता एवं समाज के विभिन्न क्षेत्रों में अधिक विकास व्यक्त होता है। इस ग्रन्थ के विभिन्न पात्र भारतीय जीवन के विभिन्न रूपों के द्योतक हैं। भीष्म में हमें दृढ़ता, सत्यनिष्ठा, कर्त्तव्यपरायणता, वीरता और कठिन पितृभक्ति मिलती है। दुर्योधन अनैतिकता और राजनीतिक सत्ता की चरम लिप्सा का मूर्त्तरूप है। पाण्डवबन्धु प्राचीनकाल के मधुर भ्रातृ-संबंध के प्रतीक हैं। युधिष्ठिर नैतिक गुणों के अटूट आदर्श हैं और सुभद्रा पति-भक्ति त्यागशील पत्नीत्व और गृहिणीगुणों का मूर्तरूप है। किन्तु महाभारत के नमूनेवाले चरित्र हैं अर्जुन, कृष्ण और द्रौपदी। वे आर्य चरित्र के कुछ अत्यन्त ही सुन्दर भावों का प्रतिनिधित्व करते हैं। अर्जुन अपने युग के सबसे बड़े सैनिक होने के साथ २ उच्चदर्शन और सङ्गीत तथा नृत्य सदृश्य ललित कलाओं के रसिक भी थे। कृष्ण भारत के सर्वप्रथम महान् राजनीतिज्ञ थे, जिन्होंने देश की महत्वपूर्ण राजनीतिक समस्या—भारत के छोटे २ राज्यों का एक बड़े साम्राज्य के रूप में बदलने, को समझा और अपनी अद्भुत बुद्धिमत्ता उसके निराकरण में लगायी। वे अपने युग के प्रायः अधिकांश लोगों में फैली हुई संकीर्ण देशभक्ति से ऊपर उठ कर राज्य की नौका को घोर तूफानों के बीच से ले ले गये। द्रौपदी के रूप में हमें एक अनोखे ढंग की स्त्री मिलती है, जो न केवल स्नेहशील और पतिभक्ता पत्नी है वरन् जीवन की सच्ची सहायक और भागीदार भी है। वह कालिदास की सुप्रसिद्ध उक्ति—सद्गृहिणी, चतुर मंत्रिणी, हँसमुख सखी और ललित कला में प्रिया शिष्या—की सर्वोत्तम उदाहरण थी। अर्जुन की वीरता, उदारता और सर्वोन्मुखी संस्कृति, कृष्ण का अद्भुत व्यक्तित्व, तीक्ष्ण दार्शनिक दृष्टि और राजनीतिक गम्भीरता तथा अपने गुणों से परिपूर्ण कल्पनाशील उच्चात्मा और स्वाभिमानी द्रौपदी उस आदर्श के द्योतक हैं, जो प्राचीन भारत के समाज पर अपनी आभा विकीर्ण करते हैं।

महाभारत में उन अनेक आपत्तिजनक व्यवहारों और रीति-रिवाजों का उल्लेख है, जो हिन्दू समाज के विकास पर अच्छा प्रकाश डालता है। द्रौपदी का पांच पतियों से विवाह, बहुपतित्व की प्रथा की ओर संकेत करता है। भूलना न चाहिये कि यह महाकाव्य एक अत्यन्त प्राचीन कहानी पर आश्रित है और द्रौपदी का विवाह उसका एक आवश्यक अंग है जिसका कि पीछे के पाठों में संशोधन असम्भव

था। लेखक ने एक प्राचीन कथा द्वारा इसका स्पष्टीकरण करने की चेष्टा की है। इससे प्रकट होता है कि यह प्रथा प्राचीन काल में प्रचलित थी, किन्तु इस काल में वह बन्द हो गयी थी। यही बात एक अन्य आपत्तिजनक रिवाज—नियोग द्वारा संतान हीन विधवा से पुत्र उत्पन्न करने—के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है, जिसकी चर्चा हम धृतराष्ट्र और पाण्डु के जन्म की कहानी में पाते हैं।

किन्तु कौरव राजकुमारों ने द्रौपदी के केश पकड़ कर जिस प्रकार खुली सभा में उसे घसीटा और नंगा किया, उस बर्बरता की कोई व्याख्या नहीं दी जा सकती। यह पुरानी कहानी का कोई ऐसा अंश न था जिसे कि महाकाव्य का लेखक न छोड़ सकता रहा हो। यह महाकाव्य का एक अंग है। हो सकता है कि यह कहानी का परवर्ती अंश हो। फलतः बाध्य हो कर अनुमान करना पड़ता है कि आर्य समाज में नारी सम्मान के प्रति उपेक्षा के वे भाव जागृत हो चुके थे, जिनके कारण आगे चलकर नारी का समाज में स्थान गिर गया। कुछ ऐसी भी घटनायें हैं जिनसे ज्ञात होता है कि मनुष्य की आदिम प्रवृत्तियों का तब तक पूर्णतः शमन न हुआ था। उदाहरणार्थ कल्पना कीजिये कि किस प्रकार पाण्डव कुमार भीम ने अपनी प्रतिशोध की पिपासा विरोधी कुरु राजकुमार के रक्त का वस्तुतः पान कर शान्त की।

महाभारत में आदि से अन्त तक अनेक स्थलों पर उपदेश अथवा वार्तालाप बिखरे पड़े हैं जिनमें शिक्षा एवं नीति की बातें कही गयी हैं। इनसे सामाजिक विचार, रहन-सहन और रीति रिवाजों पर काफी प्रकाश पड़ता है। उदाहरण के लिए, जाति व्यवस्था का विकास लिया जा सकता है। पीछे के एक अध्याय में चर्चा आ चुकी है कि किस प्रकार समाज कई वर्गों में बट चुका था। यह विभाजन बढ़ता और दृढ़ होता जा रहा था। ब्राह्मण-वर्ग उन सामाजिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन कर चुका था जिन्हें आज हम स्वीकृत तथ्यों के रूप में पाते हैं। किन्तु देश के विचारशील व्यक्ति उनके निरर्थक कथनों और अन्धविश्वासपूर्ण सिद्धान्तों को चुनौती देने में भी पीछे न थे। इस प्रकार इस महाकाव्य में अनेक स्थलों पर जहाँ ब्राह्मण लोगों के दावे भरे हुए कथन दिये गये हैं वहीं समाज के विकास के सम्बन्ध में बुद्धि-संगत विचार भी प्रकट किये गये हैं। यथा—ब्राह्मणों के उद्धत विचार इस उद्धरण में स्पष्ट झलकते हैं—

"ब्राह्मण अग्नि-शिखा के समान है, चाहे वह वेदज्ञ हो या न हो। चाहे वह मूर्ख हो या विद्वान्, ब्राह्मणों की कभी निन्दा न की जानी चाहिए। ब्राह्मण चाहे मूर्ख हो अथवा विद्वान् वह महान् देवता है।"

आगे "ब्राह्मणों की शक्ति से असुर पानी में जा गिरे, ब्राह्मणों की कृपा से देवता स्वर्ग में निवास करते हैं। जिस प्रकार वायु उत्पन्न नहीं की जा सकती, हिमवत् पर्वत हिलाया नहीं जा सकता, गंगा का प्रवाह किसी बांध से रोका नहीं जा सकता, उसी प्रकार ब्राह्मण पृथ्वी पर किसी के द्वारा विजित नहीं हो सकता।"

इन सबके विपरीत हम निम्नलिखित उद्धरण दे सकते हैं:—

"महादेव ने कहा, "मनुष्य चाहे ब्राह्मण हो, क्षत्रिय हो, वैश्य हो अथवा शूद्र हो, वह प्रकृत्या मनुष्य ही है। दुष्कर्मों से द्विज का अपने पद से स्खलन हो जाता है। क्षत्रिय अथवा वैश्य, जो ब्राह्मण की तरह रहता हो, ब्राह्मण के कर्म करता हो, ब्राह्मत्व को प्राप्त करता है और मूर्ख ब्राह्मण, जो अत्यन्त दुष्प्राप्य ब्राह्मणत्व को पाकर भी मोह और लालच वश वैश्य के कर्म करता है, गिर कर वैश्य की अवस्था में चला जाता है। अपने कर्म से च्युत होने वाला ब्राह्मण शूद्र हो जाता है किन्तु सत्कर्म करके शूद्र ब्राह्मण बन जाता है।"

इस प्रकार हम इस युग में विचारों का परस्पर संघर्ष पाते हैं। व्यावहारिक रूप में प्राचीन वर्णभेद ने अभी तक जाति का कठोर रूप धारण नहीं किया था और ब्राह्मणों का प्रभुत्व अब तक एक निश्चित तथ्य नहीं हो पाया था।

२—हिन्दू समाज

रामायण-महाभारत को छोड़ कर बौद्ध साहित्य को देखें तो वहाँ भी हम यही बात पायेंगे। भगवान् बुद्ध ने मनमाने जाति भेद की निन्दा और सबके समानता की घोषणा की है। ब्राह्मणों ने बड़े बड़े दावे किये; किन्तु उस महान् आचार्य के अकाट्य तर्कों के सम्मुख वे हवा हो गये। बौद्ध और जैन साहित्यों में ब्राह्मणों का प्रभुत्व कहीं भी स्वीकार नहीं किया गया है और वहाँ क्षत्रियों को सदा प्रधानता दी गयी है। चातुर्वर्णों की गणना का आरम्भ भी वे क्षत्रियों से ही करते हैं, ब्राह्मणों से नहीं।

विभिन्न जातियों में अन्तर्विवाह प्रचलित था, किन्तु इस काल का ब्राह्मण साहित्य यह संकेत करता जान पड़ता है कि ब्राह्मण तो दूसरी जातियों की कन्या से विवाह कर सकता था किन्तु ब्राह्मण कन्या ब्राह्मण के अतिरिक्त किसी अन्य से नहीं ब्याही जा सकती थी। किन्तु बौद्ध साहित्य इसे एक दम अस्वीकार करता है। इसके विरुद्ध उसका कथन है कि क्षत्रिय कन्या ब्राह्मण से कदापि नहीं ब्याही जा सकती, यद्यपि ब्राह्मण कन्या का विवाह क्षत्रिय वर से हो सकता है।

इन ग्रन्थों की तुलना से यह बात असंदिग्ध जान पड़ती है कि जाति व्यवस्था अपना रूप धारण कर रही थी और, यद्यपि लोग अपने ही वर्ण में विवाह करना

पसन्द करते थे, मिश्रित जातियों में परस्पर विवाह का अभी कोई-स्पष्ट निषेध न था। ब्राह्मण और क्षत्रियों का समाज में मुख्य स्थान था किन्तु दोनों में से कोई भी एक दूसरे की महत्ता स्वीकार करने को तैयार न था। परस्पर खान-पान में कोई रोक-टोक नहीं थी और कोई भी व्यक्ति एक जाति से दूसरी जाति में जा सकता था, यद्यपि समय की गति के साथ उसमें कठिनाई बढ़ती जा रही थी।

किन्तु निम्न जातियों की स्थिति दिन प्रतिदिन गिरती जा रही थी। शूद्रों के साथ विवाह हेय समझा जाने लगा था और उनके पकाये हुए भोजन का भी धीरे २ निषेध होता जा रहा था। उनमें से चण्डाल आदि कुछ लोग तो आज ही की भाँति अछूत समझे जाने लगे थे। वे नगर के बाहर रहते थे। उनका स्पर्श ही नहीं, वरन् दर्शन भी अपवित्र समझा जाता था।

इस काल की जाति-व्यवस्था के दो नये परिवर्तन विशेष उल्लेखनीय हैं। प्रथमतः नागरिक की वैध स्थिति पर जाति का प्रभाव—दीवानी और फौजदारी के कानूनों की धारायें जाति के अनुसार नियंत्रित होती थीं और निम्न जातियों पर उनका कठोर प्रभाव पड़ता था। उदाहरणार्थ, सूद का वैध दर ऋणी की जाति के अनुसार निश्चित किया जाता था। फलतः शूद्र-ऋणों की सूद की दर सबसे अधिक होती थी। यही बात फौजदारी के मामलों में, जुर्माने एवं अन्य दण्डों के सम्बन्ध में, भी थी। शूद्र को ऐसे अपराधों के लिये फाँसी की सजा दी जाती थी, जिनके करनेवाले अन्य वर्णों के लोगों के लिए हल्के दण्डों का विधान था।

दूसरी नयी विशेषता बड़ी संख्या में नयी जातियों का विकास थी। वे संकर जातियों के नाम से प्रसिद्ध हैं और उनकी चर्चा आगे की जायेगी। उनका विकास चाहे जिस प्रकार भी हो, हम देखते हैं कि समाज मूल चार वर्णों के स्थान पर असंख्य संकर जातियों में बँट गया था और उनकी संख्या नित्य प्रति बढ़ती जा रही थी। वस्तुतः क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों ने अपनी एकसमूहता छोड़ दी, यहाँ तक कि ब्राह्मण भी अनेक वर्गों और उपवर्गों में बँट गये।

इस प्रकार भारत के भव्य मुखपर जाति-व्यवस्था एक छाया के समान बढ़ती जा रही थी और ढलते हुए दिनों के साथ साथ यह छाया धीरे धीरे और भी पसरती गयी। यह काले बादल का एक खण्ड था, जिसने आर्यों की प्रभासम्पन्न सभ्यता और संस्कृति पर अपनी छाया डाल दी। यह बादल अभी छोटा ही था, किन्तु शीघ्र ही उसने एक भयानक रूप धारण कर लिया और सारे वातावरण को अभेद्य अंधकार से ढक लिया तथा समय से पूर्व ही रात्रि आ पहुँची।

जाति की बात को छोड़ कर, अब हम एक ऐसे विषय की चर्चा करेंगे, जो हिन्दू समाज की महती उदारता का द्योतक है। स्मरणीय है कि इस काल में यवन, पार्थव, शक और कुषाण सदृश विदेशी आक्रमणकारी भारत में आ बसे। ये सारे तत्व अन्ततोगत्वा हिन्दू समाज में ऐसे घुला-मिला लिये गये कि उनके स्वतन्त्र अस्तित्व का एक चिन्ह भी शेष न रहा। इन बर्बर समूहों के क्रमशः रूपान्तर के सम्बन्ध में अनेक अभिलेखों से पता लगता है कि किस प्रकार उन्होंने यहाँ के लोगों की भाषा, धर्म, रहन-सहन और रीति-रिवाज अपनाया और अन्ततोगत्वा विवाह-सम्बन्ध के द्वारा हिन्दू समाज में घुल-मिल गये। पश्चिमी क्षत्रप इसके एक अच्छे उदाहरण हैं। उसके आरम्भिक राजाओं के घस्मोटिक, चष्टन, नहपान आदि जैसे नाम अपरिचित और असुन्दर से लगते हैं। किन्तु उनके उत्तराधिकारियों ने विश्वसेन, रुद्रसिंह विजयसेन, रुद्रसेन आदि विशुद्ध भारतीय नाम अपनाये। पुनः अपनी बर्बर भाषा और धर्म को छोड़ कर वे हिन्दू देवी-देवताओं के भक्त हो गये और उन्होंने संस्कृत को अपनी भाषा के रूप में स्वीकार कर लिया। उन्होंने इससे भी आगे बढ़कर इस देश के ब्राह्मण राजपरिवारों से वैवाहिक संबन्ध स्थापित किया। इस प्रकार हर दृष्टि से वे विशुद्ध हिन्दू बन गये।

यही उदार भावना बौद्ध और ब्राह्मण उपदेशकों ने विदेशों में व्यक्त की थी। बौद्धों ने अपना प्रचार समस्त एशिया में किया और उसकी घुमन्तु जातियों को भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत ले आये। ब्राह्मणों ने सुदूरपूर्व के निवासियों को उनकी आदिम बर्बरता से ऊपर उठा कर विकास और संस्कृति के उच्च स्तर पर पहुँचा दिया।

दूसरी ओर भारतीयों ने अपनी कलाओं और विज्ञान की उन्नति के लिए दूसरे राष्ट्रों से मुक्तहस्त से ग्रहण किया। उनके मुद्राशास्त्र को मुख्यतः यवन-बाख्त्रियों से प्रेरणा मिली। उनकी अन्य कलाओं और वास्तु के सम्बन्ध में वही कहा जा सकता है, जो यूनानियों के बारे में कहा जाता है। दूसरे राष्ट्रों की कला में जो अच्छाइयाँ थी, उन्हें ग्रहण करने की उनमें अद्भुत क्षमता थी। यद्यपि उन्होंने यवन और पारसीकों से न केवल निर्माण कलामें वरन् अलंकरण और पशु आदि प्रतीकों के रूप में भी बहुत कुछ ग्रहण किया, तथापि उनकी रचना की आत्मा सदैव उनकी अपनी रही। इस प्रकार भारतीय आर्यों ने ग्रहण और आत्मसात् करने की अद्भुत क्षमता दिखाई। इस दृष्टि से उनकी तुलना अन्य प्राचीन और अर्वाचीन राष्ट्रों के साथ सरलता से की जा सकती है।

इस काल में स्त्रियों की स्थिति में और भी परिवर्तन हुए। जाति के विकास के समान ही इस दिशा में हम सर्वत्र अवनति की प्रवृत्ति को पाते हैं। स्त्रियों के प्रति

स्त्रियों की स्थिति दृष्टिकोण का परिवर्तन बुद्ध के अपने धर्म संघ में स्त्रियों को सम्मिलित करने में संकोच करते देखकर स्पष्टतः परिलक्षित होता है। उन्होंने अन्त में आनन्द के तर्कपूर्ण आग्रह को स्वीकार किया और कुछ काल के लिए बुद्धिवाद की विजय हुई। बुद्ध का यह निर्णय इसलिये सर्वथा उचित साबित हुआ कि आगे बौद्ध भिक्षुणियों ने असाधारण बौद्धिक सफलता पाई। उनमें से कुछ की साहित्यिक रचनाएँ आज भी सुप्रसिद्ध थेरी-गाथा में सुरक्षित है।

तत्कालीन भावना का वास्तविक निदर्शन मेगस्थनीज ने भी किया है। वह लिखता है कि "ब्राह्मण अपना दर्शन-ज्ञान अपनी पत्नियों को नहीं देते।" याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी के सम्बन्ध की ऊपर जैसी चर्चा की गयी है, उससे कितनी विचित्र भिन्नता यहाँ प्रकट होती है। किन्तु मेगस्थनीज ने इस बात को स्वीकार किया है कि कुछ स्त्रियां दर्शन का अध्ययन करती थीं।

स्त्रियों की सामान्य शिक्षा का उल्लेख प्रायः इस काल के साहित्य में मिलता है। मोटे तौर पर हम कह सकते हैं कि इस काल में भी संस्कृति और शिक्षा में स्त्रियों का काफ़ी हाथ था। कला और विज्ञान के क्षेत्र में उन्हें कभी २ तो उच्च स्थान और प्रसिद्धि भी मिली। किन्तु लोगों के मन में यह भावना धीरे धीरे घर करती जा रही थी कि ज्ञान और शिक्षा स्त्रियों का क्षेत्र नहीं है।

बाल-विवाह लड़कियों के विवाह-वय के निरन्तर घटते जाने का कुछ तो यह कारण था और उसका प्रभाव भी। मनुस्मृति का निर्देश है कि ३० वर्ष के पुरुष को १२ वर्ष की कुमारी अथवा २४ वर्ष के युवक को ८ वर्ष की बालिका से विवाह करना चाहिए। यह उस भावना का आरम्भ है जिसके अनुसार युवावस्था से पूर्व लड़कियों का विवाह अनिवार्य धार्मिक कर्त्तव्य समझा जाने लगा। अनेक स्मृतियों ने तो यहाँ तक लिखा है कि लड़कियों का विवाह 'नग्निका' अवस्था में ही कर देना चाहिए। इसका प्रभाव स्त्रियों के मानसिक विकास, विशेषतः उनके शिक्षा-कार्यों पर, निस्सन्देह ही बहुत बुरा पड़ा होगा।

इस रिवाज का कारण मुख्यतः स्त्रियों के सतीत्व (शारीरिक पवित्रता) के सम्बन्ध में लोगों की चिन्ता जान पड़ती है। इसी चिन्ता के फलस्वरूप स्त्रियों का पुनर्विवाह, जो पति की मृत्यु अथवा सन्यासी हो जाने अथवा कुछ निश्चित काल तक विदेश में रहने पर हो सकता था, धीरे-धीरे हेय समझा जाने लगा। इसी प्रकार कुछ अवस्थाओं में मान्य तलाक भी बुरा समझा जाने लगा। दूसरी ओर नयी भावना की प्रतीक मनुस्मृति पति को तनिक सी बात पर भी पत्नी को छोड़ने का

अधिकार देती है। मनु ने नारी की प्रशंसा में दो-चार चिकनी-चुपड़ी बातें अवश्य कही हैं पर पत्नी के सम्बन्ध में उसके जो आदेश हैं वे अत्यन्त कष्टदायी हैं।[1]

सती

विधवाओं के पुनर्विवाह की रोक के साथ साथ सती प्रथा का जन्म हुआ। महाभारत के कुछ उल्लेखों और यवन लेखकों द्वारा कुछ वास्तविक घटनाओं की चर्चा से स्पष्ट है कि इस काल में यह प्रथा प्रचलित थी। ३१६ ई० पू० में ईरान में एक भारतीय की पत्नी के सती होने का जो विस्तृत वृत्तान्त एक यवन लेखक ने दिया है, वह पढ़ने में रोचक है, और उसके स्वेच्छात्मक स्वरूप को व्यक्त करता है। अरिस्टोबुलस (Aristobulus) ने इस विषय में कुछ छान-बीन कर लिखा है कि "कुछ अवस्थाओं में स्त्रियाँ स्वेच्छा से अपने पति की चिता पर जल मरती हैं। जो ऐसा नहीं करती वे समाज में हेय दृष्टि से देखी जाती हैं।" यद्यपि आरम्भिक धर्मशास्त्रों में इस प्रथा को मान्यता नहीं दी गयी है, तथापि इससे प्रकट होता है कि इस क्रूर प्रथा को जनता प्रोत्साहित करती थी।

गणिकाएँ

स्त्रियों की स्थिति के ह्रास के साथ साथ गणिकाओं के एक वर्ग का विकास हुआ, जिसे समाज में उच्च सम्मान और विशेषता प्राप्त थी। इसके उदाहरण में अम्बपाली का उल्लेख किया जा सकता है, जो बुद्ध की समकालिक और वैशाली के एक धनिक नागरिक की पुत्री थी। कहा जाता है कि उसके अपूर्व सौन्दर्य और गुणों के कारण लिच्छवियों की लोकतान्त्रिक सभा में प्रचलित प्रथा के अनुसार निश्चय किया गया कि उसका विवाह नहीं होगा और लोक-भोग के लिये वह गणिका का जीवन व्यतीत करेगी। मगधनरेश बिम्बिसार भी उसके यहाँ गये थे और अपनी राजधानी में उसी के समान एक गणिका को रखा। गौतम बुद्ध ने भी औरों की उपेक्षा कर उसके निमन्त्रण को स्वीकार किया और दान में उससे एक उपवन लिया। अन्य सूत्रों से भी ज्ञात होता है कि इस तथा परवर्त्ती काल में सुसंस्कृत गणिकाएँ समाज का एक विशिष्ट अङ्ग समझी जाती थीं।

दास

समाज के चित्रण की पूर्णता की दृष्टि से दासों का भी उल्लेख आवश्यक जान पड़ता है, जिनका अस्तित्व वैदिक काल से इस समय तक निश्चित प्रमाणों द्वारा सिद्ध है। स्मृतियों में दास होने के विभिन्न क्रमों का उल्लेख है, यथा—जन्मना, क्रय द्वारा, दान द्वारा, उत्तराधिकार द्वारा, अकाल की अवस्था में भरण-पोषण द्वारा, बन्धक द्वारा, ऋण

---

1 खण्ड तीन, अध्याय १०।

द्वारा, युद्ध में बन्धन द्वारा, स्वेच्छया, संन्यास-त्याग द्वारा, दासी के प्रति आसक्ति के कारण और दण्डस्वरूप। किन्तु आश्चर्य की बात यह है कि मेगस्थनीज ने स्पष्ट लिखा है कि भारत में दास प्रथा का सर्वथा अभाव था। सम्भवतः उसे भारत में दासों के साथ किये जानेवाले मानवतापूर्ण व्यवहार से ही ऐसा भ्रम हुआ हो। वह यूनान में दासों के प्रति किये जानेवाले क्रूर व्यवहार के बिलकुल विपरीत था। स्मृतियों में दासों के प्रति उदार व्यवहार और उनकी मुक्ति के नियम दिये गये हैं।

अन्त में जनता के साधारण जीवन और रहन-सहन पर भी हम एक दृष्टि डाल लें। उस युग के घरों, साजसज्जा (फर्नीचरों) वस्त्रों, और अलंकरणों में जो वैभव और विलासिता टपकती है, वह उस युग के न केवल कुछ लोगों वरन् अधिकांश लोगों की विशेषता जान पड़ती है। हमें ज्ञात है कि जब तक निषेध न किया गया, भिक्षु लोग भी बहुमूल्य बर्तनों और साज-सज्जाओं का प्रयोग करते रहे। खाने पीने की अनेक समृद्ध चीजों में चावल, गेहूँ तरकारी, मछली, गोश्त, दूध की तरह तरह की चीजें तथा अनेक प्रकार के फल और उनके रसों का उल्लेख पाया जाता है। विभिन्न प्रकार की तेज शराब का भी प्रयोग होता था और साहित्यिक प्रमाणों से जान पड़ता है कि शास्त्रों का निषेध रहते हुए भी नशीले पेयों का, विशेषतः धनिकवर्ग में, बहुत प्रचार था। यद्यपि कुछ सन्यासी लोग जीवन के प्रति नैराश्य भाव रखते थे और सामान्य जनता सरल जीवन व्यतीत करती थी, तथापि ऐसे लोगों की बहुत बड़ी संख्या थी जो नाच, गान, नाटकों एवं अन्य प्रकार के मनोरंजनों द्वारा जीवन का पूर्ण आनन्द लेते और उपभोग करते थे।

वात्स्यायन के कामसूत्र में (खण्ड १ अध्याय ४) जो विस्तृत वर्णन दिया हुआ है उससे मध्यवर्गीय नागरिकों के जीवन का सामान्य परिचय हमें मिलता है। उसमें आराम और आनन्दपूर्ण जीवन का चित्रण है, जो सुरुचिपूर्ण कला और सामाजिक क्रियाकलापों से परिपूर्ण है। उसमें मदिरा और स्त्री का भी कम स्थान नहीं है। सामान्य गृहस्थ के जीवन के कार्यक्रम में दैनिक स्नान, साबुन, चंदन, सुगन्ध और लेप द्वारा प्रसाधन, दाढ़ी बनाना और मूँछ कतरना भी था। प्रत्येक शयन-कक्ष में पुस्तकें, वाद्य-यन्त्र, चित्रण-सामग्री, और जुआ तथा ताश आदि खेलने के फलक और सामान होते थे। प्रत्येक घर में फूलों का एक बगीचा होता जहाँ तोता आदि पक्षी पिंजड़े में पाले जाते थे और एक झूला पड़ा रहता था। किन्तु यह एकांगी चित्र ही है। इसके पूरक रूप में मेगस्थनीज का निम्नलिखित कथन उद्धृत किया जा सकता है।

"भारतीय आनन्द से रहते हैं, किन्तु वे अपने रहन-सहन में सीधे सादे और मितव्ययी हैं। यज्ञ आदि अवसरों को छोड़ कर वे कभी शराब नहीं पीते। चोरी प्रायः कभी नहीं होती! उनके घर और सम्पत्ति प्रायः खुली पड़ी रहती है। उनके कानून और वादों की सरलता इस बात से प्रकट है कि वे कदाचित् ही अदालत जाते हैं।

"सत्यता और गुणों का वे समान आदर करते हैं। अतः वृद्ध को भी कोई विशेष सम्मान तब तक नहीं दिया जाता जब तक कि उसमें किसी प्रकार का विशेष गुण न हो।"[1] इसके साथ ही मेगस्थनीज ने एक बात की अत्यन्त निन्दा की है, जो बहुत कुछ आज भी प्रचलित है। वह यह कि भारतीय अकेले खाते और उनके खाने का निश्चित समय नहीं है।

अस्तु हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि हिन्दू-समाज में परस्पर विरोधी तत्व, आरामतलब और विलासी जीवन व्यतीत करनेवाले धनी तथा साधारण जीवन व्यतीत करनेवाले नागरिक दोनों ही थे। सब होते हुए दया और सदाचार को वे बहुत महत्त्व देते थे और उनमें उच्च कोटि की बौद्धिक संस्कृति और सुरुचिपूर्ण कलात्मक भावनाएँ वर्त्तमान थीं।

वैदिक साहित्य में उल्लिखित और इस पुस्तक में पीछे वर्णित आर्य-जीवन का साधारण विकास हम देख चुके। आर्यों के सारे भारतवर्ष पर होनेवाले क्रमिक विस्तार ने उन पुरा-आर्य लोगों में भी उन लोगों को सामाजिक और धार्मिक भावनाओं को विकसित किया, जिनके संसर्ग में आर्य लोग आये। परन्तु, जैसा कि इस प्रकार की परिस्थितियों में सर्वदा होता है, आर्यों ने भी अपने में सम्मिलित होने वाली जातियों के विचारों, रीतिरिवाजों और कानूनों को आत्मसात किया। इस कारण यह मान लिया जा सकता है कि विवेच्यकाल में जिस सामाजिक और राजनीतिक अवस्था का विकास हुआ, वह आर्यों और उनसे पहले से रहने वाले लोगों की संस्कृति का सामञ्जस्यरूप था। इसमें सन्देह नहीं कि स्थानीय भेद और प्रादेशिक विशेषतायें पायी जाती हैं, किन्तु एक अखिल भारतीय समाज का ढाँचा तो उठ ही खड़ा हुआ था। इसे सचमुच हिन्दू समाज कहा जा सकता है। वस्तुतः हिन्दू शब्द का तात्पर्य यहाँ उसके उस मूल रूप से है जिसमें हिमालय से लेकर कन्याकुमारी और सिन्धु से लेकर ब्रह्मपुत्र तक सारे देश के विस्तार को सम्मिलित किया जाता है।

आर्य और आर्यपूर्व सभ्यता के एक पूर्ण स्वरूप में पारस्परिक सम्मिलन का सबसे उत्तम उदाहरण संगम युग के प्राचीन तमिल साहित्य में वर्णित समाज के स्वरूप

---

१ मेगस्थनीज, इण्डिका पृष्ठ ६९-७०

से प्राप्त होता है। यद्यपि इसका समय खीष्टीय शताब्दियों के प्रारंभ का है, यह भेद बता सकना कठिन है कि आर्य और द्रविण सभ्यता के उस पूर्ण सामञ्जस्य में कौन सा अंश उसके मूल द्रविण आधारवाला है और कौन सा उपरिनिष्ठ आर्य सतह वाला। वैदिक साहित्य; दोनों महाकाव्यों की कथाओं और धर्मशास्त्रों के निर्देशों ने दक्षिण के साहित्य, विचारों, परम्पराओं एवं सामाजिक, धार्मिक और नैतिक भावनाओं पर उतनी ही छाप डाली जितनी उत्तर के। एक बालक और एक बालिका के स्वेच्छा संयोग को आदिम अवस्थाओं में विवाह मान लिया जाता था। उसका सामञ्जस्य धीरे-धीरे धर्मशास्त्रों[१] के रूढ़िगत आठ प्रकार के विवाहों से बैठा लिया गया। तोल्काप्पियम् में स्पष्ट कहा गया है कि "तमिल देश में विधि संयुक्त और संस्कार रूप में विवाह संस्था की स्थापना आर्यों ने[२] की।" सामाजिक और व्यावसायी वर्गों, ब्राह्मणों की प्रमुखता, राजनीतिक विचार और संस्थाओं, कविताप्रेम, संगीत और नृत्य का प्रेम, मनबहलाव के अनेक रूप, खेल तमाशे, स्त्रीपुरुषों का साथ साथ स्नान, विहारयात्राओं, शकुन और अपशकुन में अन्धविश्वास, कुछ विशेष वर्ग की वेश्याओं का विशिष्ट और उच्चस्थान, साधारण स्त्रियों का साधारणतया और विशेषतः पत्नी का स्थान, विधवाओं की दुःखद स्थिति और सती की प्रथा आदि सब की चर्चायें तमिल साहित्य में उपलब्ध होती हैं तथा इस सम्बन्ध में संस्कृत साहित्य में प्रतिबिम्बित हिन्दू समाज का ध्यान हमें हो ही आता है।

प्राचीन तमिल साहित्य साधारण लोगों के जीवन पर अच्छा प्रकाश डालता है। बाद में जैसी प्रथा हो गई, उसके विपरीत "ब्राह्मण लोग मांस खाते थे और बिना किसी निन्दा के भय के ताड़ी पीते थे।" कविगण प्रायः अपने संरक्षकों द्वारा दी गई दावतों का वर्णन करते हैं जिनमें आनन्द के साधनों में शराब और मांस मुख्य होते थे। "अपनी स्त्री संगिनी से कई दिनों तक दूर रखे हुए और विशेष प्रकार से खिला पिलाकर तैय्यार किये गए हुए सम्पूर्ण सूअर के भुने हुए मांस की तरह पूर्ण पशुओं के मांस कछुओं के मांस तथा मछलियों के मांस भोज आदि के अवसरों की विशिष्ट वस्तुयें मानी जाती थीं।" "हरी हरी बोतलों में रखी हुई विदेशी शराबें" की विशेष चर्चायें मिलती हैं। यह स्पष्टतः यूनानी शराब की ओर निर्दिष्ट है। "बांस के पोपों में भरकर काफी दिनों तक जमीन के भीतर रखकर तेज की हुई ताड़ी" के भी उल्लेख मिलते हैं।

१—यह और आगे का समाज-वर्णन नीलकान्त शास्त्री कृत 'ए हिस्ट्री आफ साउथ इण्डिया' के पृष्ठ १४१ और आगे के आधार पर है।

२—वही १२५।

प्राचीन तमिल साहित्य में कुछ अनोखे रीतिरिवाजों के भी उल्लेख मिलते हैं। उदाहरण के लिये हमें यह ज्ञात होता है कि हाथ में बत्तियों को लिये हुए चौकीदार रात्रि को बड़े बड़े शहरों में पहरे देते थे, राजा के मरने पर अंगरक्षकों का एक विशेष दल अपने को मार डालता था और वीरों की स्मृति में पत्थरों की स्थापना की जाती और उनकी नियमित पूजायें की जाती थीं। ये तथा इसी प्रकार के कुछ और रीतिरिवाज किस अंश तक मूलतः दक्षिण के तथा पुरा-आर्य युग के थे, यह कहना कठिन है। पर इसमें सन्देह नहीं कि थोड़े अथवा कुछ बाद के दिनों में वे किसी एक प्रदेश अथवा लोगों के किसी वर्ग विशेष तक सीमित न रह गये।

आठवाँ अध्याय

उपनिवेशन और आर्थिक अवस्था

विभिन्न धार्मिक आन्दोलनों की ऊपर जो चर्चा की गयी है उससे किसीको यह न समझ लेना चाहिए कि प्राचीन काल में भारतीयों की क्रिया-शक्ति इसी क्षेत्र तक सीमित थी। उनकी आध्यात्मिक सफलता निस्संदेह बहुत बड़ी थी; किन्तु उसके साथ ही, जैसा कि लोगों ने सामान्यतया समझ लिया है, लौकिक कार्यों के प्रति उनमें किसी प्रकार की उदासीनता अथवा तटस्थता न थी। वस्तुतः प्राचीन काल के भारतीय राज्यों के विस्तार, धन संचय तथा व्यापार और उद्योग के विकास के प्रति पूर्णतः सतर्क थे। इस प्रकार उन्होंने जो लौकिक समृद्धि प्राप्त की वह तत्कालीन समाज के विलास और वैभव में पूर्णतः प्रतिबिम्बित है। प्राचीन भारतीय संस्कृति के समझने के निमित्त इन सभी बातों की संक्षिप्त चर्चा आवश्यक है।

१. आर्य संस्कृति का विस्तार

पीछे हम बता चुके हैं कि किस प्रकार आर्य धीरे-धीरे समस्त उत्तरी भारत में फैल चुके थे। विवेच्य काल में उन्होंने अपना प्रभुत्व समस्त दक्षिणापथ और दक्षिण भारतीय प्रायद्वीप में स्थापित कर लिया। विजय के क्रम के सम्बन्ध में तो अधिक चर्चा नहीं की जा सकती किन्तु ऐसा जान पड़ता है कि सर्वप्रथम आर्य धर्म प्रचारकों ने इन प्रान्तों की सैनिक विजय का मार्ग प्रशस्त किया। अगस्त्य की कथा से उनकी दक्षिण-यात्रा की साहसिकता का पता लगता है। रामायण में हम पढ़ते है कि दक्षिण निवासी राक्षस कही जाने वाली जंगली जातियों द्वारा आर्य ऋषि बहुधा तंग किये जाते थे और वे क्षत्रिय राजाओं से सहायता मांगते थे। सम्भवतः उन्नीसवीं शताब्दी में जो कुछ हुआ और जिसके कारण यह कहावत चल पड़ी कि जहाँ आज उपदेशक जाते हैं वहाँ कल तोप की नाव पहुँचती हैं (Where missionaries go to-day the gun boat Follows tomorrow), उससे तत्कालीन अवस्था कुछ भिन्न न थी। फलस्वरूप दक्षिण भारत पर सैनिक विजय ही नहीं वरन् सांस्कृतिक विजय भी हुई। जब द्रविड़ लोगों को उनके शाश्वत शत्रुओं

ने पराजित कर दिया तो उन्होंने आर्यों की भाषा, साहित्य, धर्म, रहन-सहन और रीति-रिवाजों को अपना लिया। ऐसा जान पड़ने लगा कि उत्तर भारत की तरह ही दक्षिण भारत का भी पूर्ण आर्यीकरण हो जायगा और द्रविड़ सभ्यता के अन्तिम अवशेषों का भी नामोनिशान न रह जायगा। किन्तु आगे की घटनाओं से पता लगता है कि ऐसा न होने वाला था। कुछ शताब्दियों पश्चात् वहाँ राष्ट्रीय भावना जागृत हुई और पुरानी व्यवस्था के पक्ष में प्रतिक्रिया आरम्भ हुई। प्राचीन भाषा और साहित्य फिर से जोर-शोर के साथ अपनाया गया। यद्यपि आधुनिक तमिल, तेलुगु आदि अन्य द्रविड़ भाषाओं में आर्य-प्रभाव सर्वाधिक है, तथापि वे निश्चय ही अनार्य परिवार की हैं। धर्म, सामाजिक प्रथाओं और सभ्यता के अन्य तत्वों में यद्यपि आर्य-प्रभाव विशेष रूप से दिखाई देता है तथापि उनका द्रविण रूप स्पष्टतः प्रत्यक्ष है। कुछ ऐसे भी लोग हैं जिन्होंने द्रविड़ों की प्राचीन सामाजिक व्यवस्था को सफलतापूर्वक सुरक्षित रखा है और वह आर्यों की व्यवस्था से एक दम भिन्न है। किन्तु सब कुछ मिला-जुला कर आर्य और आर्येतर संस्कृति का ऐसा मिश्रण हुआ है कि इतिहासकारों के लिए आवश्यक हो गया कि वे आर्य की जगह भारतीय शब्द का प्रयोग करें। आर्यों के दक्षिण विस्तार की तिथि निश्चित करना कठिन है किन्तु यह सारा विस्तार ६००–४०० ई० पू० के बीच के काल में हुआ होगा। इस प्रकार १५०० वर्षों के भीतर ही आर्य भारत की अन्तिम सीमा के छोर तक पहुँच गये।

अगली पाँच शताब्दियों में उनकी शक्ति का विस्तार भारत को घेर रखने वाले समुद्रों और पर्वतों के पार हुआ; और सिंहल, बर्मा, हिन्दचीन, पूर्वी द्वीप समूह तथा मध्य एशिया ने बहुत कुछ अंशों में भारतीय संस्कृति और सभ्यता को अपनाया।

पश्चिमी एशिया के सम्बन्ध में पूरी तरह से तो जानकारी नहीं है; किन्तु ऐसा समझने के कारण हैं कि एक समय बौद्ध धर्म हिन्दूकुश से लेकर भूमध्य-सागर तक फैला हुआ था। इन देशों में ब्राह्मण धर्म का भी कुछ प्रभाव था। फरात के ऊपर के काठे—आर्मिनियाँ—में ई० पू० दूसरी शताब्दी में भारतीयों का एक उपनिवेश था और वहाँ कृष्ण आदि ब्राह्मण देवताओं के मन्दिर थे। इस प्रकार भारत ने समस्त एशिया की सांस्कृतिक विजय की थी।

२. विदेशी व्यापार

बहुत आरम्भ से ही भारत व्यापार के माध्यम से भी विदेशियों के सम्पर्क में आया था। तीसरी सहस्राब्दी ई० पू० में सिन्धु घाटी और पश्चिमी एशिया के बीच के व्यापार संबंध की चर्चा पहले की जा चुकी है। कुछ लोग

पुरानी इन्जील (बाइबिल) में ई० पू० १४०० में सीरिया के तटीय क्षेत्रों तक भारतीय व्यापार का संकेत पाते हैं। पुरातात्विक प्रमाणों से ज्ञात होता है कि ई० पू० ८ वीं शताब्दी में भारत का मेसोपोटामियाँ, अरब, फोनेशिया और मिस्र के साथ जल और स्थल भागों से नियमित व्यापार-संबंध था।

चीनी साहित्य ग्रंथों में ई० पू० सातवीं शताब्दी से ही चीन और भारत के बीच होनेवाले व्यापार सम्बन्धों की चर्चायें प्राप्त हैं। मलय द्वीप समूह, फिलीपीन और हिन्देशिया में प्राप्त हाल के पुरातात्विक प्रमाणों से इसकी पुष्टि होती प्रतीत होती है और हम सही ही यह धारणा बना सकते हैं कि भारत और सुदूरपूर्व के देशों के बीच प्रथम सहस्राब्दि ई० पू० के प्रथमार्ध से ही नियमित व्यापार होता था और यह ईसवी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों के ऐतिहासिक युग तक चलता रहा। चौथी शताब्दी ई० पू० से तो व्यापार और नौका-नयन सम्बन्धी कार्यों का अत्यधिक विकास हुआ। मौर्यों ने नौ-सेना परिषद् और नौ-सेना विभाग की अत्यन्त कुशल व्यवस्था की थी। अपनी इस नाविक प्रभुता के कारण ही भारतीयों ने भारतीय-द्वीप-समूह के द्वीपों का उपनिवेशन करने में सफलता पाई। थोड़े ही दिनों बाद चीन और भारत के बीच जल और स्थल मार्ग से नियमित यातायात आरम्भ हो गया। सिकन्दर के आक्रमण (३२७—३२५ ई० पू०) के फलस्वरूप भारत यवन देशों के निकट सम्पर्क में आया। पीछे हम देख चुके हैं कि मिस्र और सीरिया के यवन राजाओं ने मौर्य दरबार में अपने राजदूत भेजे थे और अशोक ने अपने उपदेशक पाँच यवन देशों में भेजे थे। एक प्राचीन लेखक के कथन से ज्ञात होता है कि तुरमय द्वितीय (२८५—२४६ ई० पू०) के जुलूस में भारतीय स्त्रियां, भारतीय शिकारी कुत्ते, भारतीय गायें, और ऊँटों पर लदे भारतीय मसाले देखने में आते थे। मिस्र के इस यवन-नरेश ने भारतीय पत्थरों से जड़ा हुआ एक सैलून एक नौका में बनवाया था। इस बात के प्रचुर प्रमाण हैं कि मिस्र के तुरमय नरेशों और पीछे के रोम सम्राटों ने भारत के साथ जलव्यापार के विकास को पूरी तरह प्रोत्साहित किया था। इन सभी बातों से पता लगता है कि ईसा पूर्व की शताब्दियों में भारत और पश्चिमी देशों के बीच अफ्रीका के तट तक बहुत बड़ी मात्रा में समुद्री व्यापार होता था। समुद्र तट से माल स्थल मार्ग द्वारा नील नदी तक ले जाया जाता था और वहाँ से नौकाओं द्वारा सिकन्दरिया जाता था, जो कि उन दिनों एक बहुत बड़ा बाजार था।

आरंभ में सीधे समुद्र की यात्रा लम्बी और कठिन होती थी; क्योंकि पोतों को भूमि तट के निकट से ही जाना पड़ता था। किन्तु ४५ ई० में हिप्पल ने यह महान् खोज की कि भारतीय महासागर के आर-पार नियमित रूप से पावस की

हवा चलती रहती है। इसके फलस्वरूप लोग सीधे समुद्र में होकर आने जाने लगे। इसके तथा रोम साम्राज्य की स्थापना के फलस्वरूप ईसा की आरम्भिक शताब्दियों में भारतीय व्यापार की मात्रा बढ़ गयी। इसके साथ-साथ पलमिरा के सुप्रसिद्ध नगर से हो कर जानेवाले स्थल मार्ग से भी व्यापार होता था।

पहली शताब्दी ई० में अफ्रीकी तट से कुछ दूर पर एक द्वीप में भारतीयों का एक उपनिवेश था। भारतीयों की साहसिकता ने उन्हें उत्तर सागर तक पहुँचा दिया था और उनके सार्थवाह एशिया के एक कोने से दूसरे कोने तक आते जाते थे।

पहली शताब्दी ई० में मिस्र निवासी एक यवन पोतवाह ने "पेरीप्लस ऑफ् दि एरिथ्रियन सी" नामक पुस्तक लिखी थी। इस पुस्तक में लेखक ने अपने ज्ञान के आधार पर भारतीय व्यापार का विस्तृत और रोचक वर्णन किया है। जब वह भारत आया तो उसे भारतीय तट बन्दगाहों और घाटों से भरे मिले और उसने विदेशों के साथ जोरों के साथ भारत का व्यापार होता पाया। भारत से निर्यात होनेवाली मुख्य चीजें थीं—मसाला, सुगन्ध, औषध, रङ्ग, मोती, हीरा, नीलम, और वैदुर्य आदि मणियां, चमड़ा, सूती कपड़ा, रेशमी धागे, मलमल, नील, हाथी दाँत, चीनी मिट्टी के बर्तन और कच्छप पृष्ठ। बाहर से आनेवाली मुख्य चीजें थीं—कपड़ा, सुगन्ध, औषध, शीशों के बर्तन, सोना, चाँदी, ताँबा, शीशा, टिन, राँगा, रङ्ग, मणि और मूंगा।

भारतीय व्यापार का मूल्य प्लीनी के उस कथन से आंका जा सकता है, जिसमें उसने लिखा है कि भारत प्रतिवर्ष रोम साम्राज्य से ५००,०००,० सेस्टसेस[१] दूह लेता है। इस देश में रामक सम्राटों के असंख्य सोने के सिक्के प्राप्त हुए हैं जो निश्चय ही व्यापार द्वारा यहाँ आये होंगे। ये सिक्के प्लीनी के कथन का समर्थन करते हैं।

अधिकांश सिक्के दक्षिण भारत में मिले हैं ओर उनसे प्राप्त ऐतिहासिक तथ्यका समर्थन प्राचीन तमिल साहित्य के अनेक स्थलों से होता है। हम उनमें कटुभाषी यवन और उनके बेंचने वाले सामानों, मामल्लपुरम्, पुहार और कॅरकई के बन्दरगाह वाले नगरों में विदेशी व्यापारियों की चहल-पहल, व्यस्त चुङ्गी अधिकारियों और बन्दरगाहों पर नावों पर माल उतारने और चढ़ाने वालों की दौड़-धूप का वर्णन पाते हैं।

पलमिरा और सिकन्दरिया के रास्ते भारत और रोम-साम्राज्य के बीच भारी व्यापार होने का पता तीसरी शताब्दी ई० तक लगता है। फलतः इन देशों

---

१. रोमन दीनार का चौथाई सिक्का।

के बीच राजनीतिक संबंध भी स्थापित हो गये थे और इस बात के लिखित प्रमाण हैं कि ई० की प्रथम तीन शताब्दियों में भारतीय राजाओं ने रोम सम्राटों के पास कम से कम ६ बार दूतमण्डल भेजे थे।

बढ़े हुए व्यापार के फलस्वरूप रोमन और भारतीय बहुत बड़ी संख्या में एक दूसरे के देशों में आते जाते थे। पूर्व और पश्चिम के बीच सिकन्दरिया दोनों ओरके उन लोगोंका मिलन-स्थल था। दायोक्राइसास्टम Diochrysostom (११७ ई०) के कथनानुसार सिकन्दरिया में बसनेवाले लोगों में भारतीय भी थे। ४७० ई० में कुछ ब्राह्मण भी वहाँ गये थे और वहाँ के दूत के अतिथि थे। मिस्र में एक भारतीय का एक छोटा सा स्मारक लेख भी मिला है।

३. उद्योग और अन्तरदेशीय व्यापार

विदेशों के साथ भारी मात्रा में होनेवाले व्यापार से यही ज्ञात होता है कि देश भर में उद्योग बहुत बढ़ा चढ़ा और फैला था। तत्कालीन साहित्य और अभिलेखों में अनेक उल्लेख लोगों के कला-कौशल, उद्योग और पेशों के सम्बन्ध में पाये जाते हैं। जनता की एक बड़ी संख्या सैनिक पेशे में थी। वहाँ वे पदाति, रथक, अश्वक और गजक का काम करते थे। वे लोग निश्चय ही हाथी-घोड़ों के व्यापार तथा लकड़ी और धातु के कामों में भी भाग में लेते रहे होंगे, जिससे कि रथ, समुद्र के उपयुक्त जलपोत और युद्ध के हथियार तैयार हो सकें। लकड़ी और धातु के लिये जंगलों की सफाई और खानों में काम आवश्यक था। कौटिल्य ने तो दोनों के सम्बन्ध में विस्तृत नियम भी दिये हैं। इसके लिए वैज्ञानिक जानकारी से परिपूर्ण एक राजकीय कर्मचारी होता था जो आकराध्यक्ष कहलाता था। उसका काम खान-विज्ञान विशारदों और खनकों तथा आवश्यक यंत्रों की सहायता से राज्य भर के खानों को देखना और उनमें काम कराना था। जिन खानों में काफी धन की आवश्यकता होती, वे लोगों को निजी ठेकों पर दे दी जाती थीं। एक दूसरा राज्याधिकारी लोहाध्यक्ष होता था जो तांबा, शीशा, रांगा वैकृन्तक (पारा ?), आरकूट (पीतल) कांसा और ताल आदि के उत्पादन और उनसे बनने वाली चीजों की देख रेख करता था। खन्यध्यक्ष का काम शंख, वज्र-मणि (हीरा), मोती, मूंगा और नमक का संग्रह तथा उनके व्यापार की व्यवस्था करना था। कुप्याध्यक्ष जंगलों की देख-रेख और उनकी सुरक्षा करता था। और सब प्रकार की काठ की ऐसी वस्तुओं के उत्पादन की व्यवस्था करता था जो जीवन और दुर्ग-रक्षा के निमित्त आवश्यक थीं। इससे सम्बद्ध एक बहुत महत्त्वपूर्ण उद्योग पोत-निर्माण का था जो कि बहुत बड़े पैमाने पर होता था।

इससे जान पड़ता है कि अनेक उद्योग राज्य द्वारा संचालित होते थे और उनमें से अनेकों पर तो उसका एकाधिकार था। आधुनिक शब्दावली में खानों, शस्त्रों, जंगलों, नमक और अन्य उद्योगों का राष्ट्रीय-करण था। इसके अतिरिक्त राज्य के न केवल कपड़े, तेल और चीनी के अपने कारखानें और मिलें थीं, वरन् उसका निजी व्यापार और उद्योगों पर भी बहुत अंशों तक सामान्य नियन्त्रण था। पण्याध्यक्ष थोक और फुटकर वस्तुओं के भाव निर्धारित करता था तथा चोरी से माल ले जाने, मिलावट करने, नकली बाट प्रयोग करने, सट्टा करने और मूल्य बढ़ाने की चालों पर सर्वत्र निगाहें रखता था। मजदूरी बढ़ाने के लिए मजदूरों द्वारा हड़ताल करना अवैध था। अर्थशास्त्र में व्यापार और उद्योग के नियन्त्रण की जो व्यवस्था है उसका दृष्टिकोण आश्चर्यजनक रूप से आधुनिक जान पड़ता है।

लोगों की बढ़ती हुई विलासिता के फलस्वरूप भी अनेक उद्योगों का विकास हुआ था। जौहरियों और हक्काकों तथा शीशा बनानेवालों की कला ई० पू० ३री शताब्दी से भी बहुत पहले बहुत ऊँचे दर्जे को पहुँच चुकी थी। कौटिल्य की पुस्तक में सोना-चाँदी, हाथी के दाँत, और नाना प्रकार की मणियों एवं कीमती वस्तुओं के कामों का उल्लेख पाया जाता है। नाना प्रकार के सुगन्ध, रूई, ऊन, और रेशम के बारीक कपड़े, नाना प्रकार के वस्त्र, कम्बल और चमड़े तथा सभी प्रकार के पेय बहुत बड़ी संख्या में जनता द्वारा तैयार किये जाते थे। राजाओं, व्यापारियों और धनिकों द्वारा प्रासादों तथा अन्य प्रकार के भवनों के निर्माण कराये जाने के कारण चित्रकारी, राजगीरी और संतराशी की कला को भी बहुत महत्त्व प्राप्त था।

कृषि स्वभावतः मुख्य उद्योगों में से थी, किन्तु आज की तरह वह जनता का प्रायः एक मात्र उद्योग न था। अनेक प्रकार के अन्न, तरकारी, कन्द, फल-फूल और जड़ी-बूटियाँ पैदा की जातीं तथा तेल और चीनी तैयार की जाती थी। पशु-पक्षी-पालन और मछुवाही भी मुख्य उद्योग थे; जिनसे न केवल दूध, घी और मक्खन मिलता था, वरन् मछली और विभिन्न पशु-पक्षियों के गोश्त भी प्राप्त होते थे जिनकी बहुत बड़ी माँग थी। कुम्हार, रङ्गरेज, चर्मकार, हलवाई, माली, चटाई और खाँची बनानेवाले बुनकर, लोहार और संतराश आदि अनेक छोटे २ उद्योग करने वाले लोग भी थे, जो जीवन की आवश्यकताओं अथवा भोगवस्तुओं की पूर्ति करते थे।

इन विभिन्न उद्योगों के उत्पादन को व्यापारी लोग देश के एक कोने से दूसरे कोने तक नाव और बैलगाड़ियों द्वारा ले जाते थे। कभी कभी सैकड़ों बैलगाड़ियाँ

एक साथ चलती थीं जो सार्थ कहलाती थीं और देश के एक कोने से दूसरे कोने तक चली जाती थीं। चोर और डाकुओं से रक्षा के लिए किराये पर स्वेच्छा से प्राप्त होनेवाले रक्षकों की नियुक्ति की भी चर्चा पायी जाती है। नदी, नहरों और सड़कों द्वारा माल बन्दरगाहों को भेजे जाते थे, जहाँ से वे समुद्रगामी पोतों द्वारा विदेशों को निर्यात किये जाते थे। अनेक प्रकार के व्यापारियों और उनकी अपार धनराशि की चर्चा प्रायः पुस्तकों और अभिलेखों में पायी जाती है।

इस काल के उद्योग और व्यापार का उच्च कोटि का संघटन उनकी विशेषता थी। श्रेणी नामक संस्था एक ही प्रकार के व्यापार, कला अथवा उद्योग करने वाले लोगों का संघटन थी, जो मध्यकालीन योरोप के श्रेणियों से मिलती-जुलती थी। प्रायः प्रत्येक उल्लेखनीय उद्योग की अपनी श्रेणी थी, जो अपने सदस्यों के हितों की रक्षा के निमित्त विधि-विधान बनाती थी। ये विधि-विधान देश के कानून के समान मान्य थे। प्रत्येक श्रेणी का एक निश्चित संविधान होता था, जिसमें एक अध्यक्ष और एक छोटी सी संचालन-समिति होती थी। इन श्रेणियों को कहीं कहीं बहुत बड़े अधिकार और सम्मान भी प्राप्त थे। सभी श्रेणियों के प्रधान राजदरबार के मुख्य व्यक्ति समझे जाते थे। ये श्रेणियाँ कभी-कभी सेनायें भी रखती थीं और आवश्यकता होने पर शासक को सहायता भी करती थीं। कभी-कभी विभिन्न श्रेणियों में संघर्ष भी हो जाया करते थे और अधिकारी परेशानी में पड़ जाते थे। इन श्रेणियों का एक महत्त्वपूर्ण कार्य स्थानीय बैंक का काम करना भी था। लोग उनके पास इस आदेश के साथ रुपया जमा किया करते थे कि उसका सूद जब तक चन्द्र-सूर्य रहें तब तक प्रतिवर्ष निश्चित कार्य में लगाया जाय। यह इन संस्थाओं के सुचारु और कुशल संघटन का सबसे बड़ा प्रमाण है; क्योंकि स्थायी नीवि के निमित्त लोगों का उन पर कदापि विश्वास न होता, यदि उनकी कार्यव्यवस्था संतोषजनक न होती। कभी-कभी ये श्रेणियाँ विद्या और संस्कृति की केन्द्र भी होती थीं। संक्षेप में ये प्राचीन भारत की उल्लेखनीय संस्थाएँ थीं। श्रेणियों के अतिरिक्त अन्य प्रकार की सामूहिक संस्थायें भी थीं। व्यापार संयुक्त साझे के सिद्धान्त पर भी किया जाता था। व्यापारियों के संघ भी थे और यह भी सुनने में आता है कि कभी-कभी व्यापारी लोग वस्तुओं का मूल्य घटाने अथवा बढ़ाने और शत-प्रतिशत लाभ करने के निमित्त अपना संघटन कर लेते थे।

इन बातों से निस्संदिग्ध रूप से यह साबित होता है कि लोगों में व्यापार की चरम बुद्धि थी और प्राचीन भारत में उद्योग, वाणिज्य तथा व्यापार चरम सीमा तक विकसित थे।

४. मुद्रा प्रणाली

इस काल के आर्थिक विकास की सबसे बड़ी विशेषता सामान्य विनिमय के रूप में सिक्कों का प्रचलन है। वैदिक काल में प्रचलित बदलौन की प्रथा ने धीरे-धीरे बहुमूल्य धातुओं के विनिमय का रूप धारण किया। हीरोदोत का कथन है कि पारसीकों के साम्राज्य का भारतीय प्रान्त (क्षत्रप-क्षेत्र) वार्षिक कर के रूप में ३६० टैलेएट स्वर्ण-धूलि देता था। यह इस बात का द्योतक है कि ई० पू० ६ ठीं शताब्दी में भी सोने और चाँदी की धूल अथवा पासे मुद्रा का काम करते थे। किन्तु उसी के साथ साथ अथवा उसके कुछ ही दिन पश्चात् वास्तविक सिक्कों (नियमित आकार के धातु के टुकड़े, जिसकी तौल और शुद्धता किसी मान्य अधिकारी द्वारा प्रमाणित हो) का प्रयोग पाते हैं। वे सिक्के शासकों, व्यापारियों अथवा निगमों द्वारा नियमित रूप से जारी किये जाते थे और उन पर सरकार का कोई एकाधिकार न था। प्रचलित करने वाले अधिकारी के प्रतीकस्वरूप इन सिक्कों पर एक वा अधिक चिह्न आहत रहते थे। इस कारण इन्हें साधारणतया 'आहत मुद्रायें' कहा जाता है। इन पर कोई नाम नहीं होता और न कोई लेख। इन्हीं चिह्नों से युक्त कुछ ढले हुए सिक्के भी चलते थे। देश के विभिन्न भागों में ये हजारों की संख्या में पाये गये हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि बहुत दिनों तक ये नियमित रूप से चलते रहे।

बाख्त्री-यवन राजाओं ने पहले पहल शासकों के शबीह और नाम वाले सिक्के चलाये। इन सिक्कों के चित्त ओर राजा के शबीह और पट्ट ओर किसी देवता के चित्र अथवा अन्य प्रतीक उच्च कोटि की कला कुशलता के साथ अंकित किये गये हैं। इस पद्धति को न केवल भारत पर आक्रमण करने वाले अन्य विदेशियों ने ही, बरन् भारतीय शासकों ने भी अपनाया और उसी ढंग के सिक्के चलाये, यद्यपि उनकी बनावट उतनी अच्छी नहीं है। गुप्त सम्राटों ने सोने के सुन्दर सिक्कों के क्रम ही चलाये जो, यद्यपि वे यवन सिक्कों की तुलना में घटिया हैं, तथापि उनकी कलात्मकता में उच्च कोटि के है।

आरम्भिक सिक्कों का वजन मनुसंहिता में दी हुई व्यवस्था के अनुसार होता था। उनकी इकाई रत्ती अथवा गुंजा थी जो लगभग १·८३ ग्रेन अथवा ·११८ ग्राम वजन की होती है। यद्यपि अस्सी रत्ती के सुवर्ण अर्थात् प्रामाणिक सोने के सिक्कों का कोई वास्तविक नमूना नहीं मिला है, तथापि ३२ रत्ती के चाँदी के पुराण और धरण और ८० रत्ती के ताँबे के कार्षापण और उनके विभिन्न खरीज सारे भारतवर्ष में पाये गये हैं।

आरम्भ में जब सिक्कों का प्रचलन हुआ तो किसी एक धातु—चाँदी अथवा ताँबे, के सिक्के ही सामान्यतः किसी एक क्षेत्र में प्रचलित हुए; किन्तु दोनों धातुओं के सिक्के साथ ही साथ चलते हुए भी पाये जाते हैं। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में यह निश्चित रूप से लिखा है कि चाँदी और ताँबे के सिक्के साथ-साथ चलते थे और एक निश्चित अनुपात में उनका पारस्परिक मूल्य था। दोनों धातुओं के मूल्य में विभिन्नता के आने पर निश्चय ही वजन में मान भार से भिन्नता आती रही होगी। राज्यविशेष की इच्छा पर यह निर्भर था कि चाँदी अथवा ताँबे में से किसको अधिक महत्व दिया जाय, जिससे धातुओं के आनुपातिक मूल्य में परिवर्तन होने पर सिक्कों के वजन में परिवर्तन किया जा सके!

धातु

कुषाणों द्वारा बड़ी संख्या में सोने के सिक्के प्रचलित किये जाने के कारण मुद्रा-विनिमय में काफी उलझन आ पड़ी; किन्तु सोने को ताँबे के साथ जोड़ कर और चांदी को एकदम हटा कर इस कठिनाई को बहुत कुछ दूर करने का प्रयत्न किया गया। कुषाण राजाओं ने चांदी के एक भी सिक्के नहीं चलाये। किन्तु गुप्तों ने इस स्थिति को एक दम पलट दिया। उन्होंने पहले केवल सोने के सिक्के चलाये; उसके बाद सोने और चाँदी दोनों के। ताँबे के सिक्के केवल लाक्षणिक भण्डा के प्रतीक मात्र बच रहे।

भारत में सोने और चांदी के मूल्य का अनुपात पारसीक सम्राट दारयवहु (५१८ ई० पू०) के पूर्व क्या था, इसका निश्चित पता नहीं; किन्तु उसके काल में उसके भारतीय प्रान्त में एक और आठ का और फारस में एक और तेरह का अनुपात था। इसका कारण यह था कि भारत में सोने की अधिकता होते हुए भी उसका चाँदी का अपना स्रोत अत्यन्त सीमित था और उसे अधिकतर विदेश से मँगाना पड़ता था। किन्तु धीरे-धीरे उनका अनुपात इस देश में भी वही हो गया जो पश्चिमी देशों में था। सोने और ताँबे के पारस्परिक अनुपात में वह उतार और चढ़ाव नहीं दिखाई पड़ता जो सोने और चाँदी के बीच में था; क्यों कि सोना और ताँबा दोनों ही इस देश में प्राप्य थे। लेकिन चांदी और ताँबे के अनुपात का उतार चढ़ाव बहुत अधिक था और जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है इसके कारण उनके सिक्कों के वजन में अन्तर होता रहता था। दोनों धातुओं के बीच मोटे तौर पर एक और ५·७ का अनुपात था।

धातुओं का आन्तरिक मूल्य

आरम्भिक काल में ८० रत्ती (१४० ग्रेन) का ताम्र-कार्षापण सिक्कों का मान था। कौटिल्य ने ३२ रत्ती के रजत-कार्षापणों का उल्लेख किया है। गुप्तों के

आरम्भिक सोने के सिक्के कुषाणों के मान (लगभग १२१ ग्रेन) के अनुकरण पर बने और वे दीनार कहलाते थे। स्कन्दगुप्त के सिक्के दो मान के पाये जाते हैं। एक तो १३२ ग्रेन का स्थानीय मान और दूसरा १४६·४ ग्रेन का सम्भवतः सुवर्ण मान।

गुप्त सम्राटों के सिक्कों पर विदेशी आक्रामकों द्वारा प्रचलित सिक्कों का प्रभाव निसंदिग्ध है। किन्तु दक्षिण भारत में यह विदेशी प्रभाव तनिक भी देखने में नहीं आता। वहाँ केवल सोने और ताँबे का प्रयोग होता था यद्यपि चाँदी से वे लोग एक दम अपरिचित न थे। सोने चाँदी और सम्भवतः ताँबे के रोमक सिक्के दक्षिण में इतनी अधिक संख्या में पाये गये हैं कि बहुत सम्भव है कि दूसरी, तीसरी शताब्दियों में दक्षिण भारत में उनका बाकायदा व्यवहार होता रहा हो।

गुप्त साम्राज्य के पतन के पश्चात् विभिन्न राज्यों ने अपने अपने सिक्के चलाये; किन्तु उनकी बनावट बहुत ही भोंडी है। पाल और प्रतिहार सदृश महत्त्वपूर्ण वंशों के भी सिक्कों की संख्या आश्चर्यजनक रूप से अत्यल्प है। उनमें रूप अथवा भार-मान की कोई समानता नहीं है।

५. धन और वैभव

अपार व्यापार के साथ साथ अपने प्राकृतिक साधनों के कारण भारत की ख्याति बहुत धनी देश के रूप में फैली और अति प्राचीनकाल में ही उसकी सम्पत्ति लोकोक्तियों का विषय बन गयी थी। प्राचीन भारतीय साहित्य में यहाँ के व्यापारियों के अपार धन व राशियों की अनेक कहानियाँ पायी जाती हैं। कोशल के सुविख्यात श्रेष्ठि अनाथपिण्डिक ने श्रावस्ती-स्थित जेतवन नामक उपवन को भगवान् बुद्ध को भेंट करना चाहा। किन्तु उस वन के मालिक ने उसे देना अस्वीकार करते हुए एक असम्भव मूल्य की बात कही—'उपवन की भूमि पर जितने सोने के सिक्के बिछ सकें उतना ही उस भूमि का मूल्य होगा।' अनाथपिण्डिक ने उसका यह कड़ा मूल्य भी स्वीकार कर लिया। सम्भवतः ई० पू० दूसरी शताब्दी की भरहुत स्तूप की एक वेदिका पर यह सारा दृश्य अंकित है। उसमें यह विशेष रूप से दिखाया गया है कि किस प्रकार गड्डियों भरे सिक्के जमीन पर बिछाये जा रहे हैं।

एक जैन धर्मग्रन्थ में लिखा है कि आनन्द नामक गृहस्थ के पास (जो पीछे जैन धर्म में दीक्षित हो गया) सुरक्षित स्थान में रक्खा हुआ चार करोड़ सुवर्ण का खजाना था, ४ करोड़ सुवर्ण की ही पूंजी उसने सूद पर लगा रक्खी थी तथा

उसके पास ४ करोड़ सुवर्ण की अन्य सम्पत्ति थी। इसके अतिरिक्त १०—१० हजार पशुओं के ४ यूथ भी उसके पास थे। इस प्रकार की कहानियाँ बहुत कुछ तो लोकअतिरंजना सी भी जान पड़ती हैं। उस समय कहानियों के कहने का यही ढंग भी था। किन्तु इतना तो है ही कि वे मोटे रूप में भारत की आर्थिक अवस्था बताती हैं। भारतीय व्यापारियों की सम्पत्तिका अनुमान उनके दिये हुए दानों और नीवियों से भी किया जा सकता है। उदाहरणार्थ कार्ले का लयण—वह भारत में सर्वोत्कृष्ट तो है ही, सम्भवतः सारे संसार में भी सर्वोत्कृष्ट है—अकेले एक श्रेष्ठि का दान था।

धन के फलस्वरूप स्वभावतः वैभव और विलासिता आती है। मेगस्थनीज ने लिखा है कि "भारतीय भड़कीले वस्त्र और आभूषण के प्रेमी हैं वे लोग सोने के काम किये और मणियों से जड़े हुए कपड़े पहनते हैं। वे महीन से महीन मलहम के बने बूटेदार कपड़ों का भी प्रयोग करते हैं।" इस युग का साहित्य लोगों के वैभव और विलासिता के उल्लेखों से भरा हुआ हैं। ईंटों, पत्थरों अथवा लकड़ी के बने अनेक मंजिलों वाली सुन्दर नक्काशी पूर्ण वेदिकाओं, रंगीन दीवारों और चित्रों से युक्त कमरों, ढ़के हुए बाजों, छतों, ईंट और पत्थरों के स्नानागारों, अन्तःपुरों, अग्निकुण्डों और शरद्कक्षों से युक्त भवनों, अनेक प्रकार की चौकोर आरामदेह, गद्दीदार, बहुपादयुक्त और बेंत की बनी कुर्सियों, अनेक प्रकार के पशुओं के रूप के पायों वाले खाटों; नीले, पीले, लाल, भूरे, काले और बादामी रंग की चप्पलों; सिंह, बाघ, हिरण, बिल्ली, गिलहरी और उल्लू के चमड़ों के दोहरे और तेहरे पतेवाले अनेक रङ्ग के जूतों, फीतेदार रूई से मढ़े जूतों, कबूतर को पंखों के आकार के जूतों, भेड़ों और बकरों के सींगों की तरह के नोकदार जूतों, बिच्छूओं की पूँछ से अलंकृत जूतों, मोर पंखी से सिले जूतों, ऊन के बने सोने, चाँदी, मोती, स्फटिक, ताँबा, शीशा, रांगा और कांसे से अलंकृत जूतों; स्त्री-पुरुषों के हीरा, लाल आदि कीमती मणियों के आभूषणों और स्फटिक, सोना, चाँदी, ताँबा और शीशे के कीमती, रंगे और मणिजटित बर्तनों का उल्लेख पाया जाता है।

अन्य वस्तुओं के भी नाम गिनाये जा सकते हैं, किन्तु उपर्युक्त सूची[१] भारतीय जीवन के सुख, वैभव और विलासिता का परिचय देने के लिए पर्याप्त है। उससे यह स्पष्ट है कि प्राचीन काल में इस देश की भौतिक सभ्यता किस ऊँचाई तक पहुँची थी।

किन्तु प्राचीन भारत का धन और वैभव आज के अनेकों देशों की भाँति दरिद्रों के समूहों से संतुलित न होता था। सौभाग्य से उस समय कारखानों की

---

१. यह सूची विनय-पिटक में दी हुई है।

व्यवस्था न थी, जिससे अपंग मानवों की पीढ़ियाँ पैदा हों। घरेलू उद्योग विस्तृत पैमाने पर संघटित थे, जो प्रत्येक घरों को सुखपूर्वक खाने-पहनने का साधन उपस्थित करने के लिए पर्याप्त थे। यद्यपि अकाल और अन्य विपत्तियाँ एक दम अपरिचित न थीं (अभी भी मनुष्य उनको दूर करने का स्थायी उपाय नहीं ढूंढ़ पाया है), फिर भी वे इनी गिनी थीं और यदा-कदा ही आती थीं। मेगस्थनीज ने भारतीय जीवन का जो निम्नलिखित चित्रण किया है उसे हम बहुत कुछ वास्तविक मान सकते हैं।

"रहन-सहन की भाँति ही यहाँ के निवासियों के जीवन निर्वाह के अपार साधन हैं; जिनके फलस्वरूप वे साधारण स्थिति से बहुत ऊँचे उठे हुए है और उनमें अभिमान की भावना उनके ऊंचे ललाटों से झलकती रहती है। वे कला में भी बहुत दक्ष हैं, जैसा कि शुद्ध जल और शुद्ध वायु पानेवाले व्यक्ति से आशा की जाती है। यहाँ खेती द्वारा भूमि से उत्पन्न होनेवाले सभी फल तो प्राप्त होते ही हैं, वहाँ की भूमि के नीचे से भी सभी तरह की धातुएँ निकलती हैं। उसके भीतर सोना और चाँदी बहुत है; ताँबा और लोहा भी कम मात्रा में नहीं है; और रांगा तथा अन्य उपयोगी और आभरणवाली वस्तुएँ तथा हथियारों और युद्ध सामग्री बनाने के काम आनेवाली धातुएँ भी पायी जाती हैं।

अन्न के अतिरिक्त सारे भारत में निरन्तर नदियों द्वारा सिंचाई किये जाने वाले ज्वार, दाल की अनेक किस्में, चावल तथा भोजन में काम आने वाले अन्य अनेक पौधे भी बहुत मात्रा में अपने से उगते हैं। इनके अतिरिक्त भूमि से पशुओं के खाने योग्य इतनी अधिक चीजें पैदा होती हैं कि उनकी चर्चा करना कठिन है। इससे यह बात सच जान पड़ती है कि भारत में कभी अकाल पड़ा ही नहीं और न पुष्टिकर भोजन का अभाव ही कभी हुआ।"[१]

---

१. मेगस्थनीज इण्डिका पृष्ठ ३१-३२।

नवाँ अध्याय

कला

सुख और वैभव का जीवन कला और साहित्य के विकास के उपयुक्त होता है। फलतः हम इस काल में दोनों क्षेत्रों में अद्भुत उन्नति पाते हैं। कुछ दृष्टियों से तो यह भी कहा जा सकता है कि इस काल में भारत कला क्षेत्र में अपनी चरम सीमा तक पहुँच गया था। एक अधिकारी विद्वान् का कहना है कि भारतीय कला का इतिहास उसके ह्रास काल का इतिहास है; और अशोक मौर्य का काल उसके विकास का अन्तिम चरण था। सिन्धु-घाटी की सभ्यता और अशोक के बीच के दीर्घ काल की भारतीय कला के संबंध में हम कुछ भी नहीं जानते; वस्तुतः इस काल के कुछ भी अवशेष बचे नहीं हैं। परन्तु यह न समझ लेना चाहिए कि अशोक से पूर्व भारतीयों को कला का तनिक भी ज्ञान न था अथवा अल्पज्ञान था। बहुत दिनों तक कुछ योरोपीय विद्वानों ने ऐसी अनर्गल कल्पना कर रखी थी किन्तु उनको ढाह देने के लिए भारतीय साहित्य के प्रमाण पर्याप्त हैं। अशोक-कालीन कला में जो पूर्णता है उसको देखते हुए शायद ही किसी को संदेह हो कि वह दीर्घ काल से चली आने वाली और क्रमशः विकसित होती हुई कला का परिणाम नहीं है, यद्यपि आज उस कला का कोई नमूना प्राप्य नहीं है।

अशोक के कलात्मक कार्यों को निम्नलिखित वर्गों में बाँटा जा सकता है। (१) स्तूप (२) स्तम्भ (३) गुफाएँ (४) निवास भवन। (१) स्तूप ईंट अथवा पत्थर के बने ठोस गुम्बद होते थे। इन्हें बौद्ध और जैन किसी पवित्र स्थान या घटना के स्मारकस्वरूप अथवा बुद्ध महावीर या किसी अन्य धार्मिक संत के किसी अवशेष को सुरक्षित रखने के निमित्त बनाते थे। स्तूप आकार-प्रकार में फुट भर के पूजावाले छोटे प्रतीकस्तूपों से लेकर उनसे सौ गुना तक बड़े होते थे। अशोक बड़े-बड़े स्तूपों का महान् निर्माता था और परम्पराओं के अनुसार उसने ८४ हजार स्तूप बनवाये थे। ६०० सौ वर्षों पश्चात् चीनी यात्री ह्वेनसांग ने उनमें से सैकड़ों को भारत और अफगानिस्तान में देखा था। किन्तु खेद है कि आज उनमें से इने गिने ही बच रहे हैं। साँची के महान् स्तूप के

अशोक-कालीन कला

संबंध में कहा जाता है कि वह अशोक का बनाया हुआ है और उसका निम्नलिखित वृत्तान्त अशोक के स्तूपों के नमूने का परिचय देने के लिये पर्याप्त होगा :—

"यह महान् स्तूप प्रायः गोल गुम्बद सरीखा है, जो ऊपर सुराहीदार हो गया है। उसके पुश्तों के चारों ओर ऊँचा बारजा है जो प्राचीन काल में प्रदक्षिणा-पथ का काम देता था। वहाँ तक जाने के लिए इसके दक्षिण की ओर दोहरी सीढ़ियाँ बनी थीं। इसको घेरे हुए भूमि पर एक दूसरा प्रदक्षिणा-पथ है जो पत्थर के विशालकाय घेरे से घिरा हुआ है। यह घेरा एकदम सादा और अलंकरणहीन है। चार भागों में यह चारों कोनों पर प्रवेश-द्वारों द्वारा बँटा हुआ है। प्रत्येक प्रवेश-द्वार भीतर और बाहर से आभारों द्वारा पूर्ण रूप से अलंकृत है"।[1] यहाँ यह बता देना उचित होगा कि वर्तमान तोरण अशोक के स्तूप के बाद में लगाये गये हैं। सम्भवतः स्तूप में भी समय समय पर कुछ परिवर्तन हुए थे।

(२) स्तम्भ:—अशोक-कालीन कला के जो थोड़े से नमूने बचे हैं, उनमें सर्वसुन्दर एवं सर्वथा उल्लेखनीय नमूने प्रस्तरा-स्तम्भों के रूप में पाये जाते हैं।

स्तम्भ

अशोक की आज्ञा से कितने स्तम्भ खड़े किये थे, उनकी संख्या बताना सम्भव नहीं हैं। किन्तु यदि अधिक नहीं तो वे तीस–चालीस तो अवश्य रहे होंगे। इनमें से प्रत्येक स्तम्भ में मुख्यतः दो भाग स्थूण और शीर्ष के हैं। स्थूण एकप्रास्तरिक अर्थात् पत्थर के एक टुकड़े के बने हुए हैं और उन पर ऐसी सुन्दर ओप है कि आज भी लोगों को उसके धातु के बने होने का भ्रम होता है। लौरिया नन्दनगढ़ का स्तम्भ सर्वोत्तम नमूनों में से है और उसका उल्लेख विन्सेण्ट स्मिथ ने इन शब्दों में किया है। "इसका स्थूण ओपदार बलुहे पत्थर का ३२ फुट ६।। इञ्च ऊँचा है; इसके सबसे नीचे का व्यास ३५।। इञ्च है जो धीरे-धीरे घटता हुआ सिरे पर जाकर केवल २२।। इञ्च रह गया है। इस अनुपात के कारण अशोक के स्तम्भों में वह सबसे भव्य लगता है।"[2] उस विद्वान ने अशोक के एकप्रास्तरिक स्तम्भों के सम्बन्ध में सामान्य रूप से लिखा है कि "इन विशालकाय एकप्रास्तरिक स्तम्भों का, (जिनमें से सबसे भारी का वजन ५० टन होगा) बनाना, ढोकर ले जाना और खड़ा करना इस बात का प्रमाण है कि अशोक के काल के इञ्जीनियर और संतराश किसी काल और किसी देश के कारीगरों से कलाकुशलता और साधन-सम्पन्नता में कम न थे।"[3]

---

१. मार्शल—गाइड टु साँची।

२. स्मिथ—फाइन आर्ट, पृष्ठ २०–२२

३. वही, पृष्ठ २२

इन स्तम्भों के ऊपर के शीर्ष भी एकप्रास्तरिक ही होते थे, जिनके ऊपर के अन्तिम गोल के बीच पशु आकृतियों की विशेषतायें हैं। ये आकृतियाँ बहुत ही भव्य हैं। रामपुरवा का सिंहशीर्ष और संकोसा का हस्तशीर्ष इनके सुन्दर उदाहरण हैं; किन्तु सबसे भव्य शीर्ष सारनाथ के स्तम्भ का है। "अबतक भारत में मिली मूर्तिकलाओं में यह सर्वोत्तम नमूना है।" "यह शीर्ष सात फुट ऊँचा है। इसके ऊपर चार भव्य सिंह पीठ से पीठ सटाये खड़े हैं और उनके बीच में एक बड़ा पत्थर का चक्र धर्मचक्र का प्रतीक था। उसमें सम्भवतः ३२ तीलियां थीं। सिंहों के नीचे चार छोटे-छोटे चक्र हैं जिनमें केवल २४, २४ तीलियाँ ही हैं। ये सिंह एक गोल चबूतरे पर खड़े हैं; जिनपर सिंह हस्ति, वृष और अश्व चार चक्रों के बीच खचित हैं। शीर्ष की बैठकी सुन्दर रूप से बनी हुई पसगोली के ढंग की घंटाकार है। सिंह और अन्य पशु-आकृतियाँ अद्भुत रूप से सजीव लगती हैं और उनकी गढ़न हर बातों में पूर्ण है।"[1]

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, सम्पूर्ण शीर्ष पत्थर के एक ही टुकड़े के बने हुए हैं। उनकी कला-कुशलता की सभी कलाविदों ने भूरि २ प्रशंसा की है। विन्सेण्ट स्मिथ ने लिखा है कि "किसी देश में इस सुन्दर कलाकृति से बढ़कर अथवा उसके समान प्राचीन पशु-मूर्ति का नमूना खोज निकालना कठिन है। इसमें वास्तविक बनावट के साथ-साथ आदर्श प्रतिष्ठा है और वह बनावट में प्रत्येक दृष्टि से शुद्ध और पूर्णतया सुरूप है।"[2] सर जान मार्शल की दृष्टि में ये कलाकृतियाँ सुन्दर नक्काशी और शैली की दृष्टि से भारत में तैयार किये हुए अत्युत्तम कर्म्म हैं और प्राचीन संसार की कोई भी वस्तु उनसे बढ़कर नहीं बनाई गई।"[3]

(३) अशोक और उसके पौत्र दशरथ ने भिक्षुकों के रहने के लिए गुफाओं के रूप में विहार बनवाये थे। इन सुन्दर गुफाओं का एक समूह गया से १६ मील उत्तर बराबर पर्वत में है। सुदामा गुफा को अशोक ने अपने राज्य-काल के १२ वें वर्ष में आजीवकों के रहने के निमित्त बनवाया था। इसमें दो कमरे हैं। बाहरी कमरा ३२ फुट ९ इञ्च लम्बा और १९॥ फुट चौड़ा है। इसके पीछे १९ फुट ११ इञ्च × १९ फुट का प्रायः एक गोल कमरा है।[4] उसके १९ वें वर्ष में खुदवायी हुई कर्ण-

गुफाएँ

---

१. पुरातत्त्व विभाग की वार्षिक रिपोर्ट १९०४–५ पृष्ठ ६१

~~२. स्मिथ फाइन आर्ट, पृष्ठ ६०~~

३. पुरातत्व विभाग की वार्षिक रिपोर्ट, १९०४–५, पृष्ठ ३६

४. फरग्यूसन, हिस्ट्री आफ़ आर्किटेक्चर, भाग १, पृष्ठ १४०–४१

चौपालगुफा ३३॥ फुट लम्बी और १४ फुट चौड़ी आयताकार हाल है। उसकी छत टपारदार दीवाल से ४ फुट ८ इञ्च पर बनी हुई है।[1] ये कमरे कड़े तेलिया पत्थर के बने हुए हैं और उनकी भीतरी दीवारें आइने की तरह चमकती हैं। ये गुफाएं धैर्यपूर्ण कारीगरी और असीम श्रम की अद्भुत प्रतीक हैं।

(४) खेद है, मौर्य कालीन निवास गृहों के आज कोई नमूने उपलब्ध नहीं हैं किन्तु वे भव्य थे, यह बात न केवल पहले उद्धृत मेगस्थनीज के पाटलिपुत्र के भवनों सम्बन्धी कथन से स्पष्ट होती है वरन् फाहियान के आश्चर्य-मिश्रित कथन में भी झलकती है। अशोक के महलों की चर्चा करते हुए चीनी यात्री ने लिखा है कि "नगर के बीच में स्थित राजप्रसाद, जो अब खँड़हर के रूप में हैं, अशोक ने देवों द्वारा बनवाया था। उन्होंने पत्थरों को इकट्ठा किया, दीवालों और तोरणों को चुना और उनमें अद्भुत नक्काशी की और मूर्तियां बिठायीं। यह सब कार्य ऐसा है जो इस संसार के मनुष्यों के बूते के बाहर है।"[2]

निवास-गृह

इस प्रकार मौर्य काल में भारतीय कला ने जो सौन्दर्य का उच्च स्तर प्राप्त किया वह बाद के काल में भी बना रहा और कुछ बातों में तो उसका विकास भी हुआ। मुख्य रूप से यह बात गुफाओं के निर्माण के बारे में कही जा सकती है। मौर्य साम्राज्य के पतन के पश्चात् के चार-पांच सौ वर्षों में ये गुफाएं भारत के विभिन्न भागों में बनायी गयीं। वे न केवल विहार हैं, वरन् चैत्य भी हैं। अशोक की गुफाओं में यद्यपि उच्च कोटि की कला-कुशलता झलकती है, तथापि वे न तो बड़ी थीं और न अति अलंकृत ही। किन्तु परवर्ती काल की बड़ी गुफाओं, यथा—पश्चिम की भाजा, बेदसा, कोंडने, जुन्नार, नासिक, अजन्ता और एलोरा तथा पूर्व की उदयगिरि (उड़ीसा में भुवनेश्वर के निकट) में न केवल शैली का ही विकास दिखाई पड़ता है, वरन् वे सुन्दर मूर्त्तियों और अलंकरणों से भी अलंकृत हैं और कलात्मक सफलता की दृष्टि से उनका बहुत उच्च स्थान है। बम्बई और पूना के बीच स्थित कार्ले की गुफा, इन गुफा-श्रेणियों में सर्वसुन्दर है। "रूप-रेखा में वह प्रारम्भिक ईसाई गिरजों की तरह है, जो खम्भों द्वारा तीन भागों में विभक्त होती है। दोनों ओर के खम्भों के बीच में स्थित मुख्य भाग गुम्बद की तरह गोल है। यह गुफा प्रवेश-द्वार से पीछे की दीवार तक १२४॥ फीट लम्बी और ४५॥ फुट चौड़ी है। इसकी ऊँचाई भूमि से छत तक ४५ फीट है। इसमें दोनों ओर १५-१५ खम्भे हैं। प्रत्येक खम्भे में ऊंचा पुस्ता है, जिसके

१. वही, पृष्ठ १३०

२. लेगे कृत फाहियान, पृष्ठ ७७

ऊपर अठपहला स्थूण और उसके ऊपर बहुअलंकृत शीर्ष है। उसके भीतर वाले भाग में दो हाथी झुके हुए हैं और प्रत्येक पर दो-दो व्यक्ति बैठे हैं, जिनमें प्रायः एक स्त्री और दूसरा पुरुष है, किन्तु किन्हीं २ पर दो स्त्रियाँ ही हैं। ये सभी बहुत ही सुन्दर ढंग से कोरे गये हैं। प्रायः ये चीज ऐसी अलंकृत नहीं होती, पीछे की ओर घोड़े और शेर हैं, जिनके ऊपर एक-एक व्यक्ति हैं।[1]

भारतीय कला के विकास का दूसरा उदाहरण स्तूपों में जोड़े गये बहुअलंकृत तोरणों में पाया जाता है, जिनके सर्वोत्तम नमूने साँची स्तूप के चार तोरण हैं। ये तोरण बुद्ध के जीवन, जनता के घरेलू और बाहरी ग्रामीण जीवन, जुलूसों, घेरों-लड़ाइयों और साधारण तथा असाधारण पशुओं की मूर्त्तियों से अलंकृत हैं।[2] इन अलंकरणों का मूल्यांकन बिना किसी स्वतन्त्र ग्रन्थ के सम्भव नहीं हैं। भरहुत स्तूप के तोरण और उसकी वेदिकाएँ और अमरावती की वेदिकाएँ तथा स्वयं स्तूप भी अनेक सुन्दर मूर्तियों से अलंकृत थे। अपनी विषयबहुलता और ध्वन्यात्मकता की दृष्टि से समस्त कला के इतिहास में ये मूर्त्तियाँ अद्वितीय हैं।

अशोकोत्तर काल में मूर्तिकला की विभिन्न शैलियाँ थीं, जिनमें मुख्य गन्धार, मथुरा, सारनाथ, और अमरावती नामक शैलियाँ हैं। इन तथा अन्य स्थानों से कला और शैली की दृष्टि से विशिष्ट अनेक मूर्तियों के नमूने प्राप्त हुए हैं। ये भारतीय कला सम्बन्धी पुस्तकों के विशेष विवेच्य विषय हैं और इस विषय के ज्ञान के लिये उनसे सहायता ली जानी चाहिए। अपने नाम के अनुरूप गान्धार शैली का विकास भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा में हुआ था। जैसा कि कहा जा चुका है, इस प्रदेश पर लगभग तीन शताब्दियों तक अनेक यवन राजा राज्य करते रहे। इस नये तत्व के प्रवेश से पूर्व और पश्चिम की इस मिलन भूमि पर एक नयी कलाशैली का जन्म हुआ जिसमें यवन कला की शैली एवं कुशलता का प्रयोग भारतीय आदर्शों और भारतीय विषयों पर हुआ। इसके फलस्वरूप एक भारतीय-यवन शैली का जन्म हुआ जिसमें बुद्ध और बोधिसत्व की कुछ सर्वश्रेष्ठ मूर्तियाँ बनीं। उनपर प्राचीन भारत को गर्व हो सकता है। उनकी मुख्य विशेषता मानव-मूर्तियों का यथार्थ चित्रण है, जो भारत में पायी जानेवाली उन परम्परागत रूपों से एक दम भिन्न है जिनमें शारीरिक रचना के उतार-चढ़ावों का सर्वथा अभाव पाया जाता है। जिस प्रकार यह शैली भारत की अन्य कलाशैलियों से प्रभावित हुई, उसी प्रकार उसने अन्य शैलियों, यथा—मथुरा और अमरावती शैली को—भी प्रभावित किया। किन्तु इस प्रभाव के स्वरूप और सीमा के सम्बन्ध में लोगों में घोर मतभेद है।

---

१. फरगुसन, हिस्ट्री आफ़ आर्टिटेक्चर भाग, १, पृष्ठ १४३—४५.

२. स्मिथ, फाइन आर्ट, पृष्ठ १७०.

यह शैली देश के भीतर प्रवेश न पा सकी और भारतीय कला के परवर्ती विकास में इसका कोई हाथ नहीं है। किन्तु भारत के बाहर "गान्धार शैली को बहुत बड़ी सफलता मिली और उसने पूर्वी अथवा चीनी तुर्किस्तान, मंगोलिया, चीन, कोरिया और जापान की बौद्ध कला के जनक होने का गौरव प्राप्त किया।"

अन्त में भारतीय कला के इस संक्षिप्त विवरण के साथ कला पर एक विहंगम दृष्टि डाल लेना उचित होगा। भारत में कला सदैव धर्म की अनुगामिनी रही है। इस युग में बौद्धधर्म का प्रभुत्व था; अतः कला का उपयोग अधिकांशतः इसी धर्म की सेवा के लिये हुआ है। वास्तुकारों ने बौद्ध स्तूप, विहार और चैत्य बनाये और मूर्तिकारों ने बुद्ध की कथाओं और उनके जीवन तथा धर्म से सम्बद्ध गाथाओं से अपने चित्रों के विषय प्राप्त किये।

किन्तु इस सीमा के भीतर कलाकारों ने जीवन की विशाल भावना और प्रकृति के सौन्दर्य की सुन्दर अभिव्यजंना की है। पेड़-पौधे, नदी-तालाब, पशु, मनुष्य एवं अन्य प्रतीक सीधे प्रकृति से लिये गये हैं और अद्‌भुत सम्मिश्रण के साथ वे चित्रित किये गये हैं। भरहुत और 'साँची की उत्कीर्ण मूर्तियों के प्रत्येक दृश्य जीवन के उल्लास से भरे हुए हैं।" जैन और ब्राह्मण धर्म के अनुयायियों ने भी कलाकारों का उपयोग किया, किन्तु उनकी प्राप्त कृतियों की संख्या बहुत ही थोड़ी है। कला को बौद्ध, जैन और ब्राह्मण नामों से विभाजित किया जाता रहा है; किन्तु यह पूर्णतः ठीक नहीं है। कला का वास्तविक वर्गीकरण समय और स्थान पर निर्भर करता है न कि उस विशेष धर्म पर, जिसकी सेवा के लिए कलाकार का उपयोग किया जाता है। अतः कला के क्षेत्र में बौद्ध अथवा जैन शैली की बात सोचना गलत है।

खण्ड ३

३०० ई० से १२०० ई० तक

पहला अध्याय

गुप्त-साम्राज्य

१—साम्राज्य की स्थापना

कुषाणों और आन्ध्रों के ह्रास के पश्चात् कुछ काल तक भारत में कोई बड़ी राजनीतिक शक्ति नहीं थी। हम पीछे देख चुके हैं, लगभग एक शताब्दी तक भारत असंख्य स्वतन्त्र राज्यों में बँटा हुआ था। इस काल के इतिहास की मुख्य विशेषतायें उनके पारस्परिक संघर्ष एवं उत्थान और पतन हैं। वे नृपतन्त्र और गणतन्त्र दोनों ही प्रकार के राज्य थे; और बहुत कुछ स्थिति छठी शताब्दी ई० पू० की भाँति थी।

गुप्त साम्राज्य का उत्थान

चौथी शताब्दी ई० के आरम्भ के लगभग श्रीगुप्त अथवा गुप्त नामक एक व्यक्ति मगध के एक छोटे से राज्य पर राज्य करता था, जिसके अधीन सम्भवतः बंगाल का भी कुछ अंश था। उसके बाद उसका बेटा घटोत्कच शासक हुआ। बाप और बेटे दोनो में से किसी के पास कोई उल्लेखनीय शक्ति न थी; किन्तु घटोत्कच के बेटे चन्द्रगुप्त के समय से इस वंश के इतिहास में एक नये अध्याय का आरम्भ हुआ।

चन्द्रगुप्त

गुप्त संवत् के नाम से ३२० ई० से एक नया संवत् प्रचलित हुआ था, जिसके सम्बन्ध में साधारणतया समझा जाता है कि वह चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण से आरम्भ हुआ। चन्द्रगुप्त के दोनों पूर्वजों को केवल महाराज कहा गया है, किन्तु उसका उल्लेख महाराजाधिराज के रूप में हुआ है। यह बात इस ओर संकेत करती जान पड़ती है कि उसने अपने छोटे से क्षेत्र को चारों ओर बढ़ाकर एक महत्त्वपूर्ण राज्य का रूप दिया। उसका ऐसा करना किस प्रकार सम्भव हो सका, ज्ञात नहीं है। उसने लिच्छवि वंश की राजकुमारी कुमारदेवी के साथ विवाह किया और उसके शबीह को अपने शबीह के साथ सिक्कों पर अंकित कराया। उसके बेटे एवं उत्तराधिकारी महान् सम्राट समुद्रगुप्त ने लिच्छवियों मे अपना मातृकुल होने मे गौरव का अनुभव किया। इन बातों से स्वाभाविक अनुमान होता है कि लिच्छवियों के साथ

हुए वैवाहिक सम्बन्ध ने गुप्तों को राजनीतिक महत्ता प्राप्त करने में काफ़ी सहायता की। परन्तु यह अनुमान मात्र है और उसके लिए पर्याप्त प्रमाण का अभी तक अभाव है। यह सम्भव है कि गुप्तों ने लिच्छवि सदृश प्राचीन क्षत्रिय जाति में विवाह कर समाज में उच्च स्थान प्राप्त किया हो और इस बात को उन्होंने समस्त सम्भव उपायों से घोषित किया हो।

चन्द्रगुप्त के राज्य की निश्चित सीमा ज्ञात नहीं है; किन्तु सम्भवतः वह पश्चिम में इलाहाबाद तक विस्तृत था। उसकी मृत्यु लगभग ३४० ई० में हुई और उसका उत्तराधिकारी उसका बेटा समुद्रगुप्त हुआ।

समुद्रगुप्त की गणना देश के महान् और बहुमुखी प्रतिभायुक्त सैनिकों में की जाती है। उसका शासन काल विस्तृत सैनिक अभियानों से भरा हुआ है। वह कौटिल्य के इस सिद्धान्त का मूर्तरूप था कि "जो भी शक्ति में बढ़ा होगा, वह अवश्य ही युद्ध छेड़ेगा। जिसके पास आवश्यक साधन भरे होंगे, वह अपने शत्रु पर अवश्य ही धावा करेगा।" सबसे पहले उसने उत्तर भारत के पड़ोसी राज्यों के विरुद्ध उनके समूलोच्छेद के लिये युद्ध छेड़ा। सम्भवतः उत्तर में वह चम्बल तक पहुँच गया था। इस क्षेत्र के समस्त राजा मार डाले गये और उनके प्रदेश उगते हुए गुप्त साम्राज्य में सम्मिलित कर लिये गये। इस वीर सम्राट के लिए पूर्व अथवा पश्चिम की ओर बढ़ना अनावश्यक था। बंगाल, आसाम और नेपाल आदि पूर्व के राज्य तथा मालव, यौधेय, आर्जुनायन, मद्र और आभीर आदि पंजाब और राजपूताना के पश्चिमी गणतन्त्रीय राज्य एवं मालवा और मध्यप्रदेश के अनेक छोटे २ राज्यों ने स्वयं उसकी अधीनता मानकर उस गुप्त सम्राट को कर देना स्वीकार कर लिया। सचमुच गुप्त राज्य की सेना का आतंक इतना बढ़ा था कि सुदूर अफ़गानिस्तान के कुषाण राजा और गुजरात के शकक्षत्रप भी समुद्रगुप्त की अनुकम्पा के उत्सुक थे।

समुद्रगुप्त

गुप्त सम्राट का सबसे कठिन कार्य बंगाल की खाड़ी के तटवर्ती प्रदेशों के मार्ग से होता हुआ दक्षिण का सैनिक अभियान था। मध्यप्रदेश के अटवी प्रदेशों से होते हुए वह उड़ीसा तट की ओर बढ़ा। वहाँ से गंजाम, विजगापट्टम, गोदावरी, कृष्णा और नेल्लोर के जिलों से होती हुई उसकी विजयिनी सेना कांची के (मद्रास के दक्षिणपश्चिम स्थित प्रसिद्ध कांजीवरम्) सुप्रसिद्ध पल्लव राज्य तक पहुँच गयी। तटवर्ती अभियान होने के कारण ऐसा जान पड़ता है कि इस अभियान में जलसेना भी सम्मिलित थी। यद्यपि इस बात के निश्चित प्रमाण नहीं हैं, किन्तु यह तो ज्ञात है ही कि इस महान् गुप्त सम्राट ने भारतीय महासागर के अनेक द्वीपों को

उसका दक्षिणी अभियान

या तो जीता था या वे आर्तंकवश उसके सम्मुख झुक गये थे। इस प्रकार स्पष्ट है कि उसके पास शक्तिशाली नौसेना थी।

समुद्रगुप्त का दक्षिणी अभियान सैनिक दृष्टि से अत्यन्त सफल कहा जा सकता है, किन्तु उससे उसे कोई स्थायी विजय प्राप्त नहीं हुई। एक दर्जन से अधिक राजा युद्ध में पराजित और बन्दी हुए; किन्तु समुद्रगुप्त को उनके प्रदेशों पर स्थायी शासन कर सकने की आशा न थी, इसलिए उसने उन्हें पुनः प्रतिष्ठित करने की बुद्धिमत्तापूर्ण नीति बरती और उन्हें सम्भवतः करद राज्यों के रूप में बने रहने दिया। इससे समुद्रगुप्त की राजनीतिक दूरदर्शिता प्रकट होती है। वह अपनी शक्ति और साधन की सीमा से पूर्णतया परिचित था। वह उत्तरी भारत के सुगठित प्रदेश पर प्रत्यक्ष शासन और शेष राज्यों द्वारा अधीनता स्वीकार मात्र कर लेने से ही संतुष्ट था। यदि उसने अशोक की भांति समस्त भारत पर शासन करने का प्रयत्न किया होता तो सम्भवतः उसके उस पूर्ववर्ती के साम्राज्य की भांति ही गुप्त साम्राज्य भी जल्द ही समाप्त हो जाता। किन्तु अपनी राजनीतिक दूरदर्शिता के कारण ही जिस विस्तृत साम्राज्य को वह छोड़ गया, वह धीरे २ बढ़ा और उसके उत्तराधिकारियों ने १०० वर्षों से अधिक काल तक शान के साथ उसको बनाये रखा।

उसके साम्राज्य में चार प्रकार के प्रदेश थे। एक तो उसका हृदय भाग था, जिस पर सम्राट अन्य अधिकारियों की सहायता से स्वयं शासन करता था। इसकी सीमा लगभग इस प्रकार थी—उत्तर में हिमालय, पश्चिम में यमुना और चम्बल, पूरब में ब्रह्मपुत्र नदी और दक्षिण में जबलपुर और भिलसा को छूती हुई एक टेढ़ी-मेढ़ी रेखा। उसके पूरब और पश्चिम गणतन्त्रीय एवं राजतन्त्रीय करद राज्य थे, जिनका उल्लेख ऊपर हो चुका है। यह दूसरा वर्ग था। उनके भी आगे शक और कुषाणों का राज्य था जो नाम के लिए तो स्वतन्त्र थे, किन्तु उन्होंने महान् गुप्त सम्राट की अधीनता स्वीकार करना ही राजनीति की दृष्टि से अपने लिए श्रेयस्कर माना। यह तीसरा वर्ग था। ये हीन संधि के उदाहरण राज्य माने जा सकते हैं। चौथा वर्ग दक्षिण के उन बारह राज्यों का था, जिनके शासक पराजित और पुनर्प्रतिष्ठित किये गये। वे यदि कर नहीं तो जुहार अवश्य देते थे। परवर्ती गुप्त सम्राटों की यह नीति रही कि पहले वर्ग के प्रदेश की सीमा धीरे २ दूसरे वर्ग के राज्यों को मिटा कर बढ़ायें और तीसरे वर्ग को दूसरे अथवा पहले वर्ग का रूप दें।

साम्राज्य

समुद्रगुप्त निस्सन्देह शत-समरों का योद्धा था, जैसा उसके राजकवि ने प्रयाग-स्थित अशोक स्तम्भ पर अंकित लम्बी प्रशस्ति में लिखा है। अन्य बातें भी,

समुद्रगुप्त का व्यक्तित्व

जिनकी चर्चा ऊपर हुई है, हमें इसी प्रशस्ति से ज्ञात हो सकी हैं। वह न केवल अपने युग का प्रथम सैनिक था वरन् उच्च कोटि का राजनीतिज्ञ भी। यही नहीं, वह सुसंस्कृत भी था। राजकवि ने उसे न केवल वीर और युद्धकुशल ही बतलाया है, वरन् कहा है कि वह विद्याव्यसनी एवं उच्चकोटि का कवि और संगीतज्ञ भी था। यह प्रशंसा कवि की कोरी कल्पना मात्र नहीं है, क्योंकि वह अपने कुछ सिक्कों पर वीणा बजाता हुआ अंकित किया गया है। यह भी कहा गया है कि वह स्वभाव का मृदु था; वह अपने पिता का ही लाड़ला न था, वरन् सारी जनता उसे चाहती थी। सम्भवतः चन्द्रगुप्त के ज्येष्ठ पुत्र न होते हुए भी उसने उसे अपना उत्तराधिकारी मनोनीत किया था। सभी गुप्त राजे ब्राह्मण-धर्मावलम्बी थे। समुद्रगुप्त ने चिरोत्सन्न अश्वमेध यज्ञ को पुनर्प्रतिष्ठित किया। किन्तु वह धर्मसहिष्णु था और उसने अन्य धर्मों को भी प्रश्रय दिया। यह इस बात से भलीभांति प्रकट है कि उसने सिंहल के अपने मित्र और बौद्ध राजा को बोध गया में अपनी प्रजा के लिए एक विहार बनवाने की उदारतापूर्ण आज्ञा दी थी। जान पड़ता है कि बोध-गया आने वाले सिंहली यात्रियों को निवास के अभाव के कारण काफी कठिनाई होती थी। अतः उन्होंने अपनी कठिनाई अपने देश के राजा मेघवर्ण से कही। मेघवर्ण ने अमूल्य उपहारों के साथ एक दूत समुद्रगुप्त के पास भेजा और अपनी प्रजा के लिए विहार बनवाने की आज्ञा माँगी। गुप्त सम्राट ने इस प्रशंसनीय कार्य के लिए सहर्ष अनुमति प्रदान की और वह यथाविधि कार्यान्वित भी हुई।

चन्द्रगुप्त द्वितीय

समुद्रगुप्त का निधन ३८० ई० या उससे कुछ पहले ही हुआ और चन्द्रगुप्त द्वितीय गद्दी पर बैठा।[१] वह अपने योग्य पिता का योग्य पुत्र था। उसने न केवल पिता द्वारा छोड़े हुए विस्तृत साम्राज्य को कायम रखा, वरन् अपनी विजयों से उसे बढ़ाया भी। पिता के अनुकरण पर वह दिग्विजय के लिए निकला। गुजरात और काठियावाड़ प्राय-द्वीप के पश्चिमी क्षत्रपों के नाम से पुकारे जानेवाले शक शासकों की ओर सबसे पहले उसकी सेना उन्मुख हुई। ऊपर कहा जा चुका है कि रुद्रसिंह द्वितीय के सिंहासन-अपहरण के बाद से शक राज्य की स्थिति विषम हो गयी थी। न तो उसने स्वयं और न उसके बेटे ने महाक्षत्रप की उच्च उपाधि धारण की। उनके पश्चात् १६ वर्षों तक (३३२ से ३४८ ई० तक) इस वंश के सिक्के नहीं मिलते। उस समय श्रीधरवर्मन् नामक एक शक अधिकारी ने मालवा में अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया था और सम्भवतः राज्य के अन्य भागों में भी इसी

१. देखिये, परिशिष्ट १

प्रकार के विद्रोह हुए। अन्ततोगत्वा रुद्रसिंह द्वितीय के वंश को रुद्रसिंह तृतीय ने अपदस्थ कर दिया और कुछ अंशों तक राज्य की प्रतिष्ठा और अधिकार को पुनःस्थापित किया। ३६० ई० से ३८० ई० तक वह शान्ति से राज्य करता रहा। उसके बाद पुनः उपद्रव उठ खड़े हुए। ३८० ई० के पश्चात् एकाधिक प्रतिस्पर्धी राजा उठ खड़े हुए और आंतरिक अशान्ति के कारण शक राज्य तहस-नहस होने लगा। ३८० और ३९८ ई० के बीच किसी समय रुद्रसिंह तृतीय गद्दी पर बैठा और तब कहीं अशान्ति दूर हुई। चन्द्रगुप्त ने ऐसे साम्राज्य का उत्तराधिकार प्राप्त किया था, जिसकी सीमा शक राज्य से लगी हुई थी। अतः इस आन्तरिक अशान्ति का लाभ उठाकर इन विदेशी राज्यों के विनाश के लिए वह अग्रसर हुआ। एक शक्तिशाली सेना लेकर उसने उनके प्रदेश पर धावा बोल दिया। युद्ध का विवरण अज्ञात है, किन्तु ७८ ई० से आती हुई शक क्षत्रपों की लम्बी शृंखला का अन्तिम राजा रुद्रसिंह मारा गया और उसका प्रदेश चन्द्रगुप्त के साम्राज्य में विलीन हो गया। इस विजय ने विदेशी शासन के रहे सहे चिन्ह मिटा दिये और गुप्त साम्राज्य का विस्तार देश की पश्चिमी प्राकृतिक सीमा अरब सागर तक हो गया। इस नये प्रदेश की प्राप्ति का महत्त्व एक अन्य दृष्टि से भी है। गुजरात के तट पर अनेक महत्त्वपूर्ण बन्दरगाह थे, जहाँ से भारत और पश्चिमी देशों के बीच पोत आते जाते रहते थे। अब इन पोतस्थलों के स्वामी गुप्त राजा हो गये और उन्हें धनराशि का एक अपार स्रोत प्राप्त हुआ। यही नहीं, साम्राज्य का द्वार पश्चिमी देशों के लिए खुल गया और दोनों के बीच मुक्त आदान प्रदान होने लगा, जिसका परिणाम महत्त्वपूर्ण हुआ।

चन्द्रगुप्त द्वितीय ने सम्भवतः कुछ अन्य युद्ध और विजयें भी कीं। दिल्ली में कुतुबमीनार के पास स्थित एक लौह-स्तम्भ पर एक अभिलेख अंकित है, जिसमें कहा गया है कि चन्द्र नामक राजा ने वंग के विद्रोही राजाओं के संघ को पराजित किया और सिन्धु नदी के सप्तमुखों को पार कर युद्ध में वाह्लीकों को जीता। यह राजा चन्द्र सम्भवतः चन्द्रगुप्त द्वितीय ही है, क्योंकि कोई दूसरा ऐसा राजा नहीं जान पड़ता, जो पूर्व में बंगाल तक और पश्चिम में सिन्धु के पार तक सफलतापूर्वक सैनिक अभियान कर सका हो।

अन्य युद्ध

यदि यह पहचान ठीक मान ली जाय, तो कहना होगा कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने गुप्त साम्राज्य को पूर्ण किया। उसने उसे प्राकृतिक सीमा तक न केवल पश्चिम में विस्तृत किया, वरन् पूर्व और उत्तर पश्चिम में भी। बंगाल के छोटे मोटे राजाओं ने सम्भवतः गुप्त साम्राज्य की अधीनता से मुक्त होने का प्रयत्न किया था, जिसके

कारण पूर्वी अभियान की आवश्यकता पड़ी। समुद्रगुप्त ने ही उन्हें पराजित कर अपनी अधीनता का जुआ उनपर लाद दिया था। वे पुनः पराजित हुए और सारा बंगाल सम्राट के प्रत्यक्ष शासन के अन्तर्गत हो गया। उत्तर-पश्चिमी अभियान निस्संदेह अफगानिस्तान के कुषाण राजाओं के विरुद्ध रहा होगा। यदि चन्द्रगुप्त द्वारा विजित वाह्लीक प्रदेश वस्तुतः बल्ख (बाख्त्री) हो, जैसा कि सामान्यतः इस नाम से प्रकट होता है, तो कहना होगा कि उसने ऐसी सफलता प्राप्त की थी जो कोई अन्य हिन्दू राजा न कर सका था। यहाँ तक कि उसका स्वनामी चन्द्रगुप्त मौर्य भी न कर सका था। तथापि, चाहे सैनिक दृष्टि से वह सफलता भले ही महान् रही हो, उसका स्थायी परिणाम अनिश्चित है। पता नहीं कि पंजाब के करद जातीय राज्य, जिनसे होकर निश्चय ही वह गया होगा, बंगाल की भांति साम्राज्य में मिलाए गये या नहीं। यह भी ज्ञात नहीं कि उनके बाद के कुषाण राज्य निश्चितरूपेण साम्राज्य में सम्मिलित किये गये या नहीं। सच बात तो यह है कि इस बात का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं, कि ये प्रदेश चन्द्रगुप्त द्वितीय के पश्चात् गुप्त साम्राज्य से किसी प्रकार भी सम्बन्धित थे। चन्द्रगुप्त की राजमहिषी ध्रुवदेवी अथवा ध्रुवस्वामिनी थी। उसका नाम रामगुप्त से सम्बद्ध एक विचित्र अनुश्रुति में आया है, जिससे ऐसा लगता है कि वह सत्य है।[1] उसने नागवंश की कुमारी कुबेरनागा से भी विवाह किया था। इस विवाह से प्रभावतीगुप्ता नामक पुत्री हुई थी, जिसका विवाह वाकाटक राजा रुद्रसेन द्वितीय से हुआ था। ये दोनों विवाह सम्भवतः राजनीतिक दृष्टि से किये गये थे। नाग और वाकाटक दोनों ही गुप्त साम्राज्य की सीमाओं पर महत्त्वपूर्ण सामरिक स्थिति में गुप्त साम्राज्य के पश्चिम और उत्तर-पश्चिम के विस्तार में या तो अत्यन्त सहायक हो सकते थे अथवा अत्यन्त खतरनाक भी। कुन्तल (बम्बई स्थित उत्तरी कन्नड़) के कदम्ब शासक ककुत्स्थवर्मन् की लड़कियाँ गुप्तवंश में ब्याही गयीं थीं। हम यह भी देख चुके हैं कि चन्द्रगुप्त प्रथम ने लिच्छवि कुमारी कुमारदेवी से विवाह किया था। इन सब बातों से यह जान पड़ता है कि शक्तिशाली राजपरिवारों से वैवाहिक सम्बन्ध गुप्तों की साम्राज्यवादी नीति का एक अंग था।

समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त के राज्यकाल में, लगभग तीन चौथाई शताब्दी तक, उत्तरी भारत एक बार पुनः राजनीतिक एकता में आबद्ध रहा। अनेक युद्धों के बावजूद भी लोगों में समृद्धि थी और धन-जन पूर्णतया सुरक्षित था। शासन व्यवस्था अधिक सुव्यवस्थित और मौर्यकाल की अपेक्षा अधिक उदार थी। चीनी यात्री फाहियान चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय में आया और गुप्त साम्राज्य में घूमा था।

---

१. देखिये, परिशिष्ट १

उसने देश का बहुत ही सुन्दर चित्रण किया है। उसने लिखा है कि कर बहुत हल्का था और शासन बहुत ही उदार था। मौर्यकाल के क्रूर दण्ड मिटा दिये गये थे। रजिस्ट्री और पासपोर्ट जैसे परेशान करनेवाले नियम और कायदे अज्ञात थे। 'उसे सर्वत्र जनता धनी और सुखी मिली तथा आर्थिक स्थिति अत्यन्त संतोषजनक मिली। वाणिज्य और व्यवसाय उन्नति पर थे; लोग अनेक कला और कौशलों में रत थे। इस काल में एक महान् बौद्धिक और धार्मिक नवजागरण हुआ और कला तथा स्थापत्य में अद्भुत सफलता मिली। इन सब की चर्चा आगे एक स्वतन्त्र अध्याय में की जायगी।

विक्रमादित्य

इन सबका मुख्य श्रेय निस्संदेह समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त द्वितीय को है दोनों ने ही विक्रमादित्य की उपाधि धारण की थी और उस नाम से लोकप्रसिद्ध वीर के सम्बन्ध में जनता की जो धारणायें है, उनके उपयुक्त इन दोनों से बढ़कर अन्य व्यक्ति नहीं मिल सकते। बहुत सम्भव है, उस वीर के कार्यों के अनुरूप ही जनता के सम्मुख इन दोनों गुप्त सम्राटों तथा उनके उत्तराधिकारियों के (उन्होंने भी यह उपाधि धारण की थी) कारनामें रहे हों और वे सभी कारनामें विक्रमादित्य की परवर्ती कहानियों के रूप में घुल मिल गये हों। अधिकांश विद्वान चन्द्रगुप्त द्वितीय से पूर्व किसी वास्तविक अथवा काल्पनिक विक्रमादित्य के अस्तित्व को नहीं मानते। वे लोग इसे राजा विक्रमादित्य समझते हैं, जिसे भारतीय अनुश्रुतियों में शकविजेता और ५८ ई० पू० में प्रचलित हुए विक्रम संवत् का संस्थापक कहा गया है; और जिसके दरबार में उन नवरत्नों के होने की बात कही जाती है, जिसमें सुप्रसिद्ध कालिदास भी थे। निस्संदेह चन्द्रगुप्त ने शकों को पराजित किया था और यह भी सम्भव है कि कालिदास उसके दरबार में रहे हों; किन्तु उसका सम्बन्ध पाँच शताब्दी पूर्व से प्रचलित विक्रम संवत से किसी प्रकार था इसकी व्याख्या कर सकना कठिन है। यह भी कहा जाता है कि इस संवत् को आरम्भ में किसी विक्रमादित्य नामक राजा ने प्रचलित नहीं किया, वरन् पीछे से उस नाम के राजा के साथ उसका सम्बन्ध जोड़ दिया गया। इस सम्बन्ध में संतोषजनक प्रमाणों का अभाव है। विक्रम संवत् और विक्रमादित्य की पहचान अभी भी भारतीय इतिहास के उलझे हुए प्रश्नों में गिनी जानी चाहिए।

२—कुमारगुप्त और स्कन्दगुप्त

चन्द्रगुप्त की मृत्यु ४१३ ई० के आसपास हुई और उसका बेटा कुमारगुप्त गद्दी पर बैठा जिसने ४० वर्षों से अधिक काल तक राज्य किया। उसने एक अश्वमेध यज्ञ

कुमारगुप्त

किया, जिसका अर्थ यह होता है कि उसने कोई सैनिक सफलता अवश्य प्राप्त की थी; किन्तु उसकी किसी सफलता का न कोई उल्लेख प्राप्त है और न हमें उसकी अन्य प्राप्तियों का ही कुछ पता है। अभिलेखों से यह अवश्य जान पड़ता है कि उसने अपने विस्तृत साम्राज्य की शासनव्यवस्था को संघटित रक्खा था। वह अपने साम्राज्य को सुसंघटित रख सका और ४० वर्षों के लम्बे काल तक उसको शान्ति, समृद्धि और सुरक्षा को बनाये रक्खा, यही बात क्या कम है। यह उसकी योग्यता और चतुरता को प्रकट करती है। किन्तु उसके शासन के अन्तिम चरणों में पुष्यमित्रों के जत्थों ने, जिनकी सम्भवतः हूणों से सम्बन्धित कोई जाति थी, भारत पर आक्रमण किया और गुप्त साम्राज्य की विस्तृत व्यवस्था को संकट में डाल दिया। बहुत दिनों तक गुप्त वंश की ही नहीं वरन् भारत की भी लक्ष्मी विचलित हो गयी थी। किन्तु राजकुमार स्कन्दगुप्त ने अपनी वीरता और सैनिक योग्यता से स्थिति सम्भाल ली, बर्बर जाति के लोग पराजित हुए और साम्राज्य बच गया। युद्ध इतना भयंकर था कि महान् साम्राज्य के युवराज को एक रात शय्याहीन भूमि पर बितानी पड़ी। इस प्रकार भयंकर बर्बरों की ज्वाला से भारत की रक्षा हुई और अपने रक्षक के प्रति लोगों ने अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट की। कहा जाता है कि स्कन्दगुप्त की प्रशंसा में स्त्री-पुरुष और बच्चों ने चतुर्दिक गान गाये। उसकी इस महान् सफलता के बीच ही वृद्ध सम्राट कुमारगुप्त की मृत्यु हुई और राष्ट्रवीर स्कन्दगुप्त गद्दी पर बैठा (४५५ ई०)।

स्कन्दगुप्त

अनेक कारणों से समझा जाता है कि स्कन्दगुप्त का राज्यारोहण शान्तिपूर्ण रूप से नहीं हुआ। उसमें और उसके वैमात्र भाई और कुमारगुप्त की राजमहिषी के पुत्र पुरुगुप्त में संघर्ष हुआ। सम्भवतः स्कन्दगुप्त की माता का पद निम्न था और यह उसके विरोधी के हित की बात थी। परन्तु अन्ततोगत्वा स्कन्दगुप्त विजयी हुआ। उसके अपने ही एक अभिलेख में कहा गया है कि 'लक्ष्मी ने स्वयं अन्य राजकुमारों की उपेक्षा कर उसका वरण किया।' सम्भवतः यही बात स्कन्दगुप्त के सिक्कों के एक प्रकार पर भी दृश्यरूप में अंकित है, जिसमें एक स्त्री राजा के सम्मुख खड़ी हुई पाश सदृश कोई वस्तु राजा को दे रही है। स्कन्दगुप्त और पुरुगुप्त के बीच की यह प्रतिस्पर्धा स्कन्दगुप्त के राज्यारोहण के साथ ही समाप्त न हुई और उसका प्रभाव उसकी मृत्यु के पश्चात् उत्तराधिकार पर पड़ा। यह निश्चित है कि स्कन्दगुप्त के पश्चात् पुरुगुप्त अथवा उसके बेटे उत्तराधिकारी हुए। इन लोगों ने अपनी वंशावली सीधे कुमारगुप्त से जोड़ी और स्कन्दगुप्त का नामोल्लेख तक नहीं किया।

स्कन्दगुप्त का राज्यकाल युद्धों से परिपूर्ण जान पड़ता है। उसके सबसे बड़े शत्रु खूंख्वार बर्बर हूण थे, जो मध्य एशिया में रहते और ठीक उसी समय महान् रोमन साम्राज्य के लिए भी खतरनाक सिद्ध हो रहे थे। उनकी श्वेत हूण के नाम से प्रसिद्ध एक शाखा ने वंक्षु की घाटी पर अधिकार कर लिया और वहाँ से वे फारस और भारत की ओर बढ़े। हिन्दुकुश पार कर उन्होंने गान्धार पर अधिकार किया और महान् गुप्त साम्राज्य पर धावा बोला। सारे भारतवर्ष के लिए यह बहुत बड़ा खतरा था। वे लोग आगे बढ़ते हुए जिस प्रकार के अत्याचार और आमूल विध्वंस करते थे, उसको देखते हुए यह खतरा और भी अधिक भयंकर था। सम्भवतः यह उस खतरे से बहुत अधिक भयंकर था, जिसका सामना स्कन्दगुप्त को अपने पिता के राज्यकाल में करना पड़ा था। इस बार भी अवसर के अनुरूप स्कन्दगुप्त ने अपनी वही वीरता दिखाई और हूणों को इस बुरी तरह पराजित किया कि वे फिर गुप्त साम्राज्य को आधी शताब्दी तक छेड़ने का साहस न कर सके, यद्यपि इस अवधि में फारस में वे विध्वंसकारी दृश्य उपस्थित करते रहे। भारत की परवर्ती ऐतिहासिक घटनाओं और अन्य देशों पर हूणों के आक्रमण के इतिहास को देखते हुए स्कन्दगुप्त ने जिस सफलता के साथ उनका प्रतिरोध किया था, उसे उस युग की सबसे बड़ी सफलता कहनी चाहिए। देशवासियों ने कृतज्ञता-पूर्वक उसे भारत-त्राता के रूप में देखा और आधुनिक इतिहासकारों को भी उस लोकविश्वास का समर्थन करना पड़ता है। इस वीरतापूर्ण कार्य के फलस्वरूप स्कन्दगुप्त ने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की, जिसे उसके पूर्व समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त द्वितीय धारण कर चुके थे।

हूणयुद्ध और अभिलेखों में अस्पष्ट रूप से उल्लिखित कुछ अन्य युद्धों के कारण साम्राज्य के आर्थिक साधनों पर काफी बोझ पड़ा जान पड़ता है। संभवतः इन्हीं कारणों से स्कन्दगुप्त के सिक्के संख्या में थोड़े पाये जाते हैं और एक ही प्रकार के हैं, जब कि उसके पूर्वजों ने बहु प्रकार के सिक्के चलाये थे। इनमें शुद्ध सोने की कमी भी है। किन्तु साथही उस समय साम्राज्य के दूरस्थ भागों में भी जनहित के बड़े-बड़े कार्य किये गये। इसके प्रमाण भी मिलते हैं। जूनागढ़ के निकट गिरिनार पर्वत पर दो महत्त्वपूर्ण अभिलेखों में सुदर्शन नामक एक बड़े सिंचाई के ताल का इतिहास अंकित है। मूलतः इस ताल का निर्माण चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में पहाड़ के एक प्राकृतिक गह्वर के किनारे बाँध बाँध कर किया गया था। उसमें जमा होने वाला बरसाती पानी नहरों द्वारा दूर-दूर के खेतों में सिंचाई के लिए ले जाया जाता था। एक बार १५० ई० में यह बाँध टूट गया था और उसकी मरम्मत शक क्षत्रप रुद्रदामन्

सुदर्शन-ताल

प्रथम ने करवायी थी। उसने अपने कारनामों का वहाँ एक अभिलेख अंकित कराया था, जिससे हमें उसके राज्य की अधिकांश बातों का पता चलता है और जिसकी चर्चा पीछे हो चुकी है। यहाँ मिले एक दूसरे अभिलेख में कहा गया है कि स्कन्दगुप्त के राज्य-काल और गुप्त संवत् १३६ (४५५-५६ ई०) में सुदर्शन ताल का बाँध पुनः टूट गया। उसकी मरम्मत सुराष्ट्र प्रान्त के उपरिक पर्णदत्त ने करायी और जनता को महान आपत्ति से बचाया। एक ही पर्वत पर अंकित इन दो लेखों से पता चलता है कि प्राचीन भारत में सिंचाई का कितना ध्यान रखा जाता था। वे इस महान् परिवर्तन के भी मौन साक्षी हैं, जिससे शक साम्राज्य गुप्त साम्राज्य का अंग बन गया। पर्णदत्त के अभिलेख से स्कन्दगुप्त के काल में विकसित महान् गुप्त साम्राज्य के स्वरूप की कल्पना भी की जा सकती है। उससे पता चलता है कि समुद्रगुप्त ने साम्राज्य-निर्माण का जो कार्य आरम्भ किया था, वह जहाँ तक उत्तर भारत का सम्बन्ध है, इस काल में पूरा हो गया था। स्कन्दगुप्त की आज्ञा बंगाल और काठियावाड़ प्रायद्वीप के उपरिक मानते थे और एक शासनादेश बंगाल की खाड़ी से अरब सागर तक प्रचलित था।

३. स्कन्दगुप्त के उत्तराधिकारी

एक समकालीन अभिलेख से ज्ञात होता है कि सम्भवतः जब ४६७ ई० में स्कन्दगुप्त का निधन हुआ, समस्त विस्तृत साम्राज्य में शान्ति और समृद्धि व्याप्त थी। किन्तु गुप्त साम्राज्य का परवर्ती इतिहास अंधकाराछन्न है। हमें अनेक राजाओं के नाम ज्ञात हैं पर उनके पारस्परिक सम्बन्ध का निर्णय करना बहुधा सम्भव नहीं है। इस काल के इतिहास के निर्माण के सम्बन्ध में विद्वानों के विभिन्न मत हैं जिनमें से कोई भी निर्दोष नहीं कहा जा सकता। अतः निम्नलिखित वर्णन आज के ज्ञात तथ्यों के आधार पर उचित सम्भावना मात्र ही समझा जाना चाहिए।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, राजकीय वंशावलियों में गुप्तवंश का उत्तराधिकार कुमारगुप्त के बाद महादेवी अनन्त देवी से उत्पन्न पुत्र पुरुगुप्त को मिलना बताया गया है और उनमें स्कन्दगुप्त का कोई उल्लेख नहीं है। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि पुरुगुप्त अपने पिता के निधन के बाद तत्काल ही गद्दी पर बैठा और पुष्यमित्रों के युद्ध से लौटने के बाद स्कन्दगुप्त ने उसे निकाल बाहर किया, अथवा पुरुगुप्त स्कन्दगुप्त के बाद तत्काल अथवा कुछ काल के पश्चात् गद्दी पर स्वाभाविक अधिकार से अथवा वैध उत्तराधिकारी को हटा कर

पुरुगुप्त

गद्दी पर बैठा । जो भी हो, पुरुगुप्त ने कुछ काल तक राज्य किया । किन्तु दोनों ही अवस्थाओं में उसका राज्यकाल संक्षिप्त था । उसके बाद उसका बेटा बुधगुप्त उत्तराधिकारी हुआ, जिसकी आरम्भिक ज्ञात तिथि ४७७ ई० है । किन्तु ४७७ ई० का कुमारगुप्त (द्वितीय) के नाम के एक राजा का लेख पाया गया है । पुरुगुप्त के साथ उसका सम्बन्ध अज्ञात है और उसका इतिहास अंधकारपूर्ण है । हो सकता है कि वह स्कन्दगुप्त का बेटा अथवा वैध उत्तराधिकारी हो, जिसने पुरुगुप्त के राज्याधिकार के विरुद्ध विद्रोह किया हो, अथवा जिसे हटाकर पुरुगुप्त गद्दी पर बैठा हो । जो भी हो, पुरुगुप्त का बेटा बुधगुप्त ४७७ ई० से ४९५ ई० तक तो निश्चय ही, और सम्भवतः ५०० ई० तक बिना किसी प्रतिद्वंद्विता के राज्य करता रहा और इस बात के विश्वास का कोई कारण नहीं है कि उसके समय में साम्राज्य की समृद्धि और शान्ति की कोई विशेष हानि हुई । तथापि साम्राज्य के शीघ्र विघटन के कुलक्षण प्रकट होने लगे थे । मैत्रक वंश के सेनापति भट्टार्क ने, जो सुराष्ट्र (काठियावाड़ प्रायद्वीप) प्रान्त का उपरिक नियुक्त हुआ था और जिसकी राजधानी वलभी थी, अपनी स्थिति वंशगत बना ली । वह और उसके बाद शासक होनेवाले उसके ज्येष्ठ पुत्र तो अपने को केवल सेनापति कहते रहे किन्तु उसके उस पुत्र के छोटे भाई और उत्तराधिकारी द्रोणसिंह ने महाराज की उपाधि धारण की और यह दावा किया कि सम्राट ने स्वयं उसे विधिवत् राज्याभिषिक्त किया है । सम्राट के नाम का उल्लेख उसने नहीं किया है, किन्तु निश्चित जान पड़ता है कि वह बुधगुप्त था । इससे यह स्पष्ट है कि मैत्रक लोग वलभी का स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने में सफल होते जा रहे थे । साथ ही यह भी ज्ञात होता है कि वे लोग विधिवत् गुप्तसाम्राज्य की अधीनता ५ वीं शताब्दी के अन्त तक और सम्भवतः आगे भी कुछ समय तक मानते रहे ।

साम्राज्य की दूसरी छोर पर स्थिति इतनी बुरी न थी; किन्तु जहाँ उत्तरी बंगाल के शासक कुमारगुप्त प्रथम के शासन काल में केवल उपरिक कहलाते थे, वे अब अपने को उपरिक महाराज कहने लगे । मालवा के उपरिकों ने भी महाराज की उपाधि धारण कर ली । इन अनेक शासकों द्वारा दिये गये भूदान पत्रों में, प्रचलित प्रथा की उपेक्षा कर, या तो तत्कालीन गुप्त-सम्राट का नाम नहीं दिया गया है अथवा बिना सम्राट के नाम के उल्लेख के गुप्तों के प्रभुत्व को साधारण शब्दों में चर्चा मात्र कर दी गयी है। इससे जान पड़ता है कि सिद्धान्ततः गुप्तसाम्राज्य की प्रतिष्ठा में किसी प्रकार का कोई विशेष ह्रास नहीं हुआ था, किन्तु उसकी वास्तविक शक्ति और सम्मान का ह्रास होने लगा था । कुमारगुप्त प्रथम की मृत्यु के पश्चात् उत्तराधिकार की लड़ाई और स्कन्दगुप्त के निधन के पश्चात् अथवा उससे

कुछ पूर्व का संघर्ष ही इसके लिए मुख्यतः उत्तरदायी थे। हूणों के आक्रमण से जो गहरा धक्का लगा उसका भी इसमें कुछ हाथ हो सकता है। कुछ अन्य कारण भी रहे होंगे, जिनका हमें पता नहीं, किन्तु गुप्त साम्राज्य का निःसन्देह ह्रास आरम्भ हो गया था।

बुधगुप्त के निधन के पश्चात् राजपरिवार में विग्रह, करद राजाओं के विद्रोह और विदेशी आक्रमण के फलस्वरूप एक अव्यवस्था का युग आरम्भ हुआ। इन तीनों की एक दूसरे पर क्रिया और प्रतिक्रिया हुई, फलतः छठी शताब्दी के पूर्वार्ध का क्रमबद्ध वृत्तान्त बताना अथवा घटनाओं का मोटे रूप में भी काल-क्रम देना सम्भव नहीं है। केवल उपर्युक्त तीनों बातों की मोटे रूप से चर्चा मात्र कर देना ही आज सम्भव है।

बुद्धगुप्त के उत्तराधिकारी

राजकीय वंशावली से जान पड़ता है कि बुधगुप्त के बाद उसका भाई नरसिंह-गुप्त और नरसिंहगुप्त के पश्चात् उसके पुत्र और पौत्र कुमारगुप्त (तृतीय) और विष्णुगुप्त क्रमशः उत्तराधिकारी हुए। पर्याप्त आधार पर कहा जा सकता है कि विष्णुगुप्त के राज्य का अन्त ५५० ई० में हुआ। अतः यह मानना उचित होगा कि बुधगुप्त के तीनों उत्तराधिकारियों का शासन छठी शताब्दी के पूर्वार्ध में था। किन्तु अभिलेखों से ज्ञात होता है कि दो अन्य गुप्त शासक भी इस अवधि के बीच हुए। उनमें से एक, वैन्यगुप्त ने ५०७ ई० में पूर्वी बंगाल में एक भू-शासन जारी किया था। उसके सिक्के और मुहरों से निःसंदेह प्रकट है कि वह गुप्त वंश का ही था। दूसरे भानुगुप्त का पता ५१० ई० के एक लेख से होता है, जो एरण (जिला सागर, मध्य प्रदेश) में एक स्मारक स्तम्भ पर अंकित है। इसमें कहा गया है कि जगत् प्रवीर अतिशूर राजा भानुगुप्त ने एक युद्ध किया जिसमें उसका करद राजा गोपराज मारा गया और गोपराज की पत्नी उसकी चिता पर जल मरी। भारत में सती प्रथा का यह सर्वप्रथम लिखित उल्लेख है।

भानुगुप्त का कोई सिक्का अथवा मुहर अभी तक देखने में नहीं आयी है; किन्तु उसके नाम और विरुद से संदेह नहीं रह जाता कि वह गुप्तवंश का था। एरण के प्रसिद्ध रण में जिन शत्रुओं से उसकी लड़ाई हुई, उनका अनुमान हम सरलता से कर सकते है। इस क्षेत्र में पाये जानेवाले दो अभिलेखों से ज्ञात होता है कि ४८५ ई० के पश्चात् किसी समय, किन्तु एक पीढ़ी के भीतर ही, एरण के आस-पास का प्रदेश गुप्तों के हाथ से निकल कर तोरमाण नामक एक शासक के अधीन चला गया जो सम्भवतः हूण था। अतः यह निश्चित सा है कि भानुगुप्त ने

५१० ई० में जो लड़ाई लड़ी वह इसी हूण आक्रमणकारी के विरुद्ध थी। खेद है कि इस युद्ध का परिणाम हमें ज्ञात नहीं और हम कह नहीं सकते कि भानुगुप्त ने आक्रमणकारी का विरोध किया और सफल रहा अथवा उसने देश पर अल्पकालीन अधिकार के पश्चात् उसे निकाल बाहर किया।

इन दो गुप्त राजाओं के राज्यशासन, जो राजकीय वंशावली में बैठाये नहीं जा सकते, एवं हूणों के एरण तक प्रवेश से इस बात में संदेह नहीं रह जाता कि बुधगुप्त के निधन के दस-बीस वर्षों के भीतर ही साम्राज्य को गृह-कलह और विदेशी आक्रमणों का सामना करना पड़ा। अन्य सिरदर्द भी संभव हो सकते हैं, क्योंकि कहा जाता है कि वाकाटक नरेश नरेन्द्रसेन ने अपना प्रभुत्व मालवा और गुप्त साम्राज्य के अन्य भागों पर स्थापित कर लिया था। इसी काल में उसने सम्भवतः दक्षिणापथ पर भी आक्रमण किया था।

४—हूण और यशोधमन्

आधी शताब्दी के पश्चात् हूण फिर प्रकट हुए। इस बीच वे काफ़ी शक्तिशाली हो गये थे। स्कन्दगुप्त द्वारा भारत में रोके जाने पर वे फ़ारस की ओर मुड़ गये। फारस के शाह फिरोज ने उनका सामना किया किन्तु वह पराजित हुआ और मारा गया। इस सफलता से ढीठ होकर हूण काफी दूर तक फैल गये और ५ वीं शताब्दी के अन्त होते होते वे एक विस्तृत साम्राज्य पर राज्य करने लगे और उन्होंने अपनी राजधानी बल्ख में बना ली। गान्धार और सम्भवतः पंजाब का कुछ भाग उनके साम्राज्य में सम्मिलित था।

यहाँ तक तो बात बहुत कुछ निश्चित सी जान पड़ती है; किन्तु हूणों के भारत में बढ़ने और सीमा पर गुप्त साम्राज्य द्वारा उनका किसी प्रकार के प्रतिरोध किये जाने की कोई बात ज्ञात नहीं है। उनके सम्बन्ध में निश्चित जानकारी तब होती है जब हम तोरमाण को गुप्त साम्राज्य के बीच एरण में स्थापित पाते हैं। यद्यपि इस बात के निश्चित प्रमाण नहीं है कि वह हूण ही था, तथापि परिस्थितिजन्य प्रमाणों से वह हूण ही जान पड़ता है। किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि वह बल्ख या गान्धार स्थित हूणों के केन्द्रीय शासन का प्रतिनिधित्व करता था; अथवा परवर्ती काल के बख्तियार खिलजी की भाँति एक स्वतन्त्र लुटेरा था, जिसने स्वेच्छा से वह धावा किया था। जो भी हो, तोरमाण के सिक्कों से जान पड़ता है कि वह विदेशी था और हूणों के साथ उसका निकट सम्बन्ध था। उसने भारत के एक लम्बे चौड़े भूभाग पर अधिकार कर लिया था, जिसके अन्तर्गत कश्मीर, पंजाब, राज

तोरमाण

पूताना, मालवा और उत्तर प्रदेश के कुछ भाग थे। उसके बाद

मिहिरकुल

उसका बेटा मिहिरकुल उत्तराधिकारी हुआ। उसका अभिलेख ग्वालियर में मिला है। उसकी अपार शक्ति और अकथनीय क्रूरता की गूँज ह्वेनसाँग द्वारा उल्लिखित जनश्रुतियों एवं राजतरंगिणी में पायी जाती है। ह्वेनसाँग के कथनानुसार उसकी राजधानी शाकल (पंजाब में स्यालकोट) थी। ५२५ और ५३५ ई० के बीच सिकन्दरिया निवासी एक यवन-लिखित 'क्रिश्चियन टोपोग्रैफी' नामक पुस्तक में भारत के श्वेत हूणों की महान् शक्ति का उल्लेख है। उसका कहना है कि सिन्धु के उस पार उनका देश है; किन्तु उनका नेता गोल्लस् "भारत का अधीश्वर है और जनता को सताकर कर देने के लिये विवश करता है।" सम्भवतः गोल्लस् की पहचान मिहिरकुल से की जा सकती है और यह कहा जा सकता है कि समस्त उत्तरी भारत के लिए वह एक निश्चित आतंक बन गया था। किन्तु मिहिरकुल के भाग्य में अधिक दिनों तक अपनी शक्ति का उपभोग करना नहीं लिखा था। दो विभिन्न साधनों से दो विभिन्न व्यक्तियों के हाथों उसकी पराजय एवं कठिनाइयों का पता लगता है। फलस्वरूप केवल उसकी शक्ति का अन्त हुआ वरन् भारत से हूणों का उपद्रव भी सदा के लिये मिट गया।

मिहिरकुल का विरोध करनेवाला पहला व्यक्ति यशोधर्मन् था। उसके उज्वल जीवन की गाथा केवल एक लेख से ज्ञात हुई है। यह लेख मालवा में मन्दसौर स्थित दो स्तम्भों पर खुदा हुआ है। सम्भवतः यह

यशोधर्मन्

औलिकर नामक प्राचीन वंश का था जिसके वंशज मालवा में चौथी शताब्दी से राज्य करते आ रहे थे। पहले तो वे लोग स्वतन्त्र थे पर बाद में वे गुप्तों के करद हो गये। यशोधर्मन ने न केवल गुप्त साम्राज्य की अधीनता अपने ऊपर से उतार फेंकी वरन् वह दूर दूर तक अपनी विजयिनी सेना को ले भी गया। इस राजप्रशस्ति के अनुसार उसकी प्रभुता उत्तर में हिमालय, दक्षिण में महेन्द्रगिरि (गंजाम जिला), पूरब में ब्रह्मपुत्र नदी और पश्चिम में समुद्र तक मानी जाती थी। उसका यह भी दावा है कि वह उन प्रदेशों का शासक था, जिन पर गुप्तों अथवा हूणों का भी अधिकार न हो सका था। अन्त में लिखा है कि सुप्रसिद्ध राजा मिहिरकुल ने भी उसके चरणों की पूजा की थी।

राजकवि की अतिशयोक्तियों का ध्यान रखते हुए भी हमें यह मानना पड़ेगा कि यशोधर्मन् ने अपने को गुप्त साम्राज्य के विस्तृत भू-भाग का स्वामी बना लिया था और उसने मिहिरकुल को पराजित किया था। यह सब संभवतः ५३० ई० के पूर्व हुआ था, क्योंकि उस वर्ष के एक लेख में यशोधर्मन् को महान् प्रभुसत्तायुक्त शासक बताया गया है।

यशोधर्मन् के विजय-अभियान और उसके राज्य की सीमा का वर्णन राजकवि ने जिस रूप में किया है उससे तो लगता है कि गुप्त साम्राज्य का उस समय अस्तित्व ही नहीं रह गया था। किन्तु वस्तुस्थिति इससे बहुत भिन्न थी। इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि गुप्त सम्राट नरसिंहगुप्त न केवल इस धक्के को सहन करने में समर्थ हुआ था, वरन् अपना राज्य और अपनी साम्राज्य-परम्परा को अपने बेटे और पोते के लिए भी सुरक्षित रख छोड़ा था। इससे भी महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि सम्भवतः मिहिरकुल का अन्त करने वाला अन्तिम धक्का उसी ने दिया। यह बात हमें ह्वेनसांग के कथन से ज्ञात होती है। उसने विस्तार के साथ मिहिर-कुल के मगध आक्रमण की चर्चा की है और लिखा है कि राजा बालादित्य ने उसको पराजित कर गिरफ्तार कर लिया था। मगध की राजमाता के हस्तक्षेप से ही उसकी जान बच सकी। मिहिरकुल जब अपने राज्य को वापस गया तो देखा कि उसके भाई ने उसकी राजगद्दी हड़प ली है। फलतः कश्मीर जाकर उसने शरण ली और धोखे से वहां के राज्य पर अधिकार कर लिया और गान्धार को जीता। किन्तु एक वर्ष के भीतर ही उसकी मृत्यु हो गयी।

ह्वेनसांग ने जो कुछ लिखा है उसे अविकल रूप से सत्य मानना तो कठिन है, किन्तु उसकी रूप-रेखा को, जैसा कि ऊपर बताया गया है, ऐतिहासिक माना जा सकता है। इसमें संदेह नहीं कि ह्वेनसांग द्वारा उल्लिखित मगधराज बालादित्य गुप्त सम्राट नरसिंहगुप्त ही है। उसके सोने के सिक्कों से ज्ञात होता है कि उसने 'बालादित्य' विरुद धारण किया था। नालन्दा से प्राप्त आठवीं शताब्दी के एक लेख में कहा गया है कि वह असीम शक्तिवाला महान् राजा था जिसने सभी शत्रुओं का विनाश कर समस्त पृथ्वी का उपभोग किया। २०० वर्षों बाद भी नरसिंह गुप्त बालादित्य लोगों की स्मृति मे महान् शासक और विजेता के रूप में जीवित रहा, यह बात ह्वेनसांग के उल्लेखों का समर्थन करती है। उल्लेखनीय बात यह है कि ह्वेनसांग और ८ वीं शताब्दी का यह लेख-दोनों ही-नालन्दा में एक विशाल मन्दिर बनवाने का श्रेय बालादित्य को देते हैं।

स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि बुधगुप्त के निधन क पश्चात् ६ ठीं शताब्दी के प्रथम ३० वर्षों तक नरसिंहगुप्त क्या करता रहा। हमें ठीक रूप से तो नही मालूम, किन्तु हो सकता है कि वैन्यगुप्त और भानुगुप्त सदृश प्रतिस्पर्धी राजाओं के उत्थान और यशोधर्मन् के विद्रोह के फलस्वरूप उसकी शक्ति प्रभावहीन और पंगु हो गयी हो। यह भी असंभव नहीं कि वह अपने इन प्रतिद्वन्द्वियों के निधन के बाद ही पैतृक गद्दी पर बैठा हो। और तब तक---३०-४० वर्षों तक---अपने को या तो दबाये रहा हो अथवा गुप्त जीवन व्यतीत करता रहा हो। जो कुछ भी हमें

मालूम है, उससे जान पड़ता है कि यदि दोनों का नहीं तो कदाचित् वैन्यगुप्त अथवा भानुगुप्त का ही गद्दी पर वैध अधिकार रहा हो, और नरसिंहगुप्त, इस वंश में जन्म लेने के अधिकार से बुढ़ापे में उस समय गद्दी पर बैठा हो, जब हूणों और यशोधर्मन् के सैनिक कार्यों के कारण साम्राज्य हिल चुका था।

५—गुप्त साम्राज्य का पतन

इन विकल्पों में चाहे हम जिसे भी मानें, इतना तो प्रायः निश्चित ही है कि नरसिंहगुप्त और उसके दोनों उत्तराधिकारियों ने साम्राज्य की परम्परा को ६ ठीं शताब्दी के मध्य तक कायम रक्खा। यह अन्य बातों के साथ साथ इस बात से प्रमाणित है कि बलभी के मैत्रकों ने पुरानी परम्परा कायम रखते हुए जितने भी भू-दान पत्र जारी किये (उनकी संख्या १४ है और जो ५२६ से ५४५ के बीच लिखे गये थे), उनमें उन्होंने अपनी भक्ति परमभट्टारक के प्रति व्यक्त की है। निस्संदेह यह भक्ति नाममात्र की औपचारिक ही थी। किन्तु यह इस बात को ही बताता है कि परमभट्टारक से तात्पर्य गुप्त सम्राट का था। इस प्रकार का नाम मात्र का सम्मान साधारणतः पुराने राजवंशों के प्रति पुरानी परम्परा के अनुसार ही प्रदर्शित किया जाता है। नया अधिकारी या तो पूर्ण अधीनता की बात मनवा लेता है या फिर उसकी उपेक्षा ही होती है।

ह्वेनसांग ने नरसिंहगुप्त को मगध का राजा लिखा है। संभवतः उसका वास्तविक अधिकार मगध और उत्तरी बंगाल के बाहर नहीं था। ५४३ ई० के

अंतिम तीन सम्राट

उत्तरी बंगाल से मिले एक भू-दानपत्र में प्रभु शासक का नाम नष्ट हो गया है, केवल अन्त के दो अक्षर 'गुप्त' बचे हैं। सम्भवतः वह कुमारगुप्त तृतीय का पुत्र और नरसिंहगुप्त का पौत्र विष्णुगुप्त था। इन तीनों राजाओं ने एक ही ढंग के सोने के सिक्के चलाये और उनमें निरन्तर बढ़ती हुई खोट गुप्त साम्राज्य के तेजी से होते हुए ह्रास की द्योतक है।

प्रान्तीय उपरिकों और करद राजाओं द्वारा स्वतन्त्रता धारण करने के कारण इस ह्रास में तेजी आ गई। यशोधर्मन् ने ऐसा घातक उदाहरण उपस्थित किया जो गुप्त साम्राज्य के लिये हूणों के आक्रमण से भी भयंकर सिद्ध हुआ। यशोधर्मन्

करद राजाओं का विद्रोह

की शक्ति का किस प्रकार अन्त हुआ और उसका तथा उसके उत्तराधिकारियों का क्या हुआ, इसका पता नहीं। वह उल्का की भांति प्रकट हुआ और उसी की तरह बिना नामोनिशान छोड़े फिर मिट भी गया। इससे गुप्त साम्राज्य को कुछ थोड़ी

सो साँस मिली किन्तु वह क्षणिक ही थी। यशोधर्मन् का अनुकरण अन्यों ने किया। उसमें सबसे शक्तिशाली परवर्ती गुप्त और मौखरी थे जो पहले गुप्तों के करद थे किन्तु बाद में उन्होंने मगध और उत्तर प्रदेश में स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिये। बंगाल और भारत के अन्य भागों में भी स्वतन्त्र राज्य स्थापित हो गये। गुप्त साम्राज्य की इस समय वही अवस्था थी जो नादिरशाह के आक्रमण के पश्चात् मुगल साम्राज्य की हुई। किन्तु नाममात्र के मुगल सम्राट दिल्ली की गद्दी पर एक शताब्दी तक और बने रहे, किन्तु गुप्त सम्राटों की चर्चा विष्णुगुप्त के बाद नहीं सुनाई पड़ती। हो सकता है कि उसके बाद एक या दो उत्तराधिकारी और हुए हों, जिनका नाम अभी तक अज्ञात है।

५५१–५२ ई० का मगध के बोधोबीत्र स्थित गया जिले से एक ऐसे व्यक्ति का भू–दानपत्र मिला है जो अपने को कुमारामात्य महाराज कहता है। उस दानपत्र मे किसी गुप्त शासक का उल्लेख नहीं है। इससे हम यह भलीभाँति अनुमान कर सकते हैं कि ५५० ई० में गुप्तों का मगध से भी सक्रिय प्रभुत्व उठ गया था। किन्तु सरकारी नाम 'कुमारामात्य' इस बात का द्योतक है कि अवध के वजीरों की तरह सम्राटवंश के प्रति अपनी भक्ति को उठा फेंकने का साहस वह न कर सका था। किन्तु स्वयं उसके वंश के सम्बन्ध में हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है।

ऊपर जो कुछ कहा जा चुका है उससे स्पष्ट है कि, जैसा लोग समझते हैं, गुप्त साम्राज्य के पतन का एक मात्र अथवा सर्वमुख्य कारण हूणों का आक्रमण न था। सबसे महत्त्वपूर्ण कारण राजवंश को आन्तरिक फूट और प्रान्तीय उपरिकों और करद राजाओं के विद्रोह थे। ये कारण प्रत्यक्ष थे, यद्यपि हूणों का आक्रमण भी एक परोक्ष और सहायक कारण हो सकता है।

गुप्त शासकों का काल, जो दो शताब्दियों से अधिक का है, सर्वसम्मति से भारतीय इतिहास में स्वर्णयुग समझा जाता है। इस युग में कला, विज्ञान, साहित्य और अन्य बौद्धिक कार्यों का जो अद्भुत प्रस्फुटन हुआ और जिसे न केवल हम इसी काल में देखते हैं, वरन् अगली एक शताब्दी तक और भी पाते हैं, वह 'गुप्त-युग' नाम को पूर्णतया चरितार्थ करता है। इस युग को कई नामों से पुकारा जाता है—यथा भारत का स्वर्णयुग, भारतीय प्राचीन विद्याओं का युग अथवा भारत का पेरीक्लीज युग। इस काल के कुछ सांस्कृतिक कार्यों का उल्लेख १७ वें और २० वें अध्याय में किया गया है।

परिशिष्ट १

रामगुप्त—

देवीचन्द्रगुप्तम् नामक नाटक के विषयरूप एक लोक-कथा के अनुसार समुद्रगुप्त के बाद उसका ज्येष्ठ पुत्र रामगुप्त गद्दी पर बैठा। कहा जाता है कि वह इतना कायर और मर्यादाच्युत था कि एक बार जब उसे किसी शक राजा ने घेर लिया तो भागने का कोई रास्ता न पाकर वह शत्रु को अपनी पत्नी ध्रुवदेवी को बड़ी आसानी से देकर अपनी सुरक्षा खरीदने को तैयार हो गया। किन्तु उसके छोटे भाई चन्द्रगुप्त ने इस प्रस्ताव को घृणा के साथ ठुकरा दिया। उसने स्वयं रानी का वेष बनाया और अपने कुछ वीर साथियों को स्त्रियों के रूप में लेकर वह संधि की शर्तों के अनुसार शक राजा के शिविर में गया और शक राजा को मारकर सुरक्षित लौट आया। स्वाभाविक रूप में राजा के इस व्यवहार से बहुत ही असंतुष्ट रानी और जनता का वह प्रियपात्र बन गया। राजा रामगुप्त की अलोकप्रियता का लाभ उठा कर चन्द्रगुप्त ने उसे मार डाला और गद्दी पर अधिकार कर उसकी पत्नी ध्रुवदेवी से विवाह कर लिया।

यह कथा परवर्त्ती काल में काफी प्रचलित हो गई। यह बात अभिलेखों और साहित्यिक प्रमाणों से स्पष्ट जान पड़ती है। सबसे प्रथम प्रमाण हर्षचरित (७ वीं शताब्दी ई०) के एक अनुच्छेद में है जिसमें केवल इस बात का उल्लेख है कि चन्द्रगुप्त ने स्त्रीवेश धारण कर किसी परस्त्रीलोलुप शक राजा को मार डाला। कथा का सबसे महत्वपूर्ण अंश—यथा चन्द्रगुप्त ने अपने ज्येष्ठ भ्राता को मार कर उसकी पत्नी और गद्दी छीन ली, ९ वीं शताब्दी के एक राष्ट्रकूट अभिलेख में मिलता है। परवर्त्ती काल के साहित्य में और अन्य उल्लेख प्राप्त होते हैं।

इन समर्थक प्रमाणों के बावजूद भी इस कथा को ऐतिहासिक सत्य मानना कठिन है। कथा में निहित असम्भावनाओं के अतिरिक्त तथ्य यह है कि रामगुप्त का नाम अनेक मुद्राओं और लेखों में उल्लिखित गुप्त सम्राटों की वंशावली में कहीं नहीं पाया जाता और न उस वंश के असंख्य सिक्कों में उसका एक सिक्का भी अब तक मिला है।

दूसरा अध्याय

५०० से ६५० तक का उत्तर भारत

१. हर्षवर्धन के राज्यारोहण तक

गुप्त साम्राज्य के पतन के पश्चात् कुछ अवश्यम्भावी घटनायें हुईं। प्रान्तों और करद राजाओं ने अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी और सारा उत्तर भारत अनेक छोटी-छोटी रियासतों में बँट गया। गुप्तों के गृह प्रान्तों में शासकों की एक लम्बी तालिका मिलती है जिनमें एक को छोड़ कर शेष सभी के नाम गुप्तांत हैं। इसी कारण वह वंश मगध के इतिहास में 'परवर्ती गुप्त' के नाम से प्रसिद्ध है। यह निश्चय करना कठिन है कि वे गुप्त सम्राटों से किसी प्रकार संबद्ध थे या नहीं, न हम यही कह सकते हैं कि आरम्भ से ही उनका मगध पर अधिकार था, जैसा कि हम पीछे पाते हैं। कुछ लोगों का कहना है कि ये लोग हर्षवर्धन के राज्यकाल तक मालवा में शासन करते थे। इस वंश के कुछ शासक इतने प्रबल थे कि वे लोग ब्रह्मपुत्र तक अपनी विजयिनी सेना ले गये। इनमें से कइयों को अपने पड़ोसी मौखरियों से घोर युद्ध करने पड़े। मौखरियों का राज्यक्षेत्र आधुनिक उत्तरप्रदेश में था और वे तेजी के साथ शक्ति-वृद्धि कर रहे थे। उन्होंने मगध का कुछ भाग जीत लिया तथा उस वंश की एक शाखा गया जिले में भी शासन करती थी। उनमें से दो राजाओं—ईशानवर्मन् और सर्ववर्मन् ने अपने को महाराजाधिराज कहा है और इस उच्च उपाधि की सार्थकता हेतु उन्होंने विस्तृत क्षेत्र पर विजय प्राप्त की थी। उसके अन्तर्गत आन्ध्र प्रदेश भी था। किन्तु मौखरियों के इतिहास की प्रमुख घटना, जिसके कारण वे भारतीय इतिहास में स्मरण किये जा सकते हैं, पुनः भारत में घुस आने वाले हूणों का घोर प्रतिरोध है। पीछे कहा जा चुका है कि सभ्य जगत् के वे घोर शत्रु बाढ़ की भांति किस प्रकार भारत की सुन्दर घाटियों और नगरों पर एकाधिक बार चढ़ आये थे। उनके अभियानों के क्रम में जो कुछ हुआ उसका उल्लेख अत्यन्त दुखद है। जिस रास्ते वे गये वह बलात्कार, हत्या, लूट-मार और अग्निकांड का दृश्य बन गया। नगरों के अस्तित्व मिट गये, बढ़िया से बढ़िया भवन खंडहर हो गये और जो मन्दिर और विहार गिराये जाने से बच गये वे भी वीरान और उजाड़

परवर्ती गुप्त

हो गये। भारतीय सभ्यता का सुसम्पन्न केन्द्र काबुल और स्वात नदियों की घाटी इस बुरी तरह नष्ट की गयी कि उसका अधिकांश भाग तबसे अबतक सभ्यता की परिधि के बाहर चला आ रहा है और वह जंगली जातियों के ही रहने योग्य रह गया है। उसी तरह के लोग आज वहाँ रह भी रहे हैं। बढ़ते हुए हूणों का आतंक किस प्रकार करोड़ों भारतीयों के मन में छा गया था, यह लिखने की अपेक्षा कल्पना करने की अधिक बात है। ऐसे संकट के समय में मौखरी भारतीय सभ्यता के संरक्षक के रूप में उठ खड़े हुए। ईशानवर्मा के नेतृत्व में भारतीय अपने घर-बार की रक्षा के लिये जी-जान से लड़े। दीर्घकालीन घनघोर युद्ध के पश्चात् मौखरी नरेश हूणों को रोकने में सफल हुए और उन्होंने उनके उपद्रव से पूर्वी भारत को बचा लिया।

गुप्त साम्राज्य के खँडहरों पर उठने वाली शक्तियों में केवल दो का विशेष उल्लेख अपेक्षित है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है भट्टार्क के नेतृत्व में मैत्रक लोगों ने सौराष्ट्र में अपना राज्य स्थापित किया और बलभी को अपनी राजधानी बनाया। इस वंश के आरम्भिक शासक गुप्तों के करद थे, किन्तु उनकी शक्ति का ह्रास होते ही वे स्वतन्त्र हो गये और तबसे उस राज्य की सीमा तेजी के साथ बढ़ने लगी। बलभी न केवल शिक्षा और संस्कृति का ही केन्द्र बना वरन् वाणिज्य और व्यापार का भी। मैत्रक लोग ३०० वर्षों तक महत्वपूर्ण शक्ति समझे जाते रहे। उसके बाद सम्भवतः सिन्ध के अरब लुटेरों ने उनको निकाल बाहर किया।

बलभी के मैत्रक

बलभी के साथ-साथ स्थापित होने वाला एक दूसरा राज्य थानेश्वर का था जिसने भारत के इतिहास में अधिक महत्वपूर्ण ख्याति प्राप्त की है। इस वंश के आरम्भिक तीन राजा केवल नाम के थे और उनका कोई विशेष महत्व नहीं है। चौथे राजा प्रभाकरवर्धन ने अपने पड़ोसियों को मिटा कर अपने राज्य का विस्तार किया और परमभट्टारक महाराजाधिराज की उपाधि ग्रहण की। उसका प्रभुत्व सम्भवतः उत्तर पश्चिम में समस्त पंजाब और दक्षिण में मालवा के कुछ भाग तक था। उसके आक्रामक अभियानों के बीच ही उसकी ६०४ ई० में मृत्यु हो गयी। उसके राज्यवर्धन और हर्षवर्धन नामक दो लड़के और राज्यश्री नामक एक लड़की थी जो मौखरी नरेश ग्रहवर्मा से ब्याही गयी थी। राज्यवर्धन दोनों लड़कों में जेठा था और उसे गद्दी मिली।

थानेश्वर

जिन दिनों प्रभाकरवर्धन अपने राज्य की सीमा दक्षिण और पश्चिम में बढ़ा रहा था, बङ्गाल और आसाम में दो शक्ति-शाली राज्य स्थापित हुए। गुप्त सम्राटों

गौड़ का शशांक

के ह्रास के कुछ बाद के समय तक बङ्गाल के लोगों का भारत के राजनीतिक इतिहास में कोई महत्त्वपूर्ण भाग नहीं जान पड़ता। लगभग ५२५ ई० के बङ्ग अर्थात् पूर्वी और दक्षिणी बङ्गाल में एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना हुई, किन्तु उत्तर बङ्गाल गुप्तों के अधीन बना रहा। जब गुप्त साम्राज्य का पतन हुआ, गौड़ ने, जिसमें पश्चिमी और सम्भवतः उत्तरी बङ्गाल सम्मिलित था, अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी। किन्तु मौखरियों ने उसे परास्त किया। आधी शताब्दी पश्चात् गौड़ की गद्दी पर शशांक बैठा। उसने अपनी राजधानी कर्णसुवर्ण (मुर्शिदाबाद के निकट) बनायी और शीघ्र ही वह सारे बङ्गाल का स्वामी बन बैठा। वह यशोधर्मन् की भाँति ही साहसी सैनिक था और उसी की तरह हमें उसके पूर्वजों और उत्तराधिकारियों के बारे में कुछ भी ज्ञात नहीं है। यशोधर्मन् की तरह ही उल्का की तरह वह चमका और नष्ट हो गया। उसके बाद केवल उसके सैनिक अभियान मात्र बच रहे। उसकी अधीनता में बङ्गाल ने आक्रमणकारी का रूप धारण किया और शीघ्र ही उसको साम्राज्य का पद प्राप्त हो गया। शशांक ने उड़ीसा जीत कर अपने राज्य में मिला लिया। उसने गञ्जाम जिले के कोंगद नामक राज्य पर भी अपना प्रभुत्व स्थापित किया। उसके बाद वह पश्चिम में कन्नौज की ओर बढ़ा। इस प्रदेश में उस समय मौखरी राज्य करते थे जैसा कि पहले कहा जा चुका है, आधी शताब्दी पूर्व उनकी शत्रुता बङ्गाल के साथ हो चुकी थी। यह भी कहा जा चुका है कि मौखरी नरेश ग्रहवर्मा ने प्रभाकरवर्धन की पुत्री से विवाह किया था। फलस्वरूप उसकी स्थिति काफी मजबूत थी। उसके विरोध में शशांक ने मालवनरेश से मैत्री की, जो अपने प्रदेश पर आक्रमण करनेवाले थानेश्वरनरेश के विरुद्ध, एक प्रबल मित्र पाकर प्रसन्न हुआ।

इस प्रकार जिस समय राज्यवर्धन गद्दी पर बैठा, उत्तर भारत में बङ्गाल और थानेश्वर के शक्तिशाली राज्यों के नेतृत्व में दो राजनीतिक गुट थे। बङ्गाल के गुट ने आगे बढ़कर मौखरी राजधानी पर अचानक अधिकार कर लिया। ग्रहवर्मा मारा गया और रानी राजश्री बन्दी बना ली गयी।

आक्रमण इतने अचानक ढङ्ग से हुआ था कि युद्ध के आरम्भ और उसके दुखद अन्त का समाचार राज्यवर्धन को एक ही साथ मिला। तत्काल वह १०,००० घुड़सवारों को लेकर अपनी बहिन के प्रति किये गये अपराधों का प्रतिशोध लेने चल पड़ा। उसकी तत्परता का फल तत्काल मिला। मालवनरेश के नेतृत्व में शत्रु की अगली पाँति मिली जिसे उसने तत्काल पराजित किया। फिर अपनी छोटी सी सेना लेकर वह कान्यकुब्ज की ओर बढ़ा। रास्ते में ही शशांक द्वारा वह मार डाला गया। उसकी हतप्रभ सेना (६०६ ई० में) थानेश्वर को लौट आयी।

इन दुखद दुर्घटनाओं का रहस्य अभेद्य है। राज्यवर्धन के पक्ष के लोगों ने इस हत्या को शशांक द्वारा किया जानेवाला विश्वासघात बताया है, किन्तु अनेक कारणों से जान पड़ता है कि दलगत दृष्टियों से सत्य को तोड़ा मरोड़ा गया है। बाणभट्ट और ह्वेनसाङ्ग ही इस घटना को जानने के लिए हमारे प्रमाण हैं, और दोनों ही शशांक के प्रबल विरोधी थे, अतः उन्हें पक्षपातहीन नहीं कहा जा सकता। दोनों शशांक के विश्वासघात की बात एक स्वर से कहते हैं। किन्तु इस घटना की परिस्थितियों के सम्बन्ध में दोनों में बड़ा मतभेद है। दूसरी ओर हर्ष के प्रायः एक समकालीन अभिलेख में कहा गया है कि "राज्यवर्धन ने शत्रु के सदन में अपने वचन का पालन करते हुए प्राण दिया।" इन परस्पर विरोधी कथनों के बीच किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचना कठिन है, किंतु इतना तो निश्चित है कि राज्यवर्धन अपने प्रयत्न में असफल रहा और वह मारा गया।

२. हर्षवर्धन

राज्यवर्धन की मृत्यु के पश्चात् राज्य के मन्त्रियों ने उसके छोटे भाई हर्षवर्धन को गद्दी पर बैठने का आमंत्रण दिया। वह शीलादित्य नाम से भी प्रसिद्ध था।

हर्षवर्धन

पहले तो दरबार के लोग उसे यह पद प्रदान करते हुए झिझके और युवक हर्षवर्धन भी ऐसे नाजुक मौके पर राज्य के भयंकर उत्तरदायित्व को स्वीकार करने में ठिठका। किन्तु गद्दी पर बैठ जाने के पश्चात् उस युवक शासक ने जो अदम्य उत्साह और सैनिक योग्यता प्रदर्शित की उससे लोगों का सन्देह मिट गया—(६०६ ई०)। उसने शशांक से प्रतिशोध लेने की प्रतिज्ञा की और उसके विरुद्ध एक बड़ी सेना रवाना की। शशांक की बढ़ती हुई शक्ति से भयभीत कामरूप के शासक भास्करवर्मा ने उससे मैत्रीपूर्ण संधि की। किन्तु हर्ष का सबसे पहले ध्यान अपनी बहिन की ओर गया। उसे खबर मिली कि शत्रुओं ने उसकी बहिन को कन्नौज के बन्दीगृह से रिहा कर दिया है। किन्तु वह अपने भाई की मृत्यु के समाचार से अत्यन्त दुःखी और विरक्त होकर विन्ध्य के जंगलों में चली गयी। अतः हर्ष उसकी खोज में निकला। जिस समय वह अत्यन्त निराशा के बीच अपने सेवकों के सहित जल मरने की तैयारी कर रही थी, हर्ष खोजता हुआ उसके पास पहुँच गया।

अपनी बहिन की रक्षा कर, हर्ष गङ्गा तट पर अपनी सेना से आ मिला और वहाँ से शशांक को पराजित कर भाई की मृत्यु का प्रतिशोध लेने के निमित्त उसने

उसकी विजय

पूरब की ओर विजय-यात्रा प्रारम्भ की। अपने इस सैनिक अभियान में वह सफल रहा और उत्तरी भारत का बहुत बड़ा भाग उसने जीत लिया। ह्वेनसांग लिखता है कि "६ वर्षों तक वह

लगातार युद्ध करता रहा और उसने पांच भारतों को जीता। अपनी राज्य-सीमा का विस्तार कर उसने अपनी सेना में वृद्धि की। उसकी गजसेना बढ़कर ६०,००० और अश्वसेना १,००,००० हो गयी। पश्चात् ३० वर्षों तक वह बिना शस्त्र उठाये राज्य करता रहा।" उसने हर्ष की सफलता के सम्बन्ध में चलती हुई जो यह बात कही है, इसमें कुछ संशोधन अपेक्षित है। पहली बात तो यह कि उसके सैनिक अभियान का मुख्य उद्देश्य पूरा नहीं हुआ। कम से कम ६१९ ई० तक तो शशांक शान के साथ राज्य करता रहा जैसा उसके उस वर्ष के एक अभिलेख से प्रकट होता है। इस अभिलेख में गंजाम जिले के एक करद राजा ने सम्राट के रूप में उसका उल्लेख किया है। दूसरी बात, नर्मदा के आगे सीमा-विस्तार का उसका प्रयत्न पूर्णतया असफल रहा। उसे दक्षिण के चालुक्य राजा पुलकेशिन् के हाथ गहरी हार खानी पड़ी।

हर्ष ने अपने शासन-काल के अंतिम चरण में पूर्व की ओर दूसरा सैनिक अभियान किया। इस समय तक शशांक मर चुका था और उसके पीछे उसके साम्राज्य की रक्षा के लिए योग्य उत्तराधिकारी न था। फलतः उसे पददलित करने में हर्ष को तनिक भी कठिनाई नहीं हुई। मगध जीत कर वह पश्चिमी बंगाल होता हुआ कोंगद (गंजाम जिला) तक, जो शशांक के साम्राज्य की दक्षिणी सीमा थी, गया। शशांक के साम्राज्य के शेष भाग अर्थात् पूर्वी दक्षिणी और उत्तरी बंगाल कामरूप के राजा भास्करवर्मन के हाथ में चले गये। इस प्रकार उसे पुरानी मैत्री का लाभ शशांक के साम्राज्य-विनाश के रूप में मिला।

हर्ष का साम्राज्य

हर्ष के साम्राज्य के विस्तार के संबंध में लोगों की धारणायें अत्यन्त अतिरंजित हैं। यद्यपि उसके प्रभुत्व को उत्तर भारत के सभी लोग स्वीकार करते थे। और अनेक राजाओं ने—जिनमें उसके दामाद बलभी के मैत्रकनरेश और उसके पुराने मित्र भास्करवर्मन भी थे—उसकी अधीनता इस हद तक स्वीकार की थी कि वे उसके दरबार में भी उपस्थित होते थे। तथापि ऐसा नहीं जान पड़ता कि वर्तमान पूर्वी पंजाब, उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिमी बंगाल और उड़ीसा के बाहर उसका प्रभुत्व रहा हो। उसके साम्राज्य में सारे उत्तर भारत के सम्मिलित होने की बात जरा से तर्क पर असिद्ध हो जाती है। कश्मीर, पश्चिमी पंजाब, सिन्ध, गुजरात, राजपूताना, नेपाल, और कामरूप निसंदिग्ध रूप से उसके समय में स्वतन्त्र राज्य थे। फिर भी इतना तो मानना ही होगा कि वह एक महान् विजेता और शक्तिशाली सम्राट था।

भारतीय इतिहास में हर्षवर्धन की महत्ता केवल महान् विजेता होने के कारण ही नहीं है। उसने अपने शान्तिमय कार्यों के लिए भी चिर स्थायी ख्याति प्राप्त-

की है। इसका उल्लेख विस्तार के साथ चीनी यात्री ह्वेन सांग ने किया है। वह भारत वर्ष में १४ वर्षों तक (६३० से ६४४ ई०) रहा और सारे देश में घूमा। सम्राट के निकट सम्पर्क में भी वह घनिष्ठ रूप से आया।

शासन-व्यवस्था

देश में सुव्यवस्थित शासन कायम रखने के लिए हर्षवर्धन ने कोई भी प्रयत्न नहीं रख छोड़ा। वह राज्य-कार्य स्वयं देखता था। यही नहीं, निरीक्षण के लिए वह साम्राज्य के विभिन्न भागों में घूमता था। फलतः उसकी नागरिक शासन व्यवस्था उदार सिद्धान्तों के अनुसार होती थी। फिर भी कहना होगा कि गुप्त सम्राटों के समय की अपेक्षा दशा अवनति की ओर ही थी। स्पष्ट है कि सड़कें उतनी सुरक्षित न थीं। चीनी यात्री स्वयं एकाधिक बार लुटेरों द्वारा लूटा गया। फौजदारी के कानून इस काल में अधिक कठोर थे। जघन्य अपराधों के लिए कान–नाक–हाथ–पैर काटने की सजा थी और अग्नि, जल, तराजू और विष द्वारा परीक्षा की प्रथा भी बहुत प्रचलित थी।

उसके साहित्यिक कार्य

यह महान् सम्राट् न केवल विद्या का संरक्षक था वरन् स्वयं भी एक विख्यात लेखक था। उसके तीन संस्कृत नाटक—नागानन्द, रत्नावली और प्रियदर्शिका, समय के झकोरे खा कर आज भी बच रहे और भारतीय साहित्य-प्रेमियों के बीच उनकी अत्यधिक ख्याति है। उसके यहाँ विद्वानों का जमघट था जिसमें हर्ष-चरित (हर्ष का जीवन चरित) और कादम्बरी के लेखक बाणभट्ट सबसे प्रसिद्ध हैं।

उसका धर्म

हर्षवर्धन सम्भवतः शैवमतावलम्बी था। किन्तु वह न केवल अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णु था वरन् उनके प्रति श्रद्धालु भी था। उसके दान से चलनेवाली अनेक संस्थायें थीं। अशोक की भाँति उसने विश्रामशालाएं और चिकित्सालय बनवाये और अनेक ब्राह्मण तथा बौद्ध धार्मिक संस्थाओं को धन प्रदान किया। जीवन के अन्तिम काल में उसकी श्रद्धा स्पष्ट रूप से बौद्धधर्म की ओर हो गयी जान पड़ती है। उसने पशु-हत्या का निषेध कर दिया। कहा जाता है कि गंगा के किनारे उसने हजारों बौद्ध स्तूप खड़े करवाये थे। और बौद्धधर्म के तीर्थस्थानों पर अनेक विहार बनवाये थे। इसके अतिरिक्त प्रतिवर्ष वह बौद्धों की एक संगीति बुलाता जिसमें परस्पर वाद-विवाद होते और विवाद में जो सफल होता वह पुरस्कृत किया जाता। उसकी अनुकम्पा प्राप्त करने का एक मात्र साधन सदाचार की उच्चता थी। सद्गुणी

राजकुमारों और राजनीतिज्ञों का वह मित्र था और तद्‌विरुद्ध आचारणवालों से वह बोलना भी पसन्द न करता था ।

हर्षवर्धन ह्वेनसांग का आश्रयदाता था । उसने उस महान् सम्राट की भूरि २ प्रशंसा की है । हर्षवर्धन के संबंध में जो कुछ भी कहा गया है उसकी जानकारी इस यात्री के अद्भुत विवरणों से हो हुई है । यही नहीं उसने भारत की अवस्था का ऐसा विस्तुत चित्रण किया है जो अन्यत्र अप्राप्य है । हर्षवर्धन की चीनी यात्री से मुलाकात पश्चिमी

ह्वेन साँग

बंगाल में हुई और वह उसके सत्सङ्ग से इतना प्रभावित हुआ कि उसके सम्मानमें उसने कन्नौज में एक सभा बुलाई । उसमें बीस करद राजा, चार हजार बौद्ध भिक्षु और लगभग तीन हजार जैन और कट्टर ब्राह्मण सम्मिलित हुए । गङ्गा के पश्चिमी किनारे पर राजा ने एक विस्तुत विहार बनवाया और ७० फुट ऊँचा एक स्तम्भ स्थापित किया जिस पर बुद्ध की आदम-कद सुनहली मूर्ति स्थापित की गयी । इससे कुछ पश्चिम की ओर हट कर राजा का अस्थायी प्रासाद और अन्य अतिथियों के निवास स्थान बने । प्रतिदिन बुद्ध की तीन फुट ऊँची एक छोटी सुनहली मूर्ति राजप्रासाद से स्तम्भ तक शानदार जुलूस के सङ्ग ले जायी जाती । राजा स्वयं शक्र (इन्द्र) का वेष धारण करता और छत्र लेकर चलता और रक्षक के रूप में ५०० योद्धा-गण चलते थे । रास्ते भर वह मोती, सोना, चांदी, फूल और अन्य बहुमूल्य वस्तुएं बिखेरता चलता । सजे-सजाये हाथियों की पांत पर करद राजा और उनके अङ्गरक्षक तथा अन्य अतिथि चलते । सौ बड़े हाथियों पर बाजा बजाने वाले बाजा बजाते हुए चलते थे । जुलूस समाप्त होने पर राजा बुद्ध की मूर्ति के सम्मुख हीरे मोतियों से ढके हुए रेशमी वस्त्र सैकड़ों हजारों की संख्या में भेंट करता । भोजन के बाद विद्वान कठिन विषयों पर विवाद करने के निमित्त हाल में एकत्र होते । चीनी यात्री को सम्मान्य स्थान दिया जाता । शाम को अतिथि लोग अपने २ निवासस्थान को चले जाते । यह पवित्र कार्य प्रति दिन लगभग एक महीने तक चलता रहा । एक दिन अचानक विहार में आग लग गयी और उसका कुछ अंश जल गया । जब एक स्तूप के शिखर पर से हर्षवर्धन इस अवस्था का निरीक्षण कर रहा था, एक धर्मान्ध ने छुरी लेकर उस पर आक्रमण किया । किन्तु हत्या का यह प्रयत्न असफल रहा और हत्यार्थी ने यह बात स्वीकार की कि ब्राह्मणों ने उसे इस काम के लिए नियुक्त किया था । वे लोग बौद्धों के प्रति राजा के अनुग्रह के कारण क्षुब्ध हो उठे थे और जान बूझ कर उन्होंने विहार में इसलिए आग लगायी थी कि उसके हो-हल्ले में राजा को मार डाला जाय । मुख्य अपराधियों को दण्ड मिला और शेष लोग क्षमा कर दिये गये ।

इन दुर्घटनाओं के बीच जब कन्नौज का समारोह समाप्त हुआ तो सम्राट चीनी यात्री के साथ प्रयाग (इलाहाबाद) गया। वहाँ वह गंगा-यमुना के संगम पर प्रति पाँचवें वर्ष एक अन्य आयोजन किया करता था। सभी करद राजा आये और राजा ने विभिन्न धर्मों के लोगों, गरीबों, अनाथों और अभ्यर्थियों को दान लेने के लिये बुलाया।

दोनों नदियों के संगम के पश्चिम ओर एक बहुत बड़ा मैदान था जो दानस्थल कहा जाता था। अतीत काल से ही भारत के विभिन्न भागों के राजा वहां दान देने के निमित्त बहुधा आते थे। वहाँ सम्राट ने अपनी सारी सम्पत्ति लाकर रख दी और दान देने का काम शुरु हुआ। यह कार्य तीन मास तक होता रहा। इसका विस्तृत वर्णन ह्वेनसांग के जीवन-चरित लेखक ने किया है।

प्रयाग का धार्मिक मेला

"पहले दिन उन्होंने बुद्ध की मूर्ति स्थापित की और प्रथम श्रेणी के रत्न और वस्त्र वितरण किये।

"दूसरे दिन आदित्य देव (सूर्यदेव) की स्थापना हुई और पहले दिन की अपेक्षा आधी मात्रा में रत्न और वस्त्रों का वितरण हुआ।

"तीसरे दिन उन्होंने ईश्वरदेव की मूर्त्ति की स्थापना की और दूसरे दिन के समान ही वस्तुओं का वितरण हुआ।

"चौथे दिन उन्होंने दस हजार बौद्ध भिक्षुओं को दान दिया। प्रत्येक भिक्षु को सोने के १०० सिक्के, एक मोती, एक सूती वस्त्र, अनेक प्रकार के खाद्य-पेय, फूल और सुगन्ध भेंट किये गये।

"अगले बीस दिनों तक ब्राह्मणों को दान दिया गया।

"अगले दस दिनों तक उन लोगों को भीख दी गयी जो दूर-दूर से भिक्षा लेने आये थे।

"अगले महीने गरीबों, अनाथों और असहायों को दान दिये गये।

"इस समय तक पांच वर्ष में एकत्र सम्पत्ति समाप्त हो गयी। राज्य की रक्षा के लिये आवश्यक हाथी, घोड़ों और सैनिक सामग्रियों के अतिरिक्त कुछ नहीं बचा। तब राजा ने अपने रत्न, कपड़े, हार, कर्णिका, बाजूबन्द, मुकुट-मणि आदि सभी कुछ दे डाला।

"सब कुछ दे चुकने के बाद उसने अपनी बहन से पुराना मामूली कपड़ा मांगा और उसे पहन कर दसों दिशाओं के बौद्धों की पूजा की और प्रसन्नतापूर्वक हाथ जोड़कर उनके सामने झुक गया।

"इस समारोह के समाप्त हो जाने पर वहाँ उपस्थित राजाओं ने अलग-अलग जनता में अपने धन का वितरण कर सम्राट के हार, मुकुट, मणि एवं राज्यपरिधान आदि खरीद लिये और उन्हें पुनः सम्राट को भेंट कर दिया। कुछ दिन बाद फिर वे चीजें दान में दे दी गयीं।" इस प्रकार यह अनोखा समारोह समाप्त हुआ, जिसे अपने पूर्वजों के अनुकरण पर प्रति पाँचवें वर्ष हर्षवर्धन किया करता था। उसने चीनी यात्री को बताया था कि वह उसका अपने शासन-काल में छठा समारोह था। इसके कुछ ही दिनों बाद ह्वेनसांग घर लौटा और सम्राट ने यात्रा की सुविधा की सारी व्यवस्था की।

चीन को दूत-मण्डल

ह्वेनसांग से मिलने के पूर्व भी हर्षवर्धन को चीन के संबंध में काफी जानकारी थी। ६४१ ई० में उसने चीनी सम्राट के पास अपना एक दूत भेजा और चीनी सम्राट ने भी उसके पास अपना दूत भेजा। ह्वेनसांग से मिलने के पश्चात् हर्ष ने चीनी सम्राट के पास एक ब्राह्मण दूत भेजा। चीनी सम्राट ने भी ६४३ ई० में एक दूसरा दूत-मंडल भेजा। ह्वेनसांग के चीन लौटने के कुछ ही दिनों बाद, सम्भवतः उसके विस्तृत विवरण देने पर, चीनी सम्राट ने एक तीसरा दूत-मंडल वांग-ह्वेन-त्से के नेतृत्व में भेजा। यह दूतमंडल ६४६ ई० में चीन से रवाना हुआ, किन्तु जब वह भारत पहुँचा, हर्षवर्धन का निधन हो चुका था। इस महान् सम्राट की मृत्यु ६४६ के अन्त अथवा ६४७ के आरम्भ में हुई।

हर्षवर्द्धन के उत्तराधिकारी

जान पड़ता है कि हर्षवर्धन ने अपना कोई उत्तराधिकारी नहीं छोड़ा। फलतः उसकी गद्दी उसके मंत्री अर्जुन अथवा अरुणाश्व ने हड़प ली। चीनी पुस्तकों में अर्जुन और वांग-ह्वेन-त्से के बीच लड़ाई की एक विचित्र कहानी दी हुई है। कहा जाता है कि अर्जुन ने वाँग-ह्वेन-त्से के नेतृत्व में आनेवाले दूतमंडल की सम्पत्ति लूट ली और उसके कुछ रक्षकों को मार डाला। वांग-ह्वेन-त्से तिब्बत भागा। तिब्बत नरेश का विवाह चीनी और नेपाली राजकुमारियों से हुआ था। उसने उसे सैनिक सहायता दी। नेपाल ने भी उसकी सहायता की। उनके साथ वह भारत लौटा और अर्जुन को पराजित किया। कई अन्य विजयों के परिणामस्वरूप उसने भारतीय मैदान का बहुत बड़ा भाग अधिकार में कर लिया। इस विचित्र घटना के ऐतिहासिक महत्त्व को आँकना कठिन है। इसके विवरण की सत्यता प्रायः संदिग्ध ही है।

तीसरा अध्याय

(६५० से ८०० ई० तक का उत्तरी भारत)

हर्षवर्धन के निधन के पश्चात् की अव्यवस्था के बीच उसका साम्राज्य निरवशेष नष्ट हो गया। उसके मंत्री के राज्य पर शासन करने के व्यर्थ प्रयास और उसकी मूर्खता के फलस्वरूप विचित्र चीनी आक्रमण की चर्चा ऊपर हो चुकी है। कहा जाता है कि साम्राज्य का अन्त करनेवाली उस विजयिनी चीनी सेना को कामरूप अथवा आसाम के शासक भास्करवर्मा ने काफी सहायता दी थी। तत्कालीन भारतीय राजनीति में उसने काफी महत्त्वपूर्ण भाग लिया था, इस बात के पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध हैं।

१. कामरूप

सामान्यतः कामरूप का प्राचीन राज्य भारतीय इतिहास की हलचलों से अलग ही रहा। वह मौर्य साम्राज्य में सम्मिलित नहीं था और न अब तक किन्हीं अन्य प्राचीन राज्यों के साथ उसका राजनीतिक सम्बन्ध ही ज्ञात है। नये धार्मिक सम्प्रदायों की क्रान्ति के फलस्वरूप सारा भारत हिल उठा था; किन्तु कामरूप अन्त तक ब्राह्मण धर्म को अपनाये रहा।

कामरूप के राजा अपने वंश का उद्भव विष्णु के पुत्र नरक से मानते हैं। नरक का बेटा महाभारत का सुप्रसिद्ध वीर भगदत्त था। किन्तु सबसे प्रथम ऐतिहासिक वंश की स्थापना पुष्यवर्मन् ने चौथी शताब्दी के आरंभ में की थी। इस के पहले छह राजाओं ने गुप्तवंश की अधीनता स्वीकार की थी। सम्भवतः सातवें राजा ने, जो द्वयाश्वमेधयाजी होने का दावा करता है, इस भार को उतार फेंका। ६ ठीं शताब्दी के मध्य में होनेवाले अगले राजा भूतिवर्मा के समय में कामरूप एक शक्तिशाली राज्य बन गया। उसके अन्तर्गत ब्रह्मपुत्र की घाटी और सिलहट शामिल थे और पश्चिम में उसका विस्तार करतोया नदी तक था, जो बहुत दिनों तक कामरूप की परम्परागत सीमा बनी रही। भूतिवर्मन् के उत्तराधिकारियों का परवर्ती गुप्तों के साथ संघर्ष हुआ, जो ब्रह्मपुत्र तक बढ़ आये थे। किन्तु दोनों ही पक्ष अपने विजय की बात कहते हैं।

भूतिवर्मा की चौथी पीढ़ी में भास्करवर्मा हुआ, जो ६ ठीं शताब्दी के अन्त अथवा ७ वीं शताब्दी के आरम्भ में गद्दी पर बैठा। हर्षवर्धन के गद्दी पर बैठते ही उसने अपना एक दूत दोनों राज्यों के बीच मैत्री-संबंध स्थापित करने के उद्देश्य से भेजा। इस समय शशांक ने बंगाल के राज्य को शक्तिशाली बना लिया था। उसको देखते हुए दूत भेजने का वास्तविक उद्देश्य समझना कठिन नहीं है। कामरूप का राजा अपने उस पड़ोसी की शक्ति से भयभीत था। शशांक और थानेश्वरनरेश के बीच उत्पन्न शत्रुता का लाभ उठा कर वह अपनी स्थिति सुदृढ़ करना चाहता था। इस प्रकार बंगाल और मालवा के विरुद्ध थानेश्वर, कन्नौज और कामरूप का एक गुट बन गया, जिसका परिणाम हम ऊपर देख चुके हैं। दो असमान शक्तियों के बीच के मैत्री सम्बन्ध के परिणाम का अनुभव भास्करवर्मन् ने अवश्य किया होगा, पर देर से। शशांक की मृत्यु से उसकी आतंककारी शत्रुता के मिट जाने पर उसका राज्य दो मित्रों में बटा अवश्य; किन्तु हर्ष भास्कर-वर्मन् को समान मित्र न मानकर अधीनस्थ शासक ही समझता था। उसे न केवल सैनिक भय से चीनी यात्री ह्वेनसांग को हर्षवर्धन के पास जबरदस्ती भेजना पड़ा, वरन् कन्नौज और इलाहाबाद के भव्य समारोहों में अन्य करद राजाओं की तरह सम्मिलित भी होना पड़ा। आश्चर्य नहीं कि कन्नौज को गद्दी पर बैठनेवाले हर्षवर्धन के उत्तराधिकारी के विरुद्ध चीनी सेना की सहायता कर उसने अपनी कसर निकाली हो। किन्तु वह यों ही सहायता देने वाला व्यक्ति न था। इस विचित्र घटना के समाप्त होने पर वह पूर्वी भारत का स्वामी बन बैठा। अपने पुराने शत्रु शशांक की राजधानी में उसने अपना विजय स्कंधावार स्थापित किया। इस प्रकार उसने कामरूप की शक्ति और सम्मान को जिस सीमा तक बढ़ाया उसकी कल्पना पहले कभी न थी।

किन्तु उसके वंश की यह उन्नति बहुत दिनों तक न रही। थोड़े ही दिनों बाद भास्करवर्मा के राज्य को शालस्तम्भ नामक बर्बर ने उखाड़ फेंका। और कामरूप का राज्य म्लेच्छों के हाथ चला गया।

२. परवर्त्ती गुप्त

प्रधानता में आने वाली दूसरी शक्ति परवर्त्ती गुप्तों की थी। पहले कहा जा चुका है कि गुप्त साम्राज्य के पतन के पश्चात् किस प्रकार इसकी स्थापना हुई थी। इस वंश के पाँचवें शासक महासेनगुप्त ने लौहित्य (ब्रह्मपुत्र) तट पर भास्करवर्मन् के पिता सुस्थितवर्मन् को हराया। किन्तु उसे अपने जीवन के अन्तिम काल में किसी भयंकर विपत्ति का सामना करना पड़ा, जिसका स्वरूप अज्ञात है। ऐसा जान

पड़ता है कि उसे अपना जीवन और राज्य दोनों खोना पड़ा और उसके दो बेटों—कुमारगुप्त और माधवगुप्त—को थानेश्वर में अपने निकट सम्बन्धी राजा प्रभाकर-वर्धन की शरण लेनी पड़ी। दोनों युवक राजकुमार राजवर्धन और हर्षवर्धन के घनिष्ठ मित्र हुए। पीछे हर्षवर्धन की सहायता से माधवगुप्त मगध का शासक हुआ। *लगभग ६७५ ई० में माधवगुप्त के पुत्र आदित्यसेन ने काफी शक्ति और सम्मान* अर्जित कर सम्राट की उपाधि धारण की। उसके और उसके तीन उत्तराधिकारियों-देवगुप्त, विष्णुगुप्त और जीवित गुप्त—के काल में मगध का पूर्वी भारत के राज्यों में सर्वोच्च स्थान था। उन सभी ने महाराजाधिराज की उपाधि धारण की।

३. यशोवर्मन्

किन्तु कन्नौज पुनः एक बार उत्तरी भारत की शासन शक्तियों में चमक उठा। हर्ष के मंत्री ने अपने स्वामी के साम्राज्य को बनाये रखने का असफल प्रयत्न किया और उसके पश्चात् इस राज्य का इतिहास अत्यन्त अंधकार में है। ८ वीं शताब्दी के आरम्भ में हम कान्यकुब्ज की राजगद्दी पर एक शक्तिशाली राजा को पाते हैं। यह यशोधर्मन् और शशांक के समान सैनिक साहसी यशोवर्मन् था। वह न केवल एक महान् विजेता था वरन् कवियों का आश्रयदाता भी। संस्कृत-साहित्य के कोकिल भवभूति उसी के दरबार में रहते थे; और जब तक संस्कृत भाषा जीवित है, यशोवर्मन् का नाम उसके एक महत्तम कवि के साथ सम्बद्ध रहेगा। कुछ अन्य कम प्रख्यात कवि भी उसके दरबार में थे, जिनमें वाक्पति का नाम मुख्य है। उसने अपने आश्रयदाता के कार्यों का वर्णन एक असाधारण प्राकृत काव्य 'गउड़वहो' में करके, उसे अमर बनाने की चेष्टा की है। इस काव्य से ज्ञात होता है कि गौड़-नरेश—सम्भवतः आदित्यसेन का प्रपौत्र जीवितगुप्त द्वितीय, मगध सहित विस्तृत क्षेत्र पर राज्य करता था। किन्तु वह इतने विस्तृत क्षेत्र पर राज्य करने योग्य न था। यशोवर्मन् के आते ही वह भयभीत होकर भागा और संभवतः मगध उसके विजेता के हाथ पड़ गया। बंगाल के उच्चवर्गीय लोग अपने स्वामी की अपेक्षा कहीं अच्छे थे। दूसरे ही वर्ष उन्होंने अपने कायर नरेश को आक्रमणकारी का सामना करने को बाध्य किया। वाक्पति ने बंगाली वीरों के वीरतापूर्ण युद्ध की भूरि भूरि प्रशंसा की है। किन्तु इतना होने पर भी युद्ध में उनकी पराजय हुई, उनका राजा मारा गया और यशोवर्मन् ने समुद्र तट तक के सारे बंगाल को रौंद डाला।

कहा गया है कि उसके बाद यशोवर्मन् दिग्विजय के निमित्त दक्षिण की ओर गया; और वहाँ से नर्मदा के किनारे २ वह पश्चिमी घाट तक बढ़ा। वहाँ से वह उत्तर की ओर मुड़ा। उसने मरुदेश (राजपूताना) और श्रीकंठ (थानेश्वर)

जीत लिया, फिर हिमालय पर्वत तक पहुँच कर अपनी राजधानी कन्नौज लौटा। दिग्विजय का यह परम्पराजन्य वर्णन ऐतिहासिक दृष्टि से कहाँ तक सत्य है, कहना कठिन है; किन्तु यशोवर्मन् निसन्देह इस काल का शक्तिशाली सम्राट था। उसने चीन के महान् सम्राट के साथ दौत्य संबंध स्थापित किया। ७३१ ई० में उसने अपने मंत्री को चीन के दरबार में भेजा था, किन्तु उस दौत्य के उद्देश्य और परिणाम हमें ज्ञात नहीं हैं। हमें इतना ही मालूम है कि कश्मीर-नरेश ललितादित्य के सहयोग से उसने तिब्बत के विरुद्ध अभियान किया था और उसे जीत कर उस पर्वतीय प्रदेश में जाने वाले दर्रे को बन्द करवा दिया था। चीनी सम्राट की उन दिनों तिब्बतियों के साथ शत्रुता थी। सम्भवतः यशोवर्मन् ने अपने उत्तरी शत्रु के विरुद्ध चीन से मिलकर कार्रवाई करने की चेष्टा की हो। यदि हम उनके भारतीय राजनीति में भाग लेने और नेपाल को जीतने की बातों को याद रखें तो यशोवर्मन् और तिब्बतियों के बीच शत्रुता का कारण अच्छी तरह समझ में आ जाता है। इसके अतिरिक्त तिब्बती राजा ने हर्षवर्धन की मृत्यु के कुछ ही दिनों बाद, वांग-ह्वेन-त्से की कन्नौज की शक्ति परास्त करने और भारत के धनी नगरों को जीतने में सहायता की थी। किन्तु यह भी असम्भव नहीं है कि यशोवर्मन् ने अरबों की बढ़ती हुई शक्ति के विरुद्ध चीन के साथ मैत्री का संबंध और एक संयुक्त मोर्चा स्थापित करना चाहा हो। ७४० ई० तक यशोवर्मन् शान-शौकत के साथ राज्य करता रहा। उसके महत्त्वाकांक्षी मित्र कश्मीर-नरेश ललितादित्य के मन में उसके प्रति ईर्ष्या जागृत हो उठी और उसने उसको हराकर सम्राट बनने का प्रयत्न किया। नगण्य बातों पर दोनों में झगड़ा उठ खड़ा हुआ और लड़ाई काफ़ी दिनों तक चलती रही। फलस्वरूप यशोवर्मन् पराजित हुआ और सम्भवतः मारा भी गया। उसका राज्य कश्मीर के बढ़ते हुए साम्राज्य में मिल गया।

४. कश्मीर

कश्मीर का आरम्भिक इतिहास किम्वदंतियों और अनुश्रुतियों से भरा पड़ा है। ७ वीं शताब्दी के मध्य से कुछ ही पहले दुर्लभवर्धन ने (जिसके जन्म, वंश आदि के संबंध में कुछ भी नहीं मालूम) मृत राजा की राजकुमारी से विवाह करके राज्य प्राप्त किया और कार्कोट नामक प्रसिद्ध वंश की स्थापना की। उसके राज्यकाल में ह्वेनसांग कश्मीर गया था। उस यात्री के कथनानुसार दुर्लभवर्धन का राज्य न केवल कश्मीर पर ही था वरन् उसके अन्तर्गत उत्तरी पश्चिमी पंजाब का कुछ भाग भी शामिल था। उसके बाद उसका बेटा प्रतापादित्य द्वितीय गद्दी पर बैठा। उसने न्याय तथा शान्ति पूर्वक राज्य किया और प्रतापपुर

नामक नगर बसाया। उसके बाद उसके तीन बेटे गद्दी पर बैठे। सबसे बड़ा लड़का चन्द्रापीड़ इतना शक्तिशाली था कि ७२० ई० में चीन के सम्राट ने भी उसे राजा स्वीकार किया। वह अपनी उदारता और न्याय के लिये प्रसिद्ध है। कल्हण की राजतरंगिणी इस काल के इतिहास के लिए सबसे महत्त्व का साधन है। उसमें लिखा है कि उसने एक मन्दिर बनवाना चाहा। उसके लिए जो भूमि चुनी गयी उसमें एक चमार की झोपड़ी पड़ती थी। उस चमार ने उस जमीन में पड़ने वाली अपनी झोपड़ी देने से इनकार किया। जब यह बात राजा के कानों तक पहुँची तो उसने चमार को दोषी न ठहरा कर अपने अधिकारियों को ही दोषी बताया। उसने कहा कि मन्दिर बनाना बन्द कर दो या उसे दूसरी जगह बनाओ। चमार राजा के सामने स्वयं आया और बोला—'इस झोपड़ी में मेरा जन्म हुआ है। वह मेरी माँ के समान है। उसने मेरे अच्छे और बुरे दिन देखे हैं। उसे अपने सामने गिरता हुआ मैं नहीं देख सकता। फिर भी मैं अपनी झोपड़ी देने को तैयार हूँ, यदि आप मेरे द्वार पर आकर उस भूमि पर मेरा स्वामित्व मानते हुए उसे मुझसे माँगें।' यह सुनकर राजा उसके घर गया और झोपड़ी को दाम देकर खरीद लिया। इस राजा का राज्यकाल इस प्रकार के अनेक न्यायपूर्ण कार्यों से भरा हुआ था। यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि न्याय के नाम पर उसने अपने को शहीद कर दिया। एक बार उसने एक ऐसे ब्राह्मण को दण्ड दिया जिसने दूसरे ब्राह्मण को जादू टोने द्वारा मार डाला था। वह ब्राह्मण अपनी सजा सुनकर बहुत क्रुद्ध हुआ। राजा के छोटे भाई तारापीड़ ने उसे राजा के विरुद्ध जादू टोना करने के लिए उकसाया। इस प्रकार नेक राजा चन्द्रापीड़ साढ़े आठ वर्षों तक राज्य करके मर गया। भ्रातृ-घाती तारापीड़ उसके बाद गद्दी पर बैठा। उसका चार वर्षों का राज्यकाल क्रूरता और खूनी कारनामों से भरा हुआ था। उसके बाद उसका छोटा भाई ललितादित्य मुक्तापीड़ गद्दी पर बैठा जो इस वंश का सबसे महान् राजा हुआ।

ललितादित्य ७२४ ई० के लगभग गद्दी पर बैठा। वह विजय का बहुत इच्छुक था और उसका सारा जीवन मुख्यतः अभियानों में ही बीता। जैसा कहा जा चुका है, उसने यशोवर्मन् के साथ मैत्री करके तिब्बतियों को हराया।

ललितादित्य

यशोवर्मन् की भाँति और सम्भवतः उन्हीं कारणों से उसने चीनी सम्राट के पास तिब्बतियों के विरुद्ध सहयोग प्राप्त करने के लिए राजदूत भेजे। दूतमंडल का सम्राट ने शानदार स्वागत किया और कश्मीर के राजा को अपना मित्र स्वीकार किया। फिर भी चीन से उसकी सहायता के लिए कोई सेना नहीं आयी। किन्तु बिना सहायता के भी

ललितादित्य ने न केवल तिब्बतियों को हराया वरन् दरद, काम्बोज और तुर्क आदि उत्तर और उत्तर-पश्चिमी सीमा पर बसने वाली पर्वतीय जातियों को भी परास्त किया।

किन्तु ललितादित्य का सबसे उल्लेखनीय अभियान यशोवर्मन् के विरुद्ध था, जिसका उल्लेख पहले हो चुका है। इस विजय से ललितादित्य न केवल कन्नौज का स्वामी बन गया वरन् अपने दिवंगत प्रतिद्वंदी द्वारा विजित विस्तृत प्रदेशों पर भी उसका सैद्धान्तिक रूपसे अधिकार हो गया। अपने इस अधिकार को पूर्णतः कार्यान्वित करने के निमित्त वह पूर्व की ओर बढ़ा था। उसने मगध, गौड़, कामरूप और कलिंग को रौंद डाला। उसके बाद वह दक्षिण के चालुक्यों की ओर बढ़ा; किन्तु यह कहना कठिन है कि दक्षिण में वह कितनी दूर तक जा सका और उसे उस दिशा में कितनी सफलता मिली। उसके बाद, जान पड़ता है, उसने मालवा और गुजरात को जीता और अपने देश के सीमावर्ती सिन्ध के अरबों को कहीं हराया। इन विस्तृत विजयों के फलस्वरूप कश्मीर के राज्य ने उस समय एक ऐसे शक्तिशाली साम्राज्य का रूप धारण कर लिया, जो गुप्तों के ह्रास के बाद अब तक देखने में न आया था। आश्चर्य नहीं कि शताब्दियों तक कश्मीरी लोग इस महान् सम्राट की विजयों का उत्सव मनाते रहे। उसे वे लोग चक्रवर्ती कहते थे, जो एक क्षम्य अतिरंजना है।

ललितादित्य ने अपने साम्राज्य के आर्थिक साधनों का उपयोग अपने राज्य में सुन्दर नगरों के बसाने और उन नगरों को सुन्दर भवनों, विहारों, मन्दिरों और देवमूर्तियों से सजाने में किया। उसका सबसे प्रसिद्ध कार्य मार्त्तण्ड मन्दिर है, जिसके खंडहर आज भी कश्मीर के प्राचीन वास्तु के सबसे भव्य अवशेष हैं।

राजतरंगिणी के लेखक कल्हण ने इस सुविख्यात शासक का भव्य चित्रण किया है। किन्तु इस महान् सम्राट के चरित्र पर दो घटनाएं लांछन लगाये बिना न रहीं। उसने एक बार शराब के नशे में प्रवरपुर नगर को जला देने का आदेश दिया किन्तु पीछे चलकर उसे इस पर पश्चात्ताप हुआ और यह जानकर उसे प्रसन्नता हुई कि उसके मंत्रियों ने इस संबंध में उसकी अवज्ञा की। दूसरी घटना अधिक गम्भीर है। उसने गौड़ (बंगाल) के राजा को कश्मीर बुलाया और विष्णु-परिहासकेशव की मूर्ति को साक्षी करके उसने उसकी सुरक्षा का वचन दिया। किन्तु हत्यारों द्वारा उसने उसे मरवा डाला। इस विश्वासघात के पीछे क्या उद्देश्य था, यह कहना कठिन है और उसके लिए उसे किसी प्रकार क्षमा नहीं किया जा सकता। इस कथा का अन्त अत्यन्त रोचक है। मारे गये राजा के कुछ भक्त साथी बंगाल से चल कर कश्मीर आये और जिस देवता को साक्षी बनाया गया था उसके

मन्दिर पर धावा किया। पुजारियों ने फाटक बन्द कर दिये किन्तु उन्होंने उन्हें जबरदस्ती खोल लिया। बंगाली वीर विष्णुराम-स्वामिन् की मूर्ति के पास पहुँचे और उसे परिहासकेशव की मूर्ति समझ कर उलट दिया और उसके टुकड़े-टुकड़े कर डाले। इसी बीच राजधानी से आयी हुई कश्मीरी सेना ने उन्हें मार डाला। गौड़ के इन देशभक्तों की सराहना कल्हण ने की है, जो उनके उपयुक्त ही है—"इस वीर-यात्रा को क्या कहूँ, जिसे उन्होंने पूरा किया; दिवंगत स्वामी के प्रति उस असीम भक्ति को क्या कहा जाय ? गौड़ों ने उस अवसर पर जो कुछ किया, उसे ब्रह्मा भी नहीं कर सकते। आज तक रामस्वामी का मन्दिर खाली है, जब कि उन गौड़ वीरों की ख्याति से संसार गुञ्जित है।"

ललितादित्य की मृत्यु ३६ वर्ष राज्य करने के पश्चात् ७६० ई० में हुई। उसके बाद कई निर्बल राजे हुए, जो वंश की शक्ति और सम्मान की रक्षा करने में असमर्थ रहे। ललितादित्य की पाँचवी पीढ़ी में होने वाले जयापीड़ ने खोयी हुई अधिसत्तात्मक शक्ति पुनः प्राप्त करने की यथाशक्ति चेष्टा की, किन्तु उसका कोई विशेष परिणाम न निकला।

ललितादित्य के उत्तराधिकारी

जिन दिनों कश्मीरी धीरे-धीरे पीछे पड़ते जा रहे थे, उत्तर भारत में दो नयी शक्तियों का प्रादुर्भाव हुआ, जो अधिक सफलता के साथ साम्राज्यत्व प्राप्त कर सकीं। ये दोनों राज्य पाल और गुर्जरों के थे; जिनके उत्थान, विकास और पतन की कहानी हमें प्रायः हिन्दू-काल के प्रभुत्व के अन्त तक ले जाती है। वस्तुतः ललितादित्य के राज्यकाल के अन्त से महमूद गजनी के आक्रमण तक का उत्तरी भारत का इतिहास मुख्यतः इन्हीं दो शक्तिशाली राज्यों का इतिहास है।

५. गुर्जर

गुर्जरों (आधुनिक गूजरों के पूर्वजों) का आरम्भिक इतिहास अज्ञात है। साधारणतः समझा जाता है कि सम्भवतः वे काफी बाद हूणों के साथ ५वीं शताब्दी के अन्त में भारत आये। गुर्जरों के नाम पर प्रख्यात नगर और प्रदेश पंजाब से होते हुए राजपूताना के बीच जोधपुर तक जाने के उनके क्रमिक बढ़ाव के द्योतक हैं। वहाँ, अरावली पहाड़ी के पश्चिम, उन्होंने अपना मुख्य उपनिवेश बनाया, जिसके कारण वह प्रदेश बहुत दिनों तक गुर्जरत्रा कहलाता रहा, जो गुजरात का प्राचीन रूप है। मुसलमानी काल के आरम्भ में राजपूताना नाम पड़ने से पूर्व वह इसी नाम से पुकारा जाता था। थानेश्वरनरेश प्रभाकरवर्धन ने उनके विरुद्ध युद्ध छेड़ा था, किन्तु उसे इसमें सफलता न मिली। जिन दिनों हर्षवर्धन ने उत्तरी भारत

में अपना साम्राज्य स्थापित किया, उन दिनों भी ये लोग स्वतन्त्र रूप से राज्य करते रहे। यह शासक-परिवार प्रतिहार जाति का था, इस कारण यह राजवंश गुर्जर-प्रतिहार के नाम से प्रसिद्ध है। जान पड़ता है कि गुर्जर लोग राजपूताना स्थित अपने इस उपनिवेश से पूरब और दक्षिण की ओर आगे बढ़े और इस वंश की एक शाखा भड़ौंच और दूसरी मालवा में राज्य करती रही।

६. अरबों द्वारा सिन्ध की विजय

गुर्जर-प्रतिहारों के राजपूताना में रहते डेढ़ शताब्दियाँ बीती होंगी कि पश्चिम में उनके प्रबल प्रतिद्वन्दी उठ खड़े हुए। ये लोग अरब थे। उन्होंने हजरत मुहम्मद से नये धर्म के साथ-साथ एक राष्ट्रीय चेतना और युद्ध-प्रियता ग्रहण की थी। वे धर्मान्धता की सीमा तक पहुँचे हुए अपने साहसी स्वभाव और उत्साह के कारण नये धर्म को फैलाने के लिए निकले और सारे संसार में सैनिक विजय करते फिरे। वस्तुतः उन्होंने आश्चर्य कर दिखाया। हजरत मुहम्मद की मृत्यु के छह वर्षों के भीतर ही उन्होंने सीरिया और मिस्र जीत लिया। इसके शीघ्र ही बाद अफ्रीका का उत्तरी किनारा, स्पेन और फ़ारस उनके हाथों पड़ गये और शताब्दी बीतते बीतते खलीफा (हजरत के उत्तराधिकारी इसी नाम से पुकारे जाते थे) का साम्राज्य फ्रांस में लायर से लेकर वंक्षु और काबुल नदी तक फैल गया।

सिन्ध पर आरम्भिक हमले

इस प्रकार के ये भयंकर लोग भारत की सीमा तक पहुँच गये थे और उनकी ललचायी आँखें उसके मैदानों और नगरों पर पड़ीं। उन्होंने जल और थल मार्ग से लूट के निमित्त भारत पर अनेक धावे किये, किन्तु ७१२ ई० तक उन्हें कोई विशेष सफलता न मिली। इसी समय सिंहल-नरेश ने ईराक के शासक हज्जाज के पास कुछ ऐसी स्त्रियाँ भेजीं, जो उसके देश में मुसलमान के रूप में जन्मी थीं। उनके पिता व्यापारी थे और वहाँ मर गये थे। किन्तु जिस जहाज में ये लोग जा रही थीं उसे सिन्ध के बन्दर देवल के समुद्री डाकुओं ने लूट लिया। इस पर हज्जाज ने सिन्ध के राजा दाहर को उन स्त्रियों को मुक्त कर देने के लिए लिखा; किन्तु दाहर ने यह कह कर असमर्थता प्रकट की कि उन्हें पकड़ रखनेवाले डाकुओं पर उसका कोई वश नहीं है। हज्जाज ने इसे सिन्ध के विरुद्ध युद्ध करने का उचित कारण मान लिया और इस्लाम की शक्ति की उपेक्षा करनेवाले देश को जीतने की पूरी और नये सिरे से तैयारी करने का निश्चय किया। पहले तो खलीफा ने इस खतरनाक युद्ध की मंजूरी देने में अनिच्छा दिखाई, किन्तु पीछे हज्जाज के निरन्तर आग्रह पर स्वीकृति दे दी। स्वीकृति मिलने पर हज्जाज ने उबैदुल्ला को देवल पर आक्रमण करने के

लिए भेजा, किन्तु वह पराजित हुआ और मारा गया। तब एक दूसरा अभियान ओमन से समुद्र के रास्ते बुदैल के नेतृत्व में आया। बुदैल को मुहम्मद इब्न हारून से सैनिक सहायता मिली और वह देवल की ओर बढ़ा। दाहर ने खबर पाकर अपने बेटे जयसिंह के नेतृत्व में देवल की रक्षा के निमित्त सेना भेजी। सारे दिन जमकर लड़ाई हुई। अन्त में मुसलमान सेना पराजित हुई और बुदैल मारा गया।

तब खलीफा वालिद से आवश्यक आज्ञा ले कर हज्जाज ने सिन्ध पर आक्रमण करने की विस्तृत तैयारी की। अपने भतीजे और दामाद मुहम्मद इब्न कासिम को अभियान का सेनापति बनाया और उसे बहुत बड़ी संख्या में सिपाही और हथियार आदि दिये। खलीफ़ा से उसने छः हजार सशस्त्र सीरियायी सिपाही माँगकर लिये। सिन्ध का छोटा सा राज्य इतनी बड़ी और सुसंघटित सेना का सफल प्रतिरोध करने की स्थिति में न था। फिर भी दाहर ने बहादुरी के साथ उनका सामना किया। मुहम्मद ने पहले देवल, नेरुन, सिविस्तान और कुछ अन्य गढ़ जीते। चचनामा के अनुसार इन लड़ाइयों में विश्वासघात का, विशेषतः बौद्धों द्वारा, कुछ कम भाग न था। मुहम्मद का सामना रावड़ के दुर्ग के सामने दाहर और उसकी मुख्य सेना के साथ हुआ। दाहर दो दिनों तक बहादुरी के साथ लड़ता रहा पर एक छोटी सी दुर्भाग्यपूर्ण घटना के कारण तत्काल ही उसका भाग्यनिर्णय हो गया। मुस्लिम सेना परास्त की जा चुकी थी और दाहर की विजय होने ही वाली थी कि उसका हाथी घायल होकर युद्धस्थल से भागा। राजा के न दिखाई पड़ने से उसकी सेना में आतंक और गड़बड़ी मच गयी। राजा घायल होते हुए भी थोड़ी देर बाद युद्ध-स्थल को लौटा किन्तु स्थिति सभाँल में न आयी। दाहर जी तोड़कर लड़ा और शत्रुओं के बीच वीरता के साथ लड़ता हुआ मारा गया।

विधवा रानी ने बची हुई सेना को एकत्र किया और अपूर्व वीरता के साथ उस समय तक दुर्ग की रक्षा करती रही जबतक सभी सामग्रियाँ न चुक गईं। इसके बाद एक विचित्र दृश्य उपस्थित हुआ, जो प्राचीन और अर्वाचीन संसार के इतिहास में अद्वितीय है किन्तु बाद के भारत में घटने वाली घटनाओं की पूर्ववर्ती है। मौत अथवा अपमान का प्रश्न नगर के स्त्री-पुरुषों के सामने था। उन्होंने मौत को चुना और आँगन में आग जला दी गयी। स्त्रियों ने अच्छी तरह शृंगार कर अपने पतियों और संबंधियों से विदा ली और हँसती हुई अपने बच्चों के साथ आग में कूद पड़ीं। पुरुष लोग शान्ति के साथ अपने निकट सम्बन्धियों और प्रेमियो को इस प्रकार आग में जलते हुए देखते रहे। पश्चात् दुर्ग का फाटक खोल दिया गया और हाथ में तलवार लेकर वे शत्रुओं के बीच कूद पड़े। मुसलमान सिपाही उस दिन की याद बहुत दिनों तक करते रहे, जब कि थोड़े से भारतीय मरता क्या

न करता वाले साहस के साथ वीरतापूर्वक लड़ते लड़ते एक एक कर मारे गये। उनका उत्साह अतिशय था। जब विजयी मुसलमान सेनापति ने राजधानी में प्रवेश किया तो बुझती हुई अंगारों की लौ ने वीरतापूर्ण त्याग की उस भयंकर कहानी को सुनाया जो जौहर के नाम से प्रसिद्ध हुई।

दाहर के बेटे जयसिंह ने बहमनाबाद और राजधानी के नगर अलोर की मजबूत किलेबन्दी की और स्वयं सेना लेकर शत्रु को तंग करने और उनकी रसद के रास्ते काट देने के लिए आगे बढ़ा। मुहम्मद ने बहमनाबाद को घेर लिया। 'प्रतिदिन घिरे हुए लोग बाहर निकलते और युद्ध करते। यह भयंकर लड़ाई सुबह से शाम तक चलती रहती।' यद्यपि घिरे हुए लोगों ने छह मास तक वीरता के साथ युद्ध किया, किन्तु कुछ प्रमुख नागरिकों के विश्वासघात के फलस्वरूप दुर्ग मुसलमान सेनापति के हाथ लग गया। इसके बाद उसने एलोर पर घेरा डाला। दाहर के दूसरे बेटे फोफी ने कुछ दिनों तक राजधानी की रक्षा की। जब नागरिकों ने मुहम्मद के साथ सन्धि करने की इच्छा की तब वह अपनी सेना लेकर हट गया। अलोर के पतन और कुछ अन्य किलों की विजय के पश्चात् मुहम्मद मुलतान की ओर बढ़ा। वहाँ की जनता ने बहादुरी के साथ दो मास तक प्रतिरोध किया। एक विश्वासघाती ने मुहम्मद को नगर में पानी आने का साधन बता दिया और मुहम्मद ने उसे काट दिया। फलतः मुलतान नगर आत्मसमर्पण करने के लिये विवश हो गया।

इसके थोड़े ही दिनों बाद ७१४ ई० में हज्जाज की और ७१५ ई० में खलीफा वालिद की मृत्यु हो गई और मुहम्मद के बुरे दिन आ गये। नया खलीफा सुलेमान और ईराक के शासक दोनों ही हज्जाज के घोर शत्रु थे। मुहम्मद इब्न कासिम भारत से वापस बुलाया गया और उसे हज्जाज के अन्य अनेक समर्थकों के साथ फाँसी दे दी गयी।

चचनामा के अनुसार मुहम्मद मुलतान से कश्मीर की सीमा की ओर बढ़ा था और साथ ही साथ एक फौज कन्नौज भी भेजी थी। उसमें लिखा है कि दाहर की दो कुमारी बेटियाँ कैदी बनाकर खलीफा वालिद के पास भेजी गयी थीं। उन्हीं के कारण मुहम्मद इब्न कासिम मारा गया। उन्होंने उस पर दोषारोपण किया कि खलीफा के पास भेजने के पूर्व उसने उन्हें भ्रष्ट किया है। किंतु यह कहानी विश्वसनीय नहीं जान पड़ती।

इस प्रकार भारत में अरब-प्रभुत्व का श्रीगणेश हुआ। आश्चर्य इस बात पर होता है कि विजयी सेनाएँ केवल सिंध से ही संतुष्ट क्यों रहीं और भारत के भीतरी भागों में वे सेनाएँ क्यों नहीं घुसीं। वे संसार के विजेता भारत के द्वार पर ही रुक गये और उन्होंने जो कुछ भी जीता उसे भी वे अपने कब्जे में न रख सके। परन्तु इसके

असली कारण को आसानी से समझा जा सकता है। कहा जा चुका है कि कश्मीर नरेश ललितादित्य ने अरब सेना के विरुद्ध विजय प्राप्त की थी। अतः यह उचित ही अनुमान किया जाता है कि कश्मीर की सेनाओं ने उस समय उनका आगे बढ़ना रोक दिया। इसके अतिरिक्त यह निर्विवाद है कि आरम्भ से ही गुर्जर इस्लाम के सैनिकों के विरुद्ध भारत की रक्षा में अगुआ और तत्पर रहे। अरब सरकार अपना राज्य भारत के भीतरी भागों में बढ़ाने को उत्सुक थी, यह इसी बात से जान पड़ता है कि उसने समय २ पर अपनी सेनाएँ इस काम के लिए भेजीं। उनका सबसे भयंकर अभियान लगभग ७२५ ई० में हुआ। उस समय मुसलमानों ने कच्छ, काठियावाड़ प्रायद्वीप, उत्तरी गुजरात और दक्षिणी राजपूताना तक रौंद डाला और सम्भवतः मालवा की ओर भी बढ़े। ऐसा जान पड़ा कि समस्त उत्तर और दक्षिणी भारत उनकी मुट्ठी में समा जायेगा। किन्तु उत्तरी भारत की रक्षा गुर्जर की प्रतिहार वंश के एक शासक ने की और दक्षिण के द्वार का प्रतिरोध बादामी के चालुक्य राजा की सेना ने किया। इस सेना का नेतृत्व उसका उपरिक अवनिजनाश्रय पुलकेशिराज कर रहा था। उसे उसके राजा ने 'दक्षिणापथ के लोह स्तम्भ' और 'अजय विजेता' की उपाधि दी।

जिस प्रतिहारनरेश ने उत्तरी भारत की रक्षा की उसका नाम नागभट्ट था। वह ८ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में अवन्ति (वर्तमान मालवा) का शासक था।

गुर्जरों की आरंभिक सफलता

अरबों पर विजय पाने के कारण उसकी शक्ति और सम्मान निश्चय ही काफी बढ़ गया होगा। उसने अरबों द्वारा जीते गये अनेक छोटे छोटे प्रदेशों को अपने राज्य में मिला लिया। इसके बाद उसके दो भतीजे कक्कुक और देवराज गद्दी पर बैठे। तत्पश्चात् देवराज का बेटा वत्सराज राजा हुआ। वत्सराज ७८३ ई० में राज्य करता पाया गया है। वह बहुत ही शक्तिशाली राजा था। उसने उत्तरी भारत में दूर दूर तक विजय करके प्रतिहार राज्य को संघटित किया और अपना एकछत्र प्रभुत्व स्थापित कर लिया। यहां तक कि उसने गौड़ अथवा बंगाल के राजा पर भी आसानी से विजय प्राप्त करने का दावा किया है। किन्तु एक अदृष्ट घटना के फलस्वरूप उसका पुरस्कार उसके हाथ से आते २ निकल गया। इस घटना की चर्चा करने से पूर्व बङ्गाल की अवस्था का उल्लेख करना उचित होगा, जो प्रतिहार-नरेश के हाथ सरलता से लग गया था।

७. पालों का उदय

शशांक की मृत्यु के पश्चात् बङ्गाल की समस्त राजनीतिक एकता नष्ट हो गयी थी। ऊपर हम देख चुके हैं कि उसे हर्षवर्धन और कामरूप के भास्करवर्मन् ने

बङ्गाल की दुरवस्था

जीत लिया था। आठवीं शताब्दी के आरम्भ में शैलवंश का एका राजा पौंड्र अर्थात् उत्तरी बङ्गाल का शासक बन बैठा। इसके बाद यशोवर्मन् और ललितादित्य के धावे हुए, जिनकी चर्चा पहले की जा चुकी है। ८वीं शताब्दी के मध्य में हर्ष नामक सम्भवतः कामरूप के एक अन्य राजा ने इस प्रदेश को जीता।

इस प्रकार बार २ के बाहरी आक्रमणों के कारण वहाँ अव्यवस्था और अराजकता फैल गयी। वहाँ कोई केन्द्रीय अधिकार न था। प्रत्येक जमींदार ने अपनी स्वतन्त्र रियासत कायम कर ली थी। जिसकी लाठी उसकी भैंस की कहावत उस समय चरितार्थ होने लगी थी और तलवार के निर्णय अन्तिम साबित होते थे। निदान बङ्गाल की जनता अराजक राज्य की सभी तकलीफों से परेशान हो उठी। किन्तु इस बुराई की दवा भी अपने आप निकल आयी। वे रजवाड़े इस अवस्था को अधिक दिनों तक न संभाल सके और उन्होंने सारे राज्य के राजा के रूप में गोपाल को शासक चुनना स्वीकार किया। खेद है कि इस आत्मत्याग और राजनीतिक दूरदर्शिता के विस्तृत वर्णन अप्राप्य हैं। इसे देख कर हमें एक हाल की जापान की घटना का स्मरण हो आता है, जब अर्धस्वतन्त्र सामन्तों ने अपना अधिकार मिकाडो को सौंप दिया और इस प्रकार अपने देश को शक्तिशाली बनाया जो ७५ वर्षों तक संसार में प्रथम श्रेणी के राष्ट्रों में गिना जाता रहा। बङ्गाल की घटना जापान की घटना के समान ही थी या नहीं, हम नहीं कह सकते, परन्तु दोनों का परिणाम समान रूप से उल्लेखनीय है। गोपाल ने बङ्गाल के राज्य को हिमालय से लेकर समुद्र तक संघटित किया और डेढ़ शताब्दियों की अराजकता और कुराज्य के पश्चात् शान्ति और समृद्धि स्थापित की। इन डेढ़ सौ वर्षों में देश दुख और पतन की चरम सीमा तक पहुंच गया था। गोपाल और उसके उत्तराधिकारियों के नाम पालान्त हैं, इसलिए उसका वंश इतिहास में पाल वंश कहा जाता है। उसके राज्यारोहण की तिथि निश्चत रूप से ज्ञात नहीं है; किन्तु वह ८वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ होगा। उसकी मृत्यु ७८० ई० में हुई और वह अपने बेटे धर्मपाल के लिये एक फूलता-फलता राज्य छोड़ गया, जिसके भाग्य में महत्ता और शान की उस चरम सीमा तक पहुँचना लिखा था जिसकी कल्पना भी पहले न की जा सकी थी।

बङ्गाल के सभी राजाओं में धर्मपाल निःसंदेह सबसे महान् था और उत्तरी भारत में उसने अपनी स्थिति सबसे बढ़कर कायम की। उसका प्रायः सारा जीवन

धर्मपाल

सैनिक अभियानों में ही बीता और वह हिमालय में केदार तक गया। उसका जीवन सफलताओं और असफलताओं से मिश्रित था। उसे गुर्जरों और राष्ट्रकूट राजाओं से हार खानी पड़ी

जिसका उल्लेख आगे किया जायेगा, किन्तु इस हार को झेलते हुए भी उसने एक साम्राज्य की स्थापना की, जो उत्तरी भारत में काफी दूर तक विस्तृत था। उसके राज्य के अधिकांश वृत्तान्त खालिमपुर से मिले एक ताम्र-पत्र पर अंकित हैं। सौभाग्य से उसके उत्तरी भारत के प्रभुत्व की बात एक साहित्यिक ग्रन्थ से भी ज्ञात होती है, जिसकी रचना ११वीं शताब्दी में हुई थी। उसमें उसका उल्लेख उत्तरापथ के स्वामी के रूप से हुआ है।

धर्मपाल ने सम्राट पद की उपाधियाँ धारण कर ३२ वर्षों से अधिक काल तक राज्य किया। पाल लोग बौद्ध थे और धर्मपाल बौद्ध धर्म का महान् आश्रय-दाता और संरक्षक था। उसने अनेक बौद्ध विहार बनवाये किन्तु उसका सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य विक्रमशिला विश्वविद्यालय की स्थापना थी, जो शीघ्र ही नालन्दा की प्रतियोगिता करने लगा था।

चौथा अध्याय

राष्ट्रकूटों के उदय तक दक्षिण का इतिहास

उत्तर भारत की भाँति दक्षिणमें भी एक सम्राटवंश के पतन से स्वतन्त्र प्रान्तीय शक्तियों को नया जीवन मिल गया। अस्तु, तीसरी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में सातवाहन वंश के अन्त होने पर दक्षिणी पठार एवं दक्षिणी प्रायद्वीप में अनेक स्वतन्त्र राज्य उठ खड़े हुए। लगभग तीन शताब्दियों तक नर्मदा के दक्षिण का सारा देश असंख्य छोटे-छोटे राज्यों में बँटा था। उन सबका उल्लेख सम्भव नहीं है।

दक्षिण के विभिन्न राज्य

इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण पल्लव थे, जिन्होंने तीसरी अथवा चौथी शताब्दी में तोंडईमण्डलम् (कांची के आस-पास का प्रदेश) में राजनीतिक महत्ता प्राप्त की, और शीघ्र ही वे दक्षिण भारतीय प्रायद्वीप को प्रधान शक्ति बन गये। उनकी यह स्थिति एक अन्य बड़ी शक्ति, मदुरा के पाण्डय लोगों, के साथ १० वीं शताब्दी तक बनी रही। इन राज्यों तथा गंग और कदम्ब सरीखे कुछ अन्य राज्यों के इतिहास की चर्चा, जो क्रमशः मैसूर और उसके उत्तर तथा उत्तर-पश्चिम के प्रदेशों में बढ़े, विस्तार के साथ आगे के एक अध्याय में की जायेगी। यहाँ हम केवल दक्षिण अर्थात् कृष्णा के उत्तर के प्रदेश तक ही अपने को सीमित रखेंगे।

१. वाकाटक

(अ) आरम्भिक इतिहास

सातवाहनों के पतन के पश्चात् दक्षिण में उठने वाली शक्तियों में सबसे शक्तिशाली वाकाटक थे। इस वंश के संस्थापक विन्ध्यशक्ति के संबंध में कुछ अधिक ज्ञात नहीं। यह भी पता नहीं कि वह किस प्रदेश का रहने वाला था। अतः कुछ लोग वाकाटकों का आरम्भिक निवास स्थान मालवा बताते हैं और अन्य लोग दक्षिणापथ का दक्षिणी भाग। किन्तु सम्भवतः मध्य प्रदेश ही उनका मूल स्थान था। क्योंकि यहीं से उनके अधिकांश अभिलेख प्राप्त हुए हैं। विन्ध्यशक्ति ब्राह्मण था और पुराणों के अनुसार उसने ९६ वर्षों तक राज्य किया। इस अवधि

विन्ध्यशक्ति

में भूल जान पड़ती है और सम्भवतः यह राज्य की अपेक्षा उसके जीवन-काल को व्यक्त करती है। वह सम्भवतः तीसरी शताब्दी के तृतीय चरण में हुआ।

वंश की महत्ता का वास्तविक संस्थापक विन्ध्यशक्ति का बेटा और उत्तराधिकारी प्रवरसेन था, जिसके उज्ज्वल कार्यों का उल्लेख उसके उत्तराधिकारियों के अभिलेखों में हुआ है। वह महान् विजेता था और उसने अपने राज्य का चतुर्दिक् विस्तार किया। वाकाटक शासकों में वही एकमात्र शासक है, जिसे सम्राट की उपाधि दी गयी है और निःसंदेह वह उसका पात्र था। भले ही कुछ विद्वानों के इस कथन को कि वाकाटक साम्राज्य के अन्तर्गत उत्तरी भारत का अधिकांश भाग और समूचा दक्षिणापथ सम्मिलित था हम हंसी में उड़ा दें, किन्तु इसमें तो सन्देह ही नहीं कि प्रवरसेन का राज्य उत्तर में बुंदेलखंड से लेकर दक्षिण में हैदराबाद तक विस्तृत था। कहा जाता है कि प्रवरसेन ने अनेक वैदिक यज्ञ किये जिनमें चार अश्वमेध थे। उसने अपने लड़के गौतमीपुत्र का विवाह शक्तिशाली भारशिव वंश के शासक भवनाग की बेटी से किया। बहुत सम्भव है कि इस विवाह-संबंध के परिणामस्वरूप उसे अपनी राजनीतिक शक्ति बढ़ाने में सहायता मिली हो। पुराणों के अनुसार उसने ६० वर्षों तक राज्य किया। सम्भवतः उसकी मृत्यु ३३० ई० में हुई।

प्रवरसेन

प्रवरसेन की मृत्यु के पश्चात् उसका साम्राज्य कम से कम दो भागों में विभक्त हो गया। उसका बड़ा लड़का गौतमीपुत्र सम्भवतः उसी के सामने मर गया था। जो भी हो, उसने राज्य नहीं किया। गौतमीपुत्र का बेटा रुद्रसेन प्रथम अपने पितामह का उत्तराधिकारी हुआ और वह अपने वंश की उस मुख्य शाखा का संस्थापक कहा जाता है, जिसकी नागपुर से २२ मील दूर रामटेक पहाड़ी के निकट नन्दिवर्धन में राजधानी थी। प्रवरसेन का दूसरा बेटा सर्वसेन साम्राज्य के पश्चिमी भाग पर राज्य करता था और उसकी राजधानी वत्सगुल्म (बरार के अकोला जिले में स्थित आधुनिक बासिम) थी।

(ब) मुख्य शाखा

रुद्रसेन प्रथम और उसके बेटे पृथ्वीसेन प्रथम के संबंध में कुछ अधिक ज्ञात नहीं है। पृथ्वीसेन का राज्य बुन्देलखंड तक फैला हुआ था, किन्तु अधिक दिनों तक वह उसके अधीन न रह सका। उस प्रदेश को समुद्रगुप्त ने जीत लिया। किन्तु आश्चर्य है कि प्रयाग-प्रशस्ति में गुप्त सम्राट की विजयों के उल्लेख में वाकाटकों का नाम नहीं है। जान पड़ता है कि उसने जानबूझकर वाकाटक राज्य से बचने की कोशिश की, यद्यपि दक्षिण के सुप्रसिद्ध अभियान में वह

उसकी सीमा से हो कर गया होगा। इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि जिन दिनों चन्द्रगुप्त प्रथम ने अपने साम्राज्य की नींव डाली, वाकाटक लोग गुप्तों से अधिक शक्तिशाली थे। यह स्वाभाविक है कि दो ऐसे बढ़ते हुए आक्रमणकारी साम्राज्य-निर्माताओं का परस्पर संघर्ष हो। किन्तु दोनों के बीच किसी प्रकार के पारस्परिक संघर्ष का कोई प्रमाण ज्ञात नहीं है। हाँ, कुछ लोगों का यह असम्भव सुझाव है कि समुद्रगुप्त द्वारा समाप्त किये जाने वाले उत्तर भारत के नौ राजाओं में जिस रुद्रदेव का नाम है वह वाकाटक नरेश रुद्रसेन प्रथम ही था। रुद्रसेन प्रथम को आर्यावर्त्त (उत्तर भारत) के राजाओं में गिनने का कोई सबल कारण नहीं जान पड़ता। सम्भवतः उसके छोटे से सीमान्त जिले को छोड़कर उसके साम्राज्य का कोई भाग गुप्त साम्राज्य में नहीं सम्मिलित किया गया, जैसा कि प्रशस्ति के अनुसार होना चाहिए। इसके अलावे अगर समुद्रगुप्त ने शक्तिशाली वाकाटक सम्राट को पराजित किया होता तो निश्चय ही इस बात का विशेष रूप से प्रशस्ति में उल्लेख हुआ होता। किन्तु इस प्रस्तावित पहचान के विरुद्ध यह सर्वमान्य बात है कि रुद्रसेन के पौत्र रुद्रसेन द्वितीय ने चन्द्रगुप्त द्वितीय की पुत्री प्रभावती-गुप्ता से विवाह किया था। बुद्धिसंगत तो यह है कि पृथ्वीसेन प्रथम ने अपने बेटे का विवाह अपने पिता के हत्यारे की पौत्री से कभी न किया होता। अतः यह बात बुद्धिग्राह्य है कि चौथी शताब्दी की उन दोनों महान् राजनीतिक शक्तियों ने अपना प्रभाव क्षेत्र परस्पर निर्धारित कर लिया था और उसे वैवाहिक संबंध द्वारा पक्का कर लिया था।

प्रमाणों से वस्तुस्थिति यह जान पड़ती है कि थोड़े ही दिनों में गुप्तों की बढ़ती हुई शक्ति के साथ वाकाटकों की स्थिति धीरे-धीरे करद मित्रों की सी होती गयी और वे गुप्त सम्राट के प्रभाव में हो गये। सम्भवतः इसी से यह स्पष्ट होता है कि रुद्रसेन द्वितीय, जिसके पूर्वज शैव थे, अपने ससुर की भाँति वैष्णव हो गया। रुद्रसेन द्वितीय की मृत्यु के पश्चात् जब शासनव्यवस्था प्रभावती-गुप्ता अपने ऊनवयस्क पुत्र दिवाकरसेन की अभिभाविका के रूप में कर रही थी, गुप्तों का प्रभाव और भी अधिक बढ़ा।

गद्दी पर बैठने से पूर्व ही दिवाकरसेन की मृत्यु हो गयी और उसके पश्चात् उसके दो भाइयों-दामोदर सेन और प्रवरसेन द्वितीय, ने गद्दी धारण की।[1] विधवा

---

१ साधारणतः ये दोनों व्यक्ति एक ही माने जाते हैं, किन्तु देखिये—जर्नल ऑफ दि एशियाटिक सोसाइटी ऑफ् बेंगाल, भाग ४२, पृष्ठ ३

प्रवरसेन द्वितीय

राजमाता प्रभावतीगुप्ता १०० वर्षों से अधिक काल तक जीवित रही और उसे यदि तीन नहीं तो कम से कम अपने दो बेटों की अपने सामने मृत्यु का दुःख सहना पड़ा। प्रवरसेन द्वितीय ने अपनी राजधानी प्रवरपुर बदल दी, जो सम्भवतः उसके नाम पर ही और उसी के द्वारा स्थापित हुई थी। उसे सामान्यतः लोग सेतुबन्ध काव्य का रचयिता कवि राजा प्रवरसेन मानते हैं, पर यह बात सर्वमान्य नहीं है। यह काव्य महाराष्ट्री प्राकृत में लिखा गया है। कुछ लोगों का कहना है कि उसकी शिक्षा की देख-रेख के लिए उसके नाना चन्द्रगुप्त ने सुप्रसिद्ध कवि कालिदास को नियुक्त किया था। वाकाटक राजधानी के रामटेक पर्वत के, जो कालिदास के सुप्रसिद्ध काव्य मेघदूत में वर्णित रामगिरि ही है, निकट होने से इस विश्वास में कुछ सत्यता जान पड़ती है, किन्तु कालिदास संबंधी अनेकदंत कथाओं की भाँति इसे भी प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता।

प्रवरसेन द्वितीय के बाद उसका बेटा नरेन्द्रसेन गद्दी पर बैठा। उसके राजकीय अभिलेखों के अनुसार उसका शासन कोशल, मेकल और मालव नरेशों को

नरेन्द्रसेन

मान्य था। कोशल का तात्पर्य आधुनिक छत्तीसगढ़ कमिश्नरी से है और मेकल अमरकन्टक के निकट का प्रदेश था। जान यह पड़ता है कि गुप्त शक्ति के ह्रास का लाभ उठाकर संभवतः नरेन्द्रसेन ने अपनी शक्ति मध्य भारत और मालवा में बढ़ाने का साहस किया। उसे चाहे जो भी सफलता मिली हो, वह क्षणिक थी और वाकाटक राज्य पर शीघ्र ही कोई बड़ी विपत्ति आयी। नरेन्द्रसेन के बेटे और उत्तराधिकारी पृथ्वी-षेणने अपने वंश की गिरती हुई स्थिति को दो बार उठाने की बात कही है। सम्भवतः यह विपत्ति इस समय तक काफी शक्तिशाली हो जाने वाली वत्सगुल्म शाखा के वाकाटक राज्य के आक्रमण के कारण आयी थी। जो भी हो, पृथ्वीषेण द्वितीय वाकाटक वंश की मुख्य शाखा का अंतिम शासक था। उसका राज्यकाल निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है, किन्तु उसे हम छठीं शताब्दी के प्रथम चरण में रख सकते हैं।

(स) वत्सगुल्म शाखा

सर्वसेन के बेटे धर्ममहाराज विन्ध्यशक्ति द्वितीय ने ३७ वर्षों या कुछ अधिक काल तक राज्य किया और उसके राज्य के अन्तर्गत बरार का दक्षिणी भाग, हैदराबाद राज्य का उत्तरी हिस्सा और संभवतः उसके आस पास के कुछ प्रदेश सम्मिलित थे। यदि उसके भाई ने नहीं, तो स्वयं उसने कुन्तल नरेश को हराने का दावा किया है। यह प्रदेश बनवासी के आसपास था और वहाँ कदम्बों का राज्य

था। इस वंश का सबसे उल्लेखनीय राजा विन्ध्यशक्ति द्वितीय से चौथी पीढ़ी में हरिषेण हुआ। राजकीय लेखों में उन देशों की एक लम्बी तालिका दी हुई है, जिन पर हरिषेण का प्रभाव था। इस सूची में मध्य प्रदेश का पूर्वी भाग, दक्षिणापथ का सारा पूर्वी समुद्री भाग, मध्य-भारत, मालवा, दक्षिणी गुजरात, कोंकण और उत्तरी कलोज भी सम्मिलित है। यह मानना कठिन है कि हरिषेण ने इस विस्तृत क्षेत्र को जीता अथवा उस पर उसका कोई सक्रिय नियन्त्रण था। किन्तु वह एक शक्तिशाली राजा अवश्य जान पड़ता है, जिसने पड़ोसी प्रदेशों को जीत लिया था। उनमें सम्भवतः मुख्य शाखा के भी क्षेत्र थे।

५५० ई० से कुछ पूर्व समाप्त होने वाले हरिषेण के शासन काल के पश्चात् वाकाटक वंश की दोनों शाखाओं में किसी के भी सम्बन्ध में कुछ ज्ञात नहीं है। वाकाटक शक्ति किस प्रकार समाप्त हुई, निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है। किन्तु यह महत्व की बात है कि वाकाटकों का उन राज्यों में उल्लेख नहीं पाया जाता, जिन्हें छठीं शताब्दी के तृतीय चरण में चालुक्यों ने दक्षिण पर अपना प्रभुत्व जमाने से पूर्व पराजित किया था।

२. चालुक्य

कुछ लोग चालुक्यों को किसी मूल कन्नड़ वंश का मानते हैं, किन्तु सम्भवतः इतिहास के किसी अज्ञात काल में वे उत्तर से दक्षिण भारत आये थे। उनका कहना है कि बहुत दिनों तक उनका अयोध्या पर राज्य था। किन्तु

उनकी उत्पत्ति

इसे एक ऐतिहासिक तथ्य नहीं माना जा सकता। इतना निश्चित है कि ५४० ई० के लगभग पुलकेशि[1] नामक उनके एक नेता ने वातापिपुर (बीजापुर जिले में बादामी) के आस पास एक छोटा सा राज्य स्थापित किया और उसे अपनी राजधानी बनाया। पुलकेशि ने अश्वमेध और अन्य यज्ञ किये थे। उसके बाद गद्दी पर बैठनेवाले उसके बेटे भी महान् विजेता हुए। बड़े बेटे कीर्त्तिवर्मन् (५६६ से ५६७ ई०) ने कदम्बों को हरा कर उनके राज्य का कुछ अंश अपने राज्य में मिला लिया, पश्चात् उसने मौर्यों और नलों को भी हराया, जो क्रमशः उत्तर में कोंकण और दक्षिण में बेल्लारी और कुर्नूल जिलों में राज्य करते थे। उत्तर में बंगाल और बिहार और दक्षिण में चोल और पाण्ड्य सदृश सुदूर राज्यों के जीतने का श्रेय भी उसे दिया जाता है, किन्तु यह कहना कठिन है कि इस अतिशयोक्तिपूर्ण कथन में कितनी सत्यता है। छोटे बेटे मंग-

---

१. इसे लोगों ने पुलकेशिन् भी लिखा है। इसी प्रकार इसके वंश का नाम भी चलिक्य, चलुक्य अथवा चालुक्य आदि विभिन्न रूपों में लिखा पाया जाता है।

लेश ने कलचुरियों को हराकर अपने राज्य की सीमा माही नदी तक बढ़ायी। इस प्रकार उसके राज्य में माही नदी के दक्षिण वर्तमान बम्बई राज्य का सपूचा प्रदेश था।

मंगलेश अपने बेटों में से किसी एक को गद्दी पर बैठाना चाहता था, किन्तु कीर्तिवर्मन् के बेटे पुलकेशि द्वितीय ने अपना वैध अधिकार उपस्थित किया; फलतः गृहयुद्ध हुआ और मंगलेश पराजित होकर मारा गया। पुलकेशि *पुलकेशि द्वितीय* गद्दी पर बैठा (६१०-६११)। किन्तु आन्तरिक अव्यवस्था के कारण नवविजित प्रदेशों में विद्रोह के चिन्ह प्रकट होने लगे। इससे भी बुरी बात यह थी कि चालुक्यों के राज्य पर एक दूसरे राज्य का आक्रमण हुआ। पुलकेशि द्वितीय की बहादुरी और नेतृत्व को इस बात का बहुत बड़ा श्रेय दिया जा सकता है कि उसने न केवल इन कठिनाइयों पर विजय पायी और विद्रोही प्रदेशों पर अपना प्रभुत्व पुनः स्थापित किया, वरन् उत्तर और दक्षिण में दूर-दूर तक विजयें भी कीं। इन विजयों का विस्तृत वर्णन और चालुक्यों का आरम्भिक इतिहास अइहोल के एक जैन मंदिर की भित्ति पर अंकित अभिलेख में दिया हुआ है, जो ६३४-३५ ई० में लिखा गया था।[१] इस प्रशस्ति को रविकीर्ति नामक किसी जैन कवि ने रचा था जो अपने को भारवि और कालिदास के समान बताता है। अभी तक यही प्राचीनतम तिथियुक्त ज्ञात लेख है, जिसमें कालिदास का नामोल्लेख पाया जाता है।

इस लेख से ज्ञात होता है कि पुलकेशि द्वितीय ने दक्षिण में कदम्बों की राजधानी बनवासी पर अधिकार कर लिया और मैसूर के गंगों को हराया था। उत्तर में उसने कोंकण के मौर्यों को हराकर नौ-सैनिक आक्रमण द्वारा पुरी (बम्बई के निकट एलिफेन्टा) के नवद्वीप नगर पर अधिकार कर लिया था। वह नगर संभवतः मौर्यों की राजधानी थी। और भी उत्तर में उसने लाट, मालव और गुर्जरों को अर्थात् मालवा और गुजरात प्रदेश के कुछ भागों को जीता था।

जिन दिनों पुलकेशि दक्षिणापथ में अपनी प्रभुता स्थापित कर पश्चिम भारत पर आक्रमण कर रहा था, उत्तरी भारत में हर्षवर्धन अपना साम्राज्य संघटित करने में लगा था। दोनों साम्राज्य की महत्वाकांक्षा से प्रेरित थे और उनमें कभी न कभी संघर्ष होना अवश्यंभावी था। अइहोल अभिलेख और ह्वेन-सांग के विवरण—दोनों से ही ज्ञात होता है कि हर्षवर्धन को पुलकेशि ने हराया था। यह निर्णायक युद्ध था, जिसने हर्ष को दक्षिण में अपनी शक्ति बढ़ाने से रोक दिया। इस युद्ध का समय और स्थान अज्ञात है। कुछ लोग इस युद्ध को पुलकेशि के राज्यारोहण के दो तीन

१. एपिग्रैफ़िया इण्डिका, भाग ६, पृष्ठ १।

वर्ष बाद ही ६१२ अथवा ६१३ ई० में हुआ मानते हैं, किन्तु यह अत्यन्त असम्भव जान पड़ता है। सम्भवतः यह युद्ध ६३० और ६३४ ई० के बीच हुआ था।

अइहोल के लेख में हर्ष पर विजय के उल्लेख के तुरत बाद ही पुलकेशि के विन्ध्य और रेवा (नर्मदा) के प्रदेश में उपस्थित होने की बात दी हुई है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि युद्ध नर्मदा तट पर उस समय हुआ, जब हर्ष उसे पार करने की चेष्टा कर रहा था। किन्तु इसे एक अनुमान मात्र कह सकते हैं। यद्यपि हमें युद्ध का स्थान और समय तथा उसका तात्कालिक कारण ज्ञात नहीं है, इसमें संदेह नहीं कि उस सफलता पर पुलकेशि को गर्व करने का पर्याप्त कारण था। उसने दक्षिण को उत्तर के प्रभुत्व से बचा लिया और बहुत दिनों तक न केवल पुलकेशि के उत्तराधिकारी वरन् उसके शत्रु भी कृतज्ञतापूर्वक इसका स्मरण करते रहे। उन्होंने शताब्दियों बाद तक उत्तरापथनाथ हर्षवर्धन की पराजय के इस महान् कार्य की चर्चा की।

जान पड़ता है कि विन्ध्य प्रदेश से पुलकेशि पूरब की ओर बढ़ा। कहा गया है कि उसने दक्षिणकोशलों और कलिंगों (सम्भवतः गंजाम और विजगापट्टम जिले के गंगों) को हराया। इसके बाद वह दक्षिण की ओर मुड़ा और समुद्र के किनारे २ बढ़ते हुए पिष्टपुर (पीठापुरम्) के दुर्ग पर अधिकार कर लिया तथा वहाँ के राजवंश को उखाड़ फेंका। पश्चात् उसने वेंगी (कृष्णा और गोदावरी के बीच) को जीता और पल्लवों को बुरी तरह हराया तथा उनकी राजधानी काँची के निकट तक पहुँच गया। पुनः उसने कावेरी पार किया और चोल, केरल तथा पाण्ड्यों को अपना मित्र बनाया। उन्होंने चालुक्य राजा की अधीनता स्वीकार की और पुलकेशि ने पल्लव सेना को एक बार और हराया।

इन विजयों के फलस्वरूप पुलकेशि द्वितीय विन्ध्य के दक्षिण के समस्त भारत का एकछत्र स्वामी बन गया। यही नहीं, इस प्राकृतिक सीमा के उत्तर भी कुछ दूर तक उसका अधिकार था। उसकी ख्याति भारत के बाहर भी फैली और समझा जाता है कि उसके और फारस-नरेश खुसरो द्वितीय के बीच पत्रों और उपहारों का आदान-प्रदान हुआ था।

चीनी यात्री ह्वेनसांग ने पुलकेशि की शक्ति और गुणों की और उसकी प्रजा की वीरता की भरपूर सराहना की है। उसने अपने विवरणों में महाराष्ट्र की जनता और राजा पुलकेशि द्वितीय के सम्बन्ध में निम्नलिखित विवरण दिया है—

"वहाँ की जनता ईमानदार और सरल है। वे लोग आकार में लम्बे और हृष्ट-पुष्ट तथा स्वभाव में प्रतिशोधी होते हैं। अपने हितचिंतकों के वे लोग कृतज्ञ और शत्रुओं के घोर शत्रु हैं। अगर कोई उनको अपमानित करे तो वे बदला लेने

के लिए अपनी जान पर तुल जायेंगे। अगर कोई कष्ट में उनसे सहायता मांगे तो उसकी सहायता में वे अपने को भूल जायेंगे—।...............अगर कोई सेनापति लड़ाई में हार जाय तो वे उसे दण्डित नहीं करते वरन् औरतों का कपड़ा दे देते हैं, इस प्रकार वह खुद ही आत्महत्या के लिए विवश हो जाता है। देश के लोग सैकड़ों की संख्या में सैनिक बनने को तैयार रहते हैं। युद्ध में जाने से पूर्व वे शराब में अपने को मस्त कर लेते हैं। पुनः एक आदमी भी हाथ में बर्छा लेकर दस हज़ार से भिड़ने को तैयार होगा और युद्ध में उन्हें चुनौती देगा।.........यही नहीं, वे सैकड़ों हाथियों को भी शराब पिलाकर मस्त कर देते हैं और युद्ध में ले जाते हैं और स्वयं भी शराब पीकर एक साथ टूट पड़ते हैं। जो कुछ सामने आता है, उसे कुचल देते हैं। फलतः उनके सामने कोई शत्रु टिक नहीं पाता। किन्तु अपने इस सैनिक स्वभाव के बावजूद भी वहाँ के लोग विद्याप्रेमी हैं।"

यह तो हुई जनता की बात। आगे चीनी यात्री लिखता है कि "ऐसे आदमियों और हाथियों पर अधिकार होने के कारण वहाँ का राजा अपने पड़ोसियों को हेय दृष्टि से देखता है। उसकी योजनाएं और कार्य दूर २ तक फैले हुये हैं और उसके परोपकारों की ख्याति दूर देशों तक है। उसको प्रजा उसकी आज्ञा पूर्ण भक्ति के साथ मानती है।"[1]

इसके बाद ह्वेनसांग ने लिखा है कि सकल उत्तरापथ का स्वामी होते हुए भी हर्षवर्धन इन वीर पुरुषों को जीतने में असमर्थ रहा। हम पढ़ते हैं कि हर्षवर्धन ने किस प्रकार पाचों भारतों की सेना एकत्र की थी और किस प्रकार समस्त देशों के अच्छे से अच्छे नेताओं को बुलाया था और स्वयं सेना का नायक होकर इन लोगों का दमन करने गया फिर भी उनको सेना को वह जीत न सका।

यह विवरण लगभग ६४१ ई० में लिखा गया था, जब कि पुलकेशि द्वितीय अपनी शक्ति को चरम सीमा पर था। किन्तु एक वर्ष बीतते २ उसका नाम और ख्याति अतीत की वस्तु बन गयी। जिन पल्लवों को पुलकेशि ने अपने राज्यकाल के आरम्भ में बुरी तरह पराजित किया था, वे अब अपने योग्य शासक नरसिंहवर्मन् प्रथम के नेतृत्व में शक्तिशाली होकर उठ गये। किन्तु पुलकेशि ने उन पर आक्रमण किया। पल्लवों के अधीनस्थ बाणों को हराकर पल्लव क्षेत्रों को रौंदता हुआ पुनः एक बार वह उनकी राजधानी कांची के लिए खतरा बन गया। किन्तु नरसिंहवर्मा के हाथों महान् सम्राट पुलकेशि कई युद्धों में हारा और अपमानपूर्वक भागा। नरसिंहवर्मा ने चालुक्य राज्य पर अब आक्रमण किया। महान् सम्राट पुलकेशि

पुलकेशि द्वितीय की मृत्यु

[1] बीलकृत अनुवाद, भाग १, पृष्ठ २५६।

हुआ और मारा गया तथा उसका साम्राज्य विजयिनी शत्रु-सेनाओं के सम्मुख झुक गया। पल्लवों ने बादामी को लूटा और नष्ट किया, जो चालुक्यों की राजधानी थी और कम से कम तेरह वर्षों के लिए चालुक्य प्रभुत्व राज्य के मध्य से उठ गया था। 'लक्ष्मी किसी की नहीं होती' वाली कहावत को चरितार्थ करते हुए पुलकेशि द्वितीय का जीवन समाप्त हो गया।

जिन दिनों चालुक्यों की शक्ति और समृद्धि इस प्रकार नष्ट-भ्रष्ट हो रही थी, उन्हीं दिनों उनकी एक शाखा कृष्णा और गोदावरी के बीच के प्रदेश में अपनी शक्ति तेजी के साथ संगठित करने में लगी हुई थी। इस प्रदेश को पुलकेशि द्वितीय ने जीता था और अपने प्रिय अनुज युवराज विष्णुवर्द्धन को उसका शासनाधिकारी नियुक्त किया था। किन्तु ६३२ ई० के आस-पास इस युवराज ने अपने को स्वतन्त्र बना लिया और पूर्वी चालुक्य नाम से प्रसिद्ध शाखा की स्थापना की। पहले उसने अपनी राजधानी पिष्टपुरी में बनायी, बाद में उसे उठा कर वेंगी में ले गया। उसका राज्य उत्तर में विजगापट्टम जिले तक फैला हुआ था। वह सम्भवतः ६२४ से ६४२ ई० तक राज्य करता रहा। यह वंश मुख्य अथवा पश्चिमी शाखा से स्वतन्त्र था और बारहवीं शताब्दी तक बिना किसी हस्तक्षेप के राज्य करता रहा।

पूर्वी चालुक्य

मुख्य चालुक्य वंश को भी अपनी स्थिति संभालने में देर न लगी। पुलकेशि द्वितीय का छोटा बेटा विक्रमादित्य प्रथम था, जिसका कहना है कि उसे सम्राट ने उत्तराधिकारी मनोनीत किया था। वह चालुक्य राज्य के किसी भाग पर राज्य करता था। किन्तु उसे उन सामन्तों से ही केवल लोहा नहीं लेना था, जिन्होंने स्वतंत्रता घोषित कर दी थी, अपितु अपने उन भाइयों का भी सामना करना था, जो उसकी अधीनता स्वीकार करने से इनकार करते थे। परन्तु विक्रमादित्य प्रथम एक वीर शासक था और उसने अपने परिवार की खोयी हुई लक्ष्मी को प्राप्त करने का अनवरत प्रयत्न किया। उसे इस कार्य में १३ वर्षों के बाद सफलता मिली। निरंतर संघर्ष के पश्चात् पल्लव पराजित हुए और निकाल बाहर किये गये। विक्रमादित्य अपने समस्त पैतृक राज्य पर फिर से अधिकार प्राप्त करने में समर्थ हुआ।

किन्तु इतने ही से विक्रमादित्य को संतोष न था। पूर्ण प्रतिशोध लेने की दृष्टि से उसने पल्लवों के राज्य में घुसकर युद्ध किया। उसका दावा है कि उसने कम से कम लगातार होने वाले तीन पल्लव नरेशों—यथा नरसिंहवर्मन्, महेन्द्रवर्मन् द्वितीय और परमेश्वरवर्मन् प्रथम को हराया। पुनः उसने उनकी राजधानी कांची पर अधिकार कर लिया। फलतः वे पल्लव शासक उसके प्रति अपनी भक्ति प्रदर्शित

करने को बाध्य हुए, जिन्होंने उसके वंश का अपमान किया था और उसके पैतृक राज्य को नष्ट किया था। हमें यह भी सूचना मिलती है कि विक्रमादित्य ने चोल, पाण्ड्य और केरल नरेशों को भी हराया। इस प्रकार यह तीन समुद्रों (बंगाल की खाड़ी, भारतीय महासागर और अरब सागर) से घिरे हुए सारे देश का स्वामी बन बैठा। किन्तु शीघ्र ही पल्लवों ने अपना प्रतिशोध चुकाया। कहा जाता है कि परमेश्वरवर्मन् प्रथम ने न केवल विक्रमादित्य प्रथम को हराया ही, वरन् उसकी राजधानी बादामी को भी नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। दोनों पक्षों की विजय और पराजय के कालक्रम को निर्धारित करना कठिन है; किन्तु जान पड़ता है कि पाण्ड्य सेना की सहायता रहते हुए भी विक्रमादित्य पल्लवों द्वारा पराजित हुआ और दक्षिण के विजित प्रदेशों को छोड़ने को बाध्य हुआ।

विक्रमादित्य ने अपने छोटे भाई जयसिंहवर्मन् को गुजरात प्रदेश का शासक नियुक्त किया था। कहा जाता है कि उसने माही और नर्मदा नदियों के बीच वज्जड़ (वज्राट) की सेना को पराजित किया था। वज्राट कोई शक्तिशाली राजा जान पड़ता है क्योंकि आगे चल कर हर्षवर्द्धन को पराजय के साथ इस विजय की भी चर्चा चालुक्यों की सेना की दो महान् सफलताओं के रूप में उनके शत्रु-राष्ट्रकूटों, ने की है। वज्जड़ की पहचान वलभी के मैत्रक राजा शीलादित्य तृतीय से की जाती है। यह सम्भव है, किन्तु निश्चित नहीं।

विक्रमादित्य प्रथम की मृत्यु ६८१ ई० में हुई। वह योग्य पिता का योग्य पुत्र था। उसे चालुक्य साम्राज्य नष्ट-भ्रष्ट अवस्था में मिला था, किन्तु उसने उसे अपनी समृद्धि और सम्मान की पूर्व स्थिति तक पहुंचाया।

विनयादित्य (६८१–६९६ ई०) विक्रमादित्य का बेटा और उत्तराधिकारी था। अपने पिता के राज्य काल में ही वह सैनिक कार्यों द्वारा अपनी योग्यता प्रमाणित कर चुका था। दक्षिण के पल्लव, कलभ्र, केरल, चोल और पाण्ड्य तथा उत्तर के मालव और हैहय आदि अनेक लोगों को जीतने का श्रेय उसे दिया जाता है। यह भी कहा जाता है कि विनयादित्य ने सकलोत्तरापथनाथ को हराया था और पालिध्वज नामक केतु उससे छीन लिया था। उत्तर भारत के इस सम्राट का नाम नहीं दिया है; किन्तु अत्यन्त सम्भव है कि इसका संकेत कन्नौज के यशोवर्मन् की ओर हो। कहा जाता है कि उसने भी दक्षिण की ओर सैनिक अभियान किया था।

विनयादित्य

संभवतः विनयादित्य के इस अभियान के समय ही युवराज विजयादित्य ने अपने पिता के सम्मुख शत्रु सेना को पराजित कर अपने लिये कीर्ति प्राप्त की, तथा गंगा-यमुना के चिन्ह, और पालिध्वज केतु एवं बहुत सा लूट का सामान प्राप्त

किया था। दुर्भाग्यवश पीछे हटती हुई शत्रु सेना के हाथ वह पकड़ लिया गया, किन्तु किसी प्रकार निकल भागा।

एक परवर्ती शिलालेख में कहा गया है कि विनयादित्य ने पारसीकों[1] (फारस) और सिंहल (लंका) से कर वसूल किया था। किन्तु यह प्रत्यक्षत: असम्भव जान पड़ता है। यह अवश्य उल्लेखनीय है कि इस समय दोनों ही देश कठिनाई में थे। हो सकता है, वहाँ के अपदस्थ अथवा शरणागत राजाओं द्वारा मांगी गयी अथवा उन्हें दी गयी किसी प्रकार की सहायता का इस प्रकार अतिरंजित वर्णन राजकवि ने किया हो।

विनयादित्य के बाद उसका बेटा विजयादित्य (६९६ से ७३३ ई० तक) गद्दी पर बैठा। उसका राज्यकाल साधारणतया शान्तिपूर्ण था। किन्तु अपने राज्य के अन्तिम काल में उसने युवराज विक्रमादित्य के नेतृत्व में पल्लवों के विरुद्ध सेना भेजी थी। चालुक्य नरेश ने यह अभियान आक्रमणकारी के रूप में स्वयं किया था अथवा पल्लवों की ओर से कोई छेड़खानी हुई, यह नहीं कहा जा सकता, किन्तु परिणाम अत्यन्त सन्तोषजनक रहा। विक्रमादित्य ने काञ्ची को जीत लिया और पल्लव नरेश परमेश्वरवर्मन् द्वितीय से कर वसूल किया। यह घटना ७३१ ई० में अथवा उससे कुछ पहले हुई।

विजयादित्य

अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् विक्रमादित्य द्वितीय गद्दी पर बैठा और ७३३ से ७४६–४७ ई० तक राज्य किया। पल्लवों के साथ उसकी शत्रुता बनी रही और इस नये राजा ने अपने सहज शत्रु को उखाड़ फेंकने के निमित्त पल्लवों पर अचानक आक्रमण किया। दोनों ओर के प्रमाणों से जान पड़ता है कि उसे असाधारण सफलता मिली। पल्लव नरेश नन्दिवर्मन् द्वितीय हार कर भागा और विक्रमादित्य ने राजधानी कांची में प्रवेश किया। उसने नगर को नष्ट भ्रष्ट करने के बजाय मंदिरों को बहुत सा दान दिया। उसने चोल, पाण्ड्य, केरल और कलभ्र के राजाओं को भी पराजित किया और दक्षिणी सागर के तट पर अपना विजय-स्तम्भ स्थापित किया।

विक्रमादित्य द्वितीय

विक्रमादित्य द्वितीय के राज्यकाल की सबसे उल्लेखनीय घटना अरबों का आक्रमण थी। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, उन्होंने ७१२ ई० में सिन्ध में

१. सर आर० जी० भण्डारकर के अनुसार सम्भवतः इसका तात्पर्य उन सीरियन लोगों से है जो मलाबार तट पर रहते थे (अर्ली हिस्ट्री आफ डकन, तृतीय संस्करण, पृष्ठ ९८)।

अपने पैर जमा लिये थे। उसके बाद उत्तरी गुजरात को रौंदते हुए वे दक्षिणी राजाओं को जीतने की इच्छा से दक्षिण की ओर बढ़े और चालुक्यों के उत्तरी प्रान्त लाट में घुसे। किन्तु, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, वहाँ के स्थानीय उमरिक ने उन्हें पराजित कर लौटने को बाध्य किया। इस प्रकार दक्षिण भारत की रक्षा हुई। अनेक सफलताओं से ओतप्रोत इस वंश का यह अन्तिम महाकार्य था। अगले नरेश कीर्तिवर्मन् द्वितीय के समय में चालुक्यों की प्रभुता को राष्ट्रकूटों ने चुनौती दी और उनका प्रभुत्व समाप्त हो गया। यह घटना लगभग ७५३ ई० में हुई, किन्तु इसके बाद भी कुछ समय तक कीर्तिवर्मन् नाम के लिए शासन करता रहा।

३. राष्ट्रकूट

राष्ट्रकूट, जिन्होंने दक्षिण पर प्रभुत्व प्राप्त किया, उसी देश के मूल निवासी जान पड़ते हैं। 'राष्ट्रकूट' शब्द का प्रयोग दक्षिण के आरम्भिक लेखों में एक पदाधिकारी के रूप में पाया जाता है, और सम्भवतः राष्ट्र

विकास

अथवा प्रान्त के प्रधान के पद को व्यक्त करता है। बहुत सम्भव है राष्ट्रकूट वंश का संस्थापक इसी वर्ग का कोई अधिकारी रहा हो और पिछले दिनों के पेशवाओं की भाँति इस नाम से उसके वंश की ख्याति हुई हो। पाँचवी शताब्दी से अनेक राष्ट्रकूट वंश दक्षिण के विभिन्न भागों में राज्य करते हुए पाये जाते हैं। इनमें से दो सतारा प्रदेश में राज्य करते थे। एक अन्य शाखा सातवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में चालुक्यों के करद के रूप में अचलपुर (एलिचपुर) के एक छोटे से प्रदेश पर शासन करती थी। या तो इस शाखा ने अथवा औरंगाबाद जिले की एक दूसरी शाखा ने अन्ततोगत्वा एक शक्तिशाली राज्य की स्थापना की। इस वंश का पहला उल्लेखनीय राजा इन्द्र था। उसने एक चालुक्य राजकुमारी से विवाह किया था। ७१० ई० के लगभग उसका बेटा दंतिदुर्ग गद्दी पर बैठा[1] और वंश की महत्ता स्थापित की।

अपने पूर्वजों की भाँति दंतिदुर्ग ने करद शासक के रूप में अपना जीवन आरम्भ किया और सम्भवतः अपने स्वामी विक्रमादित्य द्वितीय के दोनों प्रसिद्ध अभियानों में-कांची के पल्लवों और उत्तर के अरब आक्रामकों

दंतिदुर्ग

के विरुद्ध—भाग लिया। धीरे २ उसकी महत्वाकांक्षाएं बढ़ी। ज्यों ही विक्रमादित्य द्वितीय की मृत्यु हुई, उसने स्वयं अपने

१. यह मत श्री मीराशी का है, जो उसके एलोरा वाले दान-पत्र की तिथि ४६३ ई० मानते हैं और उसे कल्चुरी संवत् बताते हैं (१५ वीं ओरियंटल कान्फरेंस के विवरण)। अन्य लोग इस तिथि को ६६३ शक संवत्७४१ ई० मानते हैं।

विजय अभियान आरम्भ कर दिये। उसने नन्दिपुरी (भड़ोच के निकट) के गुर्जर और मालवा के गुर्जर-प्रतिहार राज्यों को जीता और अपना प्रभुत्व मध्य प्रदेश के पूर्वी भाग पर फैलाया। उसने अपने स्वामी चालुक्यों से संघर्ष बचाने की पूरी सतर्कता बरती; किन्तु कीर्तिवर्मन् द्वितीय ने अपने इस अधीनस्थ की बढ़ती हुई शक्ति से सशंक होकर उसे पंगु करने का निश्चय किया और युद्ध पर तुल गया। युद्ध में दन्तिदुर्ग की विजय हुई और वह दक्षिण के अधिकांश भाग का सम्राट हो गया।

इसके थोड़े ही दिनों पश्चात् दन्तिदुर्ग निःसंतान मर गया और उसकी गद्दी पर ७५८ ई० के लगभग उसका चाचा कृष्ण बैठा। चालुक्य सम्राट ने, जो हारने के पश्चात् दक्षिण की ओर चला गया था, एक बार पुनः अपना प्रभुत्व स्थापित करने की चेष्टा की। किन्तु कृष्ण ने उसको पुनः हराया और ७६० ई० में चालुक्य शक्ति का प्रायः अन्त हो गया। पश्चात् कृष्ण ने मैसूर के गंगों और वेंगी के पूर्वी चालुक्यों को पराजित किया। पूर्वी चालुक्यों ने उसके साथ मैत्री कर ली। इस प्रकार राष्ट्रकूट समस्त चालुक्य साम्राज्य के शासक हो गये। ७७३ ई० में कृष्ण की मृत्यु हुई। उसने अपनी विजयों द्वारा राष्ट्रकूटों की शक्ति को संघटित किया। किन्तु उसका सबसे बड़ा कार्य एलोरा के कैलाश मन्दिर का निर्माण है, जो पहाड़ी चट्टानों को काटकर बनाया गया है। अगला राजा गोविन्द द्वितीय भोग-विलास में बुरी तरह लिप्त रहता था; फलतः उसके छोटे भाई ध्रुव ने शासन की बागडोर अपने हाथों में ले ली। गोविन्द द्वितीय ने अपने मित्र राजाओं की सहायता से अपना अधिकार प्राप्त करने की चेष्टा की, किन्तु ध्रुव ने उन्हें एक घनघोर युद्ध में पराजित कर गोविन्द को अपदस्थ कर दिया। ध्रुव के राज्यारोहण से राष्ट्रकूटों के इतिहास में एक नया अध्याय आरम्भ होता है। वे अब अपने दक्षिण स्थित राज्य से ही संतुष्ट न थे। उनकी ललचायी आँखें उत्तर भारत के धनिक मैदानों पर भी पड़ीं। आगे उनका इतिहास सम्पूर्ण भारत के इतिहास का अंश हो जाता है। अतः उसकी चर्चा अगले अध्याय में की जायेगी।

पाँचवाँ अध्याय

प्रभुत्व के लिए संघर्ष—राष्ट्रकूट, पाल और गुर्जर प्रतिहार

(१) त्रिकोणात्मक संघर्ष

पिछले दो अध्यायों में जो कुछ कहा गया है, उससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि आठवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में भारत में तीन बड़ी शक्तियाँ—पाल, गुर्जर-प्रतिहार और राष्ट्रकूट थीं। ऐसा ज्ञात होता है कि प्रतिहार राजा वत्सराज, जिसकी एक ज्ञात तिथि ७८३ ई० है, राजपूताना और मध्य भारत के काफी बड़े भाग पर शासन करता था। जिन दिनों वत्सराज अपने वंश की महत्ता की नीव पश्चिम में डाल रहा था; उन्ही दिनों पूर्व में बंगाल के पालों ने एक सुदृढ़ राज्य की स्थापना कर ली थी। प्रतिहार धीरे धीरे अपने राज्य का विस्तार पूरब की ओर और पाल भी वही कार्य पश्चिम की ओर कर रहे थे। अतः ऐसी स्थिति में दोनों का संघर्ष अवश्यम्भावी था और वस्तुतः वत्सराज और गौड़राज के बीच संघर्ष हुआ भी; पर कब और कहाँ, यह निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है। शाकंभरी (अजमेर के निकट) के चहमान शासक दुर्लभराज के संबंध में एक बहुत पीछे के लेख में कहा गया है कि उसने गंगा और समुद्र के संगम तक पूरे बंगाल को रौंद डाला था। सम्भवतः वह वत्सराज का करद था और उसी के साथ वह गौड़नरेश के विरुद्ध अभियान में गया था। फिर भी यह कथन अतिशयोक्तिपूर्ण जान पड़ता है। सम्भवतः लड़ाई गंगा और यमुना के बीच कहीं हुई थी। गौड़नरेश, जिसके राज्य का पश्चिम में कम से कम इलाहाबाद तक विस्तार अवश्य हो गया जान पड़ता है, वत्सराज द्वारा हरा दिया गया। यह पराजित राजा गोपाल अथवा उसका बेटा धर्मपाल था। इस संघर्ष के परिणामस्वरूप पालों और गुर्जरों के बीच की स्थायी शत्रुता उत्पन्न हो गयी। जिन दिनों परमार और पाल उत्तरी भारत में साम्राज्य के लिए लड़ रहे थे, एक और नई दावेदार शक्ति उठ खड़ी हुई। ये राष्ट्रकूट थे, जो दक्षिण में अपना एकछत्र राज्य स्थापित करने के पश्चात् उत्तर में भी अपना प्रभुत्व जमाना चाहते थे। राजा ध्रुव ने विन्ध्य पार करके वत्सराज को बुरी तरह हराया और वह राजपूताना के रेगिस्तान की ओर भागा उसके बाद ध्रुव धर्मपाल के विरुद्ध बढ़ा और उसे भी पराजित किया। इस

संबंध में यह निश्चित ज्ञात है कि लड़ाई गंगा–यमुना के दोआब में कहीं हुई थी। अतः बहुत सम्भव है कि वत्सराज और गौड़राज के बीच भी लड़ाई उसी प्रदेश में हुई हो।

इस प्रकार साम्राज्य के लिए पाल, गुर्जर और राष्ट्रकूटों में वह त्रिकोणात्मक संघर्ष आरम्भ हुआ, जो भारत के अगली शताब्दी के राजनैतिक इतिहास में सबसे अधिक महत्त्व रखता है। इस संघर्ष का मूल लक्ष्य राजधानी कन्नौज पर अधिकार प्राप्त करना था। प्रत्येक ने इसके लिए कोशिश की और उसमें बारी बारी से सफलता भी प्राप्त की। इस लड़ाई का विवरण अच्छी तरह समझने के निमित्त हम तीनों प्रतिद्वंदी वंशों के उन राजाओं की तालिका दे रहे हैं, जिनका संबंध इस संघर्ष से है।

गुर्जर–प्रतिहार	राष्ट्रकूट	पाल
वत्सराज (७७३ ई०)	ध्रुव (७७९-७९३ ई०)	धर्मपाल (७८०-८१५ ई०)
नागभट्ट (८१५ ई०)	गोविन्द तृतीय ७९४–८१३ ई०	देवपाल (८१५-८५५ ई०)
रामभद्र	अमोघवर्ष (८१४–८७७ ई०)	विग्रहपाल (८५५-८६०) ई०
भोज (८३६–८८५ ई०)		
महेन्द्रपाल (८८५–९१० ई०)	कृष्ण (८७८–९१४ ई०)	नारायणपाल (८६०–९१५ ई०)

जैसा कि ऊपर की तालिका से स्पष्ट है, पहला संघर्ष राष्ट्रकूट राजा ध्रुव, प्रतिहार वत्सराज और पालनरेश धर्मपाल के बीच हुआ। राष्ट्रकूटों को पूर्ण सफलता मिली; किन्तु ७९३ ई० के लगभग ध्रुव की मृत्यु से उनके राज्य में अव्यवस्था फैल गयी। ध्रुव के पुत्र और उत्तराधिकारी गोविन्द तृतीय के विरुद्ध दक्षिण के बारह राजाओं ने एक संघ बनाया। उसे गंग नरेश की विश्वासघातपूर्ण शत्रुता का भी सामना करना पड़ा। दक्षिण में इस प्रकार जब उसके हाथ बँधे हुए थे, उसने अपने उत्तरी अधिकार–क्षेत्रों का भार अपने छोटे भाई इन्द्रराज पर छोड़ दिया। उत्तरी राजाओं के लिए यह अच्छा मौका था, जिससे वे लाभ उठाने में न चूके।

ध्रुव की क्षणिक सफलता

(२) पाल साम्राज्य

राष्ट्रकूटों के आक्रमण का प्रभाव सम्भवतः धर्मपाल पर कम पड़ा और वह उत्तरी भारत के सभी प्रमुख राजों से अपना प्रभुत्व स्वीकार कराने के लिए सबसे पहले

धर्मपाल का साम्राज्य

मैदान में कूदा। उसने विशेष रूप से पञ्चाल के राजा इन्द्रायुध को परास्त किया और कन्नौज की गद्दी पर अपनी ओर से चक्रायुध को बैठाया। उस नगर में उसने जो शाही दरबार किया उसमें भोज, वत्स, मद्र, कुरु, यदु, यवन, अवन्ति, गान्धार और कीर के करद राजा सम्मिलित हुए। उस दरबार में उन सामन्त राजाओं के सम्मुख उसने अपने को उत्तरी भारत के सम्राट के रूप में अभिषिक्त किया, कहा जाता है कि जब पांचाल के वृद्धजन सुवर्णघट से धर्मपाल के ऊपर जल का अभिषेक कर रहे थे तब उपस्थित राजाओं ने सिर झुका कर धर्मपाल के इस नये राजनीतिक पद को स्वीकार किया। दरबार में उपस्थित होने वाले राजाओं की सूची से धर्मपाल के साम्राज्य-विस्तार का बहुत कुछ आभास मिलता है। उसके अन्तर्गत मध्य पंजाब (मद्र) सम्मिलित था और सम्भवतः इसका विस्तार सिन्धु तक था, क्योंकि यवनों का तात्पर्य सिन्ध अथवा मुलतान के मुसलमान शासकों से ही हो सकता है। गान्धार से तात्पर्य सिन्धु की उपरली घाटी और सीमान्त प्रदेश के कुछ भागों से जान पड़ता है। उसके अन्तर्गत कांगड़ा की घाटी (कीर,) पूर्वी पंजाब (कुरु, यदु), जयपुर (मत्स), मालवा (अवन्ति), और सम्भवतः बरार (भोज) सम्मिलित थे। पालों से एक शताब्दी पूर्व तक बंगाल का भारत की राजनीति में कोई महत्त्व नहीं था। किन्तु अब वह एक ऐसे साम्राज्य का सिरमौर बन बैठा जो उत्तर भारत में एक सिरे से दूसरे सिरे तक विस्तृत था।

नागभट्ट

किन्तु तत्कालीन राजनीति की सदा बदलती हुई चालों ने किसी भी राजा के लिए यदि यह असम्भव नहीं तो कठिन तो अवश्य ही कर दिया कि वह थोड़े काल भी शान्तिपूर्ण और समृद्धिपूर्ण राज्य कर सके। राष्ट्रकूटों के धक्के से गुर्जर शक्ति कुछ काल के लिए केवल जड़मात्र हो गयी, किन्तु नष्ट न की जा सकी। वत्सराज का बेटा और उत्तराधिकारी अपने वंश की खोयी हुई प्रतिष्ठा प्राप्त करने में जुट गया। पहले उसने अपने को सिन्धु, आन्ध्र, विदर्भ और कलिंग का स्वामी बनाया, फिर अपने दोनों प्रतिद्वन्दियों से लोहा लेने की शक्ति का अनुभव कर उसने धर्मपाल द्वारा मनोनीत कन्नौज के राजा चक्रायुध पर आक्रमण किया और उसे परास्त कर दिया। अतः धर्मपाल से संघर्ष होना अनिवार्य था। परिणामस्वरूप जो लड़ाई हुई वह सम्भवतः मुंगेर के निकट हुई। नागभट्ट ने अपने शत्रु पर विजय प्राप्त की। अपनी इस सफलता के उत्साह में नागभट्ट ने शीघ्र ही आनर्त, मालवा, किरात, तुरुष्क, वत्स, और मत्स्य देशों को भी जीत लिया।

नागभट्ट जब इस प्रकार धर्मपाल के हाथों से साम्राज्य छीन रहा था, तो सम्भवतः धर्मपाल ने राष्ट्रकूट नरेश गोविन्द तृतीय से सहायता माँगी। इस प्रकार की सहायता-याचना के फलस्वरूप अथवा स्वयं ही गोविन्द तृतीय

गोविन्द तृतीय

अपने पिता की भाँति उत्तर की ओर सैनिक अभियान पर चला। धर्मपाल और उसके अधीनस्थ चक्रायुध इसके सम्मुख हाज़िर हुए। राष्ट्रकूट सेना का आक्रमण जिस तेजी से हुआ उसे कोई रोक न सका। नागभट्ट डर के मारे पता नहीं कहाँ भाग गया। गोविन्द तृतीय उसके प्रदेश को रौंदता हुआ हिमालय पर्वत तक पहुँच गया। परवर्ती पेशवाओं की भाँति वह इस बात का अब दावा कर सकता था कि हिमालय से कन्याकुमारी तक उसके घोड़े बिना किसी दूसरे के राज्य में प्रवेश किये आ जा सकते हैं।

इस प्रकार नागभट्ट के साम्राज्य के स्वप्न को, उसके पिता के सपनों की भाँति ही, दक्षिण के सैनिकों ने बुरी तरह भंग कर दिया। किन्तु राष्ट्रकूट राजा स्वयं भी अपने विजय का उपभोग न कर सका। गृह-कलह के कारण उसके घरेलू प्रदेश टुकड़े २ हो गये। ८१२ ई० में लाट के शासक को उसके छोटे भाई ने निकाल दिया। फलस्वरूप वहाँ एक क्रान्तिकारी आन्दोलन चल पड़ा। आगे चलकर उसने गोविन्द तृतीय के बेटे अमोघवर्ष के राज्यारोहण में बाधा डालने का प्रयत्न किया।

देवपाल

राष्ट्रकूटों की इस अप्रत्याशित उलझन ने एक बार पुनः पालों और गुर्जरों को आपसी निर्णय के लिए स्वतन्त्र कर दिया। लड़ाई का घटनाक्रम बना सकना कठिन है, किन्तु जान पड़ता है कि इस बार पालों का पल्ला भारी था। धर्मपाल ने काफी दूर तक अपने साम्राज्य को पुनः प्राप्त कर लिया। जिस समय वह ८१५ ई० में अपनी वृद्धावस्था में मरा, उसका बेटा और उत्तराधिकारी देवपाल उत्तरी भारत के बड़े भाग का निष्कण्टक स्वामी बना। इसके विपरीत नागभट्ट के बेटे रामभद्र के पास केवल नाममात्र का ही अधिकार था। कहा जाता है कि देवपाल ने द्रविड़, गुर्जर और हूणों को पराजित किया और उत्कल और कामरूप जीत लिया था। अतः राजकवि के इस कथन में कि उसका साम्राज्य हिमालय से विन्ध्य तक और बङ्गाल की खाड़ी से अरब तक विस्तृत था सत्यता का आधार अवश्य ही है।

देवपाल ने ४० वर्षों तक राज्य किया और उसकी ख्याति सुदूर स्थित भारतीय द्वीपसमूहों के उन द्वीपों तक फैल गयी थी जहाँ शताब्दियों पूर्व साहसी भारतीयों

ने जाकर अपना एक औपनिवेशिक साम्राज्य स्थापित कर देवपाल के निर्बल लिया था। स्वर्णद्वीप के शैलेन्द्र[1] राज महाराज बालपुत्रदेव उत्तराधिकारी ने नालन्दा में एक बिहार बनवाया और उसके अनुरोध पर उसकी व्यवस्था के लिए देवपाल ने पाँच गाँव दान में दिये। देवपाल के साथ २ पाल वंश के इतिहास का स्वर्णिम काल समाप्त हो गया। उसके उत्तराधिकारी विग्रहपाल ने थोड़े ही दिनों तक राज्य किया और उसे आक्रामक सैनिक जीवन की अपेक्षा सन्यस्त जीवन अधिक प्रिय था। उसके बाद नारायण-पाल हुआ जिसके अर्धशताब्दी से भी अधिक लम्बे राज्यकाल में धर्मपाल और देव पाल द्वारा निर्मित साम्राज्य का ढाँचा ढहने लगा।

३. प्रतिहार साम्राज्य

जिन दिनों पाल साम्राज्य की बागडोर आक्रमणशील सैनिक जीवन व्यतीत करने वालों की अपेक्षा कमजोर और साधु जीवन व्यतीत करने वाले लोगों के हाथ में थी, उन्हीं दिनों प्रतिहारों की गद्दी पर अदम्य उत्साह और सैनिक योग्यता वाला एक युवक बैठा। इसका नाम भोज था, जो अपने पिता रामभद्र के स्थान पर ८३६ ई० अथवा उसके लगभग गद्दी पर बैठा। गद्दी पर बैठते ही उसने अपने वंश की शान को फिर से कायम करने की कोशिश की। आरम्भ में उसे कुछ सफ-लता भी मिली और वह कन्नौज तथा कालंजर का स्वामी बन गया। किन्तु देवपाल ने उसे हरा दिया और राष्ट्रकूटों के विरुद्ध भी उसे कोई सफलता न मिली। त्रिपुरी के चेदि लोग भी धीरे २ प्रमुखता प्राप्त कर रहे थे तथा उन्होंने भी उसे हराया। पर उसने आशायें न छोड़ीं। देवपाल की मृत्यु और उसके उत्तरा-धिकारियों की शान्तिवादी नीति तथा राष्ट्रकूटों के बङ्गाल पर आक्रमण ने प्रतिहार नरेश को अवश्य ही सुनहला अवसर दिया होगा। उसने गोरखपुर के शक्तिशाली शासक और सम्भवतः गहलोत नरेश की सहायता प्राप्त की। इन शक्तिशाली राजाओं के सहयोग से भोज को धर्मपाल और देवपाल की गद्दी पर बैठे हुए युद्ध-विरत राजा को बुरी तरह पराजित करने में कोई कठिनाई न हुई। भाग्य ने भोज का एक अन्य दिशा में भी साथ दिया। राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण पूर्वी चालुक्यों के साथ जीवन-मरण के युद्ध में फंसा हुआ था। उन्होंने उसकी राजधानी पर अधिकार करके उसे जला दिया। भोज ने इसे आक्रमण करने का अच्छा अवसर समझा और सम्भवतः नर्मदा के तट पर कृष्ण द्वितीय को पराजित कर मालवा पर अधिकार कर लिया। तत्पश्चात् वह गुजरात की ओर बढ़ा और खेटक (खेड़ा जिला) के

1 शैलेन्द्र वंश के लिये देखिये अध्याय २२वाँ।

आस-पास के प्रदेश पर अधिकार किया। यद्यपि कृष्ण द्वितीय ने उस प्रदेश को पुनः जीत लिया, तथापि भोज का प्रभुत्व सारे काठियावाड़ प्रायद्वीप पर बना रहा। भोज और कृष्ण द्वितीय के बीच उज्जयिनी में एक रक्तरंजित युद्ध हुआ जो बहुत दिनों तक परवर्तियों द्वारा याद किया जाता रहा। किन्तु इसका कोई निर्णायक परिणाम न हुआ। मालवा प्रतिहारों के हाथ में बना रहा।

इस प्रकार दो प्रतिद्वंदी शक्तियों पर विजय कर लेने के बाद भोज को पंजाब, अवध और अन्य प्रदेशों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने में कोई कठिनाई न हुई। इस प्रकार कश्मीर, सिन्ध, बिहार, और बङ्गाल के पाल-राज्य और जबलपुर प्रदेश के कलचुरि राज्य को छोड़कर सारे उत्तरी भारत को भोज ने जीत लिया। कन्नौज को अपनी राजधानी बनाकर इस विस्तृत क्षेत्र पर वह महान् सम्राट निष्कण्टक राज्य करता रहा। ८८५ ई० में उसकी मृत्यु हुई और वह अपने बेटे और उत्तराधिकारी महेंद्रपाल के लिये, जिसकी ज्ञात तिथियाँ ८९३ और ९०७ ई० हैं, एक संघटित साम्राज्य छोड़ गया। उसके लिए वत्सराज और नागभट्ट लड़ते रहे पर सफल न हो सके थे।

महेन्द्र पाल के शासन-काल में मगध और उत्तरी बङ्गाल का काफी हिस्सा प्रतिहार-साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया गया। इस प्रकार पूर्वी प्रतिद्वंदी पर

महेन्द्रपाल

एक शताब्दी से अधिक तक चलने वाले संघर्ष के पश्चात् पूर्ण विजय हुई और प्रतिहार साम्राज्य अपनी सफलता और समृद्धि की चरम सीमा पर पहुँच गया।

१०वीं शताब्दी के आरम्भ में प्रतिहार राजा महेन्द्रपाल का एक ऐसे विस्तृत साम्राज्य पर अधिकार था जो देवपाल के राजकवि के शब्दों में गङ्गा के उद्गम से लेकर रेवा के उद्गम तक—अर्थात् हिमालय से विन्ध्य तक—और पूर्वी समुद्र से पश्चिमी समुद्र तक फैला हुआ था। इस प्रकार साम्राज्य के लिए नवीं शताब्दी की तीन महान् शक्तियों में जो संघर्ष चल रहा था उसका अन्त स्वाभाविक रूप से ही हुआ। ध्रुव और गोविन्द तृतीय, धर्मपाल और देवपाल, भोजदेव और महेन्द्रपाल, प्रत्येक युग्म ने बारी २ से सम्राट पद का अभिनय किया; किन्तु उनके साम्राज्य समुद्र की लहरों की तरह ऊँचे उठकर नष्ट हो गये। जो बात पालों और राष्ट्रकूटों के साथ हुई थी, वही बात प्रतिहारों के सम्बन्ध में भी हुई। इस वंश का परवर्ती इतिहास एक महान् साम्राज्य के पतन और विनाश का ही इतिहास है।

छठाँ अध्याय

प्रतिहार साम्राज्य का पतन

१. प्रतिहार साम्राज्य का ह्रास

सम्राट महेन्द्रपाल के बाद उसके दो बेटे—भोज द्वितीय और महिपाल, गद्दी पर बैठे। पहले के सम्बन्ध में तो हमें कुछ भी नहीं मालूम, किन्तु दूसरे के राज्य के आरम्भ में साम्राज्य समृद्धिपूर्ण और अक्षुण्ण रहा। महीपाल के दरबार में रहने वाले कवि राजशेखर ने उसका उल्लेख आर्यावर्त्त के महाराजाधिराज के रूप में किया है और मुरल, मेकल, कलिंग, केरल, कुन्तल और रमठों पर उसके विजय की बात कही है।

प्रतिहार साम्राज्य के विस्तार और समृद्धि की बात मुसलमान यात्री अलमसूदी भी करता है। वह बगदाद का रहने वाला था और ९१५-१६ ई० में भारत आया था। उसके कथन से जान पड़ता है कि प्रतिहार साम्राज्य दक्षिण में राष्ट्रकूटों की सीमा तक पहुँच गया था और उसके अन्तर्गत सिन्ध और पंजाब भी शामिल थे। मसूदी लिखता है कि "राजा के पास बहुत से घोड़े और ऊँट हैं, उत्तरी भारत की चारों दिशाओं में उसकी चार सेनाएँ हैं। प्रत्येक सेना में सात या नौ लाख सैनिक हैं।" कन्नौज नरेश के राजनीतिक सम्बन्धों के बारे में मसूदी बताता है कि "जो चार सेनाएँ उसके पास हैं, उनमें से उत्तरी सेना मुलतान के मुसलमान शासक के विरुद्ध रहती है और दक्षिणी बल्हरा अर्थात् राष्ट्रकूट राजा के विरुद्ध।"

राष्ट्रकूटों की शत्रुता, जो महीपाल को अपने पूर्वजों से दायरूप में मिली थी, उसके समृद्धिशाली साम्राज्य के लिए उतनी ही भयंकर सिद्ध हुई जितनी कि वत्सराज और नागभट्ट के लिए। मसूदी के भारत आने के एक

कन्नौज का ध्वंस ही दो वर्षों बाद राष्ट्रकूट नरेश इन्द्र तृतीय ने उत्तरी भारत पर आक्रमण किया। उसने महिपाल को पराजित कर उसका पीछा गङ्गा और यमुना के सङ्गम तक किया और उसकी सेना ने कन्नौज को तहस नहस कर दिया। इस प्रकार राष्ट्रकूटों ने प्रतिहारों के ऊपर पूर्ण विजय प्राप्त की और भोज और महेन्द्रपाल का साम्राज्य अपने दक्षिणी प्रतिद्वंद्वियों के पैरों के नीचे मूर्छित हो

गया। किन्तु इन्द्र तृतीय अधिक दिनों तक उत्तर भारत में न ठहरा। वह ९१६ ई० में दक्षिण लौटा। राष्ट्रकूटों की आंतरिक स्थिति उत्तरी भारत के प्रदेशों पर अधिकार रखने के प्रतिकूल सिद्ध हुई। महीपाल ने इस अवसर का लाभ उठाया। उसके करद राजाओं ने उसके वंश की बिगड़ी हुई स्थिति सुधारने के प्रयत्न में पूरी ईमानदारी के साथ उसकी सहायता की। वह अपने खोये हुए समस्त प्रदेश प्राप्त करने में सफल हुआ या नहीं, यह निश्चय करना कठिन है, किन्तु ९३१ ई० में उसकी मृत्यु के समय उसके साम्राज्य का विस्तार पूर्व में बनारस तक था। यमुना बेतवा और दसन नदियाँ उसके शासन क्षेत्र की दक्षिणी-पूर्वी सीमायें थीं और संभवतः वह दक्षिण में विन्ध्य तक फैला हुआ था।

यद्यपि महीपाल को अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा को बहुत अंशों तक प्राप्त करने का श्रेय दिया जा सकता है, पर इतना तो स्पष्ट है कि प्रतिहारों की शान को गहरा धक्का लग चुका था। ऐसी अवस्थाओं में जो होता है वही हुआ। अधीनस्थ राजे अपनी स्वतन्त्रता बरतने लगे और साम्राज्य के भीतर ही नयी शक्तियाँ उठ खड़ी हुईं। ९४० ई० से कुछ पूर्व राष्ट्रकूटों ने फिर से अपने आक्रमण शुरू कर दिये और संभवतः कालञ्जर और चित्रकूट (चितौड़) के दो दुर्गों पर अधिकार कर लिया।' इस प्रकार महान् प्रतिहार-साम्राज्य की अवनति और पतन प्रारम्भ हुआ और उस पतन का क्रम बहुत कुछ १८ वीं शताब्दी के मुगल साम्राज्य के पतन के साथ एक ऐतिहासिक साम्य रखता है। महीपाल के पश्चात् प्रतिहार राजाओं का इतिहास अंधकाराच्छन्न है। उसके राजाओं का क्रमिक उत्तराधिकार भी निश्चयपूर्वक नहीं बताया जा सकता। ऐसा जान पड़ता है कि उसके बाद उसके तीन बेटे महेन्द्रपाल द्वितीय (९४५ ई०), देवपाल (९४८ ई० और विजयपाल, जिसकी एक ज्ञात तिथि ९६० ई० है, गद्दी पर बैठे। उन तीन राजाओं के राज्यकाल में प्रतिहार साम्राज्य का प्रायः पूर्ण विशृंखलन हो गया। नयी राजनैतिक स्थिति का पता प्रतिहार साम्राज्य के खंडहर पर उठने वाली अनेक नयी शक्तियों के इतिहास से लगता है। अतः प्रतिहारों का इतिहास आगे बताने से पूर्व उनका उल्लेख आवश्यक है।

(२) चन्देल

चन्देल, जिनकी गणना आगे चलकर राजपूतों की ३६ जातियों में हुई, अपने को ऋषि चन्द्रात्रेय का वंशज कहते हैं, जिनका जन्म चन्द्र से हुआ था। वे ९ वीं शताब्दी में प्रधानता में आये और बुन्देलखण्ड प्रदेश में उन्होंने अपना राज्य स्थापित किया, जो पीछे चल कर जैजाकभुक्ति के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस राज्य

की राजधानी खर्जूरवाहक थी। आज वह छतरपुर क्षेत्र में खजुराहों नाम का एक ग्राम मात्र है। वहाँ के सुन्दर मन्दिर आज भी चन्देलों के उत्कर्ष के साक्षी हैं।

चन्देल लोग प्रतिहार सम्राटों के अधीनस्थ थे और उनके नेता हर्षदेव ने (९०० से ९२५ ई०) महिपाल को पुनः राज्य प्राप्त करने में निष्ठापूर्वक सहायता दी थी। हर्षदेव के बेटे यशोवर्मन् ने यह जुआ प्रायः उतार

यशोवर्मन्

फेंका। वह गुर्जरों के लिये तप्त अग्नि कहा गया है। प्रतिहार साम्राज्य के पतन के फलस्वरूप उसकी आकांक्षाओं की पूर्ति का मौका मिला। उसने कालिंजर का प्रसिद्ध दुर्ग जीत लिया और अपने राज्य का उत्तर में यमुना तक विस्तार किया। इसके बाद वह विजय के लिये निकला। राजकीय अभिलेखों के अनुसार उसने गौड़, कोशल, कश्मीर, मिथिला, मालव, चेदि, कुरु और गुर्जरों के विरुद्ध सफलतापूर्वक युद्ध किया। इस कथन में अतिशयोक्ति स्पष्ट होते हुए भी, यह संदेह नहीं कि उसने उत्तर भारत में विस्तृत विजयें कीं और चन्देलों को अजेय शक्ति बना दिया। आगे कालिंजर का किला उसके राज्य का एक मजबूत गढ़ बन गया। अब भी यशोवर्मन् प्रतिहारों को सरकारी कागजों में अपना सम्राट सम्भवतः उसी तरह मानता रहा जिस तरह अवध और हैदराबाद के शासक दिल्ली के सम्राट के प्रति अपनी नाममात्र की भक्ति को अपने लिए उपादेय समझते थे। किन्तु वास्तव में उसने एक ऐसा राज्य बना लिया था, जो व्यवहारतः सर्वथा स्वतन्त्र था।

यशोवर्मन् के बेटे और उत्तराधिकारी धंग के काल में चन्देल शक्ति तेजी के साथ बढ़ी। कहा जाता है कि उसने कान्यकुब्ज के शासक को पराजित कर साम्राज्य प्राप्त किया। इसका मतलब यह है कि उसने

धंग

प्रतिहारों के नाममात्र के प्रभुत्व को भी त्याग दिया। ९५४ ई० तक उसके राज्य का विस्तार उत्तर में यमुना, उत्तर-पश्चिम में ग्वालियर और दक्षिण-पश्चिम में भिलसा तक हो गया था। ग्वालियर पर उसका अधिकार हो जाने से प्रतिहारों की शक्ति और सम्मान को गहरा धक्का लगा होगा, क्योंकि उससे उनके शक्तिशाली विरोधी को उनके राज्य के बीच में ही अपनी मजबूत जड़ जमाने का एक साधन प्राप्त हो गया था। १० वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अपने दीर्घ राज्यकाल में, धंग ने प्रतिहारों के और भी प्रदेशों पर कब्जा किया और अपने राज्य को सम्भवतः यमुना से और भी अधिक उत्तर और पूरब में बनारस तक बढ़ा लिया। धंग ने अपनी सेना को पालों के विरुद्ध भी भेजा और अंग (भागलपुर) पर धावा किया। इसके बाद वह राढ़ (पश्चिमी बंगाल) और दक्षिण कोशल की ओर बढ़ा। उसका संघर्ष आन्ध्र और कुन्तल के

राजाओं से भी हुआ। वह कम, सिंहल और कांची के राजाओं को पराजित करने का भी दावा करता है, किन्तु संभवतः यह अतिशयोक्ति मात्र लगती है।

धंग की ज्ञात तिथियाँ ९५४ ई० और १००२ ई० हैं। वह पहला स्वतन्त्र चंदेल राजा था और उसने महाराजाधिराज की उपाधि ग्रहण की थी। फरिश्ता के कथनानुसार कालिंजर के राजा ने सुबुक्तगीन के विरुद्ध जयपाल द्वारा संगठित भारतीय नरेशों के संघ में भाग लिया था। वह निश्चय ही धंग था। वह और उसके उत्तराधिकारी अपने को 'कालंजर का अधिपति' कहते हैं। इसका समर्थन एक अभिलेख से भी होता है, जिसमें कहा गया है कि अपनी सैनिक शक्ति में धंग वीर हम्मीर राजा की बराबरी करता था। हम्मीर से तात्पर्य यामिनी राजा से है, जिनकी उपाधि अमीर थी। धंग की मृत्यु इलाहाबाद में १०० वर्ष की पूर्ण आयु में हुई।

३. कलचुरि

कलचुरि, जो हैहय नाम से भी प्रसिद्ध हैं, एक प्राचीन जाति थी। महाकाव्यों और पुराणों में वर्णित उनके सम्बन्ध की अनुश्रुतियों का उल्लेख पहले हो चुका है। २४९ ई० अथवा २५० ई० से आरम्भ होने वाला संवत् जिसका प्रयोग बाद में कलचुरियों ने किया, कलचुरि संवत् के नाम से प्रसिद्ध है। किन्तु तीसरी शताब्दी में कलचुरि लोग राजनीतिक शक्ति के रूप में जान नहीं पड़ते और सम्भवतः उनका कोई सम्बन्ध भी कलचुरि संवत् की स्थापना से नहीं है। ऐतिहासिक काल में उनका पता सबसे पहले ६ ठीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में लगता है। इस काल में वे गुजरात, उत्तरी महाराष्ट्र और बाद में मालवा के कुछ भागों पर राज्य करते पाये जाते हैं। इस वंश के तीन राजे ज्ञात हैं—कृष्णराज, उसका बेटा शंकरगण और शंकरगण का बेटा बुद्धराज। उन्हें अपने दो शक्तिशाली पड़ोसियों, वलभी के मैत्रकों और बादामी के चालुक्यों, से लड़ना पड़ा था। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, चालुक्य नरेश मंगलेश ने बुद्धराज को भगा दिया था और उसके राज्य को जीत लिया था, किन्तु उनका उन्मूलन न हुआ। चालुक्यराज विनयादित्य ने हैहयों को पराजित किया और उनके पौत्र विक्रमादित्य द्वितीय ने दो हैहय राजकुमारियों से विवाह किया था। इन हैहयों से तात्पर्य निस्सन्देह उन कलचुरियों से है, जो उस समय (८ वीं शताब्दी के मध्य) तक सम्भवतः पूर्वी मालवा और आस-पास के प्रदेशों पर राज्य करते थे।

सम्भवतः इस समय अथवा इसके कुछ समय बाद उत्तरी भारत के विभिन्न भागों में कलचुरियों की अनेक शाखायें आ बसीं। उनमें से एक ने आधुनिक गोरख

पुर जिले के सरयूपार में अपना राज्य स्थापित किया। एक दूसरी शाखा बुन्देलखंड में चेदि प्रदेश पर राज्य करती थी। वह शीघ्र ही बहुत शक्तिशाली हो गयी।

चेदि के कलचुरियों की, जो डाहलनरेश भी कहे जाते हैं, राजधानी त्रिपुरी थी। वह जबलपुर से ६ मील पश्चिम आज तेवार नाम से प्रसिद्ध है। इस राजवंश की स्थापना कोकल्ल[1] ने ८४५ ई० में की थी। वह अपने युग का एक महान् सेनानायक था। कलचुरि अभिलेखों में उसे अनेक शक्तिशाली राजाओं का विजेता कहा गया है, किन्तु उसमें कितना ऐतिहासिक तथ्य है यह कहना कठिन है। इतना तो निःसंदिग्ध है कि कोकल्ल दूर २ तक अपनी विजयिनी सेना ले गया था और उसने एक शक्तिशाली राज्य की स्थापना की थी। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, सम्भवतः उसका संघर्ष प्रतिहारराज भोजराज प्रथम से हुआ था, क्योंकि उसके बारे में कहा गया है कि उसने भोज को सुरक्षा का आश्वासन दिया था (शब्दशः—भय से मुक्ति दी थी)। उसने शङ्करगण (सम्भवतः सरयूपार के कलचुरि राजा), हर्षराज (सम्भवतः गुहिल नरेश) और शाकम्भरी के चाहमान राजा गुवक के खजाने लूटे थे। ये तीनों भोज प्रथम के अधीन थे, इसलिए समझा जा सकता है कि उसने प्रतिहार राजा के विरुद्ध भारी विजय प्राप्त की। प्रतिहारों की सहायता उनके अधीनस्थ राजाओं ने की थी। किन्तु बाद में उनके साथ उसकी मैत्री हो गयी।

कोकल्ल प्रथम

उसके बाद उसने तुरुष्कों को हराया जो निःसंदेह सिन्ध के शासक की कोई तुर्की फौज रही होगी। खेद है कि इस संबंध में हमें विस्तृत जानकारी नहीं है और यह नहीं कहा जा सकता कि कोकल्ल ने स्वयं उनपर आक्रमण किया था अथवा अरबों द्वारा समय २ पर किये जाने वाले आक्रमणों में से किसी का यह केवल प्रतिरोध मात्र था। यह भी कहा जाता है कि उसने वंग अर्थात् पूर्वी और दक्षिणी बंगाल को लूटा था। वह अब सम्भवतः पालों की अधीनता से निकल कर एक स्वतन्त्र राजा बन गया था।

अपने लम्बे शासन काल के अन्तिम दिनों में कोकल्ल ने उत्तरी कोंकण पर आक्रमण किया और सम्भवतः पूर्वी चालुक्यों और प्रतिहारों के विरुद्ध राष्ट्रकूट राजा कृष्ण द्वितीय (८७८–९१४ ई०) की सहायता भी की थी। कृष्ण द्वितीय से उसकी पुत्री ब्याही थी।

इन विस्तृत विजयों के कारण उस समय कलचुरि लोगों ने प्रायः एक साम्राज्य की शक्ति प्राप्त कर ली, किन्तु उनकी यह स्थिति अधिक दिनों तक न बनी रह

1. कोक्कल्ल, कोक्कल आदि भी लिखा पाया जाता है।

सकी। कलचुरियों का वास्तविक राज्य-क्षेत्र कोकल्ल के शासनकाल में भी मध्य प्रदेश के बाहर नहीं रहा। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, उनसे अधिक स्थायी साम्राज्य उसके आरम्भिक प्रतिद्वन्द्वी प्रतिहारराज भोज प्रथम ने कायम किया था।

कोकल्ल ने एक चंदेल राजकुमारी से विवाह किया था और उसके १८ बेटे थे। सबसे बड़ा बेटा गद्दी पर बैठा और अन्य सब विभिन्न मंडलों के मण्डलेश्वर नियुक्त हुए। फलस्वरूप राज्य का विघटन आरम्भ हो गया और उनमें से एक के उत्तराधिकारी ने दक्षिण कोशल में अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया और तुम्माण को अपनी राजधानी बनायी।

कोकल्ल के बाद उसका बेटा शंकरगण ८७८—८८ ई० के बीच किसी समय गद्दी पर बैठा। उसने दक्षिण कोशल के एक सोमवंशी राजा को पराजित किया और बिलासपुर जिले में रतनपुर के पास कुछ प्रदेशों को जीत लिया। जिन दिनों पूर्वी चालुक्य राजा विजयादित्य तृतीय ने राष्ट्रकूट राजा कृष्ण द्वितीय पर आक्रमण किया, शंकरगण उसकी सहायता के लिये आया, किन्तु हार गया। कलचुरियों और राष्ट्रकूटों के बीच अनेक वैवाहिक संबंध हुए थे।

शङ्करगण

शंकरगण के बाद उसके दो बेटे बालहर्ष और युवराज उत्तराधिकारी हुए। युवराज १० वीं शताब्दी के मध्य में गद्दी पर बैठा और गौड़ के पाल राजा और कलिंग के गंग शासक को पराजित किया; किन्तु वह स्वयं चंदेल राजा यशोवर्मन् और अपने निकट संबंधी राष्ट्रकूट राजा कृष्ण तृतीय द्वारा पराजित हुआ। कृष्णराज तृतीय ने संभवतः कुछ काल के लिए कलचुरि राज्य का कुछ भाग अपने अधिकार में कर लिया था। किन्तु युवराज ने उसे शीघ्र ही हराकर राष्ट्रकूट सेना को निकाल बाहर किया। इस महान् विजय की खुशी में सुप्रसिद्ध कवि राजशेखर ने विद्धशालभंजिका नामक नाटक का अभिनय किया था। वह उन दिनों संभवतः कलचुरि राज्य में ही रहता था। कलचुरि अभिलेखों में युवराज को कश्मीर और हिमालय प्रदेश में भी सफल अभियान करने का श्रेय दिया जाता है।

उसके उत्तराधिकारी

युवराज का बेटा लक्ष्मणराज भी एक महान् विजेता था। वह दसवीं सदी के तृतीय चरण में हुआ। उसने बंगाल (दक्षिण बंगाल) पर, जो सम्भवतः उन दिनों चन्द्रवंश के अन्तर्गत था, धावा किया। उड़ीसा के राजा ने कालीयनाग की रत्न-मंडित मूर्ति देकर उसे सन्तुष्ट किया। दक्षिण कोशल के सोमवंशी राजा को भी उसने हराया। पश्चिम में उसने लाट पर आक्रमण किया, जहां राष्ट्रकूटों का एक करद राजा राज्य करता था। गुर्जर-राज को भी उसने हराया। वह गुर्जर-राज सम्भवतः

चालुक्य वंश का संस्थापक मूलराज प्रथम था। अन्य विजयें करता हुआ वह सोमनाथ तक पहुंचा और सोमेश्वर के मन्दिर की अभ्यर्थना की। सुदूर उत्तर में कश्मीर और दक्षिण में पाण्ड्य की विजय का श्रेय उसे दिया जाता है जो सम्भवतः परम्परागत अतिशयोक्ति मात्र है।

लक्ष्मणराज के दो बेटे—शंकरगण द्वितीय और युवराज द्वितीय—एक के बाद दूसरे गद्दी पर बैठे। किन्तु वे लायक बाप के नालायक बेटे निकले। युवराज द्वितीय के शासन-काल में, जो १० वीं शताब्दी के तृतीय चरण में था, उसके राज्य को भयंकर धक्का लगा। राष्ट्रकूटों को हटाकर दक्षिण में चालुक्य प्रभुत्व पुनः स्थापित करने वाले उसके मामा तैल द्वितीय ने उसके राज्य पर धावे किये। उससे भयंकर आक्रमण मालवा के परमार राजा मुंज का हुआ। युवराज द्वितीय पराजित होकर भागा और राजधानी शत्रुओं के हाथ लगी। शत्रुसेना शीघ्र ही लौट गयी। किन्तु उसके मंत्रियों ने इस भगोड़े राजा को राज्य में घुसने न दिया और उसकी जगह पर उसके बेटे कोकल्ल द्वितीय को गद्दी पर बिठाया। उसने अपने वंश की शक्ति और मर्यादा को अपनी सैनिक योग्यता के बल से पुनः स्थापित किया। दक्षिण पर आक्रमण कर अपनी विजय द्वारा उसने तैलप द्वितीय से अपने पिता की पराजय का बदला लिया। उसने पश्चिम में गुर्जरों, दक्षिण में कुन्तलों और पूर्व में गौड़ों के विरुद्ध सफल अभियान किये। इस प्रकार १० वीं शताब्दी की समाप्त होते २ कलचुरि लोग पुनः एक बड़ी शक्ति बन गये।

४. परमार

कलचुरियों से लगे हुए पश्चिम की ओर मालवा में परमार राज्य करते थे। पीछे चलकर परमार लोग पँवार राजपूत कहलाये। उनके उद्भव की कहानी आबू पर्वत के एक अग्निकुण्ड से बतायी जाती है। किन्तु परमार राजाओं के आरम्भिक लेखों के अनुसार उनका उद्भव राष्ट्रकूटों के वंश में हुआ था। यही अधिक सम्भव जान पड़ता है और लगता है कि जब राष्ट्रकूट सम्राट गोविन्द तृतीय ने नागभट्ट द्वितीय से मालवा जीता तब उसने परमार वंश के संस्थापक उपेन्द्र उर्फ कृष्णराज को वहां का गवर्नर नियुक्त किया। यह वंश राष्ट्रकूटों के प्रति पूर्णनिष्ठ रहा। कुछ दिनों बाद प्रतिहारों ने उनसे मालवा छीन लिया और वह ९४६ ई० तक उनके अधिकार में रहा। इसके कुछ ही दिनों बाद उपेन्द्र के वंशज वैरिसिंह ने सम्भवतः राष्ट्रकूटों की सहायता से अपने पैतृक राज्य को पुनः प्राप्त कर लिया। एक अभिलेख में कहा गया है कि "वैरिसिंह ने अपनी तलवार की शक्ति से दिखा दिया कि धारा उसकी है।" परमारों की राजधानी धारा मध्य-भारत का आधुनिक धार है।

वैरिसिंह का बेटा और उत्तराधिकारी सीयक द्वितीय बहुत ही बहादुर सेनापति था। उसने अड़ोस-पड़ोस के अनेक राजाओं को पराजित किया। अपने पिता की भाँति ही उसने राष्ट्रकूटराज कृष्ण तृतीय का आधिपत्य स्वीकार किया; किन्तु जैसे ही कृष्ण तृतीय मरा उसने अपने को स्वतन्त्र घोषित कर दिया। नया राष्ट्रकूट नरेश इस विद्रोही के विरुद्ध आगे आया और नर्मदा के तट पर ६७२ ई० में घोर युद्ध हुआ। सीयक ने खोट्टिग को बुरी तरह पराजित किया और उसका पीछा उसकी राजधानी मान्यखेट तक किया और उसे खूब लूटा।

इस प्रकार सीयक द्वितीय ने मालवा के स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की, जो दक्षिण में ताप्ती नदी, उत्तर में झालावाड़, पूर्व में भिलसा और पश्चिम में साबरमती तक विस्तृत था। थोड़े ही दिनों बाद उसकी मृत्यु हो गयी और मुंज गद्दी पर बैठा, जो सम्भवतः उसका बेटा था। कुछ पुरानी अनुश्रुतियों में वह उसका दत्तक पुत्र बताया गया है।

मुंज, उत्पल और वाक्पतिराज द्वितीय के नाम से भी प्रसिद्ध है। वह इस वंश का सबसे शक्तिशाली राजा और अपने युग के महान सेनानायकों में था। उसका

मुंज

सारा राज्य-काल युद्ध और विजयों से भरा हुआ था। उसने कलचुरिराज युवराज द्वितीय और मेदपाट के गुहिलों को हराया और उनकी राजधानी को लूटा। उसने हूणमंडल नामक छोटे से राज्य पर शासन करने वाले हूणों को भी पराजित किया, जो मालवा के उत्तर-पश्चिम में था। वह स्पष्टतः तोरमाण और मिहिरकुल के विस्तृत साम्राज्य का अन्तिम अवशेष रहा होगा। उसने नड्डुल के चाहमानों पर भी आक्रमण किया और आबू पर्वत तथा आधुनिक जोधपुर राज्य से दक्षिण के बहुत बड़े प्रदेश को छीन लिया। उसके बाद मुंज ने अन्हिलपाटक के चौलुक्य राज्य के संस्थापक मूल-राज को हराया और वह मारवाड़ के रेगिस्तान की ओर भाग गया।

मुंज का सबसे बड़ा शत्रु तैल द्वितीय था, जिसने राष्ट्रकूटों से दक्षिण जीत लिया था और अब मालवा पर अपना अधिकार जमाना चाहता था, क्योंकि किसी समय उसपर उसके वंश का अधिकार था। तैल ने मालवा पर कम से कम छः बार आक्रमण किये; और प्रत्येक बार मुंज ने उसे पराजित किया। बार २ के इस आक्रमण का अन्त करने के लिए उसने स्वयं तैल पर आक्रमण करने का निश्चय किया। आरम्भ में उसकी सेना को सफलता मिली और तैल को उसने गोदावरी के तट पर परास्त किया। नदी को पारकर उसने शत्रु का पीछा किया; किन्तु दुर्भाग्यवश वह हार गया और बन्दी कर लिया गया। उसके कर्मचारियों ने उसे चुपके २ बन्दीगृह से निकाल ले जाने की योजना बनायी, किन्तु योजना सफल न

हो सकी। तैल ने उसे मरवा डाला और नर्मदा तट तक स्थित सारे प्रदेश को अपने राज्य में मिला लिया।

इस प्रकार मुंज की मृत्यु अपने गढ़ को छोड़ कर शत्रुदेश के भीतर घुसने की मूर्खता करने के कारण हुई। कहा जाता है कि उसके बुद्धिमान् मंत्री रुद्रादित्य ने उसे गोदावरी के पार जाने से मना किया था। जैसे ही उसने सुना कि उसका स्वामी शत्रु का पीछा करते हुए नदी के पार गया है, उसने अपनी आत्महत्या कर ली, ताकि आने वाली विपत्ति को उसे अपनी आँखों न देखना पड़े। उसने इस विपत्ति की आशंका पहले ही से कर ली थी। इस दुःखद मृत्यु के बावजूद भी मुंज एक महान सैनिक, उदार शासक, और कला तथा साहित्य के संरक्षक के रूप में सदा याद किया जायेगा। धनञ्जय; हलायुध, धनिक और पद्मगुप्त आदि अनेक सुप्रसिद्ध कवि उसके दरबार में रहते थे और उन्हें उसने सम्मानित किया था। उसने अनेक तालाब खुदवाये और मंदिर भी बनवाये थे।

मुंज की पराजय और मृत्यु ९९३ ई० के कुछ ही दिनों बाद हुई। उसके बाद उसका छोटा भाई सिन्धुराज गद्दी पर बैठा। उसने चालुक्य राजा को पराजित कर अपमान का बदला चुकाया और खोये हुए प्रदेशों को पुनः प्राप्त कर लिया। महाकवि पद्मगुप्त की सुप्रसिद्ध रचना 'नवसाहसांकचरित' इस राजा के जीवन-वृत्त को लेकर लिखी गई। सिन्धुराज नवसाहसांक के नाम से भी प्रसिद्ध था। किन्तु इस पुस्तक में उसके जीवन की अनेक घटनाओं को उसने जिन रूपकों और उपाख्यानों से आवृत्त किया है उसके कारण ऐतिहासिक तथ्यों को जान सकना कठिन है। फिर भी उसके आधार पर कहा जाता है कि सिन्धुराज ने वैरागढ़ (चाँदा जिला, मध्य प्रदेश) के किसी आर्य राजा के विरुद्ध बस्तर के नागराज की सहायता की थी। किसी भी दशा में सिन्धुराज एक महान् विजेता था। उसने दक्षिण कोशल के सोमवंशी, कोंकण के शिलाहार और हूणमंडल के शासकों को पराजित किया था। उसने लाट (दक्षिण गुजरात) को भी जीता और उत्तर गुजरात के चालुक्य-राज को जीतने की चेष्टा की थी पर सफल न हो सका। उसकी मृत्यु १००० ई० के लगभग हुई और उसके बाद उसका बेटा भोज गद्दी पर बैठा।

५. चौलुक्य

९४० ई० के लगभग चौलुक्य वंश के मूलराज ने सारस्वत मंडल (सरस्वती के तटवर्ती प्रदेश) को जीत कर एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की और अहिलपाटक अथवा अहिलपट्टन, जो आजकल पाटन कहलाता है, उसने अपनी राजधानी बनायी। चालुक्य को कुछ लोग चौलुक्य का ही रूपान्तर मानते हैं,

किन्तु यह बात ठीक नहीं जान पड़ती, क्योंकि दोनों वंशों के उद्भव की कहानियाँ एक दम भिन्न हैं। चालुक्य आगे चल कर सोलंकी राजपूत कहलाये।

मूलराज ने सौराष्ट्र के पूर्वी भागों और कच्छ देश (कच्छ) जीत कर अपने राज्य का विस्तार शीघ्र ही कर लिया, किन्तु जल्दी ही उसे अपने पड़ोसियों की शत्रुता का सामना करना पड़ा। इस नवनिर्मित राज्य पर उत्तर से चाहमान नरेश विग्रहराज ने और दक्षिण से लाट के करद शासक तथा तैल द्वितीय के सेनापति बरप्प ने एक साथ आक्रमण किया। मूलराज कच्छ भागा और विग्रहराज उसके राज्य तथा लाट को रौंदता हुआ नर्मदा तट पर पहुँच गया। मूलराज ने विग्रहराज से संधि कर ली। जैसे ही विग्रहराज हटा, मूलराज ने बरप्प को हराकर मार डाला। किन्तु इससे ही वह चैन न पा सका। परमारराज मुंज उसके राज्य को रौंदता हुआ आ पहुँचा; और मूलराज मारवाड़ भागा। यद्यपि कुछ दिनों के बाद वह अपना राज्य पाने में समर्थ हुआ, किन्तु पुनः कलचुरि नरेश लक्ष्मणराज ने उसे हराया। मूलराज इन सब विपत्तियों का सामना करता हुआ अपने राज्य को बचाने में सफल रहा, यह उसके सम्बन्ध में कम महत्त्व की बात नहीं। गुजरात के आख्यानों में तो यह भी कहा गया है कि मूलराज ने सिन्धुराज और उत्तर कोशल के राजा को पराजित किया। मूलराज की ज्ञात तिथियाँ ९४२ ई० और ९९४ ई० हैं। सम्भवतः वह ९९५ ई० में मरा। उसकी मृत्यु के समय चौलुक्य-राज्य की सीमा पूर्व और दक्षिण में साबरमती नदी तक फैली हुई थी। उत्तर में जोधपुर राज्य का साँचोर भी उसमें सम्मिलित था।

मूलराज

मूलराज के बेटे और उत्तराधिकारी चामुण्डराज को भी परमारों और कलचुरियों से लड़ना पड़ा। उसकी मृत्यु १००८ ई० में हुई।

६. चाहमान

चाहमान, जो पीछे चौहान राजपूत के नाम से प्रसिद्ध हुए, ७ वीं शताब्दी में गुजरात और राजपूताना के विभिन्न भागों में राज्य करते हुए पाये जाते हैं। उनकी सर्वमुख्य शाखा सपादलक्ष प्रदेश पर राज्य करती थी जिसकी राजधानी शाकंभरी थी, जो आजकल जयपुर में साँभर के नाम से प्रसिद्ध है। यहाँ के चाहमान शासकों ने प्रतिहारों की अधीनता स्वीकार की थी। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, इस वंश के दुर्लभराज ने वत्सराज के साथ मिलकर गौड़ पर आक्रमण किया था। उसका बेटा और उत्तराधिकारी गोविन्दराज उर्फ गुवक

नागभट्ट द्वितीय के अधीन था। उसके संबन्ध में एक जगह लिखा हुआ है कि उसने सुलतान बेग्वरीस के आक्रमण को रोककर पीछे हटा दिया था। इस सुलतान की पहचान खलीफ़ा अलमामून (८१७ से ८३३ ई०) के अधीन सिन्धु के गवर्नर बशर से की गई है। एक अन्य साहित्यिक ग्रंथ के अनुसार गुहिलराज खुम्माण द्वितीय और अन्य राजाओं ने खलीफ़ा अलमामून के खिलाफत काल में अरबों के एक आक्रमण का प्रतिरोध किया था। प्रतिहार सम्राट नागभट्ट द्वितीय के सम्बन्ध में भी कहा जाता है कि उसने तुरुष्कों को पराजित किया था। सम्भवतः ये सभी एक घटना का उल्लेख करते हैं और प्रतीत होता है कि नागभट्ट द्वितीय ने अपने करद राजाओं की सहायता से, जिनमें चाहमान और गुहिल भी थे, सिन्धु के अरब गवर्नर बशर के नेतृत्व में होनेवाले आक्रमण का प्रतिरोध किया था।

१० वीं शताब्दी के आरम्भ तक चाहमान प्रतिहारों के प्रति निष्ठ रहे। किन्तु जब राष्ट्रकूटों ने महीपाल को बुरी तरह पराजित कर दिया तो वे धीरे धीरे स्वतन्त्र होने लगे। कहा जाता है कि वाक्पतिराज प्रथम ने, जो १० वीं शताब्दी के प्रथम चरण में राज्य करता था, सम्राट का संदेश लेकर आने वाले तंत्रपाल को बहुत परेशान किया। यदि यह सम्राट महीपाल प्रथम रहा हो तो अनुमान होता है कि वाक्पतिराज ने अपने अधिराट् की आज्ञाओं का उल्लंघन करना आरम्भ कर दिया था। उसके बेटे और उत्तराधिकारी सिंहराज ने, जिसकी ज्ञात तिथि ९५६ ई० है, खुले आम अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी और महाराजाधिराज की उपाधि धारण की। यह भी कहा जाता है कि उसने प्रतिहारों के अनेक करद राजाओं को बन्दी कर लिया था। उन्हें छुड़ाने के लिये स्वयं उनके अधिराट् को उसके दरवाजे आना पड़ा था। यह अधिराट् निश्चय ही महीपाल प्रथम का उत्तराधिकारी रहा होगा। इस घटना से स्पष्ट जान पड़ता है कि प्रतिहार साम्राज्य का कितनी गहराई तक पतन हो चुका था। सिंहराज के बेटे और उत्तराधिकारी विग्रहराज द्वितीय ने, जिसकी ज्ञात तिथि ९७३ ई० है, चौलुक्य राज्य और लाट को रौंद डाला था और अपनी विजयिनी सेना नर्मदा के तट तक ले गया था। उसका पहले उल्लेख किया जा चुका है। यद्यपि इन प्रदेशों से उसे शीघ्र ही हटना पड़ा, तथापि शाकम्भरी की राजधानी के आस पास वह एक शक्तिशाली राज्य छोड़ गया।

वाक्पतिराज प्रथम के छोटे बेटे लक्ष्मण ने नड्डुल (जोधपुर में वर्तमान नडौल) में अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया, जो कई शताब्दियों तक चलता

शाखा-वंश

रहा। दो अन्य चाहमान वंश राजपूताना में धौलपुर और प्रतापगढ़ में राज्य करते थे। दोनों ही प्रतिहारों के अधीन थे। धवलपुरी (धौलपुर) के शासक चण्डमहासेन ने ८४२ ई० में इस बात का गर्व प्रकट किया कि चर्मवती (चम्बल) के तटवर्ती म्लेच्छ उसकी सेवा करते थे। ये म्लेच्छ शासक सम्भवतः वे अरब सरदार थे जो नागभट्ट द्वितीय और सिन्ध के गवर्नर बशर की ऊपर उल्लिखित लड़ाई में बन्दी किये गये थे। यदि यह सच हो तो कहना होगा कि चण्डमहासेन अथवा उसके किसी पूर्वाधिकारी ने अपने सम्राट् की इस लड़ाई में अन्य करद राजाओं के साथ भाग लिया था।

७. गुहिल

उद्भव

मेदपाट (मेवाड़) के गुहिलपुत्र अथवा गुहिलोत, जो पीछे चल कर सिसोदिया राजपूतों के नाम से प्रसिद्ध हुए, भारत के मध्यकालीन इतिहास में अपना अद्वितीय स्थान रखते हैं। उनके नाम से अनेक रोमांचक कहानियाँ एवं चारण कथाएँ लगी हुई हैं। फलतः उनका वास्तविक इतिहास छिप सा गया है। अतपुर से मिले ९७७ ई० के एक अभिलेख में इस वंश की पूरी वंशावली मिलती है, और यही उनका सर्वप्रथम लिखित उल्लेख है। उसमें गुहदत्त से आरम्भ कर शक्तिकुमार तक एक के बाद एक नियमित रूप से राज्य करने वाले २० राजाओं का नाम दिया हुआ है। एक शताब्दी में पांच पीढ़ियों के हिसाब से गुहदत्त को ६ठीं शताब्दी के उत्तरार्ध में रखा जा सकता है। यह बात अन्य अभिलेख-प्रमाणों से भी सिद्ध होती है; किन्तु उन चारण—परम्पराओं के विरुद्ध जाती है; जिनके अनुसार इस वंश का संस्थापक वलभी के अन्तिम शासक शीलादित्य का बेटा गुह था। शीलादित्य ७६६ ई० में गद्दी पर था।

वप्पा

अतपुर—अभिलेख के वंश वृत्तान्त में सबसे विचित्र बात यह है कि उसमें वप्पा रावल का नाम नहीं है, जो वप्पा चारणों के वृत्तान्त के अनुसार एवं १३वीं शताब्दी के बाद के लेखों के अनुसार इस वंश के संस्थापक कहे जाते हैं। उसके आरम्भिक इतिहास के सम्बन्ध में अनेक परस्पर विरोधी बातें ज्ञात हैं। कुछ प्रवादों के अनुसार एक साधु की कृपा से उसे राज्य प्राप्त हुआ था और उसने म्लेच्छों को (कुछ अनुभूतियों के अनुसार मोरी राजाओं को) हरा कर चित्रकूट (चित्तौड़) पर अधिकार किया था।

बप्पारावल की कहानी को केवल कपोल कल्पना कह कर नहीं टाला जा सकता। जान पड़ता है कि बप्पा व्यक्तिवाचक संज्ञा न होकर किसी गहलोत राजा की उपाधि थी। सभी इतिवृत्तों में उसका ८वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में होना कहा गया है। अतः उसे इस वंश का संस्थापक नहीं कहा जा सकता। कुछ लोगों ने उसकी पहचान बतपुर के अभिलेख में उल्लिखित आठवें राजा कालभोज और कुछ ने नवें राजा खुम्माण अथवा खुम्मान से की है।

गहलोत लोग बप्पा से कम से कम दो शताब्दियों पूर्व से मेवाड़ में राज्य करते थे। उनकी सर्वप्रथम राजधानी नागह्रद[1] थी। बाद में १०वीं शताब्दी में वह हटा कर आघाट (अहर) लायी गयी। बप्पा की चित्तौड़-विजय सम्बन्धी अनुश्रुति में भी कुछ तथ्य जान पड़ता है। सम्भव है कि चित्तौड़ पर शासन करने वाले मौर्य (मोरो) अरबों के आक्रमण के सम्मुख पराजित हो गये हों; जैसा कि पीछे कहा जा चुका है। ७२५ ई० में अरब सारे उत्तरी भारत में छा गये थे। सम्भव है, नागभट्ट प्रथम की भाँति बप्पा भी उन भारतीय राजाओं में एक हो, जिन्होंने अरबों का प्रतिरोध वीरता के साथ किया था और विदेशी आक्रामकों से छीने हुए कुछ महत्त्व के नगर और दुर्ग उसके हाथ लगे हों और भारतीय इतिहास की इस नाजुक स्थिति में बप्पा ने जो ऐतिहासिक कार्य किया उससे उसकी शक्ति और ख्याति इतनी बढ़ गयी हो कि आगे आने वाली पीढ़ियों ने उसे वंश का वास्तविक संस्थापक मान लिया हो। यह इस लिए भी सम्भव है कि राज्य की राजधानी बाद में हटाकर सुप्रसिद्ध दुर्ग चित्तौड़ ले आई गई जिसे उसने अपनी शक्ति से जीता था।

मेवाड़ में शासन करने वाले गहलोतों की मुख्य शाखा के अतिरिक्त एक दूसरी शाखा जयपुर में राज्य करती थी। ये दोनों शाखाएँ प्रतिहारों की अधीनता स्वीकार करती थीं। प्रतिहार सम्राट की ओर से गुहिल शासकों के लड़ने की बात ऊपर कही जा चुकी है।

किन्तु १०वीं शताब्दी के दूसरे चरण में, किसी समय, गुहिलनरेश भर्तृपट्ट ने प्रतिहारों का जुआ उठा फेंका। ९४३ ई० के एक अभिलेख में उसे 'महाराजाधिराज' की उपाधि दी गई है। उसके बेटे और उत्तराधिकारी अल्लट ने, जिसकी ज्ञात तिथियाँ ९५१ ई० और ९५३ ई० हैं, युद्ध में देवपाल को मार डाला, जो सम्भवतः प्रतिहार सम्राट था, जो ९४८ ई० में कन्नौज में राज्य करता हुआ पाया जाता है। और जो अपने बन्दी किये गये अन्य करद राजाओं को छुड़ाने के निमित्त अपने सामंत चाहमान नरेश के द्वार जाने की बदनामी से युक्त है।

---

१. उदयपुर से १४ मील उत्तर में स्थित वर्तमान नागदा।

अल्लट के प्रपौत्र शक्तिकुमार के शासन-काल तक गुहिल राज्य फला फूला। उसके समय में परमारनरेश मुंज ने गुहिल राज्य पर आक्रमण किया और मेदपाट के गौरव राजधानी आघाट को नष्ट कर दिया। यहीं से गुहिल वंश का पतन आरम्भ हुआ। किन्तु शक्तिकुमार इस विपत्ति को झेल गया और दसवीं शताब्दी के अन्त तक राज्य करता रहा।

८. शाही (शाहिय)[1]

नवीं शताब्दी तक काबुल की घाटी और उत्तरी पश्चिमी सीमान्त प्रान्त में भारतीय हो गये विदेशियों का एक वंश राज्य करता रहा। अलबेरूनी ने उन्हें कनिष्क का वंशज लिखा है। वे लोग तुर्की शाहिय कहलाते थे। ९वीं शताब्दी के मध्य में इस वंश के राजा लगतूरमान को उसके ब्राह्मण मंत्री कल्लार ने गद्दी से उतार दिया और एक नये राजवंश की स्थापना की, जो हिन्दू अथवा ब्राह्मण शाहिय के नाम से प्रसिद्ध है। जब ८७० ई० में सफरीद याकूब इब्नलायथ ने काबुल पर कब्जा कर लिया तो इस राज्य को राजधानी उद्भाण्डपुर (ओहिन्द), हुई, जो आज अटकसे १५ मील ऊपर सिन्धु नदी के दाहिने किनारे पर स्थित उण्ड नामक एक छोटा सा गांव है।

इस नये वंश के संस्थापक कल्लार को लोग लल्लीय शाही मानते हैं, जिसकी प्रशंसा राजतरंगिणी में उचित ही की गयी है और कहा गया है कि वह उत्तर के राजाओं में सबसे शानदार था और अनेक शासकों को उसकी राजधानी में शरण मिली थी। नये शाही राज्य का कश्मीर के साथ घनिष्ठ राजनीतिक सम्बन्ध था। लल्लिय के बेटे तोरमाण को एक अनधिकारी व्यक्ति ने निकाल बाहर किया था, किन्तु कश्मीर की सहायता से वह पुनः राज्य पाने में समर्थ हुआ। तोरमाण की मृत्यु के बाद—वह कमलुक और कल (कमल ?) वर्मन् के नाम से भी प्रसिद्ध है—उसका बेटा महाराजाधिराज परमेश्वर साहि श्री भीमदेव के नाम से गद्दी पर बैठा। कश्मीर की रानी दिद्दा भीमदेव की दौहित्री थी और उसके पति क्षेमगुप्त (९५०–९५८ ई०) के राज्यकाल में उस राज्य पर भीमदेव का काफी प्रभाव था।

उसके बाद का उल्लेखनीय शासक जयपाल हुआ, किन्तु पता नहीं कि वह भीम का वंशी था अथवा किसी स्वतन्त्र वंश का था। उपरली स्वात की एक

---

१. इस वंश का नाम भिन्न भिन्न रूपों में यथा शाहि, शाही और शाहिय पाया जाता है। इस वंश के एक लेख में "साही" रूप भी प्रयुक्त हुआ है। (एपीग्रैफिया इण्डिका, भाग २१ पृष्ठ २९८)।

पहाड़ों पर एक भग्न अभिलेख मिला है, जिसमें परमभट्टारक महाराजाधिराज श्री जयपालदेव का नाम लिखा हुआ है और वजिरस्थान (स्पष्टतः आजकल का वजीरस्तान) में कुछ धार्मिक दान किये जाने का उल्लेख है। कुछ मुसलमान इतिहासकारों ने जयपालके ६६१ ई० में लाहौर के राज्य पर अधिकार करने का विस्तृत उल्लेख किया है। इन सब बातों से स्पष्ट है कि जयपाल का राज्य काफी विस्तृत था। उसके अन्तर्गत पूर्व में सरहिन्द तक पश्चिमी पंजाब, दक्षिण में मुलतान, पश्चिम में उत्तर-पश्चिमी सीमान्त प्रान्त और लमघान (लघमान) तक पूर्वी अफ़गानिस्तान शामिल था। इस प्रकार जिन दिनों उसके पड़ोस में गजनी राजधानी वाले तुर्की राज्य की स्थापना हुई; जयपाल भारत के द्वार की रक्षा कर रहा था। जयपाल और उसके उत्तराधिकारी के शासन-काल की मुख्य घटना इस तुर्की राज्य के साथ चलने वाली दीर्घकालीन लड़ाई है, जिसका उल्लेख आगे किया जायेगा।

९. अन्य छोटे राज्य

उपर्युक्त शक्तिशाली राज्यों के अतिरिक्त, जिनमें अधिकांश प्रतिहार साम्राज्य के ध्वंस पर उठे थे, कुछ अन्य कम शक्तिशाली राज्य भी थे, जिन्होंने प्रतिहारों से अपने को स्वतन्त्र कर लिया था, किन्तु अपनी सीमा के बाहर तत्कालीन राजनीति में उनका कोई महत्व न था।

इन में से चार राज्य काठियावाड़ प्रायद्वीप में थे, जो प्रतिहार साम्राज्य का एक मुख्य अंग था। पश्चिम में सैन्धव लोग थे, जो जयद्रथ वंश के नाम से प्रसिद्ध थे। उनकी राजधानी भूमिलिका थी, जो आजकल पोरबन्दर से २५ मील उत्तर-पश्चिम भूमिली अथवा घूमिली नाम से बर्दा पर्वत की घाटी में बसी हुई है। इस वंश के सबसे पहले शासक पुष्यदेव के समय में (७११ ई० के आस पास) सिन्ध के अरबों ने उसके राज्य पर आक्रमण किया। इसके १७ वर्षों बाद सिन्ध के गवर्नर हिशाम ने उसके विरुद्ध अपनी नौसेना भेजी। सैन्धवों ने, जो अपने को अपर समुद्राधिपति कहते थे, उन्हें मार भगाया। ७७६ ई० में अरब नौसेना ने पुनः उनपर आक्रमण किया। अरब इतिहासकारों के कथनानुसार उस समय कोई महामारी फैल गयी, जिसके कारण बहुत से सिपाही मर गये और नौसेना को वापस लौटना पड़ा। किन्तु अधिक सम्भावना इस बात की ही है कि सैन्धव नौसेना ने अरब नौसेना को भगा दिया हो, क्योंकि एक सैन्धव अभिलेख के अनुसार उसके शासक अगुक प्रथम ने अपने देश को शक्तिशाली शत्रुओं की नौसेना के सागर में डूबने से बचाया

सैन्धव

था। जो भी हो, इसके बाद अरबों ने भारत के तटवर्ती देशों के विरुद्ध अपनी नौसेनायें भेजना बन्द कर दिया। भारत को अरबों के समुद्री आक्रमणों से बचाने का श्रेय स्वाधीन सैन्धवों को ही है, जो अपने सैनिक अभियानों के कारण ख्याति प्राप्त करने वाली इनी गिनी प्राचीन भारतीय शक्तियों में हैं।

जंतुक के बेटे और उत्तराधिकारी राणक के राज्य काल में सैन्धवों को नागभट्ट द्वितीय ने जीत लिया। उन्होंने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। फिर भी इससे प्रतिहारों के दूसरे करद राज्य चाप के विरुद्ध उन्हें युद्ध करने में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित न हुई। महासामन्ताधिपति जायक द्वितीय, जिसकी ज्ञात तिथियाँ ९०४ ई० और ९१५ ई० हैं, इस वंश का अन्तिम ज्ञात शासक था। उसके पश्चात् इस राज्यको आभीरराज गृहरिपु ने जीत लिया। कहा जाता है कि आज के जेठवा राजपूत सैन्धव राजवंश के ही प्रतिनिधि हैं।

चाप, जो चावड़ा और चावोत्कट नाम से भी प्रसिद्ध हैं, ९वीं शताब्दी ई० में काठियावाड़ प्रायद्वीप के एक भाग में राज्य करते थे। उनकी राजधानी वर्धमान (आधुनिक बढ़वान) थी। वे लोग १०वीं शताब्दी के मध्य तक प्रतिहारों के अधीन थे, पश्चात् चौलुक्य मूलराज ने उन्हें हरा कर उनके राज्य को अपने राज्य में मिला लिया।

चाप

८वीं शताब्दी ई० के अन्तिम दिनों से एक चालुक्य वंश जूनागढ़ के प्रदेश में राज्य करता था। वे लोग प्रतिहारों के अधीन थे। उनके शासक बाहुकधवल का दावा है कि उसने धर्मवीर (धर्मपाल), एक कर्णाट सेना (अर्थात् राष्ट्रकूट) और अन्य अनेक राजाओं को हराया था। स्पष्टतः उसने अपने स्वामी नागभट्ट द्वितीय की उस सेना में भाग लिया था, जिसे उसने अपने शत्रुओं के विरुद्ध भेजी थी। बाहुकधवल का प्रपौत्र अवन्तिवर्मन् द्वितीय ८९९ ई० में राज्य करता था और वह महेन्द्रपाल का करद था। वह चापों से लड़ा और उसे परमार-राज सीयक द्वितीय ने हराया। इस राज्य को १०वीं शताब्दी के मध्य में आभीरों ने जीत लिया।

चालुक्य

१०वीं शताब्दी के मध्य में गृहरिपु के राज्यकाल में आभीर लोग काफी शक्तिशाली हो गये थे। गृहरिपु की राजधानी वामनस्थली (जूनागढ़ से ९ मील पश्चिम वर्तमान वनथली गाँव) थी। जैसा कि कहा जा चुका है, उसने सैन्धवों और चालुक्यों को हराया और सारा दक्षिणी और पश्चिमी सौराष्ट्र उसके अधीन हो गया। गृहरिपु को म्लेच्छ राजा बताया गया है। कहा जाता है कि वह गोमांस खाता और अपने राज्य के अन्तर्गत पड़ने वाले प्रभास तीर्थ (सोमनाथ) जाने वाले यात्रियों को,

आभीर

कुछ करता था। उसके इन अत्याहूण कार्यों से चौलुक्य मूलराज बहुत क्रुद्ध हुआ और उसके राज्य पर आक्रमण कर उसे बन्दी कर लिया।

काठियावाड़ प्रायद्वीप के उत्तर चापों की एक दूसरी शाखा सम्भवतः आठवीं शताब्दी से राज्य करती थी और उसकी राजधानी अन्हिलपाटक थी। इस वंश के स्थान को चौलुक्यों ने ले लिया, जिसके संस्थापक मूलराज के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उसका मातृकुल चापों में था।

चाप

चाहमानों के उत्तर-पश्चिम तोमर थे, जो बाद में राजपूतों की ३६ जातियों में से एक कहे जाने लगे। तोमरों का राज्य हरियाना प्रदेश पर था और उनकी राजधानी ढिल्लीका थी जो पीछे दिल्ली के नाम से प्रसिद्ध हुई। अनुश्रुतियों के अनुसार दिल्ली की स्थापना तंवरों—तोमर का संक्षिप्त रूप—ने की थी। किन्तु तोमरों का अभिलेखों में सर्वप्रथम उल्लेख ९ वीं शताब्दी ईसा से पूर्व नहीं पाया जाता। उन दिनों वे प्रतिहारों के करद थे। सम्भवतः दसवीं शताब्दी के मध्य में जब प्रतिहारों का चाहमानों के साथ निरन्तर संघर्ष चल रहा था, तोमरों ने अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी और वे लोग दिल्ली के आस-पास के प्रदेश पर १२ वीं शताब्दी तक राज्य करते रहे। उस समय उन्हें चाहमान राजा विग्रहराज तृतीय वीसलदेव ने उखाड़ फेंका।

तोमर

चाहमानों के पूरब, पीछे कछवाहा राजपूत नाम से प्रसिद्ध होने वाले, कच्छपघाट लोगों ने दसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में अपना शक्तिशाली राज्य स्थापित किया। इस वंश के वज्रदामन् ने ९७७ ई० से कुछ पहले गाधि नगर के राजा अर्थात् कन्नौज के प्रतिहार राजा को हराया और गोपगिरि अर्थात् ग्वालियर के सुप्रसिद्ध दुर्ग को जीत लिया। इस काल में गोपगिरि चंदेलों के अधीन था। जान पड़ता है कि वज्रदामन् ने चंदेल नरेश धंग और उसके स्वामी प्रतिहार—दोनों को हराया था। संभवतः प्रतिहार सम्राट् भी इस दुर्ग की रक्षा के लिए सहायतार्थ आया था। सम्भवतः इस पराजय के पश्चात् धंग ने प्रतिहारों की नाममात्र की अधीनता से भी अपने को मुक्त कर लिया।

कच्छप घाट

सातवाँ अध्याय

सुल्तान महमूद के आक्रमण

पिछले अध्याय में भारत की राजनीतिक स्थिति का जो दिग्दर्शन किया गया है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जिन दिनों १० वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में प्रतिहार विजयपाल का बेटा राज्यपाल कन्नौज की गद्दी पर बैठा, भारत की राजनीतिक अवस्था ठीक वैसी ही थी जैसी कि किसी बड़े साम्राज्य के विघटन के पश्चात् प्रत्येक देश में हुआ करती है। प्रतिहारों का शासन कन्नौज और उसके आस-पास तक ही सीमित था। शेष उत्तरी भारत स्वतन्त्र राज्यों में बँटा हुआ था, जो एक दूसरे से लड़ रहे थे। यदि ये राज्य अपने तक ही छोड़ दिये जाते तो देर-सबेर कोई न कोई राजनीतिक पुनर्व्यवस्था हो ही जाती जैसा कि अनेक बार पहले हो चुका था। पर ऐसा होना न था। प्रभुत्व के लिए बड़ी शक्तियों की लड़ाई के कारण उत्तरी भारत अपनी सैनिक शक्ति खो चुका था, और देश साँस भी न ले पाया था कि पश्चिम में इस्लामी शक्ति का उदय हुआ, जिसने सारी स्थिति ही पलट दी। जो राज्य आपस में प्रभुत्व के लिए लड़ रहे थे वे सब अब एक साथ बर्बाद होने लगे।

लगभग ९३३ ई० में अलप्तगीन नामक सामानी राजाओं के एक गुलाम तुर्क ने गजनी के आस-पास सुलेमान की पहाड़ियों में एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की। उसकी मृत्यु के कुछ दिनों बाद ९७७ ई० में उसका राज्य,

सुबुक्तगीन

उसके सबुक्तगीन नामक तुर्की गुलाम के हाथ लगा। वह अपने को फारस के अन्तिम बादशाह का वंशज कहता था, किन्तु तुर्किस्तान में अधिक दिनों से रहने के कारण उसका परिवार तुर्क कहलाता था। बचपन में सबुक्तगीन बंदी कर गुलाम के रूप में अल्प्तगीन के हाथ बेंच दिया गया था। किन्तु अपनी योग्यता के बलपर बढ़ते २ वह ऊँचे पद पर पहुँच गया और अलप्तगीन की बेटी से उसने शादी कर ली। अलप्तगीन की मृत्यु के पश्चात् जो अव्यवस्था और अराजकता फैली उसका लाभ उठा कर सुबुक्तगीन ने गद्दी पर अधिकार कर लिया। सामानी बादशाह ने भी उसके राज्यारोहण को मान्यता दे दी। उसकी नाममात्र की अधीनता वह मानता रहा।

वहीं पर बैठते ही सुबुक्तगीन ने पड़ोसी राज्यों को जीतकर अपने राज्य का चतुर्दिक् विस्तार किया। जैसा कि कहा जा चुका है, शाही नरेश जयपाल पूरब में हकरा नदी से लेकर पश्चिम में काबुल पर्वत तक के विस्तृत प्रदेश पर राज्य करता था। उसे अपनी सीमा के निकट ही एक बहुत भारी मुसलमान राज्य का बढ़ना अच्छा न लगा। जब सुबुक्तगीन ने उसके राज्य पर कई बार धावे किये तो उसे वह सहन न कर सका, और उसके नये राज्य पर उसने आक्रमण किया। दोनों सेनायें जलालाबाद के निकट भिड़ीं; किन्तु लड़ाई आरम्भ होने से पूर्व ही एक भयंकर तूफान आया। फलतः, जयपाल को सुबुक्तगीन के साथ सन्धि कर पीछे लौटना उचित जान पड़ा। अपने राज्य में सकुशल लौट आने के बाद जयपाल ने इस सन्धि को मानने से इन्कार कर दिया। फलतः वही हुआ जिसे जयपाल अब तक रोकना चाहता था। सुबुक्तगीन ने भारत पर आक्रमण करने के लिए सेना एकत्र की। जयपाल ने बहुत पहले से ही आक्रमण के खतरे को भाँप लिया था। उसने स्थिति की गंभीरता को अच्छी तरह आँका और मातृभूमि की रक्षा के लिए अन्य भारतीय नरेशों से सहायता की याचना की। कन्नौज नरेश तथा चाहमान और चन्देल राजा उसकी सहायता को आगे आये।

पहले कहा जा चुका है कि ८ वीं शताब्दी में ही इस्लामी सेना ने भारत में अपने पैर जमा लिये थे, किन्तु वह सिन्धु प्रदेश से आगे बढ़ने में असफल रही। प्रतिहारों के कारण ही मुसलमान आगे न बढ़ सके। बहुत पहले से ही वे मुस्लिम आक्रमणों के विरुद्ध दीवार बन कर खड़े रहे। प्रतिहार वंश के संस्थापक नागभट्ट की महत्ता ८वीं शताब्दी में उनके विरुद्ध सफल अभियान के कारण ही हुई। उस समय जान पड़ता था कि जो कुछ भी सामने आयेगा उस पर मुस्लिम-आक्रामक अधिकार कर लेंगे। बाद में तो जब प्रतिहार लोग अपने उत्कर्ष की चोटी पर थे, वे इस्लाम के कट्टर शत्रु समझे जाते थे। मसूदी ने लिखा है कि जहाँ राष्ट्रकूट मुसलमानों के मित्र थे, वहाँ कन्नौज के गुर्जर राजाओं से उनकी बराबर लड़ाई होती रही। वस्तुतः मुलतान के मुसलमान शासक अपनी इस धमकी के कारण ही बचे रहे कि यदि उन पर आक्रमण हुआ तो वे सारे देश में पूजित उस सूर्यदेव के सुप्रसिद्ध मंदिर को नष्ट कर देंगे जो उनके शासन-क्षेत्र में स्थित था। प्रतिहारों के ह्रास के पश्चात् कोई राज्य इतना शक्तिशाली नहीं रह गया था जो इस्लाम के आक्रमण का सफलतापूर्वक प्रतिरोध कर सके। फलतः जब गजनवी बादशाहों ने भारत के भीतर इस्लाम की चौकी बनाने के अनुकूल इस अवसर को समझा तो सबसे पहले पड़ने वाले राज्य के राजा जयपाल के देश के शक्ति-शाली राजाओं से आर्त याचना

करनी पड़ी। केवल यही उसके वश की बात थी। कन्नौज के अब शक्तिहीन और प्रतिष्ठाशून्य प्रतिहार राजा को अपने वंश की गौरवमयी कीर्ति याद आयी। कर्तव्य की पुकार सुनकर मुसलमान शत्रुओं के विरुद्ध संगठित जयपाल के संघ में वह सम्मिलित हुआ। उसके साथ उसके करद चाहमान और चंदेल राजे भी थे। यह ९९१ ई० की बात है। प्रतिहार साम्राज्य का झंडा धर्म और देश की रक्षा के निमित्त सुदूर अफगानिस्तान की कुर्रम नदी की घाटी में फहराने लगा। सैकड़ों हजारों भारतीय देशभक्तों के रक्त से नदी का पानी लाल हो उठा, फिर भी सफलता सुबुक्तगीन को मिली और वह सिन्धु तक के सारे प्रदेश का स्वामी बन बैठा।

९९७ ई० में सुबुक्तगीन की मृत्यु हो गई। उसके नये वंश के प्रति सद्भाव रखने वाले सासानी बादशाहों ने उसके बेटे महमूद को पूर्वी फारस के एक धनी प्रान्त खुरासान का गवर्नर बना दिया था। अतः सुबुक्तगीन ने अपने छोटे बेटे इस्माईल को गजनी की गद्दी का उत्तराधिकारी मनोनीत किया। इस्माइल ने पिता के मरते ही अपने को बादशाह घोषित कर दिया; किन्तु महमूद ने उसे पराजित कर गजनी को जीत लिया और अपने को बादशाह घोषित किया। इसी समय सासानी राज्य में अव्यवस्था और अराजकता फैली जिसका लाभ उठाकर महमूद स्वतन्त्र हो गया। खलीफा ने उसे राज्याधिकृत कर दिया और उसने सुलतान की उपाधि धारण की। खलीफा ने उसे यामीनुद्दौला की उपाधि दी जिसके कारण उसका वंश यामिनी वंश कहलाता है।

महमूद निःसंदेह अपने युग का सर्वोच्च सैनिक था। वह सिन्धु से लेकर फारस के मध्य तक की विस्तृत भूमि का स्वामी था। अब उसने अपने पिता की नीति को बड़े पैमाने पर जारी रखने का निश्चय किया और १०,००० चुने हुए घुड़सवारों को लेकर भारत की ओर बढ़ा। वृद्ध राजा जयपाल ने अपने शत्रु का मुकाबला पेशावर के निकट किया, किन्तु पराजित हुआ और बन्दी कर लिया गया। महमूद सतलज के आगे बढ़ा। भेंट देने के वादे पर जयपाल की रिहाई हुई; किन्तु इस अपमान को सहते हुए जीवित रहना उसे असह्य था। अतः अपने हाथों अपनी चिता बनाकर वह जल मरा।

इसके बाद जो कुछ हुआ उससे भारत की आत्मा ही नष्ट हो गयी। वर्ष प्रतिवर्ष महमूद भारत में धावे करने लगा। किसी मुख्य स्थान को लक्ष्य कर वह धावा करता। रास्ते में जो कुछ मिलता उसे लूटता और अपने पहुंच के भीतर के मन्दिरों को नष्ट-भ्रष्ट करता और लूट के माल से लदा हुआ घर लौटता। वह अत्यन्त सन्तोषपूर्वक यह समझता था कि हिन्दू देवताओं की मूर्तियों को नष्ट कर

वह अपने धर्म को आगे बढ़ा रहा है। उसका एकमात्र उद्देश्य प्रदेशों को नष्ट करना और मन्दिरों को भ्रष्ट करना था। उसे भारत में साम्राज्य स्थापित करने की चिन्ता उतनी न थी जितनी कि उसके प्रभूत धन को लूटने और असंख्य मंदिरों की मूर्तियों को तोड़ने की आकांक्षा।

किन्तु भारतीय भी देश और धर्म पर आयी हुई विपत्ति से बेखबर न थे। जयपाल के बेटे और उत्तराधिकारी आनन्दपाल ने एक संघटन किया, जिसमें पश्चिमी और मध्य भारत के प्रमुख राजाओं ने भाग लिया। कन्नौज का वृद्ध राजा राज्यपाल भी अपनी वंश-परम्परा के अनुसार इस पवित्र युद्ध में सम्मिलित हुआ तथा चन्देलों ने भी उसमें प्रमुख भाग लिया। देश और धर्म की रक्षा के लिए इससे पूर्व कभी इतनी बड़ी सेना संघटित नहीं हुई थी। यह सेना दृढ़तापूर्वक शत्रु के क्षेत्र की ओर बढ़ी। भारत की स्वतन्त्रता के लिए यह अन्तिम जीतोड़ लड़ाई थी, इस बात को लोगों ने अच्छी तरह समझ लिया था। यह भावना भारत के हृदय में इतनी गहराई के साथ घुस गयी थी कि न केवल दूर २ से पुरुष ही युद्ध में सैनिक रूप में सम्मिलित होने के लिए नित्य प्रति आते रहे वरन् "हिन्दू स्त्रियों ने भी अपने जवाहरात बेंच डाले, सोने के गहने गला डाले और दूर २ से इस पवित्र युद्ध की सहायता के लिये धन भेजा।" इस राष्ट्रीय संग्राम में एकमात्र सम्मिलित न होने वाली उत्तर भारत की शक्ति बंगाल के पाल राजा महीपाल की थी, जो अपने घरेलू झगड़े में इतनी बुरी तरह व्यस्त था कि वह बाहर सेना भेजने की बात सोच भी न सकता था। इस एकमात्र अपवाद को छोड़ कर सारे आर्यावर्त्त की संतानें मातृभूमि की पुकार पर एकत्र हो गयीं और आधुनिक इतिहासकारों के इस आरोप को कम से कम एक बार तो अवश्य झूठा सिद्ध कर दिया कि राष्ट्र-संकट के समय उनमें एकता और देशभक्ति का अभाव रहा है।

सुल्तान महमूद ने शत्रु की शक्ति को कम नहीं समझा; किन्तु वह शतसमर-विजयी वीर था और उसमें ऐसी साहसिकता और सैनिक प्रतिभा थी जो चीन की दीवार तक विस्तृत समस्त तातारों के शासक ईलकखाँ की विशाल सेनाओं को भगा देने में समर्थ था और इस नाजुक मौके पर भी वह साहस और सैनिक प्रतिभा कुण्ठित न हुई। एक योग्य सेनापति की भाँति उसने स्वयं आक्रमण कर पूरी शक्ति को खतरे में डालना उचित न समझा। उसने पेशावर के निकट रक्षात्मक मोर्चा बनाया और खाईयों द्वारा उसे सुदृढ़ किया। उसकी योजना थी कि भारतीयों को इसके लिये उत्तेजित किया जाय कि वे उसके दुर्गयुक्त स्कन्धावारों पर आक्रमण करें ताकि वह अपनी सैनिक-संख्या की कमी को अपने सुदृढ़ मोर्चे से पूरा कर सके।

किन्तु उसने अपने जीवन में पहली बार गलती की। भारतीयों ने उसके शिविर पर आश्चर्यजनक तेजी के साथ आक्रमण किया और पहले ही हमले में महमूद के तीन-चार हज़ार सैनिक और घोड़े मार डाले गये।

नेपोलियन ने एक बार कहा था कि "मनुष्यों की संख्या नहीं वरन् एक व्यक्ति युद्ध का भाग्य-निर्णय करता है।" उसका यह कथन यहाँ अर्थों में चरितार्थ हुआ। इन आघातों से महमूद तनिक भी विचलित नहीं हुआ। अपनी सेना में अनुशासन रखते हुए उसने धैर्यपूर्वक स्थिति का पर्यवेक्षण किया। दूसरी ओर भारतीय सेना अपनी सफलता के मद में न तो व्यवस्था रख सकी न अनुशासन। भारतीय सेनापति स्वयं इस अव्यवस्था में सम्मिलित था। पुनः एक ऐसी दुर्घटना हुई जिसने भारतीयों के हाथ से विजय छीन ली। जिस हाथी पर भारतीय सेनापति सवार था वह भयभीत होकर युद्ध-क्षेत्र से भागा। अपने सेनापति को भागते देख भारतीयों का दिल छोटा पड़ गया और उनका जोश ठंडा हो गया। सुलतान महमूद की पैनी आँखों ने वास्तविक स्थिति को परख लिया और वह अपने १०,००० घुड़सवारों के साथ उन पर टूट पड़ा। भारतीय चारों ओर इधर-उधर भागने लगे पर सुल्तान ने उन्हें भागने न दिया। युद्ध नरवध का दृश्य उपस्थित था। २०,००० भारतीय बधे गये। भारतीय सैनिकों की अदम्य वीरता के बावजूद भी बुरे नेतृत्व के कारण भारतीयों को पराजय हुई।

इस विजय के पश्चात् सुलतान ने नगरकोट को जीता। सारी सेना युद्ध में चली आयी थी, इसलिए रक्षा के लिए वहाँ कोई न था। उसके हाथ लगे ७,००,००० स्वर्ण दीनारें, ७०० मन सोने और चाँदी के पत्तर, २०० मन शुद्ध सोने के पासे, २००० मन चाँदी और २० मन जवाहरात, जिसमें मोती, मूँगा, हीरा और लाल शामिल थे।

इसके बाद समय-समय पर उसने भारत पर जो धावे किये, उनका कोई उल्लेखनीय प्रतिरोध न हुआ। कहा जाता है कि उसने १७ बार धावे किये और प्रत्येक धावे में उसने हत्या, लूट, विध्वंस और मंदिरों का विनाश किया। दो बार तो उसने राजधानी कन्नौज पर धावा किया, जो अपनी शान और दौलत में सबसे बढ़ा था। राज्यपाल ने महमूद को अपने राज्य की सीमा पर रोकने की कोशिश की। पर जब वह अपनी छोटी सी सेना के साथ राजधानी की रक्षा करने में असमर्थ रहा तो गंगा पारकर ३० मील पूर्व बारी को चला गया। सुलतान ने कन्नौज की रक्षा करने वाले सातों दुर्गों पर अधिकार कर लिया। उसके बाद उस सुन्दर नगर में खुल कर लूट और हत्या की (१०१९ ई०)। दूसरे वर्ष उसने बारी पर अधिकार कर लिया और चन्देल राजा की ओर बढ़ा किन्तु वहाँ उसे

अंतिक सफलता न मिली। आनन्दपाल के उत्तराधिकारी जयपाल द्वितीय ने उसका प्रतिरोध किया। इन कार्यों के फलस्वरूप सुलतान ने समस्त पंजाब अपने राज्य में मिला लिया।

महमूद का अन्तिम उल्लेखनीय धावा सोमनाथ के सुप्रसिद्ध मंदिर पर हुआ। यह चौलुक्यों के साम्राज्य के अन्तर्गत था, जिनका उल्लेख पहले हो चुका है। भारतीय राजाओं—विशेषतः चौलुक्य राजा चामुण्डराज के पुत्र दुर्लभराज के चरित्र पर यह घोर लांछन है कि ऐसे समय जब उत्तरी भारत सुल्तान महमूद के कठोर आघातों से लड़खड़ा रहा था, वे आपस में एक स्त्री के लिए स्वयंवर समारोह में लड़ते रहे। दुर्लभराज ने स्वयंवर में एक चाहमान राजकुमारी को प्राप्त तो किया पर उसे स्वयंवर में निराश होने वाले अनेक राजाओं से लड़ना पड़ा। उसने अपनी शक्ति लाट को जीतने में लगायी। १०२२ ई० में अपने भतीजे भीमदेव प्रथम के पक्ष में उसने राजत्याग किया। जब भीमदेव ने सुना कि सुल्तान आ रहा है तो वह कच्छ की ओर भागा। सुल्तान ने राजधानी अहिलपाटक पर अधिकार कर लिया और सोमनाथ की ओर बढ़ा। १०२५ ई० में वह वहाँ पहुँचा। मन्दिर के रक्षकों का भीरु नेता उन्हें निःसहाय छोड़कर भागा। फिर भी उन्होंने महमूद का वीरता के साथ प्रतिरोध किया और तीन दिनों तक लगातार वे मुस्लिम लुटेरों को नगर के दुर्ग के बाहर खदेड़ते रहे। लड़ाई में मुसलमान सेना प्रायः हरायी जा चुकी थी; किन्तु महमूद के असीम साहस और सैनिक योग्यता ने युद्ध के निर्णय को बदल दिया। जब महमूद ५०,००० रक्षकों के मृत शरीरों को कुचलता हुआ मन्दिर में घुसा तो भवन की भव्यता और शान-शौकत को देख कर वह अवाक् रह गया। मन्दिर के पुजारियों ने मूर्ति को न छूने का अनुनय-विनय किया और उसे काफी धन देने का लालच भी दिखाया, किन्तु सुल्तान ने जो उत्तर दिया वह उसके व्यक्तित्व के अनुरूप ही था। उसने कहा कि "मैं बुतफरोश (मूर्ति-विक्रेता) कहलाने की अपेक्षा बुतशिकन (मूर्ति-विध्वंसक) कहलाना पसंद करूँगा और उसने मूर्ति को, जो सम्भवतः शिवलिंग था, चूर २ कर दिया। सुल्तान के हाथ जो धन लगा वह असीम था और पिछली सभी लूटों में प्राप्त धन से कहीं अधिक था। गजनी लौटते समय सुल्तान की सेना को राजपूताना के रेगिस्तान में काफी कष्ट उठाना पड़ा। कहा जाता है कि सोमनाथ के विनाश का प्रतिशोध लेने की दृष्टि से उसके एक पुजारी ने पथ-प्रदर्शक का काम स्वयं अपने ऊपर लिया और उसे एक ऐसे रास्ते से ले गया जिससे वह समझता था कि वे सब निश्चय ही नष्ट हो जायेंगे। किन्तु सुल्तान अपनी सेना को किसी प्रकार निकाल ले गया और वे कुशलपूर्वक गजनी पहुँच गये। अब उसका ध्यान पश्चिम के प्रदेशों की ओर गया

और उसने फारस का बहुत बड़ा भाग जीत लिया। इस बड़ी सफलता के कुछ ही दिनों बाद १०३० ई० में सुल्तान की मृत्यु गजनी में हो गयी।

सुल्तान महमूद निस्संदेह संसार के बड़े से बड़े मेधावी सैनिकों में था। धैर्य पूर्ण साहस, बुद्धिमत्ता और साधन सम्पन्नता तथा हृदय और मस्तिष्क के उसके अन्य अनेक गुण ऐसे थे जिनका आदर और सराहना सारा संसार करेगा। किन्तु इसके बावजूद भी भारत का इतिहासकार महमूद को विकृत ढंग का लुटेरा ही कह सकता है। उसने देश की अपार धन-राशि को लूट कर इस देश के वासियों पर असीम विपत्तियाँ लादीं। उसकी बर्बरता और क्रूरता की कोई सीमा न थी। उसका धार्मिक जोश धर्मान्धता की सीमा तक पहुँच गया था और उसने एक महान् जाति की धार्मिक भावनाओं पर निर्ममतापूर्वक आघात किया। उसमें शालीनता के उस आदर्श का सर्वथा अभाव था जो प्रायः निर्मम से निर्मम विजेताओं में भी किसी न किसी रूप में पाया जाता है। उसमें साम्राज्य-स्थापना की वह लिप्सा भी न थी, जिसे सभी युग और राष्ट्रों के लोगों ने एक उच्च एवं उचित आकांक्षा कहा है। उसकी भारतीय नीति आद्यन्त लूट, विनाश, हत्या और विध्वंस की आदिम प्रवृत्तियों से भरी थी।

अक्सर मान लिया जाता है कि सुल्तान महमूद के आक्रमण का भारत पर कोई स्थायी प्रभाव नहीं पड़ा। किन्तु यह सबसे बड़ी भूल है। उसने भारत के सैनिक और आर्थिक साधनों को बुरी तरह निचोड़ लिया। पंजाब पर मुसलमानों के अधिकार ने भारतीय साम्राज्य के द्वार के खोलने में कुंजी का काम किया। भारतीय साम्राज्य में बड़ी-बड़ी दरारें पहले ही पड़ चुकी थीं। अब प्रश्न इस बात का नहीं था कि वह विशाल भवन गिरेगा या नहीं; वरन् प्रश्न इतना ही था कि वह कब ढहेगा।

आठवाँ अध्याय

११ वीं–१२ वीं शताब्दी ई० में उत्तरी भारत

१. सिंहावलोकन

सुल्तान महमूद के अन्तिम आक्रमण और मुसलमानों द्वारा उत्तरी भारत के अधिकांश भाग की विजय के बीच लगभग पौने दो शताब्दियों का अन्तर था। इस अवधि के बीच का भारतीय इतिहास दुःखद है; फिर भी अध्ययन की दृष्टि से रोचक है। लोगों की सामान्यतः धारणा है कि इस अवधि के बीच भारत मुस्लिम आक्रमणों से बचा रहा। किन्तु वस्तुतः यह बात गलत है। सुल्तान महमूद के उत्तराधिकारी जब कभी भी सम्भव हुआ अपनी विजयी सेना लेकर भारत के भीतर घुसने की नीति बरतते रहे और उन्होंने अनेक सैनिक अभियान भी भेजे। इस नीति और लक्ष्य को उन्होंने कभी छिपाया नहीं। भारतीय शासकों ने भी अनुभव किया कि पंजाब में आक्रामक इस्लामी राज्य की स्थापना सारे भारत के लिए खतरे की वस्तु होगी। इस बात की उपेक्षा करने अथवा इसकी गुरुता को न मानने का उनके पास कोई कारण भी न था। अतः यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि उन्होंने मातृ-भूमि की रक्षा के लिए क्या उपाय किया? क्या उनकी असफलता का कारण दूर-दर्शिता का अभाव, एकता की कमी, सैनिक योग्यता की एवं संघटन की कमी थी अथवा कोई अन्य कारण था, जिसपर उनका कोई वश न था? आनेवाली पीढ़ियों के लोग समझते हैं कि उनके महान् विश्वास-भंग के कारण ही यह देश पराधीन हुआ और इस पर एक विदेशी संस्कृति लद गयी जिसके प्रभाव से न तो वह कभी मुक्त हो सका और न भविष्य में वह कभी मुक्त हो सकेगा। अतः इतिहासकार का कर्त्तव्य हो जाता है कि वह उन तथ्यों की यथासम्भव खोज करे जिनके आधार पर जनमत द्वारा लांछित तत्कालीन भारतीय जनता और शासकों के संबंध में, सत्यासत्य का निर्णय किया जा सके। खेद है कि आज का इतिहासकार अपने इस कर्त्तव्य-पालन की स्थिति में नहीं है। न तो तत्कालीन किसी भारतीय ने उस कठिन काल की घटनाओं को लिपिबद्ध करना उचित समझा और न उसके तुरंत

बाद की आने वाली शताब्दियों में ही किसी ने इस बात की परवाह की कि वह भारत के भाग्य में महान् परिवर्तन उपस्थित करने वाली परिस्थितियों की छानबीन करे। फलतः हमारी इस काल के इतिहास की जानकारी कुछ राजाओं के युद्ध और विजयों, राजवंशों के उत्थान और पतन तथा राज्यों के निरन्तर सीमा-परिवर्तन के स्फुट तथ्यों तक ही सीमित है। इनका ज्ञान तत्कालीन अभिलेखों से हो सका है। यद्यपि ऐसे तथ्यों की संख्या कम नहीं है, तथापि विभिन्न घटनाओं को क्रमबद्ध करना और उनके पारस्परिक संबंधों के परिणामों पर पहुँचना असंभव है जो समूचे भारत का चित्र उपस्थित कर सकें, प्रकाश की तेज किरणें कभी-कभी दिखाई देती हैं; किन्तु कोई अटूट रेखा नहीं जान पड़ती। घटनायें ज्ञात होती हैं किन्तु उनमें क्रमबद्ध वृत्त का रूप देने वाली सामग्री का अभाव है। अतः इस रूप में जो कुछ भी ज्ञात है, सर्वथा उसे राज्यों और राजवंशों की चर्चा के रूप में यहां दिया जा रहा है। किन्तु इन तथ्यों का परस्पर एक दूसरे पर प्रभाव और भारतीय इतिहास के साथ उनके संबंध को पाठक यथा सम्भव समझ सकें, इसलिये भूमिका स्वरूप कुछ सामान्य निष्कर्षों की चर्चा यहाँ की जा रही है।

पहली उल्लेखनीय बात तो यह है कि इस काल में अनेक महान् सैनिक नेता हुए। यथा कलचुरि गांगेयदेव और कर्ण; परमार भोज, गहड़वाल गोविन्दचन्द्र, चौलुक्य जयसिंह सिद्धराज और कुमारपाल, चाहमान विग्रहराज; चालुक्य विक्रमादित्य और चोलराज राजेंद्र महान्। यदि अत्यन्त दूर के राजेन्द्र चोल को छोड़ भी दें तो इन सबको उत्तरी भारत में अनेक विजयों के प्राप्त करने का श्रेय इस सीमा तक दिया गया है कि हम सोचने को बाध्य होते हैं कि क्यों वे पंजाब स्थित गजनवी राज्य को निकाल फेंकने में असमर्थ रहे, विशेषतः ऐसी स्थिति में जब कि उनके यहाँ आन्तरिक फूट मची हुई थी और उनपर विदेशी लोग आक्रमण कर रहे थे? भारत के इस महान् खतरे के प्रति भारतीय तनिक भी बेखबर न थे, यह कतिपय भारतीय शासकों के पंजाब पर किये जाने वाले आक्रमणों के लिखित प्रमाणों से स्पष्ट हो जाता है। कम से कम एक बार तो १०४३ ई० में गजनवियों के विरुद्ध जमकर आक्रमण किया गया था। एक भारतीय शासक की यह गर्वोक्ति है कि उसने म्लेच्छों का नाश कर पुनः आर्यावर्त्त को उसके नामानुरूप आर्यों का देश बना दिया। यह इस बात का द्योतक है कि भारतीय उस खतरे से भली-भांति अवगत थे जो उनके धर्म और संस्कृति पर मुसलमानी आक्रमणों से आने वाला था। समकालीन अभिलेखों से यह भी ज्ञात होता है कि हिन्दुओं ने मुसलमान सेनाओं को कई बार पराजित किया था। इससे जान पड़ता है कि मुसलमानों में कोई विशेष सैनिक योग्यता और अनुशासन स्वयंसिद्ध न था। इन

सबके बावजूद आश्चर्य की बात तो यह है कि क्यों अथवा कैसे भारत की सुरक्षा के इस महान् खतरे-मुस्लिम राज्यको पंजाब में बना रहने दिया गया।

इसके समझने के लिए हमें चित्र की दूसरी ओर भी देखना होगा। कर्ण और भोज सरीखे शासकों ने निःसन्देह मुसलमानों को पराजित किया; और सम्भवतः यह ठीक ही कहा गया है कि उन्होंने अपने जीवनकालमें मुसलमानी आक्रमण को जोरों के साथ रोका। उनकी मृत्यु के बाद ही ये आक्रमण फिर आरम्भ हुए। किन्तु इनके साथ ही यह बात भी है कि वे अपनी विजयिनी सेनाओं को भारतीय शासकों के विरुद्ध भी दूर २ तक ले गये। पूछा जा सकता है कि इन राजाओं ने अपनी सारी शक्ति और साधन राष्ट्र के महान् शत्रुओं को मिटाने में क्यों नहीं लगाया? इस काल के इतिहास की सबसे विचित्र बात तो यह है कि ऐसे समय जब मुसलमानी सेनाएँ आग और शस्त्र बरसाती हुई भारत के भीतर घुसती चली आ रही थीं, भारतीय राजे आपस में ही निरंतर लड़ कट रहे थे। ऐसे राजा भी, जो मुसलमानों से लड़ रहे थे, अथवा भारतीय शत्रुओं से मुक्त रहने पर उनसे लड़ने की क्षमता रखते थे, इस व्याधि से अछूते न थे। इस बात के भी उदाहरण हैं कि अपने स्वार्थ-लाभ के लिए भारतीय राजाओं ने मुसलमानी आक्रामकों को सहायता पहुँचाई। किन्तु ऐसे उदाहरण बहुत कम हैं, और जो हैं भी उनमें निःसंदिग्ध तो कोई भी नहीं है। फिर भी यह कटु सत्य है कि लोगों में भारतीय अथवा हिन्दू राष्ट्रीयता की वैसी सच्ची भावना का सर्वथा अभाव था, जैसी आज हम समझते हैं। भारतीय शासकों की नीति सारे भारत के हित की दृष्टि से निर्धारित न होती थी। साथ ही उनमें वह जागरूक आत्म-स्वार्थ और सच्ची राजनीतिज्ञता भी न थी, जिससे वे अपने तात्कालिक हानि-लाभ की जगह दूरवर्ती हानि-लाभ को देख सकें। इस काल की ज्ञात घटनाओं पर सोचने-विचारने और ध्यानपूर्वक अध्ययन करने से सम्भव है कि कुछ अन्य तथ्य सामने आयें, पर यदि हम इसकाल की विभिन्न शक्तियों के इतिहास की रूपरेखा को देखें और पढ़ें तो ऊपर जो कुछ भी कहा गया है उसके उदाहरण और समर्थन हमें पग २ पर मिलेंगे।

अस्तु, हिन्दू भारत के इतिहास को पूरा करने और मुस्लिम आक्रमणों का हिन्दुओं द्वारा किये गये प्रतिरोध का चित्र उपस्थित करने के निमित्त यहाँ कतिपय राज्यों और राजवंशों का इतिहास उनके ऊपर मुसलमानों की पूर्ण विजय तक दिखाया गया है। इसके कारण इस पुस्तक अथवा और भी स्थानों पर सामान्यतः प्राचीन भारतीय युग की जो अन्तिम सीमा १२०० ई० मानी जाती है, उसे लांघकर कहीं कहीं एक शताब्दी आगे तक जाना पड़ा है।

२—कन्नौज और गहड़वाल

सुल्तान महमूद की कन्नौज और बारी की लूट ने प्रतिहारों को मृत्यु के मुख में पहुँचा दिया। साम्राज्य का अन्त हो गया और उसका शवमात्र बच रहा, तथा गिद्धों ने दावतें खायीं। चन्देले और कच्छपघाट जमाये और वृद्ध राज्यपाल पर टूट पड़े और वह लड़ाई के मैदान में वीरगति को प्राप्त हुआ। उसके बाद त्रिलोचनपाल गद्दी पर बैठा, जिसकी एक ज्ञात तिथि १०२७ ई० है। उसके साथ प्रतिहारों का वह सम्राट-वंश निःशेष हो गया, जिसने अपने नाम को चरितार्थ करते हुए २०० वर्षों से अधिक काल तक भारत के द्वार की रक्षा की।

उसके बाद आधी शताब्दी तक कन्नौज पर राष्ट्रकूट वंश के छोटे-मोटे सरदारों का राज्य रहा। ११ वीं शताब्दी के तृतीय चरण में चालुक्यराज सोमेश्वर प्रथम और चोल राजा वीरराज प्रथम ने कन्नौज पर धावा किया। १०८५ के बाद किसी समय, सुल्तान गजनवी के बेटे मसूद ने कन्नौज को जीत लिया। राष्ट्रकूट सरदार उस नगर को छोड़कर बोदमायुत (वर्तमान बदायूँ) में जा बसे। वहाँ वे १२०२ ई० तक राज्य करते रहे; पश्चात् कुतुबुद्दीन ने उसे जीत लिया।

कहा जाता है कि कन्नौज में महमूद का चाँदराय नामक एक मित्र था। उसे उसने अपनी गज-सेना का निरीक्षक नियुक्त किया था। सामान्यतः विश्वास किया जाता है कि यह चाँदराय, अन्य कोई नहीं, वरन् गहड़वाल वंश का चन्द्रदेव ही था, जिसने राज्य स्थापित कर कन्नौज को अपनी राजधानी बनायी और १०९० ई० से पूर्व किसी समय महाराजाधिराज की गर्वयुक्त उपाधि धारण की। इस वंश के अभिलेखों में तुरुष्कदंड नामक एक कर का उल्लेख पाया जाता है, जिसका वास्तविक तात्पर्य अज्ञात है। निःसंदेह वह जनता के ऊपर एक विशेष प्रकार का कर रहा होगा, जो या तो पंजाब से आने वाले तुर्क आक्रमकों के विरुद्ध युद्ध करने में हुए व्यय को पूरा करने के लिए अथवा प्रति वर्ष उन्हें दिये जाने वाले भारी कर को पूरा करने के लिये लिया जाता रहा होगा। यदि चन्द्रदेव ने वस्तुतः पञ्जाब के मुसलमान शासकों की कृपा से राज्य प्राप्त किया था, तो पिछली बात ही अधिक सम्भव जान पड़ती है। इसके साथ ही यह बात भी उल्लेखनीय है कि चन्द्रदेव अपने अभिलेखों में उत्तर भारत के धार्मिक स्थानों की, सम्भवतः मुसलमान आक्रमकों के हाथों से, रक्षा करने का दावा करता है। चन्द्रदेव ने पाञ्चाल के शासक को—जो निस्संदेह राष्ट्रकूट वंश का था और जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है—हराया और सम्भवतः कलचुरियों को दबा कर अपने राज्य का विस्तार प्रयाग और बनारस तक किया

चन्द्रदेव

किन्तु वह मगध के राजा के हाथों पराजित हुआ। इस प्रकार बनारस उसके राज्य की पूर्वी सीमा के निकट था। अक्सर गहड़वालों का उल्लेख काशी-नरेशों के रूप में पाया जाता है। इससे लगता है कि बनारस उनकी दूसरी राजधानी के समान था।

चन्द्रदेव की ज्ञात तिथियाँ १०९० ई० और ११०० ई० हैं। उसके बाद उसका बेटा मदनचन्द्र उत्तराधिकारी हुआ। उसके राज्य-काल में जान पड़ता है, गहड़वालों ने यामिनी शासकों के अधिकार की उपेक्षा की; क्योंकि मुसलमान इतिहासकारों के अनुसार मसूद तृतीय (१०९९—१११५ ई०) ने "हिन्दुस्तान पर—जिसकी राजधानी कन्नौज थी—आक्रमण किया और उसके राजा को बन्दी कर लिया।" इन इतिहासकारों के कथनानुसार राजा मल्ही (सम्भवतः मदनचन्द्र का बिगड़ा हुआ रूप) ने एक भारी धनराशि अदा कर अपने को छुड़ाया। सौभाग्यवश इस घटना का भारतीय वृत्त भी उपलब्ध है। एक समकालिक अभिलेख के अनुसार मदनचन्द्र के बेटे गोविन्दचन्द्र ने अपनी युवराज्यावस्था में तथा अपने पिता के राज्य-काल में ही मुसलमानों पर एक बड़ी विजय प्राप्त की थी। अतः युद्ध का मुसलमान इतिहासकारों का दिया हुआ एकांकी वृत्तान्त ही पूर्ण सत्य नहीं माना जा सकता।

गोविन्दचन्द्र १११४ ई० से पूर्व कभी अपने पिता का उत्तराधिकारी हुआ। वह निस्संदेह इस वंश का सबसे बड़ा राजा था। ४० से अधिक अभिलेख—जिनकी तिथियाँ १११४ और ११५४ के बीच हैं—उसके दीर्घ राज्य-काल एवं सुख सम्मृद्धि की द्योतक हैं। उसने अनेक विजयें कीं और उसके राज्य में न केवल उत्तर प्रदेश का ही अधिकांश भाग वरन् मगध का भी काफी हिस्सा सम्मिलित था। मगध का यह अंश ही उसके और बङ्गाल के पाल राजाओं के बीच झगड़े की जड़ था। ११४३ ई० के कुछ बाद वह अपनी विजयिनी सेनायें मुंगेर तक ले गया, किन्तु १० वर्षों के भीतर ही पाल राजाओं ने उसे पुनः अपने अधिकार में कर लिया। जान पड़ता है गोविन्दचन्द्र को सेनों से भी लड़ना पड़ा था। उसने चंदेलों को हराकर उनसे पूर्वी मालवा छीन लिया था। गोविन्दचन्द्र को दक्षिण कोशल के कलचुरियों तथा सम्भवतः उस समय की कुछ अन्य बड़ी शक्तियों के साथ भी संघर्ष करना पड़ा था। उसने अहिलपाटक के चौलुक्य और काश्मीर के राजाओं के साथ अपना कूटनीतिक संबंध स्थापित किया था। चोलों के साथ गोविन्दचन्द्र की घनिष्ठता का पता एक अपूर्ण अभिलेख से चलता है जो ११११ ई० के बाद का है और चोल राजधानी के एक प्रस्तर पर अंकित है। उसमें गहड़वाल राजाओं की वंशावली दी हुई है।

गोविन्दचन्द्र

इस प्रकार ज्ञात पड़ता है कि गोविन्दचन्द्र एक अखिल भारतीय व्यक्ति था और उसने एक बार फिर कन्नौज को साम्राज्य की राजधानी के पद पर आसीन कर दिया था।

गोविन्दचन्द्र के बेटे और उत्तराधिकारी विजयचन्द्र ने—जिसकी ज्ञात तिथियाँ ११६८ और ११६९ हैं-यामिनी शासक, सम्भवतः खुसरौ मलिक के, आक्रमण का सफल प्रतिरोधकर उसे पीछे हटने को बाध्य किया था।

जयचन्द्र ११७६ ई० में उसका उत्तराधिकारी उसका बेटा जयचन्द्र[1] हुआ, जिसे कुछ मुसलमान इतिहासकारों ने भारत का महानतम शासक बताया है। जो भी हो, जयचन्द्र की ख्याति अथवा कुख्याति भारतीय इतिहास में पृथ्वीराज के साथ उसके रोमांचक संबंधों और शिहाबुद्दीन मुहम्मद के द्वारा उसकी विध्वंसक पराजय के कारण अत्यधिक है। इनकी चर्चा आगे की जायेगी। ११७० ई० से ११८९ ई० के बीच की तिथियों वाले उसके अभिलेखों से ज्ञात पड़ता है कि उसने उत्तराधिकार में मिले अपने विस्तृत साम्राज्य को अक्षुण्ण बनाये रखा। किन्तु उसे बंगाल के सेनों के साथ बहुत दिनों तक लड़ना पड़ा। उसने पालों के पतन के पश्चात् गया जिलेको जीत लिया था, किन्तु लक्ष्मणसेन ने न केवल उसे पुनः ले लिया वरन् वह अपनी विजयिनी सेनायें बनारस और इलाहाबाद तक भी ले गया। यह भाग्य की विडम्बना ही है कि उत्तर भारत के इन दो शक्तिशाली राजाओं ने ऐसे समय में जब कि मुहम्मद ने देश पर आक्रमण किया था, परस्पर लड़कर अपनी शक्ति और साधन का विनाश किया, जिसके परिणामस्वरूप दोनों की ही बर्बादी हुई। प्रचलित अनुश्रुति तो यह है कि जयचन्द्र ने पृथ्वीराज से प्रतिशोध चुकाने के निमित्त उस मुसलमान बादशाह को भारत पर आक्रमण करने के लिए आमंत्रित किया था। किन्तु इस प्रचलित कहानी को पुष्ट करने वाले प्रमाणों का सर्वथा अभाव है।

३. पाल और सेनों के अधीन बंगाल

गहड़वालों के पूरब पाल लोग राज्य करते थे। पहले हम बता चुके हैं कि इस वंश के आरम्भिक राजाओं ने किस प्रकार कुछ काल तक साम्राज्य शक्ति का उपभोग किया और पुनः प्रतिहारों के उत्थान पर किस प्रकार उनका क्रमशः पतन हुआ। उसके बाद से पाल लोग पूर्वी भारत में स्थानीय राजाओं के रूप में राज्य करते रहे। और उन्हें बाहरी आक्रमणकारी निर-

---

१. वह जयच्चन्द्र भी कहलाता था।

तार तंग करते रहे। कलचुरि, चंदेल और राष्ट्रकूटों ने उनके प्रदेशों पर अवसर धावे किये और कभी कभी तो उनके राज्य के कुछ अंश जीत भी लिये। १० वीं शताब्दी के पिछले भाग में पाल राजा विग्रहपाल के राज्य काल में काम्बोज के राजा ने उत्तरी और पश्चिमी बंगाल पर अधिकार कर लिया था। किन्तु उसके बेटे महीपाल (९८०-१०३० ई०) ने अपनी पैतृक भूमि को पुनः जीत लिया। पालों की निर्बलता का लाभ उठाकर कलचुरि लोग १०१९ ई० से पूर्व सम्भवतः मिथिला तक पहुंच गये थे। उसी समय के आस-पास चोल-राज राजेन्द्र चोल तथा किसी चालुक्य नरेश ने भी पाल राज्य पर धावा किया। महीपाल ने न केवल काम्बोजों से अपना पैतृक राज्य वापस लिया और कल-चुरि, चोल तथा चालुक्यों से अपने देश की रक्षा की, परन्तु उसे इस बात का भी श्रेय है कि उसने अपने राज्य को १०२५ ई० से पूर्व बनारस तक बढ़ा भी लिया। किन्तु दक्षिणी और पश्चिमी बंगाल पर उसका कोई अधिकार न था। वहाँ अनेक छोटे-छोटे राजे राज्य करते थे। यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि महीपाल घरेलू और बाहरी झगड़ों में ऐसा परेशान रहा होगा कि उसके लिए सुल्तान महमूद के विरुद्ध हिन्दू-संघ में सम्मिलित होना असम्भव था।

नयपाल

महीपाल का बेटा और उत्तराधिकारी नयपाल बहुत दिनों तक त्रिपुरी के कलचुरियों के साथ युद्ध में व्यस्त रहा। जैसा कि ऊपर कहा गया है, यह बात मानने के कुछ आधार हैं कि कलचुरिराज गांगेयदेव ने १०१९ ई० से पूर्व किसी समय मिथिला पर अधिकार कर लिया था किन्तु महीपाल ने उसे पुनः अवश्य जीत लिया होगा, क्योंकि १०२६ ई० में बनारस उसके अधीन था। परन्तु महीपाल के शासन के अन्तिम दिनों में अथवा नयपाल के शासन के आरम्भ में गांगेयदेव ने पालों के विरुद्ध फिर से युद्ध आरम्भ कर दिया। पालनरेश पराजित हुआ और गांगेयदेव ने बनारस पर अधिकार कर दिया और १०३४ ई० में वह निश्चय ही उसके अधीन था।

तिब्बती वृत्तान्तों से ज्ञात होता है कि गांगेयदेव के बेटे कर्ण और नयपाल के बीच बहुत दिनों तक लड़ाई चलती रही। आरम्भ में कर्ण को कुछ सफलता मिली और वह मगध के भीतर घुस गया किन्तु अन्ततोगत्वा नयपाल ने उसे पराजित किया। सुप्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् दिपंकर श्री ज्ञान ने—वे अतीश के नाम से भी प्रसिद्ध हैं और उन दिनों बोधगया में रहते थे—कर्ण को शरण दी और उनकी ही मध्यस्थता से कर्ण और नयपाल के बीच सन्धि हुई। किन्तु नयपाल के बेटे और उत्तराधिकारी विग्रहपाल तृतीय के गद्दी पर बैठते ही कर्ण ने पुनः

शत्रुता आरम्भ कर दी और गौड़ पर आक्रमण कर दिया। किन्तु पाल नरेश द्वारा वह पराजित हुआ और उसे पुनः मैत्री की सन्धि करनी पड़ी। इस सन्धि को उसने अपनी पुत्री यौवनश्री का पाल नरेश के साथ विवाह कर सुदृढ़ किया।

विग्रहपाल तृतीय के तीन बेटे थे—महीपाल द्वितीय, शूरपाल द्वितीय, और रामपाल। महीपाल द्वितीय १०७० ई० के लगभग अपने पिता का उत्तराधिकारी हुआ। किन्तु शीघ्र ही उसे अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। 'रामचरित' नामक एक समकालीन काव्य ग्रन्थ में इस काल का विस्तृत वृत्तान्त दिया हुआ है। उससे ज्ञात होता है कि कुछ करद राजे महीपाल के विरुद्ध उठ खड़े हुए। देश में एक विद्रोह सा मच गया। महीपाल से यह भी कहा गया कि उसके दोनों भाई उसके विरुद्ध षड्यंत्र कर रहे हैं। इस प्रकार स्थिति बिगड़ गई। महीपाल उतावले स्वभाव का था। अतः अपने भाइयों के विरुद्ध लगाये गये आरोपों की सत्यता की जाँच किये बिना ही उसने उन्हें कैद में डाल दिया। उसके बाद अपने मंत्रियों के परामर्श के विरुद्ध वह विद्रोही राजाओं के दमन के लिए चल पड़ा। उसके पास इस कार्य के लिये पर्याप्त सेना न थी। फलतः वह पराजित हुआ और मार डाला गया। दिव्य (अथवा दिव्वोक) नामक कैवर्त्त जाति का अधिकारी वारेन्द्र अथवा उत्तरी बङ्गाल का स्वामी बन बैठा। इस सुप्रसिद्ध कैवर्त्त विद्रोह का विस्तृत विवरण रामचरित में मिलता है।

इन अशान्तियों के बीच शूरपाल और रामपाल जेल से भाग निकले और मगध में आकर उन्होंने शरण ली। थोड़े दिनों तक राज्य करने के बाद शूरपाल की मृत्यु हुई और रामपाल गद्दी पर बैठा। इस समय तक प्रायः समूचा बंगाल पालों के हाथ से निकल चुका था। पूर्वी बङ्गाल में वर्मन् नामान्त एक वंश राज्य करता था। वर्मन् लोग अपने को सिंहपुर के यादव वंश का बताते हैं। इस स्थान की निश्चित पहचान नहीं की जा सकी है। विद्रोही कैवर्त्त राजा दिव्य ने उत्तरी बङ्गाल में अपना राज्य जमा लिया था, यद्यपि पूर्वी बङ्गाल का राजा जातवर्मन् उस पर विजय प्राप्त करने का दावा करता है। दिव्य अपने भाई रुद्रोक को एक शान्ति और समृद्धिपूर्ण राज्य छोड़ गया। रुद्रोक के बाद उसका बेटा भीम उत्तराधिकारी हुआ। शेष बङ्गाल एक दर्जन से अधिक स्वतन्त्र राज्यों में बँट गया था, यद्यपि उनमें से कुछ ऐसे थे जो नाममात्र के लिए पालों की अधीनता स्वीकार करते थे।

बहुत दिनों तक रामपाल अपना राज्य वापस पाने के लिए कुछ न कर सका, पीछे उसने दरवाजे-दरवाजे जाकर अनेक सरदारों की सहानुभूति और

रामपाल — सहयोग की भीख माँगी और उनकी सहायता से उसने भीम को पराजित कर मार डाला तथा वारेन्द्र अर्थात् उत्तरी बङ्गाल के पैतृक राज्य को पुनः प्राप्त किया।

रामपाल एक योग्य शासक था। उसने शीघ्र ही कामरूप को जीत लिया और पूर्वी बङ्गाल के वर्मन् शासकों को अपनी अधीनता स्वीकार करने को बाध्य किया। उसने गहड़वालों के विरुद्ध भी सेना भेजी किन्तु गोविन्दचन्द्र ने उसे पीछे हटा दिया। इससे इतना अवश्य हुआ कि गोविन्दचन्द्र का पूरब की ओर बढ़ना रुक गया। दक्षिण में उड़ीसा की राजनीति में भी उसने हस्तक्षेप किया। वहाँ दो राजे राज्य के लिये परस्पर लड़ रहे थे। उनमें से एक ने कलिंग के शक्तिशाली राजा अनन्तवर्मन् चोल गंग की सहायता से गद्दी प्राप्त कर ली। रामपाल ने दूसरे प्रतिस्पर्द्धी की सहायता की और सम्भवतः अनन्त-वर्मन् की सेना को हरा कर उसे वह गद्दी पर बैठाने में सफल भी हुआ। किन्तु यह सफलता अस्थायी थी क्योंकि ११९२ ई० में हम उड़ीसा की गद्दी पर अनन्तवर्मन् के नामांकित व्यक्ति को ही पाते हैं।

काफी समय तक राज्य करने के पश्चात् ११२० ई० के लगभग रामपाल की मृत्यु हुई। उसका व्यक्तित्व उल्लेखनीय और उसकी सफलताएं निस्संदेह महान् थीं। वह ऐसे समय गद्दी पर बैठा था जब पाल राज्य प्रायः छिन्न भिन्न हो चुका था। किन्तु उसने अपने उत्साहपूर्ण प्रयत्नों से बहुत अंशों तक उसे अपनी शक्ति प्राप्त कराई और उसकी ख्याति में वृद्धि की।

किन्तु पालशक्ति का यह पुनःस्थापन क्षणिक था, उसके दो बेटों—कुमारपाल और मदनपाल—के शासन काल में बाहरी आक्रमणों के फलस्वरूप तेजी के साथ पाल राज्य का विघटन पुनः शुरू हो गया। मगध के दो करद राजाओं और कामरूप के उपरिक ने अपनी स्वतन्त्रतायें घोषित कर दीं। मंत्री वैद्यदेव ने कामरूप के विद्रोह का दमन किया। किन्तु स्वयं वह वहाँ का शासक बन बैठा। गहड़वालों ने पश्चिमी मगध को जीत लिया और मुंगेर तक बढ़ गये और अनन्तवर्मा चोलगंग अपनी विजयिनी सेना लेकर भागीरथी के किनारे वर्तमान हुगली तक बढ़ आया।

मदनपाल ने अपना राज्य बचाने के लिए वीरोचित प्रयत्न किया और उसमें उसे कुछ सफलता भी मिली। उसने गहड़वालों से मुंगेर वापस ले लिया। किन्तु शीघ्र ही उसे एक दूसरे नये राजवंश से मोर्चा लेना पड़ा, जिसने कर्नाट से आकर मिथिला अथवा उत्तरी बिहार में राज्य स्थापित कर लिया था। इन कर्नाट राजाओं के आक्रमण के विरुद्ध जिन दिनों वह उत्तर में युद्धव्यस्त था, सेनों की

पाल शक्ति का अन्त

एक नयी शक्ति राढ़ अथवा पश्चिमी बंगाल में उठ खड़ी हुई और बंगाल से पाल शक्ति का अन्त हो गया। मदनपाल लगभग ११६० ई० में होनेवाली अपनी मृत्यु के समय तक बिहार के एक भाग पर राज्य करता रहा। वह धर्मपाल के वंश का अन्तिम शासक था। गोविन्दपाल नामक एक अन्य राजा ११६२ ई० तक गया के जिले में राज्य करता पाया जाता है, जब उसके राज्य को या तो गहड़वालों ने या सेनों ने नष्ट कर दिया। पता नहीं, गोविन्दपाल पाल-वंश का था या नहीं।

सेन लोग कर्णाट की एक क्षत्रिय जाति के थे और सम्भवतः चालुक्य राजा विक्रमादित्य षष्ठ के साथ वे लोग उस समय आये थे जब उसने बंगाल, आसाम और अन्य उत्तरी राज्यों पर धावा किया था। सेन लोग पहले राढ़ (पश्चिमी बंगाल) में आकर बसे। इस वंश का पहला उल्लेखनीय राजा विजयसेन था जिसने पाल-राज मदन पाल को हराकर बंगाल जीता। उसने आसाम, मिथिला और सम्भवतः मगध के कुछ हिस्सों पर भी विजयें प्राप्त कीं, यद्यपि मगध के एक अंश पर अब भी पालों का राज्य था। विजयसेन के बाद उसका बेटा बल्लालसेन गद्दी पर बैठा। वह एक शक्तिशाली राजा था और उसने मिथिला को अन्तिमरूप से अपने अधीन किया। वह स्वयं विद्वान् और अनेक पुस्तकों का लेखक था। उसके राज्यकाल में अनेक महत्त्वपूर्ण सामाजिक परिवर्तन हुए जिसका प्रभाव आज भी परिलक्षित होता है। बल्लालसेन के बाद ११७८ ई० में उसका बेटा लक्ष्मणसेन गद्दी पर बैठा। अपने पिता और पितामह के गौड़, कामरूप और कलिंग के सैनिक अभियानों में उसने अपनी सैनिक शिक्षा पायी थी। इन राज्यों के जीतने का जो श्रेय उसे दिया जाता है, वह उसके अपने राज्यकाल की विजयों का न होकर सम्भवतः उन्हीं अभियानों का है। किन्तु राजा होने के पश्चात् भी उसे कठिन सैनिक अभियानों का नेतृत्व करना पड़ता था। दक्षिण में उसने उड़ीसा के विरुद्ध कुछ सफलता प्राप्त की और पुरी में अपना विजयस्तम्भ स्थापित किया। किन्तु उसकी सबसे बड़ी लड़ाई गहड़वालों के साथ हुई। उसने उसमें महत्त्वपूर्ण सफलता प्राप्त की और वह अपनी विजयिनी सेनायें बनारस और इलाहाबाद तक ले गया। कहा जाता है कि उन स्थानों में भी उसने अपने दो विजयस्तम्भ खड़े किये थे। निःसंदेह लक्ष्मणसेन के अधीन बिहार का काफी बड़ा अंश था। उत्तरी बिहार में आज भी लक्ष्मण संवत् (ल० सं०) नामक एक संवत् प्रचलित है और गया जिले से लक्ष्मणसेन के बहुत दिनों बाद भी इस संवत् के प्रचलन का अभिलिखित प्रमाण उपलब्ध हुआ है।

सेन

लक्ष्मणसेन कवियों का सरदार था और उसके दरबार में अनेक कवि रहते थे जिनमें जयदेव उल्लेखनीय है। वह स्वयं भी कवि था और उसने अपने पिता की एक अधूरी परन्तु विद्वत्तापूर्ण पुस्तक को पूरा किया। प्रायः समकालिक एक मुसलमान इतिहासकार ने उसके दान एवं हृदय और बुद्धि के अन्य गुणों की भूरि-भूरि सराहना की है। उसे उसने भारतीय शासकों में वैसा ही प्रमुख बताया है जैसा कि मुसलमानी संसार में खलीफा होता था। उसने उसके निधन के पश्चात् उसको मुक्ति की प्रार्थना की है। एक मुसलमान द्वारा गैर-मुसलमान के सम्बन्ध में लिखी गयी यह एक असाधारण बात है। किन्तु अपनी बहादुरी, सैनिक योग्यता और अनेक गुणों के बावजूद भी लक्ष्मणसेन के राज्य का दुखद अन्त हुआ। लोकप्रवाद है कि वह इतना निकम्मा और कायर था कि बख्तियार खिलजी के नेतृत्व में महज १८ घुड़सवारों ने उसकी राजधानी पर कब्जा कर लिया और वह भाग निकला। किन्तु इस प्रवाद के लिये कोई आधार नहीं जान पड़ता। हाँ, इतना अवश्य सत्य है कि बख्तियार ने अचानक धावा कर नदिया नगर पर, जहाँ वह बूढ़ा राजा ठहरा हुआ था, अधिकार कर लिया और बंगाल के काफी बड़े भाग का स्वामी बन बैठा।

४. कामरूप

भास्करवर्मन् की मृत्यु के पश्चात् कामरूप पर सालस्तम्भ नामक एक म्लेच्छ का अधिकार हो गया, किन्तु उसके अथवा उसके उत्तराधिकारियों के सम्बन्ध में कुछ नामों के सिवाय कुछ भी ज्ञात नहीं। उनमें से एक, हरिष, को लोग भगदत्त वंश का राजा हर्ष मानते हैं, जो एक नेपाली अभिलेख के अनुसार गौड़ ओड्र, कोसल और कलिंग का शासक था। किन्तु यह बड़ा संदिग्ध है। ९ वीं शताब्दी के आरम्भ में प्रालम्भ ने इस वंश को निकाल बाहर किया। उसने अपने को भगदत्त का वंशज कहा है और हो सकता है कि वह भास्करवर्मन् के वंश से संबंध रखता हो। यह वंश-परिवर्तन ठीक उसी समय हुआ जब पाल राजा देवपाल ने उस देश को जीता था। सम्भव है कि इसका उस घटना के साथ भी कुछ सम्बन्ध हो। किन्तु प्रालम्भ के बेटे हर्जरवर्मदेव ने ८२९ ई० से पूर्व किसी समय महाराजाधिराज की उपाधि धारण की थी। ऐसा जान पड़ता है कि उसने अपने देश को पालों से मुक्त कर लिया था। उसके बेटे के राज्यकाल में उसका राज्य कम से कम पश्चिम में त्रिस्रोता (तिस्ता) नदी तक फैला हुआ था। अतः कामरूप अथवा प्राग्ज्योतिष की करतोया तक मानी जानेवाली परंपरागत पश्चिमी सीमा को स्वीकार किया

जा सकता है। प्राग्ज्योतिष के वंश की राजधानी ब्रह्मपुत्र स्थित हारूपेश्वर थी। वहाँ वे लगभग १००० ई० तक राज्य करते रहे।

इस वंश के अन्तिम शासक त्यागसिंह की मृत्यु पर जनता ने ब्रह्मपाल को राजा निर्वाचित किया। उसने अपनी राजधानी दुर्जया को बनाया, जिसकी पहचान कुछ लोग गौहाटी से करते हैं। कहा जाता है कि उसके बेटे रत्नपाल ने गुर्जर, गौड़, केरल और दाक्षिणात्य के राजाओं को पराजित किया था, किन्तु यह अत्यन्त असम्भव जान पड़ता है। इतना अवश्य ज्ञात है कि चालुक्यराज सोमेश्वर के बेटे विक्रमादित्य ने १०६८ ई० के कुछ पूर्व कामरूप पर धावा किया था। सम्भव है कि उपर्युक्त देशों की सेनाएँ उसकी सेना में सम्मिलित रही हों। ब्रह्मपाल के वंश को बंगाल के रामपाल ने निकाल बाहर किया और करद के रूप में तिग्यदेव उस प्रान्त पर शासन करने लगा। कुछ ही दिनों के बाद तिग्यदेव ने विद्रोह कर दिया और पाल नरेश कुमारपाल ने अपने मंत्री वैद्यदेव को उसे दबाने के लिये भेजा। वैद्यदेव ने विद्रोह तो दबा दिया; किन्तु कुछ दिनों बाद ही, अनुमानतः पाल राजा की मृत्यु के पश्चात्, स्वयं वहाँ का शासक बन बैठा।

५. कलचुरि

११ वीं शताब्दी में डाहल कलचुरि भारत की सबसे बड़ी राजनीतिक शक्ति बन बैठे। यह मुख्यतः कोकल्ल द्वितीय के बेटे गांगेयदेव के सैनिक कौशल का परिणाम था, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। सम्भवतः उसकी सफलता के कारणों में एक महत्त्वपूर्ण कारण यह था कि उसका राज्य सुल्तान महमूद के धावों और लूट-पाट से अछूता रहा जब कि उत्तर-पश्चिम की अन्य बड़ी शक्तियाँ उनका शिकार हुईं।

तत्कालीन अभिलेखों में गांगेयदेव की अनेक विजयों और सन्धियों का उल्लेख मिलता है, किन्तु उन्हें क्रमबद्ध कर सकना कठिन है। अतः हम उनका उल्लेख भौगोलिक आधार पर करेंगे। गांगेयदेव ने अपने पश्चिमी पड़ोसी परमार भोज और दक्षिण के महान् शासक राजेन्द्र चोल के साथ मिलकर दक्षिणपथ पर धावा किया। चालुक्य नरेश जयसिंह ने उनकी संयुक्त सेनाओं को पराजित कर दिया। कुछ दिनों बाद गांगेयदेव अपने मित्र परमारराज भोज से लड़ बैठा और उसे उसके हाथों मुँहकी खानी पड़ी। उसने बुंदेलखंड के चन्देलों को दबाने की कोशिश की, पर उसमें भी असफल रहा। उत्तर-दक्षिण और पश्चिम में असफल होने पर वह पूर्व की ओर बढ़ा और उस दिशा में उसे महत्त्वपूर्ण सफलता मिली।

गांगेयदेव

दक्षिण कोशल के सोमवंशी राजा महाशिवगुप्त ययाति से उसे प्रतिशोध लेना था। उसने कलचुरियों को पराजित कर उनके प्रदेश को ध्वस्त किया था। गांगेयदेव ने उसके राज्य पर हमला किया और उसे बुरी तरह से हराया और सरलता के साथ आगे बढ़कर समुद्र तट तक उड़ीसा को जीत लिया। अपनी इस महान् विजय के फलस्वरूप उसने 'त्रिकलिंगाधिपति' की गर्वपूर्ण उपाधि धारण की।

उत्तर-पूर्व में भी गांगेयदेव को वैसी ही सफलता मिली। बुंदेलखंड होता हुआ वह बनारस तक बढ़ गया और इन सारे प्रदेशों को उसने अपने राज्य में मिला लिया। उसने पालों के अधीनस्थ अंग (भागलपुर) के विरुद्ध भी सफल अभियान किया। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, यह अत्यन्त सम्भव है कि कुछ काल तक मिथिला अथवा उत्तरी बिहार भी उसके अधीन था।

गांगेयदेव के बनारस पर अधिकार करने के थोड़े ही दिनों बाद, पंजाब के गवर्नर अहमद नियाल्तगीन के नेतृत्व में मुसलमानी सेनाओं ने बनारस नगर पर धावा किया। आक्रमणकारी नगर में देर तक तो न ठहरे पर बाजार को खूब लूटा और लूटकर अपने साथ अपार धनराशि ले गये। यह घटना लूट के धावे के अतिरिक्त और कुछ थी भी नहीं। उनका यह धावा अकस्मात् ही हुआ था और उस समय कोई नियमित लड़ाई भी न हुई। किन्तु गांगेयदेव की गर्वोक्ति है कि वह अपनी सेना कीर देश (काँगड़ा घाटी) तक ले गया। वह पंजाब के गजनवी प्रान्त का अंश था तथा सम्भवतः मुस्लिम शक्ति के विरुद्ध गांगेयदेव ने प्रतिशोधात्मक अभियान किया था। जो भी हो, उससे तो स्पष्ट जान पड़ता है कि गांगेयदेव मुसलमानों के साथ उनकी सीमा में जा कर लड़ने को तैयार और सशक्त था। इस कार्य के लिये अन्य स्वतन्त्र राज्यों से होकर सेना ले जाने की छूट मिलने का भी विश्वास था।

गांगेयदेव ने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की। वह तीर्थराज प्रयाग (इलाहाबाद) में मरा और उसकी चिता पर उसकी सौ पत्नियाँ जल मरीं, जो सम्भवतः सती प्रथा का सबसे क्रूर उदाहरण है। गांगेयदेव का राज्यकाल निश्चित रूप से ज्ञात नहीं। सम्भवतः वह १०१९ ई० से पूर्व किसी समय गद्दी पर बैठा और उसकी मृत्यु लगभग १०४० ई० के हुई।

गांगेयदेव के बाद उसका बेटा लक्ष्मीकर्ण गद्दी पर बैठा, जो केवल कर्ण के नाम से अधिक विख्यात है। अपने पिता की भाँति वह भी कुशल सेनानायक और शत-

कर्ण

समर वीर था। कीरों के विरुद्ध अभियान करने का श्रेय उसे दिया गया है; किन्तु सम्भवतः उसका तात्पर्य उसके पिता के राज्यकाल में हुए अभियान से ही है। उसके अधीन इलाहाबाद

नगर भी था, जिसे सम्भवतः उसके पिता ने जीता था। मगध में पाल राजाओं—नयपाल और विग्रहपाल—से उसकी जो लड़ाइयाँ हुईं उनकी चर्चा पीछे की जा चुकी है। लगता है, विग्रहपाल से सन्धि करके वह पूर्व की ओर बढ़ा और राढ़ (पश्चिमी बंगाल) तथा बंग (पूर्वी और दक्षिणी बंगाल) को जीता। बंग-नरेश जातवर्मन् ने कर्ण की बेटी वीरश्री से विवाह किया। सम्भवतः विग्रहपाल की ही तरह इस विवाह ने कर्ण और जातवर्मन् के बीच मैत्री सम्बन्ध को दृढ़ बनाया।

इसके बाद कर्ण अपनी विजयिनी सेना के साथ पूर्वी तटपर कांची तक बढ़ गया। वहाँ उस समय चोल राजा राज्य करते थे। कहा जाता है कि कर्ण ने दक्षिण के अनेक लोगों को, यथा-पल्लव, कुंग, मुरल और यहाँ तक कि सुदूर दक्षिण में रहनेवाले पाण्डवों को भी पराजित किया। अधिक सम्भावना इस बात की है कि कर्ण ने विभिन्न देशों पर अलग-अलग आक्रमण न करके उन्हें एक ही युद्ध में हराया, जब वे लोग चोलों की सहायता करने आये थे। कर्ण का यह भी दावा है कि उसने कुन्तलनरेश, सम्भवतः चालुक्य नरेश सोमेश्वर प्रथम-को हराया। किन्तु सोमेश्वर प्रथम का कहना है कि उसने कर्ण की शक्ति को एकदम नष्ट कर दिया। कर्ण का यह विजय अभियान १०४८ ई० से पूर्व हुआ था। उससे उसकी सैनिक योग्यता तो झलकती है, किन्तु उसका कोई स्थायी प्रभाव नहीं जान पड़ता। कर्ण अपने पिता की अपेक्षा न केवल दक्षिण में वरन् उत्तर और पश्चिम में भी अधिक सफल रहा। उसने चन्देलराजकीर्तिवर्मन् को पराजित किया और कुछ दिनों के लिए उसके राज्य के अधिकांश भाग पर अधिकार भी कर लिया था। उसने चालुक्य-राज भीम के साथ सन्धि की और दोनों ने साथ ही पूरब और पश्चिम से मालवा पर आक्रमण किया। इसी समय (१०५५ ई०) परमार-राज भोज की मृत्यु हो गई और दोनों मित्रों का मालवा पर अधिकार हो गया। किन्तु भोज के बेटे ने चालुक्यों के साथ मैत्री करके, उनकी सहायता से अपना राज्य पुनः प्राप्त कर लिया। इसके बाद कर्ण और भीम के बीच मालव-युद्ध की लूट के बटवारे को लेकर झगड़ा उठ खड़ा हुआ। भीम ने डाहल पर आक्रमण कर दिया और कर्ण को मालवा से जीते हुए कुछ कीमती लूट के माल को देने के लिये बाध्य किया।

अनेक युद्धों और विजयों के बावजूद भी कर्ण को उनसे कोई स्थायी लाभ न न हुआ और न उसके राज्य की सीमाओं में वृद्धि ही हुई। परमारों द्वारा मालवा की पुनर्विजय और चौलुक्य भीम के हाथों हुई कर्ण की अपमानजनक पराजय के फलस्वरूप उसके पूर्वार्जित सारे शान पर पानी फिर गया। जब १०७२ ई० में

कर्ण ने अपने बेटे यशःकर्ण के पक्ष में राज्यत्याग किया, कलचुरियों की शक्ति और सम्मान को काफी धक्का लग चुका था।

यशःकर्ण

इस महान् परिवर्तन को बिना समझे बूझे ही यशःकर्ण ने अपने पिता और पितामह की भाँति अपने शासन का आरम्भ उत्तरी बिहार और पूर्वी चालुक्यों के विरुद्ध दो सैनिक अभियानों से किया। किन्तु उसके दो पूर्ववर्ती शासकों के आक्रामक साम्राज्यवाद के कारण जिन बड़ी शक्तियों को चोट लगी थी उन्होंने शीघ्र ही उसके राज्य को अपना निशाना बनाया। दक्षिण के चालुक्यों ने उसके राज्य पर सफलता पूर्वक धावा किया। परमारों ने उसकी राजधानी को लूटा और कुछ दिनों तक वे नर्मदा के किनारे जमे रहे। चन्देलों ने भी उसे हराया। इन सब पराजयों के कारण उसकी शक्ति क्षीण हो गयी और गहड़वालों द्वारा इलाहाबाद और बनारस की विजय देखने का कष्ट भी उसे सहना पड़ा।

जयसिंह

यशःकर्ण के बेटे और उत्तराधिकारी जयकर्ण को चन्देलराज मदनवर्मन् ने पराजित किया। ११५९–११६७ के बीच कभी गद्दी पर बैठे उसके दूसरे बेटे जयसिंह को अपने वंश के श्री और सम्मान को कुछ सीमा तक पुनः प्राप्त करने में सफलता मिली। चौलुक्यराज कुमारपाल और कुन्तलराज, सम्भवतः विज्जल, के विरुद्ध कुछ सफलता मिली। विज्जल ने दक्षिण को चालुक्यों से छीन लिया था और वह कलचुरिवंश की छोटी शाखा का था। किन्तु उसका भी दावा है कि उसने जयसिंह को हराया। जयसिंह के समय तुरुष्कों ने उसके राज्य पर आक्रमण किया पर वे भगा दिये गये। सम्भवतः यह खुसरो मलिक का आक्रमण था। किन्तु कलचुरियों का यह सारा पुनरभ्युदय क्षणिक था। जयसिंह के बाद ११७७–११८० के बीच गद्दी पर बैठने वाले उसके बेटे विजयसिंह के राज्य-काल में चन्देलराज त्रैलोक्यवर्मन् ने बघेलखण्ड और डाहलमण्डल सहित प्रायः समस्त कलचुरि राज्य को जीत लिया। यह ११११२ ई० की बात है। उसके बाद कलचुरियों का कुछ पता नहीं चलता। उत्तर-प्रदेश के बलिया जिले के हयोवंशी राजपूत अपने को उनका वंशज कहते हैं।

छोटे-छोटे कलचुरि राजवंश

११ वीं शताब्दी के आरम्भ में डाहल के कलचुरि राजवंश की एक शाखा ने दक्षिण कोशल में अपना राज्य स्थापित किया और पहले तुम्माण (मध्य) प्रदेश के बिलासपुर जिले में आधुनिक तुमान को और पीछे बिलासपुर से १६ मील उत्तर रत्नपुर को अपनी राजधानी बनायी। यह वंश लगभग एक शताब्दी तक डाहल के कलचुरियों के अधीन रहा। पश्चात् १२ वीं शताब्दी के आरम्भ में यशःकर्ण

के राज्यकाल के उत्तरभाग में जाजल्लदेव ने अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी। उड़ीसा और मध्यप्रदेश के पूर्वी भाग के छोटे-छोटे राजाओं पर कर लगाकर उसने अपनी शक्ति बढ़ायी। यह वंश शक्ति और सम्मान के साथ लगभग एक शताब्दी तक और राज्य करता रहा।

कलचुरियों की कुछ अन्य शाखाएं भी ज्ञात हैं। उनमें से एक देवरिया जिले में कसिया के पास राज्य करती थी। दूसरी ने चालुक्यों को हरा कर दक्षिण को जीत लिया था और वह शक्तिशाली राजवंश के रूप में कुछ काल तक राज्य करती रही।

६. परमार

परमारराज सिन्धुराज के बेटे और उत्तराधिकारी भोज की ऊपर एकाधिक बार चर्चा की जा चुकी है। वह १००० ई० के लगभग गद्दी पर बैठा और आधी शताब्दी तक राज्य करता रहा। इस अवधि में उसके सैनिक कार्य बहुत कुछ उसके समकालिक कर्ण के ही समान थे। उनसे उसे सम्मान और शान तो मिली पर उसकी शक्ति और राज्य में किसी प्रकार की कोई वृद्धि न हुई और उसके शासन का अन्त वस्तुतः दुःखद रूप में हुआ।

भोज अपने सभी शक्तिशाली पड़ोसी राज्यों से लड़ा। उसने गांगेयदेव और राजेन्द्र चोल से अपने वंशगत शत्रुओं-दक्षिण के चालुक्यों—के विरुद्ध मित्रसंधि की। लेकिन कुछ आरम्भिक सफलताओं के सिवा उस संघ को पीछे हटना पड़ा। कुछ दिनों बाद चालुक्यराज सोमेश्वर ने भोज के राज्य पर हमला करके अपना बदला चुकाया। मांडू का सुदृढ़ दुर्ग, सुप्रसिद्ध नगर उज्जैन और परमारों की राजधानी धारा, ये सभी सोमेश्वर के हाथ लगे और उन्हें उसने खूब लूटा।

चन्देलों; ग्वालियर के कच्छपघाटों और कन्नौज के राष्ट्रकूटों के मुकाबले लड़ाई में भोज असफल रहा। शाकंभरी के चाहमानों के विरुद्ध उसे कुछ सफलता अवश्य मिली पर नड्डुल के चाहमानों के हाथों उसे गहरी हार खानी पड़ी।

भोज को शुरू में अपने पश्चिमी पड़ोसी चौलुक्यों के विरुद्ध कुछ सफलता मिली। चालुक्यराज भीम ने कौटिल्य की नीति का अनुसरण कर भोज के पूर्वी पड़ोसी कलचुरियों से सन्धि कर ली। कलचुरियों का राजा गांगेयदेव आरम्भ में तो भोज का मित्र था, किन्तु पीछे चलकर उसे भोज के हाथों पराजित होना पड़ा था। अतः कलचुरिराज कर्ण भीम के साथ आ मिला और दोनों ने एक साथ ही पूरब और पश्चिम से मालवा पर आक्रमण कर दिया। इस विषम युद्ध में वृद्ध राजा भोज

फँसा हुआ था ही, कि वह बीमार पड़ा और १०५५ ई० में मर गया। निदान उसका राज्य शत्रुओं के सम्मुख नतमस्तक हो गया।

इस दुःखद अन्त के बावजूद, कहना होगा कि शासक के रूप में भोज की योग्यता अद्भुत थी। वह निस्संदेह पूर्णरूप से योग्य एक सैनिक नेता था किन्तु अपने अन्य महान् समकालिकों की भाँति ही उसने भी आजीवन अपनी शक्ति और साधन को व्यर्थ के आक्रामक युद्धों में नष्ट किया। किन्तु उन सबके मुकाबले उसकी विशेषता यह थी कि वह महान् विद्वान् और विद्या का पोषक था। अपनी जनता में शिक्षा का प्रसार करने का उसने काफी प्रयत्न किया। वास्तुकला, ज्योतिष और काव्य आदि विभिन्न विषयों पर बीस से अधिक पुस्तकें लिखने का श्रेय उसे प्राप्त है। धनपाल और उवट सदृश विद्वान् उसके दरबार में रहते थे। सरस्वती मंदिर के प्रांगण में उसने एक संस्कृत महाविद्यालय की स्थापना की थी। उस मन्दिर के अवशेष आज भी मौजूद हैं। उसने अनेक मन्दिर बनवाये और अपने नाम पर भोजपुर नामक नगर भी बसाया। जनश्रुतियों में तो उसके गुण आदर्श राजाओं के से बखाने गये हैं; और आज भी भोज का नाम भारतीय राजाओं के गुणों और महत्ताओं का पर्याय समझा जाता है।

जयसिंह

भोज का उत्तराधिकारी जयसिंह ऐसे समय में गद्दी पर बैठा, जब उसके राज्य का अधिकांश भाग कलचुरि और चालुक्यों द्वारा रौंदा जा चुका था। इस महान् संकट के समय वह सहायता के लिए अपने दक्षिणी पड़ोसी-दक्षिण के चालुक्यों की ओर मुड़ा। उस समय की ढुलकती हुई राजनीतिक गुटबन्दी का इससे बढ़कर दूसरा नमूना क्या हो सकता है कि परमारों ने अपने पैतृक शत्रुओं से सहायता माँगी और पायी। वस्तुतः जान पड़ता है कि उस समय स्थिति ऐसी थी कि सभी बड़ी शक्तियाँ एक दूसरे के साथ शत्रुता में लगी हुई थीं और भावुकता अथवा निश्चित नीति की अपेक्षा तात्कालिक अवस्थायें ही उनके पारस्परिक सम्बन्धों को निर्धारित करती थीं। चालुक्यों ने जयसिंह की पुकार सुनी और राजकुमार विक्रमादित्य ने मालवा को शत्रुओं से मुक्त किया। चालुक्य और कलचुरि लौटने को विवश हुए और जयसिंह को अपना राज्य पुनः मिल गया। जयसिंह स्वभावतः कृतज्ञता स्वरूप विक्रमादित्य का कट्टर मित्र बन गया और पूर्वी चालुक्यों के विरुद्ध युद्ध में उसने उसकी सहायता की। किन्तु उसका यह उदार भाव उसकी बर्बादी का कारण बना। चालुक्यराज सोमेश्वर द्वितीय अपने छोटे भाई विक्रमादित्य को राजगद्दी के लिए अपना प्रतिद्वंद्वी समझता था। उसे या तो यह संदेह था कि जयसिंह उसके भाई के साथ मिलकर षड्यंत्र कर रहा है या दोनों की मैत्री उसे पसन्द न थी; क्योंकि इस मैत्री से

गद्दी के लिए होनेवाली लड़ाई में विक्रमादित्य की शक्ति बड़ी भारी निश्चित थी। कारण चाहे जो कुछ भी रहा हो, सोमेश्वर ने भीम के बेटे चालुक्यराज कर्ण से मैत्री करके मालवा पर धावा कर दिया। जयसिंह लड़ाई में मारा गया और मालवा पर दोनों आक्रमणकारी मित्रों का अधिकार हो गया।

भोज के भाई उदयादित्य ने अब शाकंभरी के चाहमानों से सहायता मांगी और उनकी सहायता से आक्रामकों को भगा कर अपना राज्य प्राप्त किया। उसकी ज्ञात तिथियाँ १०८० ई० और १०८६ ई० हैं। सैनिक कार्यों की दृष्टि से उसके बेटे लक्ष्मणदेव का जीवन उल्लेखनीय है। उसने कलचुरिराज यशःकर्ण को हराया और अंग, गौड़ तथा कलिंग पर धावा किया। पंजाब के गजनवी गवर्नर महमूद के हमले से उसने अपने राज्य की सफलतापूर्वक रक्षा की, और सम्भवतः प्रतिशोध की भावना से कीरदेश (कांगड़ा की घाटी) पर धावा किया जो महमूद के क्षेत्र में पड़ता था। सम्भवतः लक्ष्मणदेव की महान् विजयों की कहानियाँ ही जयदेव के नाम से पश्चिमी भारत की लोककथाओं में प्रसिद्ध हैं। इन लोक-गाथाओं में वह उदयादित्य का बेटा कहा गया है। उसने कुछ अन्य सैनिक सफलताएँ भी प्राप्त की थीं। कहा जाता है कि उसने चालुक्यराज कर्ण को पराजित किया और षष्ठ विक्रमादित्य के सहयोग से होयसालों के राज्य पर आक्रमण किया।

अगले राजा नरवर्मन् १०९४ ई० में अपने जीवन का आरम्भ आसानी से किया और नागपुर तक मध्यप्रदेश के एक बड़े भाग का स्वामी बन बैठा। किन्तु चन्देलराज ने उसे हराया और उसके बाद ही उसे चालुक्यराज जयसिंह सिद्धराज के साथ दीर्घकालीन युद्ध करना पड़ा। यह युद्ध १२ वर्षों तक चलता रहा और नरवर्मन् की भीषण पराजय के साथ उसका अन्त हुआ। वह

नरवर्मन्

शत्रु के हाथों बन्दी कर लिया गया। बाद में यद्यपि वह छोड़ दिया गया पर उससे उसके वंश की शक्ति और सम्मान को गहरा धक्का लगा। उसका पूरा प्रभाव अगले राजा यशोवर्मन् (११३३ ई०) के राज्य-काल में दिखाई पड़ा। मालवा के भीतर ही देवास का राज्य स्वतन्त्र हो गया और चन्देलों ने भिलसा के प्रदेश पर अधिकार कर लिया। स्वयं उज्जैन पर चाहमान-राजा ने हमला कर दिया। सर्वोपरि चालुक्यराज जयसिंह सिद्धराज ने नड्डुल के चाहमानों की सहायता से यशोवर्मन् को पराजित कर बन्दी कर लिया और ११३५ ई० के आसपास सारे मालवा को अपने राज्य में मिला लिया। यद्यपि यशोवर्मन् के बेटे जयवर्मन् ने मालवा को फिर ले लिया पर चालुक्यराज जगदेकमल्ल और होयसालनरेश की संयुक्त सेनाओं ने उसे पुनः जीत लिया और बल्लाल नामक व्यक्ति को गद्दी पर बैठाया। पर चालुक्य राजकुमार पाल ने

बल्लाल को अपदस्थ कर दिया और भिलसा तक समूचे मालवा को अपने प्रदेश में मिला लिया।

चौलुक्यों ने मालवा पर २० वर्षों तक अपना अधिकार बनाये रखा। उसके बाद जयवर्मन् के बेटे विन्ध्यवर्मन् ने चालुक्य मूलराज द्वितीय को हरा कर अपना पैतृक राज्य प्राप्त कर लिया। उसे होयसालों और यादवों से जिन्होंने दक्षिण में चालुक्यों का स्थान ले लिया था, लड़ना पड़ा। यद्यपि उसे इन लड़ाइयों में बुरी तरह संकट का सामना करना पड़ा, उसने एक बार फिर अपनी मृत्यु से पूर्व (११९३ ई०) मालवा को शक्तिशाली और समृद्ध राज्य बना दिया।

विन्ध्यवर्मन्

उसके बेटे और उत्तराधिकारी सुभटवर्मन् ने चौलुक्यों के विरुद्ध पासा पलट दिया और गुजरात पर सफलतापूर्वक धावा किया। लाट को उसने अपने अधीन कर लिया और राजधानी अहिलपाटक पर तूफान की तरह आ पहुँचा। इसके पूर्व कि वह लौटने के लिये बाध्य हो, वह सोमनाथ भी पहुँच गया किन्तु यादवों ने उसे हरा दिया।

उसका उत्तराधिकारी १२१० ई० के पूर्व अर्जुनवर्मन् हुआ। वह चौलुक्यों से सफलतापूर्वक लड़ा किन्तु यादवराज सिंहण ने उसे बुरी तरह पराजित किया। वह ख्यातिप्राप्त लेखक और अनेक विद्वानों का संरक्षक था, जिनमें उल्लेखनीय मदन था। मदन ने पारिजात मंजरी नामक एक नाटक लिखा जिसकी कथावस्तु, चौलुक्य शत्रु जयसिंह की बेटी और राजा अर्जुनवर्मन् के विवाह पर आश्रित है।

अर्जुनवर्मन्

अगले राजा देवपाल (१२१८-१२३२ ई०[1]) पर सिंहण ने फिर आक्रमण किया और उसके लाट के करद शासक शंख को बन्दी कर लिया। किन्तु दोनों में जल्दी ही सन्धि हो गयी। इसी समय के लगभग मुसलमानों ने, जिन्होंने उत्तरी भारत के बहुत बड़े भाग को जीत लिया था, गुजरात पर आक्रमण किया। जिस समय मुसलमानों के साथ चौलुक्य जीवन-मरण के बीच जूझ रहे थे, यादवों और परमारों ने निद्य मैत्री करके गुजरात के दक्षिणी भाग पर आक्रमण कर दिया। सौभाग्यवश चालुक्य उपरिक की चतुर कूटनीतिज्ञता के फलस्वरूप दोनों मित्रों के बीच फूट पड़ गयी और स्थिति विषम होने से बच गयी। किन्तु मालवनरेश को अपनी इस मूर्खतापूर्ण नीति का

देवपाल

---

१ कोष्ठकों में दी हुई तिथियाँ ज्ञात तिथियाँ मात्र हैं। यह आवश्यक नहीं कि वे एक राज्यकाल के प्रथम अथवा अन्तिम वर्ष की ही हों।

बल क्षीण हो चलाना पड़ा। चौलुक्यों ने उससे दक्षिणी लाट छीन लिया और उसके राज्य पर सुल्तान इल्तुतमिश ने १२३३ ई० में आक्रमण किया। उसने भिलसा पर अधिकार कर उज्जैन को लूटा।

यद्यपि मुसलमानों के आक्रमण के इस धक्के को मालवा झेलता गया, पर उसके बुरे दिन आने वाले थे। अगले राजा जैतुगी के राज्य-काल में उस पर

ह्रास और पतन

यादवों ने धावा किया और गुजरात के बघेलों ने राजधानी धारा को प्रायः उसी समय लूटा, जब १२५० ई० में सुल्तान बलबन ने भी उस पर आक्रमण किया था।

इस समय से मालवा में तेजी के साथ पतन के लक्षण दृष्टिगोचर होने लगे। रणथम्भौर के चाहमानों ने राजा जयसिंह को बुरी तरह पराजित किया और उसने अपने को मंडप (मांडू) के सुप्रसिद्ध दुर्ग में छिपा लिया। १२७२ ई० में उसकी मृत्यु हो गयी। तत्पश्चात् अर्जुनवर्मन् द्वितीय और उसके मन्त्री के बीच एक विपत्ति-सूचक गृहकलह आरम्भ हो गया। फलस्वरूप मालवा दो भागों में बंट गया। अर्जुन-वर्मन् द्वितीय को चाहमानों, यादवों और बघेलों के भी आक्रमण सहन करने पड़े। १२८३ ई० के बाद गद्दी पर बैठनेवाले भोज द्वितीय के समय में मालवापर चाहमानों और सुल्तान जलालुद्दीन खिलजी ने फिर धावा किया। १३०५ ई० में अलाउद्दीन खिलजी ने जब मालवा पर धावा किया, तो अन्तिम परमार राजा महलकदेव हार गया और मांडू में आकर उसने शरण ली। वहाँ अलाउद्दीन के सिपहसालार ने उसे मार डाला और मालवा मुसलमानों के हाथ में चला गया।

परमारों की कई शाखाएं आबू पर्वत के आस-पास के प्रदेश में बागड़ (वर्तमान बँसवाड़ा और डूंगरपुर , जावालिपुर (जालौर) और भीनमाल

शाखावंश

(दक्षिण मारवाड़) में राज्य करती थीं। इन राज्यों को अन्ततोगत्वा गुहिल और चाहमान आदि पड़ोसी राज्यों ने जीत लिया।

७. चन्देल

१००२ ई० के कभी बाद जब राजा धंग मरा, उसका बेटा गंड ऐसे राज्य का उत्तराधिकारी हुआ जो शक्ति और सम्मान में उत्तर भारत के सभी राज्यों से बढ़ चढ़ कर था। किन्तु वह थोड़े ही दिनों राज्य कर सका। उसके पश्चात् उसका बेटा विद्याधर उत्तराधिकारी हुआ। उसका राज्यकाल सुल्तान महमूद के आक्रमण के सफल प्रतिरोध के लिए चिरस्मरणीय रहेगा। धंग और गंड इन दोनों ने ही

सुल्तान के विरुद्ध संघटित संघ में भाग लिया था। किन्तु उनका राज्य अब तक उसके आक्रमण से बचा हुआ था। जब महमूद ने कन्नौज—विजय की तो राज्य-पाल को सुल्तान के सम्मुख कायरतापूर्वक झुक जाने के कारण चन्देल राजों के अधीनस्थ कच्छपघाट के शासक अर्जुन ने मार डाला। इससे सुल्तान का क्रोध चन्देलों के ऊपर उमड़ पड़ा तथा १०१९ ई० और १०२२ ई० में दो बार उसने उनके राज्य पर धावा किया। चन्देलों ने सम्भवतः भूप्रज्वालन की नीति (Scorched Earth policy) धारण की और मुसलमान सेनाका कोई मुकाबला किये बिना ही पीछे हटते गये। सुल्तान भीतर बहुत दूर तक जाने से डरता था, फलतः दोनों ही बार उसे बिना किसी विशेष सफलता के लौटना पड़ा और अन्ततो-गत्वा उसने विद्याधर से मैत्री सम्बन्ध स्थापित कर लिया। इस प्रकार उसे एकमात्र ऐसा भारतीय शासक होने का गौरव प्राप्त है जिसने सुल्तान महमूद के विजयी बढ़ाव पर सफल रोक लगायी और अपने राज्य को उस क्रूर आक्रमक द्वारा किये जानेवाले विध्वंस से बचा लिया।

सुल्तान महमूद के लौट जाने पर चन्देल राजे पूर्ववत् अपने पड़ोसियों से लड़ने की क्रिया में लग गये। विद्याधर और उनके उत्तराधिकारी विजयपाल ने क्रमशः परमार भोज और कलचुरी गांगेयदेव को हराया। किन्तु विजयपाल का बेटा कीर्तिवर्मन् (१०७० ई०) कलचुरि कर्ण द्वारा पराजित हुआ और उसने उसके राज्य को कुछ काल के लिए हस्तगत कर लिया। किन्तु चन्देलों के एक शक्तिशाली करद राजा गोपाल ने कर्ण को हराकर अपने स्वामी के राज्य को पुनः प्राप्त किया। कीर्त्तिवर्मन् को पंजाब के गजनवी गवर्नर महमूद ने पराजित किया और कालिंजर को लूटा। यह एक ऐसा कार्य था जिसे उसका महान् नामराशि भी कर न सका था।

इस वंश का दूसरा बड़ा राजा मदनवर्मन था, जिसकी ज्ञात तिथियाँ ११२९ ई० और ११६३ ई० हैं। उसने परमारों से भिलसा जीता किन्तु उसको उसे चौलुक्य सिद्धराज को दे देना पड़ा जो उसके राज्य पर आक्रमण कर राजधानी महोबे तक बढ़ आया था। वह गहड़वाल गोविन्दचन्द्र से भी लड़ा और कलचुरियों को पराजित किया।

मदनवर्मन् के बाद उसका पौत्र परमर्दिदेव उत्तराधिकारी हुआ। उसकी ज्ञात तिथियाँ ११६५ ई० से १२०१ ई० तक हैं। उसका आरम्भिक जीवन बहुत ही सफल रहा। उसने चौलुक्यों से भिलसा का प्रदेश ११७३ ई० के बाद किसी समय ले लिया। किन्तु ११८२ ई० अथवा उससे पूर्व ही उसके चाहमान पृथ्वीराज द्वारा बुरी तरह पराजित

परमर्दिदेव

होने पर उसकी शक्ति छिन्न-भिन्न हो गयी। पृथ्वीराज ने उसके सारे राज्य को रौंद डाला। उत्तर भारत के उन दो प्रमुख राज्यों के बीच के रक्त-पात की यह तिथि अत्यन्त खेदजनक महत्त्व रखती है। ११८१ ई० में शहाबुद्दीन मुहम्मद लाहौर के द्वार तक पहुँच चुका था। विजेता पृथ्वीराज ११९२ ई० में मुसलमान सुल्तान के आक्रमण मे मिट गया और १० वर्षों पश्चात् विजित परमर्दिदेव की बारी आयी। १२०१ ई० में मुहम्मद के सिपहसालार कुतुबुद्दीन ने चन्देलों के सुदृढ़ दुर्ग कालिंजरको घेर लिया। परमर्दिदेव ने कुछ काल तक तो प्रतिरोध किया किन्तु बाद में खिराज की शर्तपर सन्धि का प्रस्ताव किया।

उसके बाद एक ऐसी घटना घटी जो भारतीय इतिहास में प्रायः कभी नहीं पायी जाती। धंग और विद्याधर के पुराने वैभव को याद कर परमर्दि के स्वाभिमानी मंत्री अजयदेव ने मुसलमानों के सम्मुख झुकने से इन्कार किया। उसने अपने स्वामी परमर्दि को मार डाला और वीरता के साथ लड़ाई जारी रक्खी। किन्तु जल के अभाव में उसे आत्मसमर्पण करना पड़ा। कालिंजर का दुर्ग और बाद में महोबे की राजधानी कुतुबुद्दीन के हाथ लगी और उसने उस विजित प्रदेश के शासन के लिए अपना सूबेदार नियुक्त किया।

अजयदेव का प्रतिरोध यद्यपि असफल रहा पर व्यर्थ नहीं गया। उसने लोगों में देशभक्ति की एक नयी चेतना उत्पन्न की जिसका परिणाम आगे चलकर प्रकट हुआ। त्रैलोक्यमल्ल (१२०५-१२३१) के नाम से प्रसिद्ध परमर्दि के पुत्र ने सुदृढ़ सेना संघटित की और १२०५ में बेदवाड़ा के उत्तर-पूरब ककराद नामक स्थान में मुसलमानी सेना के साथ उसकी जमकर लड़ाई हुई। वह इस लड़ाई में पूर्ण विजयी रहा और कालिंजर सहित अपने समस्त राज्य को वापस जीत लिया। यह एक बहुत बड़ी सफलता थी। अपने कठिन श्रम से अर्जित विजय के लाभ का उपभोग करने के लिए त्रैलोक्यवर्मन् बहुत दिनों तक जीवित रहा। उसने रीवाँ और डाहलमंडलके कलचुरि राज्य को भी जीत लिया। इल्तुतमिश के राज्य-काल में मुसलमानों ने पुनः कालिंजर पर धावा किया। आस-पास के नगरों में उन्होंने लूट-पाट की पर कोई प्रदेश वे न जीत सके।

जिस समय त्रैलोक्यवर्मन् मरा, वह अपने बेटे वीरवर्मन् के लिए विस्तृत और शक्तिशाली राज्य छोड़ गया। वह १२५४ ई० से कुछ पूर्व गद्दीपर बैठा और अपने उस अमूल्य दाय को अक्षुण बनाये रखा। उसके उत्तराधिकारी भोजवर्मन् और हम्मीरवर्मन् हुए जो सम्भवतः उसके बेटे थे और लगभग १३०१ ई० तक राज्य करते रहे। दूसरे वर्ष अलाउद्दीन खिलजी ने राज्य के अधिकांश भाग को जीत लिया। बुंदेलखण्ड में १३१५ ई० तक वीरवर्मन् द्वितीय नामक एक राजा

राज्य करता था। किन्तु उसके अथवा उसके राज्य के बारे में कुछ पता नहीं चलता।

८. चौलुक्य

भीरु राजा भीम, जो सुल्तान महमूद के आने पर कच्छ भाग गया था, शत्रु के लौट जाने पर राजधानी वापस लौटा। यद्यपि उसने मुसलमानी आक्रमकों के प्रतिरोध में भीरुता प्रकट की, वह अपने अड़ोस-पड़ोस के छोटे राज्यों के विरुद्ध हथियार उठाने से न चूका। उसने आबू पर्वत और भीनमाल को जीत लिया, जहाँ परमारों की दो शाखाएं राज्य करती थीं। कलचुरि कर्ण के सहयोग से उसकी मालवा-विजय और उसके बाद कर्ण के साथ हुई उसकी लड़ाई का वृत्तान्त ऊपर दिया जा चुका है। एक साहित्यिक ग्रन्थ में उसके सिन्ध, काशी, अयोध्या आदि स्थानों के अभियानों की कहानियाँ दी गयी हैं किन्तु उन्हें कोई महत्त्व नहीं दिया जा सकता। १०६४ ई० में उसने अपने बेटे कर्ण के पक्ष में राजत्याग कर दिया।

कर्ण की मालवा-विजय और पश्चात् उदयादित्य तथा जगद्देव द्वारा उसकी पराजय का उल्लेख ऊपर हो चुका है। उसने दक्षिणी मारवाड़ पर आक्रमण किया पर नड्डुल के चाहमानों ने उसे हरा दिया। १०९४ ई० में जब वह मरा, उसका बेटा जयसिंह बहुत छोटा था। उसकी ऊनवयस्कता में राजमाता ने, जो गोआ के कदम्बराज की पुत्री थी, संरक्षिका का कार्य किया।

जयसिंह सिद्धराज

जयसिंह ने सिद्धराज की उपाधि धारण की। वह इस वंश के महान् शासकों में था। वह अपनी विजयिनी सेना चतुर्दिक् ले गया और प्रायः अपने सभी पड़ोसी राज्यों को पराजित किया। उसने सौराष्ट्र के आभीर राज को हराकर बन्दी किया और उसके राज्य को अपने राज्य में मिला लिया। नड्डुल और शाकम्भरी, दोनों के चाहमान शासकों ने उसकी अधीनता स्वीकार की और उसके करद के रूप में राज्य करते रहे। परमार राजाओं—नरवर्मन् और यशोवर्मन्—के विरुद्ध उसने जो अभियान किये उनका उल्लेख ऊपर हो चुका है, उनके फलस्वरूप मालवा को उसने अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया था। उसने चन्देल राज्य पर भी धावा किया और कालिंजर तथा महोबे तक गया। चन्देलराज मदनवर्मन् को विवश होकर परमारों के विजित क्षेत्र भिलसा को लौटा कर संधि करनी पड़ी। उसने चालुक्यराज विक्रमादित्य (षष्ठ) पर भी एक महान् विजय प्राप्त की। यद्यपि जयसिंह के राज्य-काल में ही मालवा के परमारों और नड्डुल के चाहमानों ने अपने अपने प्रदेश

पुनः मालव जीत लिये तथापि उसने एक विस्तृत प्रदेश पर राज्य किया और चौलुक्यों की शक्ति तथा सम्मान को अभूतपूर्व सीमा तक पहुँचा दिया।

जयसिंह अपने सैनिक कार्यों के अतिरिक्त, परमार भोज की तरह, विद्या का भी बहुत बड़ा संरक्षक था और उसने ज्योतिष, न्याय तथा पुराण की शिक्षाओं के लिये संस्थाएँ स्थापित की थीं। उसके दरबार में महान् जैन विद्वान् हेमचन्द्र रहते थे, जिनके साहित्यिक कार्यों की चर्चा अन्यत्र की गयी है।

कुमारपाल

जयसिंह सिद्धराज ११४३ ई० में अथवा उसके कुछ ही दिनों बाद मरा। संतानहीन होने के कारण उसने अपने मंत्रिपुत्र बाहड़ को अपना उत्तराधिकारी बनाया, किन्तु उसकी मृत्यु के पश्चात् भीम प्रथम के एक दूरस्थ वंशज कुमारपाल ने ११४३–११४५ ई० के बीच कभी गद्दी छीन ली। बाहड़ का पक्ष शाकम्भरी के चाहमान शासक अर्णोराज ने लिया। उसने मालवा और आबू के परमारों के सहयोग से चौलुक्य राज्य पर दक्षिण और पूरब से एक साथ ही आक्रमण किया। किन्तु कुमारपाल ने अपने उन सभी शत्रुओं को हरा दिया। अर्णोराज पराजित हुआ और उसने सन्धि कर ली, जिसे उसने अपनी बेटी कुमारपाल को ब्याह कर पुष्ट किया। आबू का परमार राजा गद्दी से उतार दिया गया और उसका भतीजा राजा बनाया गया। मालवा नरेश भी लड़ाई में मारा गया और भिलसा तक का सारा प्रदेश पुनः चौलुक्य राज्य में सम्मिलित कर लिया गया।

११५० ई० में कुमारपाल ने अपने ससुर अर्णोराज के प्रदेश पर धावा कर उसे नष्ट-भ्रष्ट किया। उसके इस कोप का कारण यह था कि अर्णोराज ने अपनी रानी का अपमान किया था, जो चौलुक्य नरेश जयसिंह सिद्धराज की बेटी थी। यद्यपि अर्णोराज पराजित हुआ पर उसे अपने राज्य पर शासन करने दिया गया। कुमारपाल ने अपना प्रभाव नड्डुल के चाहमानों और भीनमाल के परमारों पर भी स्थापित कर लिया और ११६०–११६२ के बीच कोंकण को जीता।

कुमारपाल का व्यक्तित्व महत्वपूर्ण था और गुजरात की जैन अनुश्रुतियों में उसकी बहुत चर्चायें हुई हैं। ११६४ ई० के पूर्व उसने सम्भवतः हेमचन्द्र के प्रभाव में आकर जैन धर्म ग्रहण कर लिया था। हेमचन्द्र का वह कट्टर भक्त था। यद्यपि अपने कुल-देवता शिव के प्रति उसका आदर तब भी बना रहा, एक नवधर्मावलंबी के उत्साह के साथ उसने पशु-वध निषेध कर दिया, इसमें सन्देह नहीं। यह आज्ञा उसने न केवल अपने राज्य में ही लागू की वरन् उसके करद राज्यों में भी प्रचलित की गयी। ब्राह्मणों को भी अपने धार्मिक यज्ञों में पशुओं के स्थान पर अन्न का

प्रयोग करना पड़ा। एक अन्य महत्वपूर्ण राजाज्ञा द्वारा उसने राज्य में कुछ बन्द कर दिया।

११७१–७२ ई० में कुमारपाल की मृत्यु होने पर गद्दी के लिए उसके भाजे और भतीजे में झगड़ा शुरू हो गया। उन दोनों को क्रमशः जैन और ब्राह्मण शह दे रहे थे। उसके भतीजे अजयपाल ने गद्दी प्राप्त की। जैन इतिहासकारों ने उसे जैन धर्म का कट्टर घाती अंकित किया है। अपने राज्य पर आक्रमण करनेवाले गुहिलराज सामन्तसिंह को उसने पराजित किया। वह शाकम्भरी के चाहमानों के विरुद्ध भी असफलतापूर्वक लड़ा। ११७६ ई० में उसे एक प्रतिहार[1] ने मार डाला।

अजयपाल का बेटा मूलराज द्वितीय बहुत ही छोटा था, अतः उसकी मां रानी नायिकी ने, जो गोआ के कदम्बराज परमर्दिन् की बेटी थी, संरक्षिका के रूप में राज्य-भार ग्रहण किया। शीघ्र ही उसे एक महान् संकट का सामना करना पड़ा। ११७८ ई० में शहाबुद्दीन मुहम्मद ने गुजरात पर आक्रमण किया; किन्तु वीर रानी ने बालक राजा को अपनी गोद में लेकर स्वयं सेना का नेतृत्व किया और आबू के निकट अपने मुसलमान शत्रुओं को पराजित कर दिया। यह उसकी प्रशंसनीय सफलता थी किन्तु इस सङ्कट का लाभ उठाकर मालवा स्वतन्त्र हो गया।

मूलराज द्वितीय

मूलराज द्वितीय की मृत्यु ११७८ ई० में हो गई उसके बाद उसका छोटा भाई भीम द्वितीय गद्दी पर बैठा, जो ६० वर्षों तक राज्य करता रहा। मुस्लिम आक्रमण से उत्पन्न हुई स्थिति और एक अल्पवयस्क राजा के बाद दूसरे राजा के गद्दी पर बैठने के कारण अनेक प्रान्तीय उपरिकों ने अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी और कुछ मन्त्री भी राज्य के विभिन्न भागों में स्वतन्त्र राजा बन बैठे। देश मुस्लिम आक्रमण के एक महान् संकट से अभी-अभी निकला ही था, अतः होना तो यह चाहिये था कि सब राजे मिलकर भावी खतरे के विरुद्ध देश को शक्तिशाली बनाने के लिए कार्य करते। पर अपने स्वार्थ के सम्मुख उन्होंने देश के हित की कुछ भी परवाह न की। इससे तत्कालीन उच्च वर्ग की राजनीतिक बुद्धिमत्ता का दिवालियापन प्रकट होती है।

भीम द्वितीय

इसके फलस्वरूप राज्य छिन्न-भिन्न होने ही वाला था कि बहादुर बघेल सरदार अर्णोराज ने स्थिति सँभाल ली। वह चौलुक्यवंश का था और कुमारपाल का संबंधी

---

१. इसका तात्पर्य किसी उच्च राज्याधिकारी अथवा प्रतिहार वंश के किसी राजा से हो सकता है।

था । कुमारपाल ने उसकी स्वामिभक्ति और निःस्वार्थ सेवा से प्रसन्न होकर चौलुक्य राजधानी से १० मील दक्षिण-पश्चिम स्थित व्याघ्रपल्ली नामक गाँव उसे दिया था । परिवार के निवासस्थान उस गाँव के नाम पर ही वहाँ के लोग वाघेला कहलाये ।

अर्णोराज ने बालक राजा का साथ दिया और विद्रोही शक्तियों को दबाया । वह उस संघर्ष में मारा गया किन्तु उसके बेटे लवणप्रसाद ने अपने बाप के अधूरे कार्य को जारी रखा । एक तरह से वह राजा के नाम पर अपनी राजधानी ढोलका (खेड़ा जिला) से ही राज्य का शासन-प्रबन्ध ही करता था । इस कार्य में उसके दो भाई तेजःपाल और वस्तुपाल सहायक थे, जो मंत्री का कार्य करते थे । उन्होंने राज्य को आन्तरिक विघटन से बचाया और बाहरी आक्रामकों का वीरतापूर्वक सामना किया । गुजरात पर यादवों ने अनेक बार आक्रमण और परमारों ने धावे किये पर दोनों को लवण-प्रसाद ने मार भगाया । किन्तु देश के सबसे बड़े शत्रु मुसलमान थे, जो ११९२ ई० में पृथ्वीराज को हराकर और अगले वर्ष अजमेर पर कब्जा कर उत्तर भारत की प्रधान शक्ति बन बैठे थे । जब मुसलमानों ने मेड़पर आक्रमण किया तो चौलुक्यों ने उसकी सहायता के लिए एक सेना भेजी जो मुसलमानों को अजमेर शहर तक खदेड़ ले गयी । इससे क्रुद्ध होकर सजा देने के निमित्त कुतुबुद्दीन ने गजनी से आयी हुई एक नई सेना के साथ गुजरात पर आक्रमण किया और शहर को लूटा किन्तु शीघ्र ही वह वापस चला गया ।

लवणप्रसाद

राज्य के अस्तित्व को खतरे में डालने वाला वह अवसर भी आन्तरिक विद्रोह न रोक सका । १२१० ई० से कुछ पहले गुजरात की गद्दी को जयन्तसिंह अथवा जयसिंह ने जबर्दस्ती छीन लिया । यह अपहरण लगभग १५ वर्षों तक बना रहा । किन्तु १२२३–१२२६ ई० के बीच कभी लवणप्रसाद और उसके योग्य पुत्र वीर-धवल ने उसे निकाल कर बाहर किया ।

यादव सिंहण ने गुजरात के विरुद्ध अपनी आक्रामक नीति जारी रखी और इस उद्देश्य से पड़ोसी राज्यों से मैत्री स्थापित की । लिखते हुए लज्जा आती है कि जिस समय दिल्ली के मुसलमान सुल्तान इल्तुतमिश ने उत्तरी गुजरात पर हमला किया, सिंहण ने परमारराज और लाट के शासक के साथ सहयोग कर दक्षिण पर धावा बोला । किन्तु वीरधवल और वस्तुपाल की सराहना करनी होगी कि उन्होंने वीरता के साथ इस महान संकट का सामना किया और उन दोनों ही शत्रु सेनाओं को पीछे हटा दिया ।

लवणप्रसाद ने सिंहण के साथ सन्धि कर १२३१ ई० में सार्वजनिक जीवन से संन्यास ले लिया। इसके बाद उसका बेटा वीरधवल गुजरात का वास्तविक शासक बना, यद्यपि नाम के लिए वह भीम द्वितीय को असली शासक मानता रहा। भीम द्वितीय की मृत्यु १२३८ ई० में हुई और त्रिभुवनपाल उत्तराधिकारी हुआ। उसके राज्य-काल में यादवराज सिंहण ने परमार और गुहिल राजाओं के सहयोग से पुनः गुजरात पर आक्रमण किया। किन्तु वीरधवल के बेटे विश्वमल्ल अथवा वीसल ने शत्रुओं को भगा दिया। इसके कुछ दिनों बाद ही वीरधवल के दूसरे बेटे वीरम ने त्रिभुवनपाल को निकाल बाहर किया और स्वयं गद्दी पर अधिकार कर लिया। वीरम को उसके भाई वीसल ने गद्दी से उतार दिया जो स्वयं १२५१ ई० के आस-पास गद्दी पर बैठा। किन्तु १२६१–१२६४ ई० के बीच अपने दूसरे भाई के बेटे अर्जुन के पक्ष में उसने राज्य त्याग कर दिया। अर्जुन के बाद उसका बेटा सारंगदेव १२७४ ई० में गद्दी पर बैठा और दिल्ली के सुलतान बलबन के हमले को रोककर उसे पीछे हटा दिया। उसने मालवा के परमार राजा अर्जुनवर्मन् द्वितीय को हराया और यादवराज रामचन्द्र से अपने राज्य की सफलतापूर्वक रक्षा की। उस समय तक काठियावाड़ और कच्छ उसके राज्य में सम्मिलित थे। वह १२९६ ई० में मरा और उसका भतीजा कर्ण उत्तराधिकारी हुआ। उसके राज्य के पहले ही वर्ष में सारे गुजरात को अलाउद्दीन खिलजी ने जीत लिया। वह देवगिरि भागा, किन्तु उसकी रानी और बेटी अलाउद्दीन खिलजी के हाथ पड़ गयीं।

९. चाहमान

(अ) शाकम्भरी की मुख्य शाखा

सुल्तान महमूद के आक्रमण से शाकम्भरी के चाहमानों की अधिक हानि न हुई। ११ वीं शताब्दी भर उन्होंने एक बढ़ती हुई स्थानीय शक्ति के रूप में अपनी स्थिति बनाये रखी। किन्तु उन्हें अपने पड़ोसी राज्यों से लड़ते रहना पड़ा। एक अभिलेख में मातंगों के साथ उनकी लड़ाई का उल्लेख है जिसका तात्पर्य मलेच्छों से है और सम्भवतः उसका संकेत मुसलमानों की ओर है।

अजयराज

१२ वीं शताब्दी के आरम्भ में होनेवाले अजयराज ने सबसे पहले आक्रामक साम्राज्यवादी नीति आरम्भ की। उसने उज्जैन पर धावा कर परमार सेनापति को बन्दी कर लिया। कहा जाता है कि उसने युद्ध में तीन राजाओं को मार डाला। इन सफलताओं से उसके राज्य क्षेत्र में किसी प्रकार की वृद्धि हुई या नहीं, कहना कठिन है। उसने अपने नाम पर अजयमेरु नामक नगर बसाया जो पीछे चलकर अपने

संक्षिप्त रूप में अजमेर नाम से विख्यात हुआ। इसके संबंध में उल्लेखनीय बात यह है कि उसके कुछ सिक्कों पर उसकी रानी सोमल्लदेवी का नाम अंकित पाया जाता है, जो भारतीय इतिहास में अन्यत्र कम ही देखने में आया है।

अजयराज का बेटा और उत्तराधिकारी अर्णोराज ११३९ ई० से पूर्व गद्दी पर बैठा। चौलुक्यराज जयसिंह सिद्धराज और कुमारपाल से उसकी शत्रुता और विवाह-सम्बन्ध की चर्चा पहले की जा चुकी है। यद्यपि अर्णोराज को उन्होंने पराजित कर दिया था किन्तु वह चाहमान राज्यपर आक्रमण करने वाले तुरुष्कों (पंजाब के मुसलमानों) को हराने और बहुतों को मार डालने का दावा करता है। उसे उसके बेटे ने ही मार डाला; किन्तु वह पितृघाती अधिक दिनों राज्य न कर सका और अपने छोटे भाई विग्रहराज चतुर्थ के लिए, जो वीसलदेव के नाम से भी प्रसिद्ध है, राज्य छोड़ गया।

अर्णोराज

विग्रहराज की ज्ञात तिथियाँ ११५०–११६३ ई० के बीच पड़ती हैं। वह एक महान् विजेता था और उसने चाहमानों को साम्राज्य शक्ति की सीमा तक ऊँचा उठा दिया। उसने जाबालिपुर, नड्डूल और दक्षिणी राजपूताना की अन्य छोटी रियासतों को, जिन्होंने कुमारपाल की अधीनता स्वीकार की थी, जीत लिया। इस प्रकार उसने चौलुक्यों द्वारा अपने पिता की पराजय का बदला चुकाया। किन्तु उसकी चिरख्याति उत्तर की विजयों के कारण है। तोमरों को पराजित कर उसने ढिल्लिका (दिल्ली) को जीता और पूर्वी पंजाब की ओर बढ़ा। हिसार जिले को पार कर उसने पंजाब के गजनवी शासक की सेनाओं पर अनेक बार विजयें प्राप्त कीं। उसकी इस गर्वोक्ति में कुछ सार अवश्य है कि उसने म्लेच्छों (मुसलमानों) को निकाल बाहर कर आर्यावर्त्त को पुनः उसके नामानुरूप बनाया। किन्तु खेद है कि मुसलमानों के साथ हुए उसके युद्ध का विवरण प्राप्त नहीं है। उसके राज्यकाल के अभिलेखों से ज्ञात होता है कि उसका राज्य उत्तर में शिवालिक की पहाड़ियों तक और दक्षिण में कम से कम उदयपुर से जयपुर जिले तक फैला हुआ था। विग्रहराज सुविख्यात लेखक भी था और उसके लिखे "हरिकेलि" नाटक के कुछ अंश अजमेर में पत्थर पर खुदे अब भी बच रहे हैं। इसी प्रकार उसकी प्रशंसा में महाकवि सोमदेव द्वारा लिखित "ललित विग्रहराज" नाटक के कुछ अंश अजमेर की एक मसजिद में पत्थरों पर खुदे हुए पाये गये हैं।

विग्रहराज चतुर्थ

विग्रहराज के बाद उसका बेटा गद्दी पर बैठा किन्तु थोड़े ही दिनों बाद उसकी मृत्यु हो गयी। फलतः अर्णोराज के एक पौत्र पृथ्वीराज द्वितीय ने गद्दी पर अधिकार

कर लिया। पूर्वी पंजाब के उसके एक उपरिक ने मुसलमानों के साथ सफलता-पूर्वक युद्ध किया। उसका दावा है कि उसने उसके एक नगर को जला दिया और वहाँ के शासक को बन्दी बना लिया।

पृथ्वीराज के बाद उसके चचा तथा अर्णोराज का बेटा सोमेश्वर गद्दी पर बैठा। इसका जन्म चौलुक्यराज जयसिंह सिद्धराज की बेटी से हुआ था। सोमेश्वर ने अपना बचपन और जवानी चौलुक्य दरबार में बितायी थी और कुमारपाल को उसकी लड़ाईयों में सहायता की थी। चौलुक्य राजधानी में रहते ही उसने कर्पूरदेवी नामक कलचुरि राजकुमारी से विवाह किया था, जिससे पृथ्वीराज और हरिराज नामक दो पुत्र हुए। युवावस्था में ही अल्पकालीन शासन के पश्चात् चाहमान राज पृथ्वीराज की मृत्यु हो जानेपर उसके मंत्रियों ने सोमेश्वर को शाकंभरी की गद्दी पर बैठने के लिये आमंत्रित किया। फलतः सोमेश्वर गुजरात से आकर ११६८ ई० में गद्दी पर बैठा। उसके राज्यकाल में कोई उल्लेखनीय घटना न हुई और ११७७ ई० के लगभग उसकी मृत्यु होने पर उसका ऊनवयस्क पुत्र पृथ्वीराज तृतीय गद्दी पर बैठा और राजमाता ने संरक्षिका के रूप में शासन संचालन किया।

पृथ्वीराज तृतीय

भारतीय इतिहास में पृथ्वीराज का नाम अद्वितीय स्थान रखता है। उत्तरी भारत के अन्तिम महान् सम्राट के रूप में उसकी स्मृति अनेक लोककथाओं में सुरक्षित है और अनेक लोकगीतों को कथावस्तुयें उसके आधार पर हैं। सुविख्यात कवि चन्दबरदायी ने अपने सुप्रसिद्ध महाकाव्य 'पृथ्वीराजरासो' द्वारा उसे अमर कर दिया है। किन्तु रासो का जो रूप आज प्राप्त है उसे उसके जीवन का समसामयिक और प्रामाणिक वृत्तान्त कहना कठिन है। पृथ्वीराजविजय नामक एक अन्य जीवनवृत्त-काव्य उससे पहले का और अधिक विश्वसनीय है। किन्तु उसका कुछ अंशमात्र ही प्रकाश में आ सका है। इनके तथा प्रायः समकालिक मुसलमान वृत्तान्तों एवं अभिलेखों की सहायता से पृथ्वीराज के जीवन और कार्यों की संक्षिप्त रूपरेखा निर्धारित की जा सकती है। उसमें अविश्वास्य और रोमांचकारी तत्वों का कोई स्थान नहीं हो सकता।

सम्भवतः ११७८ ई० में उसने शासन की बागडोर अपने हाथों में ली। शीघ्र ही उसे अपने चचेरे भाई नागार्जुन (विग्रहराज के पुत्र) के विद्रोह का सामना करना पड़ा किन्तु उसे उसने बिना किसी कठिनाई के दबा दिया। एक साहित्यिक रचना के अनुसार वह दिग्विजय के लिए निकला किन्तु कुछ छोटी-मोटी विजयों के अतिरिक्त जिस महत्वपूर्ण विजय का पता लग सका है वह चन्देलों के विरुद्ध थी।

उसने चन्देल, राजा परमर्दि को हराया और उसके राज्य को ११८२ ई० में अपने अधीन कर लिया, किन्तु उसे वह अधिक दिनों तक अपने अधीन न रख सका।

११८७ ई० में उसने गुजरात पर आक्रमण किया किन्तु उसे विशेष सफलता न मिली और चौलुक्य भीम द्वितीय से उसे सन्धि करनी पड़ी। उसने अपने राज्य का कोई विस्तार किया अथवा कोई ऐसी उल्लेखनीय विजय प्राप्त की जैसी कि विगत शताब्दियों में अनेक भारतीय राजाओं ने की, ऐसी कोई बात ज्ञात नहीं होती। इस बात के मानने के भी पर्याप्त आधार नहीं हैं कि वह या तो भारतीय राजाओं में सबसे शक्तिशाली था अथवा अपने युग का महत्तम सेनापति ही। समसामयिक मुस्लिम इतिहासकारों के लेखों से भी ऐसा आभास नहीं होता। चन्दबरदायी की रोमांचक कथा के कारण ही उसके नाम का जादू छाया हुआ है। किन्तु इस पुस्तक की अत्यन्त प्रसिद्ध उस मुख्य कथावस्तु का कोई ऐतिहासिक आधार नहीं है, जिसके अनुसार कन्नौज का गहड़वाल राजा जयचन्द उसका कट्टर शत्रु था और दोनों की शत्रुता ने ही भारतीय स्वतन्त्रता के विनाश का पथ-प्रशस्त किया। इस शत्रुता के कारण के सम्बन्ध में दो बातें ऐतिहासिक समझी जाती हैं। कहा जाता है कि मातृ-पक्ष से पृथ्वीराज और जयचन्द दोनों ही तोमरराजा के दौहित्र थे। निःसंतान होने के कारण तोमर राज ने पृथ्वीराज को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया। इससे उसके प्रति उसके मौसेरे भाई जयचन्द को ईर्ष्या हुई। किन्तु यह बात पृथ्वीराज-विजय से सिद्ध नहीं होती। उसके अनुसार पृथ्वीराज की माँ का संबंध तोमर वंश से तनिक भी न था। दोनों की शत्रुता का दूसरा कारण इतिहास की अपेक्षा रोमांच अधिक है। कहा जाता है कि जयचन्द ने कन्नौज में एक राजसूय यज्ञ किया और उसके बाद ही अपनी बेटी संयुक्ता[1] के विवाह के लिए स्वयंवर का आयोजन किया। संयुक्ता के लालच सभी प्रमुख राजे उसमें सम्मिलित हुए। पृथ्वीराज उस सभा में न आया और इस प्रकार जयचन्द को अपने से ऊँचा मानने से उसने इनकार किया। फलतः उसके स्थान पर जयचन्द ने उसकी प्रस्तर प्रतिमा रख दी। संयुक्ता ने वरमाला उसी मूर्ति को पहनायी। पृथ्वीराज वेष बदलकर नगर में पहले से मौजूद था और रात्रि के अंधकार में वह संयुक्ता को ले भागा। पर इसके लिये उसे लड़ाई करनी पड़ी।

किन्तु पृथ्वीराज की वास्तविक ख्याति गोर से आनेवाले मुसलमान आक्रमकों से लड़ने के कारण है, जिसकी चर्चा आगे की जायेगी।

---

१. जो संयोगिता भी कही जाती है।

(ब) छोटी शाखाएँ

नद्दुल के चाहमानों का उल्लेख पिछले अध्याय में अक्सर किया गया है। वे इस काल में अपने छोटे से राज्य पर राज्य करते रहे; यद्यपि अक्सर उन्हें पड़ोसी राज्यों ने हराया और अपने अधीन किया। ११७८ ई० के कुछ पश्चात् केल्हण ने नद्दुल को एक स्वतन्त्र राज्य बनाया और उसके भाई कीर्तिपाल ने चौलुक्यों की सहायता से शिहाबुद्दीन मुहम्मद की सेना को, जो ११७८ ई० में नद्दुल लूटने आयी थी, हटाया। कीर्तिपाल ने मेवाड़ को रौंद डाला और जाबालिपुर (जालोर का राज्य) परमारों से छीन लिया। वहाँ उसके वंशज एक शताब्दी से अधिक काल तक राज्य करते रहे। केल्हाण के बेटे जयसिंह के राज्यकाल में ११८७ ई० में नद्दुल के राज्य पर कुतुबुद्दीन ने हमला किया। किन्तु नद्दुल का राज्य शीघ्र ही चौलुक्यराज भीम द्वितीय के हाथ में चला गया। पर पुनः उसे जाबालिपुर शाखा के उदयसिंह ने १२२६ ई० के बाद जीत लिया। जब इल्तुत्मिश ने जालोर पर आक्रमण किया तो उदयसिंह ने आत्मसमर्पण कर दिया। किन्तु पीछे उसने सुल्तान के विरुद्ध बाघेला सरदार वीरधवल की सहायता की। उदय के उत्तराधिकारी जालोर पर १३१०–११ ई० तक राज्य करते रहे, जब उसे अलाउद्दीन खिलजी ने पूर्णतया जीत लिया।

नद्दुल

चौहानों की सत्यपुर (जोधपुर में साचौर) शाखा की स्थापना नद्दुलवंश के एक व्यक्ति ने की थी। वहाँ के एक शासक का कहना है कि उसने मुसलमानों से भीनमाल को सम्भवतः १३१० ई० के बाद ले लिया था।

जालोर शाखा के एक व्यक्ति ने आबू पर्वत को जीत कर देवड़ा शाखा की स्थापना की और वहाँ १३३७ ई० तक राज्य करता रहा।

किन्तु चाहमानों की सबसे महत्त्वपूर्ण शाखा रणस्तम्भपुर (जयपुर में वर्तमान रणथम्भौर) की थी। इसकी स्थापना मुख्य वंश के एक व्यक्ति ने १२ वीं शताब्दी के अन्त में की थी। कहा जाता है कि पृथ्वीराज तृतीय ने उस व्यक्ति को निर्वासित कर दिया था। मुख्य वंश के समाप्त हो जाने पर रणथम्भौर की शाखा को प्रधानता मिली। इस छोटे से राज्य के इतिहास का महत्त्व दो कारणों से है। पहला, "हम्मीर महाकाव्य" नामक पुस्तक में इस राज्य के मुसलमानों के साथ निरन्तर संघर्ष करते रहने का वृत्तान्त दिया हुआ है। उससे उन मुसलमानी इतिवृत्तों का मूल्य आँकने में सहायता मिलती है जो इस काल के भारतीय इतिहास के एक

रणथम्भौर

भाग साधन है। इसकी विशेषता यह है कि १३ वीं शताब्दी भर इस छोटे से राज्य ने दिल्ली के सुलतानों के निरंतर आक्रमण का साहसिक प्रतिरोध किया। यह बात मुसलमानों के विरुद्ध चलने वाले भारतीय स्वातंत्र्य-संघर्ष के इतिहास पर नया प्रकाश डालती है। चाहमानों के एक छोटे से समूह द्वारा विकट बाधाओं के बावजूद स्वतन्त्रता के लिए की जानेवाली लड़ाई उस लोक-प्रवाद को झूठा सिद्ध करती है जिसके अनुसार कहा जाता है कि तरायन के युद्ध के पश्चात् मुसलमान शेष भारत पर बिना किसी प्रतिरोध के फैल गये। यह धारणा कुछ तो अज्ञानतावश और कुछ मुसलमानी इतिहासकारों द्वारा फैलाई गई है। हमारे सामने विजेताओं द्वारा अंकित चित्र ही हैं और निस्संदेह उसमें पूरी सचाई नहीं झलकती। इस कारण रणथम्भौर का इतिहास एक विशेष महत्त्व रखता है।

मुसलमानों ने जब पृथ्वीराज और उसके भाई हरिराज को हरा कर अजमेर पर कब्जा कर लिया तो उस राजवंश के व्यक्तियों और अनुयायियों को रणथम्भौर में शरण मिली। किन्तु शीघ्र ही उसे मुसलमानों ने जीत लिया।

मुसलमानों से युद्ध

उसका शासक वाल्हणदेव १२१५ ई० में इल्तुतमिश का करद पाया जाता है। किन्तु शीघ्र ही उसने यह भार उतार फेंका। १२२६ ई० में रणथम्भौर के मुसलमानों ने उसे पुनः जीत लिया। १२३६ ई० में इल्तुतमिश के मरने के कुछ ही काल बाद चाहमान शासक वागभट्ट ने पुनः रणथम्भौर पर अधिकार कर लिया। १२४८ ई० और १२५३ ई० में बलबन ने उस पर दो बार हमला किया पर वह असफल रहा। समकालिक मुसलमान इतिहासकारों ने बाहरदेव (वागभट्ट) को हिन्दुस्तान का सबसे बड़ा राय कहा है और वस्तुतः वह इस उपाधि का अधिकारी भी है क्योंकि उसने मुसलमानों के विरुद्ध प्रतिरोध संगठित किया था। "हम्मीर महाकाव्य" के अनुसार सामरिक मोर्चों पर काफ़ी सेना रख कर उसने सीमाओं की रक्षा की विस्तृत व्यवस्था की थी।

वागभट्ट का बेटा और उत्तराधिकारी जयसिंह अपने पड़ोसी हिन्दू राजाओं के विरुद्ध सफलता पूर्वक लड़ाई लड़ता रहा किन्तु १२५९ ई० में सुलतान नासिरुद्दीन महमूद ने उसे हरा दिया और कर देने को विवश किया। किन्तु बाद में शीघ्र ही रणथम्भौर फिर स्वतन्त्र हो गया।

हम्मीर, जो अपने बाप जयसिंह की गद्दी पर १२८३ ई० में बैठा, इस वंश का सबसे बड़ा शासक था। शाकम्भरी उसके राज्य का एक भाग था; यद्यपि

हम्मीर

निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि उसने अथवा उसके किसी पूर्वज ने उसे मुसलमानों से जीता था। वह एक विस्तृत भू-भाग पर राज्य करता था जिसके अन्तर्गत ग्वालियर का शिवपुर जिला और कोटा का बलवन सम्मिलित था। हम्मीर महाकाव्य में उसकी दिग्विजय का विस्तृत विवरण दिया हुआ है। उसने मेदपाट (मेवाड़) को कुचला और मालवा तथा आबू पर्वत के परमार राजाओं को हराया और काठियावाड़ प्रायद्वीप तक गया।

सम्भवतः दिल्ली के सुल्तानों के पतन ने उसे अपने हिन्दू पड़ोसियों के विरुद्ध विजय अभियान करने का सुअवसर प्रदान किया। किन्तु इस बात के लिए उसे शीघ्र ही पश्चात्ताप भी करना पड़ा कि उसने क्यों नहीं इस अवसर का लाभ मुसलमानों के विरुद्ध हिन्दु राजाओं को संघठित कर देश की रक्षा व्यवस्था करने में उठाया। दिल्ली के ह्रासोन्मुख गुलाम वंश को जलालुद्दीन खिलजी ने निकाल बाहर किया और शीघ्र ही इस नये सुल्तान ने रणथम्भौर पर धावा किया। किन्तु उसका यह अभियान तथा अलाउद्दीन खिलजी के सिपहसालार उलुग खाँ के नेतृत्व में किये गये अन्य कई अभियान असफल रहे। तब अलाउद्दीन ने स्वयं एक सुव्यवस्थित सेना लेकर रणथम्भौर पर धावा किया। हम्मीर ने बहादुरी के साथ लड़ते हुए वीरोचित प्रतिरोध किया किन्तु अन्ततः वह पराजित हुआ और मारा गया। १३०१ ई० में रणथम्भौर मुसलमानों के हाथ चला गया।

१० मेवाड़ के गुहिल

११ वीं शताब्दी का गुहिलों का इतिहास महत्त्वहीन है। अगली शताब्दी में कुछ काल के लिए गुहिलों को चौलुक्य कुमारपाल की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। चित्रकूट-चित्तौड़ का सुप्रसिद्ध दुर्ग, ११५१ ई० में उसके अधीन था। उसके कुछ ही दिनों बाद जब गुहिलराज सामन्तसिंह ने ११७१ ई० में अपना राज्य पुनः प्राप्त किया तो शीघ्र ही नड्डुल के कीर्तिपाल ने उसे जीत लिया। तब सामन्तसिंह बागड़ (डूंगरपुर) में जा बसा। उसके छोटे भाई कुमारसिंह ने चौलुक्यराज की सहायता से ११८२ ई० से पूर्व कीर्तिपाल को निकाल बाहर किया और स्वयं आघाट (आधुनिक आहार, उदयपुर) में अपनी राजधानी स्थापित की। ११ वीं शताब्दी के आरम्भ में ही आघाट इस राज्य की दूसरी राजधानी का पद प्राप्त कर चुका था।

जैत्रसिंह इस वंश का प्रथम शक्तिशाली राजा था, जिसकी ज्ञात तिथियाँ १२१३-१२५२ ई० के बीच पड़ती हैं। उसके राज्यकाल के आरम्भिक दिनों में उसके राज्य पर सुल्तान इल्तुतमिश ने धावा किया और सारे राज्य को रौंद कर राजधानी नागहृद को नष्ट कर दिया। किन्तु यह खबर मिलते ही कि गुजरात का बाघेला सरदार वीरधवल जैत्रसिंह की सहायता के लिए आ रहा है मुसलमानी सेनाएँ मेवाड़ छोड़कर भागीं।

जैत्रसिंह

अपनी इस आरम्भिक पराजय के बावजूद जैत्रसिंह ने अपने हिन्दू पड़ोसियों के विरुद्ध युद्ध करने में अपनी शक्ति और साधन का दुरुपयोग किया। वह रणथम्भौर के चाहमानों से लड़ा, जो इस क्षेत्र में मुसलमानी अपहरण के विरुद्ध एकाकी दुर्ग का काम कर रहे थे। उसने गुजरात पर धावा किया जिसके शासक ने उसके आरम्भिक दिनों में मुसलमानों से उसे बचाया था। किन्तु इस दोष का परिहार उसके पौत्र समरसिंह (१२७३–१३०१ ई०) ने कर दिया। १२८५ ई० से कुछ पूर्व जब मुसलमानी सेनाओं ने गुजरात पर हमला किया, तो समरसिंह ने बाघेला सरदार सारङ्गदेव की सहायता की। किन्तु पीछे जब अलाउद्दीन खिलजी के सिपह-सालार उलुग खाँ ने गुजरात पर धावा किया तो समरसिंह ने धीरे से आत्म-समर्पण कर दिया। उसकी यह कायरता उसके राज्य को न बचा सकी। उसके बेटे और उत्तराधिकारी रत्नसिंह के राज्यकाल में जो, १३०१ अथवा १३०२ ई० में गद्दी पर बैठा, १३०३ ई० में अलाउद्दीन खिलजी ने मेवाड़ पर धावा किया और चित्तौड़ के सुप्रसिद्ध दुर्ग के निकट अपना शिविर स्थापित किया। रत्नसिंह ने दो मास तक वीरतापूर्वक प्रतिरोध किया किन्तु अन्त में हताश हो गया और चुपके से नगर से बाहर आकर अलाउद्दीन के सम्मुख आत्मसमर्पण कर दिया।

गुहिलों की एक शाखा मुख्य शाखा के अधीन करद रूप में सिसोद में राज्य करती थी और आगे चलकर वह सिसोदिया राजपूत कहलायी। उनके राजा लक्ष्मणसिंह ने रत्नसिंह की बेटी पद्मिनी से विवाह किया था। उसने भीरु राजा रत्नसिंह के भाग जाने पर भी बहादुरी के साथ चित्तौड़ की रक्षा की। इस वीरतापूर्ण प्रतिरोध में वह अपने पुत्रों सहित मारा गया, किन्तु राजपूताना के चारणों ने उसे अमर कर दिया। किन्तु यह सारा प्रतिरोध असफल रहा और अलाउद्दीन ने १३०३ ई० में चित्तौड़ पर अधिकार कर लिया। पद्मिनी के प्रति अलाउद्दीन की आसक्ति और छल द्वारा रत्नसिंह के छुटकारे की कहानी इतिहास की अपेक्षा रोमांच ही

सिसोदिया

अधिक है। इतना तो निश्चित है कि गुहिलों ने अपनी स्वतन्त्रता कायम रक्खी और चित्तौड़ के पतन के पश्चात् भी लड़ते रहे। अलाउद्दीन ने शीघ्र ही अपने बेटे को जिसके अधिकार में वह दुर्ग छोड़ा गया था, वापस बुला लिया और दुर्ग को रत्नसिंह के भानजे चाहमान मालदेव को दे दिया। वह चित्तौड़ में अला-उद्दीन खिलजी के करद के रूप में राज्य करता रहा।

नवाँ अध्याय

उत्तरी भारत की मुसलमानी विजय

१. यामिनी वंश के अन्तर्गत पंजाब

१०३० ई० में सुलतान महमूद की मृत्यु हुई और उसके पश्चात् उसके दोनों बेटों—मुहम्मद और मसूद—में उत्तराधिकार के लिए झगड़ा शुरू हुआ। सात मास तक शासन करने के पश्चात् मुहम्मद गद्दी से उतार दिया गया और १०३१ ई० में मसूद गजनी की गद्दी पर बैठा। उसने अहमद नियाल्तगीन को पंजाब का सूबेदार नियुक्त किया। नियाल्तगीन ने सुल्तान महमूद की नीति जारी रक्खी और देश के भीतर अनेक धावे किये। कहा जाता है कि १०३४ ई० में वह अचानक बनारस आ पहुँचा और सारे बाजार को सुबह से दोपहर तक लूटता रहा तथा लूट कर माल लेकर वह पंजाब लौट गया। रास्ते में पड़नेवाले राज्यों से बिना किसी लड़ाई के वह किस प्रकार लूट के लिए इतनी दूर धावा मार सका, कहना कठिन है।

नियाल्तगीन का अभियान

तीन वर्ष पश्चात् मसूद स्वयं एक बड़ी सेना लेकर भारत आया और हांसी, सोनपत और पूर्वी-पंजाब के आस-पास के प्रदेशों को जीता। किन्तु थोड़े ही दिनों बाद सालजुक तुर्कों ने उसके राज्य पर पुनः आक्रमण किया और वह गजनी छोड़ने को मजबूर हुआ। भारत के रास्ते में उसके तुर्की और हिन्दू गुलामों ने विद्रोह कर दिया और उसे मार डाला।

मसूद

उत्तराधिकार के लिए यथावत् संघर्ष के पश्चात् मसूद का बेटा मौदूद पंजाब और गजनी का स्वामी बना। किन्तु सालजुकों का आक्रमण जारी रहा और जान पड़ता है कि इस अवसर का लाभ उठाकर भारतीय राजाओं ने दिल्ली के तोमरराज के नेतृत्व में पंजाब छीन लेने का संयुक्त प्रयत्न किया। सम्भवतः भारतीय राजाओं के संघ में परमारराज भोज, कलचुरि कर्ण और नड्डुल के चाहमान अर्णाहिल भी सम्मिलित थे। उन्होंने हांसी, थानेश्वर, नगरकोट और

अन्य स्थानों को जीतने के पश्चात् १०४३ ई० में लाहौर को घेर लिया। लाहौर की सेना बड़ी कठिनाई में पड़ गयी और उसने घोर निराशा के वातावरण में आक्रमणकारी सेना पर धावा बोल दिया। भारतीय सेना इस अचानक धावे के कारण भाग उठी। बाद की घटनाओं की दृष्टि से कह सकते हैं कि इस असफलता ने मुसलमानों की भारत विजय के मार्ग को प्रशस्त कर दिया। असफलता का कारण नेतृत्व का अभाव था।

१०४९ ई० में मौदूद की मृत्यु होने पर पूर्ववत् राजमहल के कुचक्र शुरू हो गये और अगले १० वर्षों के भीतर छः सुलतान गद्दी पर बैठे और उतरे। किन्तु इस अव्यवस्था में भी पंजाब के सूबेदार ने नगरकोट को जीत लिया और सुलतान इब्राहीम ने, जो १०५९ में गद्दी पर बैठा, सेना लेकर भारत पर धावा किया तथा पूर्वी पंजाब के अनेक स्थान को जीता। उसका बेटा महमूद १०७५ ई० में पंजाब का सूबेदार नियुक्त हुआ। उसने आगे बढ़कर कन्नौज और आगरे पर अधिकार कर लिया किन्तु वह उज्जैन और कालिंजर न ले सका जिनकी परमार और चन्देल राजाओं ने सफलतापूर्वक रक्षा की। इब्राहीम के उत्तराधिकारी मसूद तृतीय (१०९९-१११५ ई०) के राज्यकाल में मुसलमानों ने गंगा के पार धावा किया और कन्नौज के राजा माल्ही को गिरफ्तार कर लिया। जैसा कि पीछे बताया जा चुका है, वह सम्भवतः गहड़वाल राजा मदनचन्द्र था। उसके बेटे गोविन्दचन्द्र ने उसे मुसलमानों को हराकर छुड़ाया।

मसूद तृतीय की मृत्यु पर उसके दो बेटे एक के बाद दूसरे गद्दी पर बैठे किन्तु दूसरे बेटे को तीसरे बेटे बहराम ने अपने मामा सालजुक सुल्तान की सहायता से मार डाला। बहराम १११९ से ११५२ ई० तक राज्य करता रहा। उसके राज्यकाल के अन्तिम दिनों में गजनी के पश्चिम और हेरात के पूरब स्थित गोर नामक एक छोटे से राज्य के शसबानी राजकुमारों से उसका संघर्ष हुआ। पहले वह गजनी के अधीन था। उस राजवंश के एक व्यक्ति ने बहराम के यहाँ शरण ली थी, किन्तु बहराम ने संदेह में उसे मार डाला। फलस्वरूप गजनी और गोर के शासकों में पारिवारिक रक्तपात आरम्भ हुआ जो क्रूरता और विश्वासघात से पूर्ण था। अन्ततोगत्वा बहराम पराजित हुआ और उसका राज्य उसके विरोधी के हाथ लगा। सुल्तान महमूद की भारतीय लूट से सुसज्जित गजनी का शहर उस समय सारे संसार के सबसे शानदार नगरों में एक था। किन्तु गोर के शाह अलाउद्दीन ने सुल्तान महमूद की राजधानी के साथ वैसा ही व्यवहार किया

गोर

जैसा कि महमूद ने अपने भारतीय अभियानों में यहाँ के नगरों के साथ किया था। तीन दिनों तक (कुछ लोगों के अनुसार सात दिनों तक) गजनी में लूट-पाट, हत्या और अग्निकांड चलता रहा। समस्त शानदार भवन नष्ट कर दिये गये और एशिया के सबसे शानदार नगर का नामोनिशान पृथिवी से प्रायः मिट सा गया। इस प्रकार प्रतिशोध की भयंकर देवी ने अपना काम किया और भारत के प्रति किये गये अन्याय का क्रूरतापूर्ण बदला चुक गया, यद्यपि वह एक विदेशी के हाथों हुआ।

मरने से पहले बहराम ने गजनी पर पुनः अधिकार कर लिया और उसका बेटा खुसरूशाह उसका उत्तराधिकारी हुआ। किन्तु उसके राज्य के अधिकांश भाग को गोर के शासकों ने जीत लिया और अन्ततोगत्वा ११५० ई० के कुछ ही दिनों बाद गजतुर्कों द्वारा वह गजनी से निकाल बाहर किया गया। वह लाहौर भाग कर आया और वहाँ ११६० ई० तक राज्य करता रहा। उसका बेटा खुसरो मलिक उसका उत्तराधिकारी हुआ। गजनवियों के भारतीय क्षेत्रों में भी विघटन के चिन्ह प्रकट होने लगे। उनके सूबेदारों एवं करद राजाओं का प्रायः स्वतन्त्र राजाओं का सा व्यवहार होने लगा। इस बीच प्रायः हमेशा ही गोर के शासकों के साथ संघर्ष चलता रहा और गोर का राज्य शीघ्र ही गयासुद्दीन के हाथों चला गया। उसने ११७४ ई० में गजनी को गज तुर्कों से छीना और अपने भाई शिहाबुद्दीन मुहम्मद को, जो मुईज़ुद्दीन मुहम्मद के नाम से भी प्रसिद्ध है, वहाँ का सूबेदार नियुक्त किया। भारतीय इतिहास में दोनों को ही गोरी कहकर पुकारते हैं। शिहाबुद्दीन के जिम्मे पूर्वी भाग की देख-रेख थी। अतः स्वभावतः उसका ध्यान भारत की ओर आकृष्ट हुआ। वह पंजाब की ओर बढ़ा और उच्च पर अधिकार कर लिया, किन्तु जैसा पीछे कहा जा चुका है, अपने गुजरात के अभियान में चालुक्य राज मूलराज द्वितीय द्वारा वह पराजित हुआ। शिहाबुद्दीन को अधिक सफलता सिन्ध में मिली और उसने लाहौर पर ११८१ और ११८४ ई० में दो बार धावे किये। ११८६ ई० के अपने तीसरे धावे में उसने खुसरो मलिक से पंजाब छीन लिया। खुसरो मलिक गजनी के यामिनी-वंश का अन्तिम शासक था।

२. शिहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी

पंजाब की विजय के फलस्वरूप गोरी शासकों का राज्य पृथ्वीराज की सीमाओं को छूने लगा और दोनों के बीच संघर्ष अवश्यम्भावी हो गया। ११७८ ई० में जब शिहाबुद्दीन गुजरात की ओर बढ़ रहा था, उसने पृथ्वीराज के पास अपना

एक दूत भेजा और उससे मूलराज के विरुद्ध साथ देने का अनुरोध किया। किन्तु पृथ्वीराज की सराहना करनी होगी कि उसने इसे अस्वीकार कर दिया और जब उस मुस्लिम आक्रमणकारी ने नद्दुल को जीत लिया तो उसके विरुद्ध लड़ने का निश्चय किया। किन्तु इस युवक का वृद्धमंत्री कदम्ब उसके मुसलमानों के कुचलने के उत्साह से सहमत न हुआ। उसकी दृष्टि में नीतिज्ञता इस बात में थी कि दोनों शत्रुओं—मुसलमानों और चौलुक्यों को परस्पर लड़ने के लिए छोड़ दिया जाय, जिसमें वे अपनी शक्ति बरबाद करें। वस्तुतः जैसे ही पृथ्वीराज ने सुना कि मूलराज ने शिहाबुद्दीन की सेना को हरा दिया है, अपनी सैनिक तैयारी बन्द कर और, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, शिहाबुद्दीन के पंजाब जीत लेने पर भी वह उस मुसलमानी आक्रामक के विरुद्ध चौलुक्य भीम से मिलकर संयुक्त मर्चा खड़ा करने की अपेक्षा उससे लड़ता ही रहा। जबतक शिहाबुद्दीन ने पृथ्वीराज के राज्य पर आक्रमण करना शुरू नहीं कर दिया और तबरहिन्दाह् के सुदृढ़ दुर्ग को जीत नहीं लिया, पृथ्वीराज की आँखें खतरे की गम्भीरता के प्रति खुली नहीं। अब वह उनकी उपेक्षा नहीं कर सकता था। दिल्ली के सूबेदार एवं अन्य राजाओं ने जब मुसलमानों द्वारा किये गये देश के विनाश और स्त्रियों की बेइज्जती की बात सुनायी जिसके फलस्वरूप पंजाब के शरणार्थियों से सीमा के इस पार के पर्वत और घाटी भर गये थे, तब पृथ्वीराज ने शिहाबुद्दीन से लड़ने का निश्चय किया और एक बड़ी सेना लेकर आगे आया। ११९१ ई० में यह युद्ध भटिण्डा से २१ मील पर तरायन अथवा तोरवन नामक गाँव में हुई। शिहाबुद्दीन ने जोर-शोर के साथ भारतीय सेना के केन्द्र पर आक्रमण किया, किन्तु उसकी पार्श्व-सेनाएँ भाग निकलीं वह पूर्णतः घिर गया और बुरी तरह घायल हुआ। किन्तु अपने अदम्य साहस के फलस्वरूप काफी कठिनाई के बाद अपने कुछ साथियों के साथ निकल भागा। पृथ्वीराज की पूर्ण विजय हुई और उसने अपने विरोधियों की सेना में भगदड़ मचा दी। बुझते हुए दीपक की अन्तिम लौकी भाँति यह हिन्दुओं की अन्तिम बड़ी सैनिक सफलता थी किन्तु आश्चर्य इस बात का है कि भागती हुई और बिखरी हुई मुसलमानी सेनाओं का हिन्दुओं ने पीछा क्यों नहीं किया और उन्हें सुरक्षित स्थानों में पहुँच क्यों जाने दिया।

शिहाबुद्दीन अपने इस अपमान को कभी न भूला। सुना जाता है कि उसका कहना था कि मुझे चैन नहीं पड़ती और मैं चिन्ता और खेद में ही "दिन-रात सोता जागता हूँ।" प्रतिशोध की भावना से दहकते हुए उसने मध्य एशिया की पहाड़ियों से एक बड़ी कठोर सेना एकत्र की और अगले साल फिर भारत की ओर बढ़ा।

पहली लड़ाई जीतने के पश्चात् पृथ्वीराज ने तबरहिन्दाह के दुर्ग को घेरा जो १३ मास पश्चात् उसके हाथों लगा। इस सुदृढ़ दुर्ग की पुनःप्राप्ति के अतिरिक्त उस एक वर्ष के समय का उपयोग पृथ्वीराज ने शत्रु के भावी आक्रमण के विरुद्ध उचित सुरक्षा-व्यवस्था करने में बिल्कुल ही न किया। वह शिहाबुद्दीन की अनुपस्थिति में पंजाब को सरलता से जीत सकता था और पहाड़ी दर्रों पर कब्जा कर सकता था। नवविजित पंजाब में असंतोष व्याप्त था और भारत में कोई सुदृढ़ गोरी सेना नहीं रह गयी थी। इससे भी बुरी बात तो यह थी कि पश्चिम में अपने राज्य की रक्षा करने वाले तबरहिन्दाह के दुर्ग की सुरक्षा की भी उसने कोई व्यवस्था न की। शिहाबुद्दीन ने उस दुर्ग को सरलता से कुछ ही दिनों बाद फिर जीत लिया, जिसे जीतने में पृथ्वीराज को शिहाबुद्दीन की सेना के चले जाने के बाद भी १३ मास लगे थे। वस्तुतः पहले युद्ध के स्थल तरायन तक पहुँचने के पूर्व शिहाबुद्दीन को किसी प्रतिरोध का सामना नहीं करना पड़ा। पृथ्वीराज वहाँ अपनी सेना लिए हुए उसकी प्रतीक्षा कर रहा था। आश्चर्य तो यह है कि इस नाजुक मौके पर पृथ्वीराज का ख्यातिनामा सेनापति स्कन्द, जिसने पहला युद्ध जीता था, अन्यत्र एक युद्ध में व्यस्त था। भारतीय राजाओं ने समान खतरे के सम्मुख एकता की भावना को एक बार पुनः व्यक्त किया और अनेक राजाओं की सेनाएँ पृथ्वीराज से आ मिलीं। पृथ्वीराज ने शिहाबुद्दीन से कहलाया कि वह लौट जाय। शिहाबुद्दीन ने निश्चिन्त होकर उत्तर दिया कि यह सन्देश वह अपने भाई—शासक के पास कहला रहा है। इस प्रकार पास ही एकत्र भारतीयों को निश्चिन्तता के धोखे में डाल कर शिहाबुद्दीन ने अलस्सुबह अकस्मात् धावा बोल दिया और भारतीय सेना में अस्तव्यस्तता फैल गयी। किन्तु शीघ्र ही भारतीय शिविर भी व्यवस्थित हो गया और भारतीय सेना आक्रमण के लिए आगे बढ़ी। आकस्मिक आक्रमण द्वारा भारतीय सेना पर छा जाने के प्रयत्न में असफल होने पर शिहाबुद्दीन ने एक नयी चाल चली। अपने साथ एक सुदृढ़ सुरक्षित टुकड़ी रख कर, शेष सेना को उसने छोटी-छोटी टुकड़ियों में विभक्त किया और कहा कि वह पहले के जोर-शोर से भारतीय सेना पर आक्रमण करे और फिर पीछे भागने का दिखावा करे। उसकी धारणा के अनुसार ही भारतीय सेना ने उनका जोरों के साथ पीछा किया। वीरता द्वारा जीते हुए युद्ध को भारतीय सेनाओं ने एक बार पुनः नेतृत्व के अभाव में खो दिया। पीछा करने की उतावली में वे अव्यवस्थित और बिखरे हुए समूहों में आगे बढ़े, जब शिहाबुद्दीन की सेना ने युद्ध-काल में भी व्यवस्था और अनुशासन बनाये रक्खा। जब शिहाबुद्दीन ने देखा कि शत्रु-

सेना की पाँत टूट कर अव्यवस्थित हो गयी है तो वह १२,००० घुड़सवार सेना लेकर, जिसे उसने सुरक्षित रख छोड़ा था, एकदम धावा बोल दिया और भारतीय सेना को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला। अनेक भारतीय सरदारों ने पुनः एकत्र होकर उसका सामना करने का निष्फल प्रयत्न भी किया पर वे खेत रहे। पृथ्वीराज स्वयं भी बन्दी कर लिया गया और निर्मम हत्या का शिकार हुआ। इस प्रकार भीषण दिन का अन्त हुआ और भारतीय शान का सूर्य तरायन के मैदान में अस्त हो गया (११९२ ई०)।

आगे का वृत्तान्त संक्षेप में इस प्रकार है। शिहाबुद्दीन ने इस विजय के पश्चात् अजमेर को जीत लिया और वह पृथ्वीराज के छोटे बेटे के शासन में उसका करद राज्य हो गया। अनेक दुर्गों को जीत कर शिहाबुद्दीन गज़नी लौटा और भारतीय राज्य की देख-रेख के लिए अपने सेनापति कुतुबुद्दीन को छोड़ गया। कुतुबुद्दीन ने दिल्ली पर अधिकार कर लिया और अन्य स्थानों को जीता। अगले वर्ष शिहाबुद्दीन ने स्वयं कन्नौज के जयचन्द को पराजित किया और इस्लाम का झण्डा बनारस तक ले गया। थोड़े दिनों ही पश्चात् पृथ्वीराज का छोटा भाई हरिराज अपने भतीजे को निकाल कर अजमेर का स्वतन्त्र शासक बन बैठा। किन्तु खेद की बात है कि वह अपनी बुरी आदतों के कारण जनता में बहुत अप्रिय हो गया और जब कुतुबुद्दीन ने अजमेर पर आक्रमण किया तो उसका कोई वास्तविक प्रतिरोध न हो सका। किन्तु अपने जीवन के अन्तिम क्षणों में हरिराज अपने परिवार के सदस्यों के साथ चिता बनाकर जल मरा। उसके साथियों ने रणथम्भौर में शरण ली और अजमेर कुतुबुद्दीन के हाथ लगा।

पूर्व की विजय को मुहम्मद बख्तियार खिलजी[1] ने पूरा किया। वह एक साहसिक एवं भाग्यवान् सैनिक था। उसने दक्षिणी बिहार को जीता और अचानक नदिया पर धावा करके बंगाल के लक्ष्मणसेन को पराजित कर उत्तरी और पश्चिमी बंगाल की विजय की। कुतुबुद्दीन का सफल प्रतिरोध केवल गुजरात के चौलुक्यराज की ओर से हुआ जिसकी कुछ अन्य राजाओं ने सहायता की। कुतुबुद्दीन पराजित हुआ और वह उस समय तक अजमेर में छिपा रहा जब तक कि गज़नी से नयी सेना न आ गयी और वह मैदान लेने योग्य न हो गया। उसने राजधानी अन्हिलवाड़ पर

१. उसका पूरा नाम इख्तियारुद्दीन मुहम्मद बख्तियार खिलजी है। कुछ लोग उसे बख्तियार का बेटा बताते हैं। वह तुर्की कबीले खल्ज का सदस्य था जिससे आगे चलकर दिल्ली के मुस्लिम सम्राटों का वह वंश स्थापित हुआ, जो खिलजी नाम से प्रसिद्ध है।

अधिकार कर लिया पर उसके प्रान्तों को अधीन न कर सका। उसने चन्देलों को हराया और केवल मालवा के परमार ही मध्य भारत की ऐसी शक्ति थे जिन्हें वह पराजित न कर सका। इस प्रकार तरायन के दूसरे युद्ध के १० वर्षों के भीतर ही पूर्वी बंगाल, उत्तरी बिहार (तिरहुत), मालवा और गुजरात को छोड़कर सारा उत्तरी भारत गोरी सुल्तानों के हाथ चला गया। किन्तु जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, चन्देलों ने अपना राज्य पुनः प्राप्त कर लिया और कलचुरियों द्वारा शासित प्रदेश जीत लिया। कुछ अन्य छोटे राजाओं द्वारा मुसलमानी आक्रामकों के वीरतापूर्ण प्रतिरोध की भी चर्चा ऊपर की जा चुकी है।

अपने भाई की मृत्यु के पश्चात् शिहाबुद्दीन गद्दी पर बैठा; किन्तु भारत से गजनी की ओर लौटते समय १२०६ ई० में सिन्धु के किनारे संभवतः खोकर नामक पहाड़ी जातियों के एक दल द्वारा स्वयं मार डाला गया। उसकी मृत्यु के पश्चात् उत्तरी भारत का गोरी राज्य कुतुबुद्दीन के हाथ चला गया।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि भारत पर मुसलमानों की विजय अकथनीय क्रूरता और भीषणता से परिपूर्ण थी। जब उन्होंने अजमेर पर अधिकार किया तो हजारों आदमी तलवार के घाट उतार दिये गये। जो बचे वे गुलामों की तरह बेंचे गये। यह केवल अकेली घटना न थी। धार्मिक स्थानों की भी यही दुर्दशा हुई। बिहार के एक बौद्ध-विहार के भिक्षुओं का उन्होंने इस प्रकार सफाया किया कि जब वे पुस्तकालय की पुस्तकों को समझने के लिए किसी को ढूंढ़ने लगे तो उन्हें कोई जीवित आत्मा न मिल सकी। मन्दिर, विहार और अन्य आलीशान भवन बुरी तरह से नष्ट किये गये और उनकी ईंट और पत्थरों का उपयोग मस्जिदों के बनाने में किया गया।

दसवाँ अध्याय

नेपाल और कश्मीर

उत्तरी भारत का ऐतिहासिक चित्रांकन पूर्ण करने के लिए आवश्यक है कि हम नेपाल और कश्मीर के दो सीमान्त राज्यों का भी कुछ उल्लेख करें। केवल इनके ही वृत्तान्त हमें देशी इतिवृत्तों से प्राप्त हुए हैं।

१. नेपाल

नेपाल ही प्राचीन भारत का एक ऐसा राज्य है जो अनवरत रूप से आज तक अपनी स्वतन्त्रता बनाये है। उसका आरम्भिक इतिहास केवल जनश्रुति पर आश्रित है। कहते हैं कि आरम्भ में गोपालों (ग्वालों) के किसी वंश के आठ राजाओं ने उसपर राज्य किया। उन्हें अहीरों अथवा आभीरों के वंश ने हराकर अपना अधिकार जमाया। पहले हम देख चुके हैं कि पश्चिमी भारत के इतिहास में ईसा की आरम्भिक शताब्दियों में आभीरों का महत्त्वपूर्ण भाग रहा। इस वंश के तीसरे राजा के राज्यकाल में किरातों ने नेपाल को जीता। किरात प्राचीन भारत की एक सुप्रसिद्ध जाति रही। उनके उल्लेख वैदिक साहित्य, रामायण, महाभारत और अन्य परवर्ती ग्रन्थों में हुए हैं। सम्भवतः हिमालय और गंगा के कांठे के बीच बसनेवाली तिब्बती-बर्मी जातियों के लोग इस सामान्य नाम से पुकारे जाते थे। २९ किरात राजाओं ने नेपाल पर राज्य किया; उसके पश्चात् भारत के निमिष नामक क्षत्रिय राजा ने नेपाल को जीत लिया। निमिष के वंश में पाँच राजा हुए। अन्तिम राजा को लिच्छवियों ने उखाड़ फेंका।

लिच्छवियों की विजय से नेपाल का प्रामाणिक इतिहास प्रारम्भ होता है। लिच्छवि गौतम बुद्ध के काल की विदेह में रहनेवाली एक प्रसिद्ध जाति थी। उन्हें पाँचवीं शताब्दी ईसा पूर्व के आरम्भ में अजातशत्रु ने जीत

लिच्छवि

लिया था। उसके बाद वे दूसरी अथवा तीसरी शताब्दी में ही राज्यतन्त्र के रूप में नेपाल में उपस्थित होते हैं। इसके पूर्व उनका कुछ भी पता नहीं लगता। बहुत सम्भव है कि जब मध्य एशिया की बर्बर जातियों ने उत्तरी भारत पर आक्रमण किया तो लिच्छवियों ने मैदान छोड़कर

हिमालय के दुर्गों की शरण ली हो। इस वंश के लगभग २८ राजाओं ने चार-पाँच सौ वर्षों तक वहाँ राज्य किया। इनके नाम राजवंशावलियों और अभिलेखों में सुरक्षित हैं। ऊपर कहा जा चुका है कि चौथी शताब्दी में एक लिच्छवि राजकुमारी चन्द्रगुप्त प्रथम से ब्याही गयी थी और समुद्रगुप्त के राज्यकाल में नेपाल ने गुप्त साम्राज्य की अधीनता स्वीकार की थी। किन्तु गुप्त साम्राज्य के ह्रास के बाद लिच्छवि बहुत शक्तिशाली हो गये। ५ वीं शताब्दी के अन्त अथवा ६ ठीं शताब्दी के आरम्भ में राज्य करने वाले मान्यदेव के दिनों में उनका राज्य पूर्व और पश्चिम नेपाल की घाटी के बाहर भी फैल गया था। ७ वीं शताब्दी के आरम्भ में कुछ आन्तरिक उत्पात हुए। सम्भवतः आभीरों ने फिर से शक्ति प्राप्त करने की चेष्टा की। इस अवसर का लाभ उठाकर अंशुवर्मन् नामक मन्त्री ने अपना प्रभुत्व स्थापित किया और अन्ततोगत्वा गद्दी का अपहरण कर लिया। उसने सम्भवतः अन्तिम लिच्छवि-राज की पुत्री से विवाह किया था। उसने एक नये राज्यवंश की स्थापना की जो वैश्य-ठाकुरी के नाम से प्रसिद्ध है। अंशुवर्मन् जिस राजपूत शाखा का था वह वैश्य नाम से पुकारी जाती थी।

इससे कुछ ही पूर्व चीनी साम्राज्य के पश्चिम में रहनेवाले मध्य एशिया के घुमन्तुओं को एक शक्तिशाली नेता ने संगठित किया और तिब्बत में राज्य की स्थापना की। इस वंश के दूसरे राजा श्रौङ्ग-ब्तसान्-गम-पो के राज्य-काल में वह राज्य चारों तरफ फैला। वह एक महान् राजा कहा जाता है। नेपाल के राजा को तथा भारत के कुछ अन्य छोटे राजाओं को इस शक्ति की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। नेपाल-नरेश को इस बर्बर नरेश से अपनी बेटी भी ब्याहनी पड़ी।

अंशुवर्मन् की मृत्यु के पश्चात् राज्य में फिर कुछ उपद्रव हुआ और नरेन्द्रदेव ने लिच्छवि राज्य की फिर से स्थापना की। वह ६४३ ई० से पूर्व गद्दी पर बैठा। नरेन्द्रदेव के बेटे शिवदेव ने मगध सम्राट आदित्यसेन की पौत्री-मौखरी राजकुमारी से विवाह किया। उसके बेटे जयदेव ने हर्ष की पुत्री से विवाह किया। हर्ष गौड़, ओड्र, कलिंग, कोशल आदि प्रदेशों का राजा था। इस हर्ष के संबंध में कहा जाता है कि वह भगदत्त के वंश का था। अतः वह सम्भवतः कामरूप का राजा था। इस इस प्रकार नेपाल के राजाओं ने सभी पड़ोसी राजाओं से विवाह-संबंध स्थापित किया था।

जयदेव की मृत्यु के पश्चात् लगभग डेढ़ सौ वर्षों तक नेपाल तिब्बत के अधीन रहा। उन दिनों तिब्बत एशिया का सबसे बड़ा शक्तिशाली राज्य था। ८३८ ई० में तिब्बत धर्म अथवा ग्लण धर्म के हाथों में चला गया। उसकी पशुता और क्रूरता के कारण उसके राज्य में विद्रोह फैल गया। फलस्वरूप तिब्बत साम्राज्य विघटित हो

गया। इस अवसर का लाभ उठाकर नेपाल स्वतन्त्र हो गया और इस घटना की स्मृति में एक नया संवत् ७७८ ई० में चला जो नेपाल संवत् के नाम से प्रसिद्ध है। यह नया संवत् न केवल नेपाल के राजनीतिक इतिहास का नया अध्याय आरंभ करता है वरन् उसकी आर्थिक समृद्धि का भी। चारों ओर नये २ नगर बने और इसी समय काठमांडू (वर्तमान राजधानी) की भी या तो स्थापना हुई अथवा उसे महत्त्वपूर्ण पद प्राप्त हुआ।

ग्यारहवीं शताब्दी के आरम्भ से नेपाल में सामन्त सरदार बहुत शक्तिशाली हो उठे और राज्य दो-तीन राजाओं में बंट गया। वे लोग पाटन, काठमांडू, भाटगांव को राजधानी बनाकर अलग-अलग राज्य करने लगे। सामन्त लोग अक्सर नये नये राजा चुना करते थे।

ग्यारहवीं शताब्दी के अन्त के लगभग नेपाल को तिरहुत के कर्नाटक राजा नान्यदेव ने जीत लिया और वह सारे प्रदेश का स्वामी बन बैठा और अकेले तीनों राजधानियों से राज्य करने लगा (१०९८-१११८)। उसकी मृत्यु के पश्चात् नेपाल में पुराना राजवंश पुनःस्थापित हुआ : किन्तु वह तिरहुत में राज्य करने वाले नान्यदेव के उत्तराधिकारी की अधीनता नाममात्र को स्वीकार करता रहा। उसके बाद मल्ल नामान्त राजाओं की एक नयी शाखा नेपाल में स्थापित हुई। सम्भवतः वे उस पुरानी मल्ल जाति के थे, जिन्होंने लिच्छवियों के साथ गौतम बुद्ध के समय में प्राचीन भारत के इतिहास में महत्त्वपूर्ण भाग लिया था। मल्ल वंश का संस्थापक अरिमल्लदेव १३ वीं शताब्दी के अन्त में हुआ। १२८७ ई० में पूर्व से खासी लोगों ने नेपाल पर धावा कर उसे बर्बाद कर दिया। यद्यपि यह विजय अल्पकालीन ही थी, पर उसके परिणामस्वरूप नेपाल की राजनीतिक स्थिरता जाती रही और शीघ्र ही दूसरे शत्रु द्वारा वह पराधीन कर लिया गया। मुसलमानों के हाथ उत्तरी भारत का बहुत बड़ा भाग पड़ जाने पर भी बहुत दिनों तक नान्यदेव के वंशज तिरहुत में राज्य करते रहे। १३२४-१३२५ ई० के जाड़े में बंगाल से दिल्ली लौटते समय गयासुद्दीन तुग़लक तिरहुत आया। तत्कालीन राजा हरिसिंह उसका सामना न कर सका और नेपाल भागा। वहां बिना किसी कठिनाई के उसने अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। मल्लवंश के राजे स्थानीय रजवाड़ों के रूप में रह गये। हरिसिंह के उत्तराधिकारी लगभग १०० वर्षों तक उस देश के वास्तविक शासक रहे। १४२५ ई० में यक्षमल्ल गद्दी पर बैठा और उसने नेपाल में अपना एकछत्र प्रभुत्व स्थापित किया। वह महान् विजेता था और नेपाल के मल्ल वंश का सबसे बड़ा राजा गिना जाता है। किन्तु उसकी एक बेवकूफी के कारण उसके वंश का विनाश हो गया।

उसने अपने विस्तृत साम्राज्य को चार भागों में विभक्त कर अपनी चार संततियों—एक बेटी और तीन बेटों—में बांट दिया। इन राज्यों में स्वभावतः संघर्ष उत्पन्न हो गया। फलस्वरूप जो अराजकता फैली, उसने धीरे-धीरे नेपाल की सारी शक्ति समाप्त कर दी और वह १७६८ ई० में सप्तगण्डकी की तलहटी में स्थित गुर्खा राजपूत राजा पृथ्वीनारायण (पृथ्वीनारायण) के हाथ बिना किसी विशेष प्रयत्न के लग गया। नेपाल के वर्तमान शासक उसी राजा के वंशज हैं।

२. काश्मीर

काश्मीर के इतिहास का महत्त्व इस दृष्टि से विशेष है कि हमारे लिए उसकी घटनाओं का विस्तृत अध्ययन कर सकना सम्भव है; जब कि भारत के किसी अन्य राज्य के सम्बन्ध में ऐसा सम्भव नहीं है। यह सुविधा कल्हण कृत राजतरंगिणी नामक इतिवृत्त के कारण ही है, जिसका उल्लेख पहले हो चुका है।

(अ) कर्कोट वंश का अन्त

काश्मीर का जयापीड़ के राज्यकाल तक का इतिहास हम पहले बता चुके हैं। उसके बाद उसका बेटा ललितापीड़ गद्दी पर बैठा। वह काश्मीर की गद्दी को अप्रतिष्ठित करने वाले राजाओं में सबसे अधिक बदनाम है।

ललितापीड़

वह ८ वीं शताब्दी के अन्त अथवा ९ वीं शताब्दी के आरम्भ में गद्दी पर बैठा और १२ वर्षों तक राज्य अथवा कुराज्य करता रहा। वह अपनी वासनाओं का दास और राजकर्त्तव्य से विमुख था। फलस्वरूप उसका राज्य वेश्याओं का शिकार हुआ और अनैतिकताओं से अपवित्र होने लगा। जयादेवी नाम की उसकी एक रखेली थी, जो एक सुरा-निर्माता की लड़की थी। जयापीड़ के बाद उसका भाई गद्दी पर बैठा और उसके बाद जयादेवी का लड़का बृहस्पति उत्तराधिकारी हुआ। बृहस्पति के राज्यकाल में जयादेवी के पाँच भाइयों ने मिलकर राजशक्ति का अपहरण कर लिया और उसे मार डाला। भाइयों ने मिलकर देश के साधनों को खूब बर्बाद किया और अन्ततोगत्वा आपस में लड़ पड़े। फलस्वरूप रक्तप्लावन आरम्भ हो गया और राज्य का ढाँचा प्रायः नष्ट-भ्रष्ट होने लगा। प्रतिस्पर्द्धियों द्वारा ललितादित्य के वंश के कुछ कठपुतली लोग गद्दी पर बैठाये जाते रहे। उन पाँच भाइयों में सबसे बड़े उत्पल के पौत्र अवन्तिवर्मन् को जब मंत्री शूर ने गद्दी पर बैठाया तब कहीं जाकर युद्ध बन्द हुआ। इस प्रकार उस कर्कोट वंश का अन्त हुआ, जिसमें चन्द्रापीड़ और मुक्तापीड़ सदृश प्रतिभाशाली शासक उत्पन्न हुए थे।

(ब) उत्पल वंश

नये राजा अवन्तिवर्मन् (८५५–८८३ ई०) ने शान्ति स्थापित की और राज्य को दृढ़ता प्रदान की। उसने अवन्तिपुर नामक नगर बसाया और अनेक मन्दिर बनवाये, जो "यद्यपि ललितादित्य के बनवाये हुए वास्तुओं के समान विशाल तो न थे तथापि प्राचीन काश्मीर की वास्तुकला के भव्य नमूने हैं।" मंत्री शूर ने अपने स्वामी को गद्दी पर बैठाने में जो भाग लिया था उसके कारण वह असाधारण प्रभुत्व रखता था। किन्तु वह उन न्यायी और योग्य राजनीतिज्ञों में था जिन्होंने भारतीय इतिहास में राजमंत्रियों के रूप में प्रमुख भाग लिया है। वह विद्वानों का संरक्षक था और उन्हें राजदरबार में स्थान दिलाकर सम्मानित करता था। कहा जाता है कि वे विद्वान् जिन्हें वह धन और सम्मान से सम्मानित करता था, राजदरबार में राजाओं के योग्य सवारियों में बैठकर आया करते थे। उसने एक नगर बसाया, मन्दिर बनवाये और विहारों को दान दिये। राजा और मंत्री परस्पर एक दूसरे का आदर करते थे। इस संबन्ध में कल्हण ने एक मनोरंजक कहानी दी है। एक बार राजा एक शिव मंदिर में उपासना करने गया। उस मन्दिर से सम्बद्ध गाँव को वहाँ के एक सामन्त सरदार ने छीन लिया था। वह सरदार मंत्री का नजदीकी था। राजा ने पुजारियों की दयनीय दशा देखी और कारण पूछा। वास्तविक स्थिति ज्ञात होने पर उसने कहा तो कुछ नहीं किन्तु अस्वस्थता का बहाना करके पूजा करना बन्द कर दिया। जब शूर को वास्तविक स्थिति का पता चला तो उसने उस सामन्त राजा को बुलवा भेजा और जैसे ही वह आया उसने उसका सिर काट लिया। पश्चात् उसने राजा के स्वास्थ्य की पूछताछ की और उन्हें खाट पर से उठाकर पूजा पूर्ण करने को कहा। इतिहासकार ने सत्य ही कहा है कि "ऐसे राजा और ऐसे मंत्री, जिनके पारस्परिक सम्बन्ध पारस्परिक घृणा से मलिन नहीं हुए, न तो देखे गये न सुने गये।" अवन्तिवर्मन् के उत्कर्षमय और शान्तिपूर्ण राज्यकाल में होनेवाली महत्त्वपूर्ण घटनाओं में एक थी सुय्यं की वह कला-चातुरी, जिसके परिमाणस्वरूप उसने घाटी के पानी बहने और उसकी सिंचाई की व्यवस्था की। इसके फलस्वरूप देश न केवल भयावह बाढ़ों से बचा वरन् कृषि योग्य भूमि की वृद्धि भी हुई। देश को इससे जो अपार लाभ हुआ उससे जनता की कल्पना जाग्रत हो उठी और उस महान् इञ्जीनियर की स्मृति आज भी सूर्यपुर नामक नगर द्वारा सुरक्षित है जो उसके नाम पर बसाया गया। अवन्तिवर्मन् की मृत्यु जिस प्रकार हुई वह उसके जीवन को व्यक्त करता है। वह हृदय से वैष्णव था, किन्तु मंत्री के प्रति आदर दिखाने के निमित्त वह अपने को

अवन्तिवर्मन्

शैव व्यक्त करता रहा। जब मृत्यु निकट आई तो उसने यह रहस्य हाथ जोड़कर शूर से प्रकट किया। भगवद्‌गीता सुनते हुए और वैकुण्ठ की याद करते हुए प्रसन्न मन से उसने लौकिक काया का त्याग किया।

अवन्तिवर्मन् के निधन के पश्चात् उत्पल के अनेक वंशजों में राज्य के लिए संघर्ष आरम्भ हो गया। किन्तु रत्नवर्धन नामक राज्याधिकारी के प्रयत्न से गद्दी उसके बेटे शंकरवर्मन् को मिली। शंकरवर्मन् का राज्यकाल

शंकरवर्मन्

(८८५–९०२ ई०) उसके बाहरी अभियानों के लिये प्रसिद्ध है। सबसे पहले उसने दारवाभिसार और त्रिगर्त को जीता और इस प्रकार काश्मीर के तुरत दक्षिण का वह पर्वतीय प्रदेश प्राप्त किया जो कर्कोट वंश के अन्तिम दिनों में उसकी सीमा से बाहर निकल गया था। किन्तु शंकरवर्मन् की सबसे बड़ी सफलता पंजाब के गुर्जर (झेलम और चिनाब के बीच) राज्य के विरुद्ध हुई, जिससे काश्मीर का राज्य उस दिशा में बढ़ गया। गुर्जर राज्य की सहायता सुप्रसिद्ध लल्लीय शाही ने की थी, जिसका उल्लेख पहले हो चुका है शंकरवर्मन् ने लल्लीय शाही को अपने प्रभुता के पद से हटाना चाहा, किन्तु उसे सफलता न मिली। प्रतिहार राजा भोज से उसकी जो लड़ाई हुई उसका भी संभवतः कोई परिणाम न निकला।

अपने राज्य के भीतर शंकरवर्मन् ने अनुचित करों और नाना प्रकार के दमन कार्यों के फलस्वरूप अपने शासन-काल को बहुत ही बदनाम किया। किसानों से बेगार के रूप में उसने जो अनुचित माँग की थी वह उसके घोर अत्याचार का एक उदाहरण है। कल्हण ने उसकी राज्य-व्यवस्था का उल्लेख बहुत ही कटु शब्दों में किया है और लिखा है कि उसके राज्य में जनता को चूसनेवाले राजकर्मचारियों की खूब पूछ थी और विद्वानों को आर्थिक साधनविहीन छोड़ दिया गया था। शंकरवर्मन् के शासन का दुःखद अन्त हुआ। सिन्धु तट के अनेक प्रदेशों को जीतने के बाद जब वह उरस[1] होकर लौट रहा था तो सेना के ठहरने के प्रश्न को लेकर वहाँ के निवासियों से उसका झगड़ा हो गया और एक निम्नवर्ग के व्यक्ति ने उसे तीर से बेध दिया। इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय और मनोरंजक बात यह है कि जब तक वे लोग सुरक्षित स्थान पर पहुँच न गये मंत्रियों ने उसकी मृत्यु को छिपा रक्खा। कहा जाता है कि कठपुतली की भाँति उसके सिर में रस्सी लगाकर उन्होंने ऐसी व्यवस्था की थी कि जब करद लोग उसकी अभ्यर्थना करने आये तो उसके उत्तर में उसका सिर हिल जाय।

---

१. जिला हजारा

शंकरवर्मन् के बाद उसका बेटा गोपालवर्मन् गद्दी पर बैठा और अपनी माँ सुगन्धा के अभिभावकत्व में राज्य किया (९०२—९०४ ई०)। विधवा राजमाता अच्छे चरित्र की न थी। उसकी कृपा अपने मंत्री प्रभाकरदेव पर हो गयी थी। उसने राज्य के धन को खूब लूटा। जब राजा ने इस पर कुछ कहा तो उसने उसे जादू-टोने द्वारा मरवा डाला (९०४ ई०)। गोपालवर्मन् के बाद उसका भाई गद्दी पर बैठाया गया पर वह १० दिनों के बाद ही मर गया। तत्पश्चात् सुगंधा ने स्वयं राज्याधिकार अपने हाथ में ले लिया। किन्तु दो वर्षों के पश्चात् काश्मीर के शासक वर्ग के तन्त्रिन सिपाहियों ने पार्थ नामक १० वर्ष के एक बालक को काश्मीर की गद्दी पर बैठा दिया (९०६—९२१ ई०) ८ वर्षों के बाद सुगन्धा एक सेना लेकर लौटी किन्तु वह पराजित हुई और बन्दी कर ली गयी तथा अन्त में मार डाली गयी। उसके बाद तन्त्रिन लोग राज्य में सबसे शक्तिशाली हो गये। राज्य की शासन-व्यवस्था प्रायः नष्ट हो गयी और सारे राज्य में दमन, आपत्तियों और कष्टों का बोलबाला हो गया। ९१७—९१८ ई० में एक भीषण अकाल पड़ा और जहाँ एक ओर हजारों आदमी मौत के मुख में जाते रहे वहाँ दूसरी ओर राजा के मंत्री और तन्त्रिन् लोग चावल के कोठारों को ऊँचे दामों में बेंच-बेंच कर धनी होने लगे। कुशासक राजा को अपने पद के लिए अपने पिता पंगु से लड़ना पड़ा। तन्त्रिनों के कुचक्रों के कारण कभी एक जीतता और कभी दूसरा। दरबार में चरम सीमा का दुराचार फैल गया था। पंगु की दोनों रानियाँ अपने बेटों को राज्य प्राप्त कराने के निमित्त मंत्रियों को न केवल धन ही देती रहीं वरन् अपना प्रेम भी लुटाती थीं। इन सबमें दोनों की प्रतिस्पर्धा एक दूसरे से बढ़-चढ़ कर थी। अन्ततोगत्वा ९२१ ई० में तन्त्रिनों ने पार्थ को अपदस्थ कर दिया और स्वेच्छानुसार राजाओं को बनाने और बिगाड़ने लगे। जो सबसे अधिक धन देता गद्दी उसे ही दी जाती। इस प्रकार पहले चक्रवर्मन्, फिर शूरवर्मन् गद्दी पर बैठाये और उतारे गये। उसके बाद पार्थ को पुनः गद्दी दी गयी पर वह फिर हटा दिया गया। इसके बाद चक्रवर्मन् काफी धन देने का वादा करने पर गद्दी पर एक बार बैठाया गया। वह वादे के अनुसार तन्त्रिनों को धन न दे सका अतः भय के मारे भागा और शम्भुवर्मन् राजा बनाया गया। चक्रवर्मन् ने अनेक सामन्तों को इकट्ठा किया और उनकी अनगिनत सेनायें लेकर राज्य लेने के लिये लौटा। तन्त्रिनों के साथ उसकी जमकर लड़ाई हुई और वे बुरी तरह हराये गये। इस प्रकार चक्रवर्मन् तीसरी बार राजा बना। जब वह गद्दी पर जम गया तो अत्याचार और अनीति में वह भी रत हो गया। उसने एक निम्न डोम जाति की लड़की को पट्टमहिषी बनाया। उसके निम्न जातीय संबंधियों की खुशामद ही ऊँचे पद और राज्य कृपा का एक

मात्र साधन बन गयी। दरबार में अकथनीय दुराचार फैल गया था। अन्ततोगत्वा डोम रानी के महल में ही चक्रवर्मन् की हत्या हुई। वहाँ का आचार और नैतिकता इतनी गिर गयी थी कि हत्यारों से राजा की पत्नियों ने खुलकर कहा कि डोमरानी की गोद में मरते हुए राजा की टांगों को वे पत्थर से तोड़ डालें (९३७ ई०)।

अगला राजा उन्मत्तावन्ति राजगद्दी को बदनाम करने वाले निम्नतम प्रकार के निरंकुश राजाओं में था। सबसे पहला काम उस दुराचारी राजा ने यह किया कि अपने सौतेले भाइयों को भूखा रखकर मार डाला और फिर अपने पिता पार्थ की हत्या कर डाली। जिस क्रूरता के साथ उसकी हत्या की गयी, उसकी तुलना किसी सत्य अथवा काल्पनिक घटना से भी नहीं की जा सकती। रोती और बिलखती पत्नी और बच्चों से वह बूढ़ा छीन लिया गया और उसे सड़कों पर बाल पकड़ कर घसीटा गया। अन्त में भूख से जर्जर, निरस्त्र, नंगे और चिल्लाते हुए उसे मार डाला गया। शव को देख कर राजा बहुत प्रसन्न हुआ और उसके कर्मचारी शव के उन अंगों को दिखा दिखा कर अपनी वीरता की डींग हाँकने लगे जिनपर उन्होंने अलग २ प्रहार किये थे। पुनः उनमें से एक ने अपना खंजर निकाल कर पार्थ के मृत शरीर में भोंक दिया, जिस दृश्य को देखकर राजा बहुत प्रसन्न हुआ और बहुत देर तक खुल कर हँसता रहा।

उन्मत्त अंवन्ति

यह दुष्ट, पागल और पितृघाती, गर्भिणी स्त्रियों के पेट चिरवा कर बच्चों को देखता था और मजदूरों की सहनशीलता आँकने के निमित्त उनके अंग कटवा लेता था। अन्ततोगत्वा ९३९ ई० में उसे मृत्यु ले गई और उसका कृतक पुत्र शूरवर्मन् द्वितीय उत्तराधिकारी हुआ। किन्तु एक सप्ताह भी बीतने न पाया था कि सेनापति कमलवर्मन् ने विद्रोह कर राजधानी पर अधिकार कर लिया। किन्तु आश्चर्य की बात यह है कि स्वयं गद्दी पर न बैठकर उसने राजा का निर्वाचन ब्राह्मण मंडली पर छोड़ दिया। मृत राजा ने अपने समस्त सम्बन्धियों को मरवा डाला था। राजवंश के किसी व्यक्ति के न होने के कारण परिषद् ने काश्मीर की गद्दी पर बैठने के लिये यशस्कर नामक एक निर्धन, सामान्य किन्तु विद्वान् व्यक्ति को चुना (९३९ ई०)।

यशस्कर के उदार शासन ने यह व्यक्त कर दिया कि निर्वाचकों ने योग्य निर्वाचन किया और बहुत दिनों की अव्यवस्था के बाद काश्मीर ने सुख की साँस ली। कल्हण ने उस राजा के अनेक गुणों और उसके शासन के उदारता की भूरि-

यशस्कर भूरि प्रशंसा की है। बिगड़े हुए तथा खजाना लूटने वाले राजकर्मचारियों को उसने दंडित किया। देश डाकुओं से मुक्त हो गया। रात को बाजार में दुकानें खुली रहतीं तथा यात्रियों के लिए सड़कें सुरक्षित थीं। कृषि और वाणिज्य में उन्नति हुई और जनता के आचार-व्यवहार में सुधार हुआ। राजा के न्याय और निष्पक्षता की ख्याति चारों ओर फैल गयी जिसके सम्बन्ध में कल्हण ने अनेक कहानियाँ दी हैं।

यशस्कर की मृत्यु के बाद उसका शिशु-पुत्र ९४८ ई० में राजा हुआ, किन्तु मंत्री पर्वगुप्त ने उसे मार कर गद्दी का अपहरण कर लिया (९४९ ई०)। अगले ही वर्ष पर्वगुप्त मर गया और उसका बेटा क्षेमगुप्त उत्तराधिकारी हुआ। वह दुराचारी स्वभाव का तो था ही, दुष्ट लोगों के संसर्ग में पड़कर और भी भयंकर हो गया तथा जुआ, शराब और स्त्रियों में रत रहने लगा। इस चरित्रहीन राजा ने लोहार के शासक की पुत्री और शाही राजा भीम की दौहित्री दिद्दा से विवाह किया था। राजा एक कुरोग से मर गया (९५८ ई०) और उसका शिशु-पुत्र अभिमन्यु दिद्दा के अभिभावकत्व में राजा हुआ। राजमाता का व्यक्तित्व विचित्र था। वह क्रूर, शंकालु, स्वेच्छाचारिणी और चरित्रहीन थी। उसके ये दुर्गुण चरम सीमा तक पहुँचे हुए थे। परन्तु एक ओर जहाँ उसमें अधिकार की चरम लिप्सा थी, वहीं उसमें एक कूटनीतिज्ञ की दूरदर्शिता, राजनीतिक बुद्धिमत्ता और शासन-योग्यता भी भरी थी। उसने दरबार के शक्तिशाली अधिकारियों को निकाल बाहर किया और बार २ होनेवाले विद्रोहों और उपद्रवों को अपनी शक्ति अथवा बुद्धि-चातुरी से दबाया। कल्हण ने लिखा है कि ६० वर्षों (९०१ ई०) तक जिन विश्वासघाती मंत्रियों ने गोपालवर्मन् से लेकर अभिमन्यु तक १६ राजाओं के मान, जीवन और धन का अपहरण किया था, उन्हें तथा उनके वंशजों और अनुयायियों को इस क्रुद्ध रानी ने निर्वासित कर दिया। इस रानी का राज्य समूचे प्रदेश पर सुदृढ़ता से जम गया था। अभिमन्यु की मृत्यु के पश्चात् ९७२ ई० में उसका छोटा बेटा नन्दिगुप्त गद्दी पर बैठा। किन्तु नन्दिगुप्त तथा अपने दो अन्य पौत्रों को, जो उसके उत्तराधिकारी हुए, दिद्दा ने मरवा डाला और स्वयं ९८० ई० में गद्दी पर बैठी। अब दिद्दा की चरित्रहीनता निर्बन्ध हो गयी। उसने खस जाति के अपने तुंग नामक प्रेमी को प्रधान मंत्री बनाया। २३ वर्षों तक वह राज्य करती रही और इस काल में अनेक बार तुंग के विरुद्ध विद्रोह हुए और ब्राह्मणों ने व्रतपूर्वक अनशन किये किन्तु दिद्दा समस्त राज्य पर मृत्युपर्यन्त (१००३ ई० तक) राज्य करती रही। उसके पश्चात् गद्दी उसके भाजे लोहार वंश के संगमराज के हाथ में शांतिपूर्वक चली गयी।

(ख) लोहार वंश

नये राजा के राज्यकाल की उल्लेखनीय घटना यह है कि उसने सुल्तान महमूद के विरुद्ध शाही राजा आनन्दपाल के बेटे त्रिलोचनपाल की सहायता के लिए तुंग के नेतृत्व में अपनी सेना भेजी। तुंग को पहले कुछ सफलता मिली, पर पीछे उसे पराजित होना पड़ा। काश्मीर वापस आने पर अपने पुत्र के साथ वह क्रूरतापूर्वक मार डाला गया।

अगला राजा हरिराज केवल २२ दिनों तक राज्य करके मर गया (१०२८ ई०)। कहा जाता है कि चरित्रहीन राजमाता ने ही अपने बेटे की हत्या करायी। उसने स्वयं गद्दी पर अधिकार करना चाहा पर उसके छोटे बेटे अनन्त को गद्दी मिली।

अनन्त के आरम्भिक दिन कठिनाइयों के थे, किन्तु साहसपूर्वक उसने उनका सामना किया। सामन्तों के विद्रोह को उसने दबाया और दर्दों तथा मुसलमानों के आक्रमणों को सफलतापूर्वक रोका। अनन्त की साध्वी रानी सूर्यमती ने शासन-व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण भाग लिया। उसने राजा के उटपटाँग कार्यों और फ़जूलखर्चियों का नियंत्रण किया और धीरे-धीरे सारा राजकार्य अपने हाथों में ले लिया। उसकी शासन-व्यवस्था व्यवस्थित और दृढ़ थी।

अनन्त

काश्मीर का अधिकार पड़ोसी प्रदेशों पर स्थापित हो गया किन्तु नारीत्व की उसकी एक दुर्बलता ने उसके किये कराये सभी अच्छे कामों पर पानी फेर दिया। सन्तति-मोह में पड़कर उसने राजा को अपने बेटे कलश के पक्ष में राजत्याग करने को कहा (१०६३ ई०)। कलश दुराचारी युवक था और उसके निर्बन्ध आचरण से उसके माता-पिता अत्यन्त दुखी हुए। अन्त में पिता-पुत्र में खुलकर संघर्ष हुआ और वह बहुत दिनों तक चलता रहा। अनन्त ने आत्म हत्या कर ली। सूर्यमती ने अपनी भूल का पश्चात्ताप पति के साथ सती होकर किया।

कलश

माता-पिता की मृत्यु के पश्चात् कलश के स्वभाव में परिवर्तन हो गया और उसने काश्मीर के राज्य को संघटित एवं विस्तृत किया किन्तु उसके बेटे हर्ष ने उसके विरुद्ध विद्रोह कर दिया। राजा ने उसे बन्दी करके अपने दूसरे बेटे उत्कर्ष को अपना उत्तराधिकारी बनाया। वह अपने पुत्र के विद्रोह से इतना क्षुब्ध हुआ कि पुनः अपने जवानी के विलास में रत हो गया। अपने विलासी जीवन की अति के कारण १०८९ ई० में उसकी मृत्यु हो गई और उत्कर्ष गद्दी पर बैठा।

उसने हर्ष को कैदखाने में बन्द रक्खा, किन्तु शीघ्र ही एक विद्रोह उठ खड़ा हुआ जिसका लाभ उठाकर हर्ष न केवल मुक्त ही हो गया, वरन् राजगद्दी को भी, जिसका वह वास्तविक अधिकारी था, छीन लिया।

हर्ष अनेक दृष्टियों से विशिष्ट व्यक्ति था। अपनी अद्भुत शक्ति के फलस्वरूप उसने ऐसी ख्याति प्राप्त की जो बिरले ही राजाओं को प्राप्त रही। वह कई भाषाओं का पण्डित था और सभी भाषाओं में समान रूप से कविता करने की क्षमता रखता था। अनेक विद्याओं में भी वह पारंगत था और उसकी ख्याति अन्य राज्यों तक फैली हुई थी। किन्तु उसके चरित्र में विरोधों का विचित्र समन्वय था। क्रूरता और दया, उदारता और लालच, घोर आत्मविश्वास तथा अक्षम्य कायरता, चातुरी और मूढ़ता, ये सभी तथा अन्य ऐसी ही परस्पर विरोधी चारित्रिक बातें हर्ष के उतार चढ़ाव से युक्त जीवन में बारी-बारी से स्थान ग्रहण करती थीं।

हर्ष

आरम्भ में हर्ष ने जो कार्य किये वे बुद्धिमत्तापूर्ण थे। उसने पुराने कर्मचारियों को अपने पदपर बनाये रखा। उसमें से कुछ ने उसके विरुद्ध कार्य किया था। उसका यह विश्वास उचित ही था क्योंकि जब उसके भाई ने विद्रोह किया तो वह सरलता से दबा दिया गया। हर्ष ने अपने दरबार में कितने ही सुरुचिपूर्ण फैशन प्रचलित किये और उदार दानों द्वारा विद्या को प्रोत्साहित किया। वह सहस्र दीपों से प्रकाशमान सभाभवनों में अपनी रात्रि व्यतीत किया करता, जहाँ विद्वान् लोगों की सभायें और संगीत तथा नृत्य होते रहते थे। किन्तु हर्ष शीघ्र ही उस विलास में रत हो गया, जिसके कारण उसके अनेक पूर्वजों का विनाश हो चुका था। उसने अपने रनिवास में ३६० स्त्रियाँ रक्खीं और अपना धन इधर-उधर लुटाने लगा।

हर्ष ने राजपुरी (राजौड़ी) के विरुद्ध सेना भेजकर वहाँ के राजा को कर देने के लिए विवश किया। हर्ष के विरुद्ध उसके सौतेले भाई ने एक भयंकर षड्यंत्र किया। किन्तु उसने उसका कठोरता के साथ दमन किया। उसने न केवल षड्यन्त्रकारियों को मार डाला, वरन् उनके अन्य निकट संबन्धियों की भी हत्या की, जिनका उसमें कोई हाथ भी न था।

अपनी असीम फिजूलखर्चियों के कारण वह आर्थिक कठिनाईयों में पड़ गया, फलतः नये-नये कठोर कर उसने लगाये और मन्दिरों के धन को भी छीना। यही नहीं, बहुमूल्य धातुओं की बनी मूर्त्तियों को भी उसने उनकी धातुयें प्राप्त करने के लिये गलवा डाला।

तत्पश्चात् हर्ष सब प्रकार की अतियों तथा विलासों में रत हो गया और कुकार्यों द्वारा प्राप्त धन को अपनी कुरुचिपूर्ण मूर्खताओं में खर्चने लगा। जान पड़ता है कि कभी-कभी राजा सनक जाया करता था। उसकी सनक ही उसकी भयंकर क्रूरताओं और अविश्वास्य प्रेमात्मकताओं का कारण हो सकती है।

इन बुराइयों का फल भी अपने आप आया। हर्ष ने राज्य के सभी करद राजाओं को मरवा डाला और उनके मुण्डों के माले और तोरण बनवाये। फलतः लोहार वंश के उच्छल और सुस्सल नामक दो भाईयों के नेतृत्व में बचे-खुचे सामन्तों ने विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया। फौज और कर्मचारियों ने बेचारे राजा का साथ छोड़ दिया और वह अकेला लड़ता रहा। जब राजमहल जला दिया गया तो बरसते हुए पानी में वह दो नौकरों के साथ भागा किन्तु शीघ्र ही पकड़ लिया गया और उसका सिर धड़ से अलग कर दिया गया (११०१ ई०)।

अब उच्छल गद्दी पर बैठा। वह योग्य शासक और चतुर राजनीतिज्ञ था। उसने विद्रोही सामन्तों और कर्मचारियों को शान्त और राज्य को पुनः संघटित किया। किन्तु ११११ ई० में एक विश्वासघातपूर्ण षड्यन्त्र के फलस्वरूप वह मारा गया। पुनः अराजकता फैली किन्तु १११२ ई० में सुस्सल ने गद्दी पर अधिकार कर लिया। उसके अत्याचार और शोषण के विरुद्ध सामन्तों के नेतृत्व में विद्रोह होने लगे। हर्ष के पौत्र भिक्षाचर ने विद्रोहियों का नेतृत्व किया और सुस्सल को भगा दिया (११२० ई०) भिक्षाचर का राज्य अव्यवस्था और आपदाओं से पूर्ण था। एक वर्ष समाप्त होते होते सुस्सल ने फिर गद्दी पर अधिकार कर लिया। किन्तु भिक्षाचर कुछ सामन्तों के सहयोग से लड़ता रहा और ११८२ ई० में सुस्सल मार डाला गया। किन्तु सुस्सल का बेटा जयसिंह अन्त में गद्दी पर बैठा और चार महीने के भीतर ही उसने भिक्षाचर को राज्य से बाहर निकल जाने को बाध्य किया।

यद्यपि नाममात्र की शान्ति स्थापित हो गई, पर हाल के झगड़ों के कारण राज्य शक्तिहीन हो गया था। सामन्तों की शक्ति बहुत बढ़ गयी और वे

जयसिंह

यूरोप के मध्ययुगीन सामन्तों की भाँति अपने सुरक्षित दुर्गों में रहते हुए राजा के अधिकारों की अपेक्षा करने लगे। सुस्सल का सम्पूर्ण शासन-काल सैनिक शक्ति द्वारा उन सामन्तों के दमन करने में समाप्त हो गया। पर वह असफल रहा। जयसिंह ने उनका दमन कूटचातुरी और अनुचित षड्यन्त्रों द्वारा करने का प्रयत्न किया। इसके कारण उसे कभी-कभी विश्वासघातपूर्ण और कृतघ्नता के कार्य भी करने पड़े।

दो वर्ष भी बीतने न पाये थे कि सामन्तों ने खुलकर विद्रोह किया और भिक्षाचर अपना भाग्य आजमाने फिर लौटा। घोर युद्ध के पश्चात् भिक्षाचर पराजित हुआ और मारा गया। किन्तु लोथन में एक नया प्रतिद्वन्द्वी उठ खड़ा हुआ। यह उच्छल का सौतेला भाई था जो लोहार की गद्दी पर बैठ गया था। उसे दबाने के लिए जयसिंह ने सेना भेजी किन्तु उस सेना को पराजित होकर लौटना पड़ा। तथा उसमें भगदड़ मच गई। सेना को असफल होने पर जयसिंह ने अपनी कूटनीतिज्ञता का उपयोग किया और लोहार पर अधिकार कर लिया। इसी तरह के अन्य हेय उपायों द्वारा अन्य कई शक्तिशाली सामन्तों से भी उसने मुक्ति पायी। बार-बार विद्रोह होते रहे और हर बार अपनी कूटचातुरी से वह सफल होता रहा। जयसिंह ने २७ वर्षों तक (११२८–११५५ ई०) राज्य किया और अपने शासन काल के अन्तिम १० वर्षों में उसे कुछ शान्ति का भी अनुभव हुआ। सुनते हैं कि इस काल में उसने यवनों के विरुद्ध एक सफल अभियान किया था। जयसिंह के राज्य की समाप्ति के साथ-साथ कल्हण भी अपने सुविख्यात इतिहास को समाप्त कर देते हैं। किन्तु दो शताब्दियों तक और हिन्दुओं का राज्य काश्मीर पर बना रहा और इस बीच विद्रोहों तथा आन्तरिक अशान्तियों के पुराने चक्र निरन्तर चलते रहे। १३३८ ई० में शाहमीर ने अन्तिम हिन्दू शासक की विधवा रानी कोटा को अपदस्थ कर मुस्लिम राज्य की स्थापना की।

(द) काश्मीर के इतिहास से शिक्षा

यद्यपि काश्मीर के इतिहास का मुख्य रूप से केवल स्थानीय महत्त्व है, किन्तु समूचे भारतवर्ष के इतिहास की दृष्टि से भी ऊपर विस्तार से वर्णित घटनाएँ कुछ कम महत्व नहीं रखतीं। पिछले पृष्ठों के देखने से यह स्पष्ट जान पड़ता है कि भारतीय इतिहास अधिकांशतः प्रादेशिक राज्यों का ही इतिहास है। किन्तु इन प्रादेशिक इतिहासों की बहुत कम बातें ही ज्ञात हो सकी हैं; इस कारण प्रादेशिक राज्यों के शासन का ठोस स्वरूप निर्धारित करने में हम असमर्थ से हैं। किन्तु कल्हण का इतिहास एक ऐसे ही राज्य का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करता है जो अन्य राज्यों के बारे में जानकारी करने में नमूने का काम कर सकता है।

कल्हण के इतिहास से अनेक महत्त्वपूर्ण शिक्षायें मिलती हैं। उससे पता चलता है कि किस हद तक किसी राज्य का भाग्य उसके शासक के चरित्र पर निर्भर करता था, और समाज में वह राजनीतिक चेतना कितनी कम थी जो प्रत्येक स्वस्थ राज्य में भाग्य-निर्णायक हुआ करती है। जनता राजाओं की सनक और उनके क्रूर कार्यों को धैर्यपूर्वक सहन करती रहती थी। यद्यपि समय-

समय पर विद्रोह होते रहते थे, किन्तु उनका कारण सामन्तों का स्वार्थ होता था न कि सर्वसाधारण जनता का हित ।

कश्मीर के इतिहास से दूसरी शिक्षा यह मिलती है कि राजा और राज्य पर अन्तःपुर का कितना बुरा प्रभाव पड़ता था । कश्मीर के राजा और रानियों की अविश्वास्य विलासितायें, जिनके कारण राज्य पर कितनी अकथनीय विपत्तियाँ आयीं, उस युग के चाल-चलन और रीति-रिवाजों पर प्रकाश डालती हैं और प्राचीन काल के राजाओं के उदारतापूर्ण स्वेच्छाचारी राज्य सम्बन्धी हमारी सुखद कल्पनाओं को गहरा धक्का लगाती हैं ।

तीसरे, कश्मीर का इतिहास छोटे-बड़े अफसरों में चरित्र के अभाव को व्यक्त करता है । कल्हण ने अपने चित्र-पट पर जो अनगिनत चित्र अंकित किये हैं उनमें राजा से लेकर छोटे कर्मचारी तक सभी हैं, किन्तु ऐसे लोगों की संख्या नगण्य है जो राजभक्त, दृढ़ नैतिक आचरण वाले और कर्त्तव्य की भावना से युक्त हों अथवा जिनमें सामान्य सदाचार की ही भावना हो ।

चौथे, कश्मीर हमारे सामने दरबारी जीवन का वह घृणित दृश्य उपस्थित करता है जहाँ व्यभिचार ही प्रधान हो और षड्यन्त्र तथा विद्रोह निरन्तर होते रहते हों ।

पांचवें, देशभक्ति अथवा राजनीतिज्ञता के साधारण भाव का भी अभाव दिखाई पड़ता है । मुसलमानों के विरुद्ध राष्ट्रीय विद्रोह जैसी कोई भी बात दिखाई नहीं पड़ती । यही नहीं, कश्मीर के राजे अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए उनका उपयोग करते दिखाई पड़ते हैं।

कश्मीर के किसी भी राजा के कार्यों में मातृभूमि के रूप में भारत के प्रति चेतना का कोई भी भाव दिखाई नहीं देता ।

कश्मीर देश के अन्य भागों से अलग सा है । सम्भवतः इसी कारण ये बातें—विशेषतः अन्तिम बात पायी जाती हो, किन्तु यह मानना अनुचित न होगा कि अन्य बातें अथवा उनमें से अधिकांश अन्य मध्यकालीन भारतीय राज्यों पर समान रूप से लागू होती हैं ।

दूसरी ओर इस तिमिराच्छन्न चित्र के होते हुए भी, कुछ उल्लेखनीय विशेषताएं भी हैं जो समस्त देशी राज्यों में एक सी प्राप्त होती हैं । कश्मीर के लोग राजनीतिक विकास और बर्बर क्रूरता में मध्ययुगीन यूरोपीय लोगों की भाँति भले ही हों, किन्तु सुरुचि, संस्कृति और सभ्यता निर्माण करनेवाली अन्य बातों में वे उनसे कहीं बढ़े-चढ़े थे । विद्या उन्नति पर थी और देश भर में उसका आदर था । नृत्य और संगीत आदि ललित कलाएं राजा और प्रजा दोनों में समान

काल से प्रचलित थीं। कला और वास्तु की बहुत ही उन्नति हुई। बुरे से बुरे राजा और कर्मचारियों ने भी मन्दिर और विहार बनवाने का पवित्र कार्य जारी रक्खा। धर्म और दर्शन में कश्मीर ने विशेष उन्नति की और शैव धर्म का एक नया सम्प्रदाय उत्पन्न हुआ, जिसकी मानवता और व्यावहारिकता अनेक पूर्ववर्ती शैव सम्प्रदायों के भीषण स्वरूप की तुलना में अद्भुत विभिन्नता रखती है।

यद्यपि दुष्ट राजाओं और उनके आश्रितों के कारण शासन की बहुत बदनामी हुई, तथापि चन्द्रापीड, अवन्तिवर्मन् और यशस्कर जैसे राजाओं के उदाहरण यह बताते हैं कि न्याय और सुशासन के आदर्श बहुत ही उच्च और पवित्र थे। एक उल्लेखनीय विशेषता यह भी थी कि रानियों ने भी शासन योग्यता प्रदर्शित की। यद्यपि अधिकांश रानियाँ चरित्रहीन थीं, तथापि दिद्दा, सुगन्धा और सूर्यमती के कार्य यह व्यक्त करते हैं कि स्त्रियों को सार्वजनिक जीवन में कितने अवसर मिलते थे और उनके उपयोग की उनमें कितनी क्षमता थी।

किन्तु कश्मीर के इतिहास का सर्वोत्तम युग वह है जिसमें उसने ललितादित्य के अधीन थोड़े दिनों तक साम्राज्य सुख का उपभोग किया। एक राष्ट्र की जो भी उत्तमता और प्रकाश की बातें थीं वे उस काल में चमकीं और एक छोटा सा प्रान्तीय राज्य कुछ योग्य राजाओं के शासनों के कारण समृद्धि की चोटी तक पहुँच गया। उसके बाद काश्मीर का इतिहास पतन का इतिहास है।

ग्यारहवाँ अध्याय

दक्षिण में साम्राज्यों का उत्थान और पतन

(१) राष्ट्रकूट

पीछे इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि किस प्रकार राष्ट्रकूट वंश चालुक्यों से अधिकार प्राप्तकर उत्तर की दो शक्तियों-पालों और गुर्जरों, के साथ भारतीय सम्राज्य के लिये संघर्ष-रत हुआ। अब हम ध्रुव प्रथम के राज्यरोहण से आगे का इतिहास देंगे। अपने बड़े भाई गोविन्द द्वितीय को लगभग ७८० ई० में अपदस्थ एवं पराजित कर ध्रुव उसके सहायकों—गंगवाड़ी (मैसूर) और कांची के राजाओं, को दण्ड देने चला। उसने गंगराज श्रीपुरुषमुत्तरस को पराजित किया, उसके बेटे शिवमार को बन्दी बनाया और समस्त गंगवाड़ी को अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया। इस प्रकार दक्षिण में कावेरी तक राष्ट्रकूट साम्राज्य का विस्तार हो गया। पल्लव-राज को भी सन्धि करने को विवश होना पड़ा।

ध्रुव

इस प्रकार दक्षिण से निपटकर ध्रुव ने उत्तर भारत पर विस्तृत अभियान की योजना की। उत्तर भारत के दो प्रमुख राजाओं-वत्सराज और धर्मपाल, के बीच संघर्ष से उसे अवसर मिला। हम ऊपर देख चुके हैं कि दोनों को पराजित कर वह अपनी विजयिनी सेना गंगा और यमुना के दोआब तक ले गया। इस महान् विजय के स्मारकस्वरूप राष्ट्रकूट ध्वज पर दोनों नदियों के प्रतीक अंकित किये गये। सम्भवतः ध्रुव का उद्देश्य अपने उत्तरी अभियान में विजय-यात्रा अथवा लूट के धावे के अतिरिक्त और कुछ न था। जो भी हो, उसने अपनी विजय को स्थायी बनाने का यत्न किया और ७९० ई० में वह अपनी राजधानी को लौट आया। ३ वर्ष पश्चात् जब वह मरा, राष्ट्रकूटों की शक्ति और कीर्ति बहुत बढ़ गयी थी। वह भारत के सभी बड़े राजाओं को परास्त कर चुका था और हिमालय से कन्याकुमारी के बीच उसके अधिकार को चुनौती देनेवाला कोई न बचा था।

ध्रुव ने अपने छोटे बेटे गोविन्द तृतीय को अपना उत्तराधिकारी मनोनीत किया और बड़े लड़के स्तम्भ को गंगवाड़ी का उपरिक बनाया। स्तम्भ ने स्वभावतः अपने भाई के विरुद्ध विद्रोह किया और पल्लवराज तथा गोविन्द तृतीय द्वारा उदारतापूर्वक

जेल से मुक्त किये गये गंगयुवराज-शिवमार ने, उसका साथ दिया। गोविन्द तृतीय ने स्तम्भ को पराजित कर बन्दी कर लिया, किन्तु आश्चर्य है, फिर उसे गंगवाड़ी का उपरिक बना दिया और वह आजीवन अनुरक्त बना रहा। दोनों ही बातें असाधारण हैं और इतिहास में ऐसे उदाहरण विरले ही हैं। शिवमार पुनः बन्दी कर लिया गया और पल्लवराज ने संधि कर ली।

अपने पिता की भाँति गोविन्द तृतीय ने भी उत्तर भारत की ओर सैनिक अभियान किये और उसे भी वैसी ही सफलता मिली। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, उसने नागभट्ट को पराजित किया और धर्मपाल तथा चक्रायुध दोनों ने उसकी अधीनता स्वीकार की। यह भी कहा जाता है कि गोविन्द तृतीय हिमालय तक पहुँचा और प्रयाग, बनारस और गया भी गया। गोविन्द तृतीय का उद्देश्य उत्तर भारत में रहकर अपने साम्राज्य को संघटित करना था या नहीं, अज्ञात है। किन्तु दक्षिण में घटनेवाली घटनाओं ने उसे ८०० ई० में लौटने को बाध्य किया। इस प्रकार उसका उत्तरी भारत का अभियान दो वर्षों से अधिक न टिका।

जब गोविन्द उत्तर गया हुआ था, उसकी अनुपस्थिति का लाभ उठाकर वेंगी का पूर्वी चालुक्यनरेश विजयादित्य द्वितीय राष्ट्रकूटों के विरुद्ध उठ खड़ा हुआ। किन्तु गोविन्द तृतीय ने उसे हरा दिया और उसके छोटे भाई भीम को गद्दी पर बैठाया (८०२ ई०)। एक बार पुनः हिमालय से कन्याकुमारी तक की सारी शक्तियाँ पराजित हुईं और प्रायः समस्त भारत को राष्ट्रकूटों की प्रभुता स्वीकार करनी पड़ी।

इस समय राष्ट्रकूट शक्ति और कीर्ति चरम सीमा पर पहुँच गयी थी। किन्तु ८१४ ई० में गोविन्द तृतीय के मरते ही उसका पतन आरम्भ हो गया। उसका बेटा और उत्तराधिकारी अमोघवर्ष १३–१४ वर्ष का बालक था। गोविन्द का भतीजा कर्क, जो गुजरात और मालवा का उपरिक था, उसका संरक्षक नियुक्त हुआ। शीघ्र ही चारों ओर विद्रोह आरम्भ हो गये और उन्होंने ऐसा भीषण रूप धारण किया कि बालक नरेश को ८१८ ई० में राजधानी से भागना पड़ा। कर्क ने विद्रोह का दमन किया और तीन वर्ष के भीतर ही अमोघवर्ष ने पुनः राजगद्दी प्राप्त कर ली।

विजयादित्य को गोविन्द तृतीय ने अपदस्थ कर दिया था, किन्तु बाद में उसने वेंगी का राज्य पा लिया था। वही विद्रोहियों का नेता था। अमोघवर्ष ने उसे ८३० ई० में हराया और वेंगी पर दस वर्षों से अधिक काल तक अधिकार रक्खा। ८४५ ई० के आस-पास विजयादित्य के एक सेनापति ने उस पर पुनः अधिकार किया।

किन्तु अमोघवर्ष के हाथों से गंगवाड़ी निकल गया। बीस वर्षों के निरन्तर युद्ध के पश्चात् राष्ट्रकूट सेना को वह राज्य छोड़ कर वापस लौटना पड़ा और दोनों शासकों के बीच अमोघवर्ष की बेटी और गंगराजकुमार बूतुग के विवाह के साथ संधि हो गई।

कर्क ने शासक की ऊन-वयस्कता की अवधि में संरक्षक की हैसियत से योग्यतापूर्वक राष्ट्रकूट राज्य को एक महान् संकट से बचाया था। जब अमोघवर्ष ने वयस्क होकर शासन भार अपने हाथों में ले लिया तो उसने गुजरात और मालवा में उपरिक के रूप में वापस लौटकर शासन कार्य प्रारम्भ किया। दोनों के बीच सद्भावपूर्ण सम्बन्ध बना रहा, किन्तु कर्क की मृत्यु (८३० ई०) के बाद जब उसका बेटा ध्रुव प्रथम उसके स्थान पर उपरिक हुआ तब राजा तथा इस नये उपरिक के बीच विनाशक युद्ध छिड़ गया। यह युद्ध २५ वर्षों तक चलता रहा। जब राष्ट्रकूट राज्य के उत्तरी प्रदेशों के लिए प्रतिहार भोज ने खतरा उत्पन्न कर दिया तभी जाकर यह युद्ध समाप्त हुआ। ध्रुव प्रथम के पौत्र ध्रुव द्वितीय का अमोघवर्ष के साथ समझौता हो गया और राष्ट्रकूटों की एकता ने भोज प्रथम के सारे प्रयत्नों को बेकार कर दिया। इसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है।

८७८ ई० के लगभग ६० वर्षों से अधिक काल तक राज्य करने के पश्चात् अमोघवर्ष की मृत्यु हुई। उसमे अपने पिता और पितामह की सैनिक योग्यता न थी। यद्यपि उसने शान्ति और व्यवस्था बनाये रक्खी तथापि उसके शासन काल में राष्ट्रकूट शक्ति का ह्रास परिलक्षित होने लगा था। किन्तु उसका व्यक्तित्व उल्लेखनीय है। वह इस कथन का कि 'शान्ति की विजयें युद्ध की विजयों से कम नहीं होतीं, ज्वलन्त उदाहरण था। वह स्वयं सुप्रसिद्ध लेखक था और काव्यशास्त्र पर उसने "कविराजमार्ग" नामक एक पुस्तक लिखी थी जो कन्नड़ साहित्य की उपलब्ध प्राचीनतम पुस्तकों में से एक है। उसके दरबार में अनेक सुप्रसिद्ध जैन और हिन्दू लेखक रहते थे। धार्मिक विचारों में भी वह बहुत उदार था। वह जैनों और ब्राह्मणों दोनों के ही देवताओं की पूजा करता था और अपने जीवन के अन्तिम दिनों में अपना अधिकांश समय धार्मिक कृत्यों में व्यतीत करता था। राज्यकर्त्तव्य के सम्बन्ध में उसके विचारों की झलक इस घटना से प्रकट होती है कि एक बार जब भीषण महामारी फैली तो उसने अपनी अंगुली काट कर इस विश्वास के साथ देवी को भेंट चढ़ा दिया कि उससे महामारी रुक जायगी। जिस प्रकार वह जिया उसी प्रकार मरा भी। जैन विश्वास के अनुसार उसने अपने को तुंगभद्रा नदी में डुबा लिया।

अमोघवर्ष के बेटे और उत्तराधिकारी कृष्ण द्वितीय का शासनकाल विपत्तिपूर्ण था। पूर्वी चालुक्य राजा विजयादित्य तृतीय ने उसके राज्य पर धावा किया। यद्यपि कलचुरियों ने उसकी सहायता की तथापि वह पराजित हुआ और उसके शत्रु राष्ट्रकूट राजधानी तक बढ़ आये और उसे जला दिया। किन्तु पीछे कृष्ण द्वितीय चालुक्यों को पराजित करने में सफल रहा और विजयादित्य तृतीय के उत्तराधिकारी भीम को उसने बन्दी कर लिया। राष्ट्रकूट राज्य के अधीन करद रूप में शासन करना स्वीकार करने पर ही भीम की मुक्ति हुई। मुक्त होने पर उसने विद्रोह किया और पुनः पराजित हुआ। ऊपर कहा जा चुका है कि प्रतिहार भोज प्रथम के साथ हुए युद्धों में कृष्ण द्वितीय पराजित हुआ और भोज ने मालवा और काठियावाड़ प्रायद्वीप जीत लिया। ८८८ ई० के कुछ ही बाद राष्ट्रकूट उपरिकों की गुजरात शाखा का भी अन्त हो गया।

कृष्ण द्वितीय

९१४ ई० के लगभग कृष्ण द्वितीय की मृत्यु हुई और उसका पौत्र इन्द्र तृतीय गद्दी पर बैठा। इन्द्र के पिता जगत्तुंग की मृत्यु पहले ही हो चुकी थी। गद्दी पर बैठने के शीघ्र ही बाद इन्द्र तृतीय ने उत्तर भारतपर एक सफल सैनिक अभियान किया, जिसमें उसने प्रतिहार महीपाल को पराजित किया और उसकी राजधानी को ध्वस्त किया, किन्तु यह स्थायी विजय न होकर लूट का एक धावा मात्र था। पूर्वी चालुक्यों के साथ होने वाले युद्ध में भी इन्द्र सफल रहा। उसने विजयादित्य पंचम को हराया और मार डाला फिर भी उसके राज्य को अपने राज्य में नहीं मिलाया।

इन्द्र तृतीय

इन्द्र तृतीय की मृत्यु ९२२ ई० में हुई और उसका बेटा अमोघवर्ष द्वितीय उत्तराधिकारी हुआ। थोड़े दिनों बाद ही गोविन्द चतुर्थ ने अपने भाई की हत्या कर राज्य पर अधिकार कर लिया। उसकी दुश्चरित्रता, अत्याचार और दमनवृत्ति के कारण जनता तथा कर्मचारी दोनों उसके विरुद्ध हो गये और उन्होंने उसके चाचा अमोघवर्ष को गद्दी पर बैठने के लिए आमंत्रित किया। गोविन्द सरलता से पराजित हुआ और अमोघवर्ष तृतीय ९३६ ई० में राजा बना।

अमोघवर्ष तृतीय ने केवल तीन वर्षों तक राज्य किया। इस अल्पकाल में भी वास्तविक शासन उसका बेटा कृष्ण करता रहा। कृष्ण ने गंगराज को हराया और उसकी गद्दी पर उसके छोटे भाई तथा राष्ट्रकूट राजा की पुत्री से विवाह करनेवाले बूटुग को, बैठाया। कृष्ण ने उत्तर भारत की ओर भी एक सफल अभियान किया और कालंजर तथा चित्रकूट के महत्त्वपूर्ण दुर्गों को जीत लिया।

कृष्ण तृतीय

९३९ ई० में गद्दी पर बैठने के शीघ्र ही बाद कृष्ण तृतीय ने गंगवाड़ी के शासक बूटुग के सहयोग से दक्षिण भारत पर आक्रमण किया। उन्होंने ९४३ ई० में कांची और तन्जोर पर अधिकार कर लिया और ६ वर्षों पश्चात् चोलों को तक्कोलम के सुप्रसिद्ध युद्ध में बुरी तरह पराजित किया। इस युद्ध में बूटुग ने चोल युवराज राजादित्य को मार डाला। इस महान् विजय के परिणामस्वरूप कृष्ण विजय करता हुआ रामेश्वर तक गया और दक्षिणी समुद्र के तट पर अपना विजय-स्तम्भ स्थापित किया। चोलों ने अपना राज्य पुनः प्राप्त कर लिया किन्तु कृष्ण ने तोण्डइमण्डलम् (आरकॉट, चिंगलपुट और वेल्लोर जिले) को अपने राज्य में मिला लिया।

कृष्ण ने वेंगी के राज्य में हस्तक्षेप किया और उसकी गद्दी पर बाड़प्प को बैठाया (९५६ ई०), जो उसका अनुरक्त करद बना रहा। ९६३ ई० में कृष्ण ने उत्तर भारत की ओर भी प्रयाण किया। मालवा की ओर बढ़कर उज्जयिनी पर अधिकार करता हुआ वह बुन्देलखण्ड तक गया। अपनी इन विजयों के फलस्वरूप कृष्ण तृतीय ने एक बार पुनः राष्ट्रकूटों की कीर्ति और शक्ति को उत्कर्ष पर पहुँचा दिया; किन्तु वह बुझते हुए दीप की लौ मात्र थी।

खोट्टिग[1] ९६७ ई० में अपने बड़े भाई कृष्ण का उत्तराधिकारी हुआ। वह वृद्ध और दुर्बल शासक था। परमारराज सीयक ने कृष्ण तृतीय के उज्जयिनी पर अधिकार करने का प्रतिशोध लेने के लिए राष्ट्रकूट राज्य पर

खोट्टिग

धावा किया और ९७२ ई० में वह विजय करता हुआ राजधानी मानखेड़ तक पहुँच गया और उसे लूटा। इसके थोड़े दिनों बाद ही भग्नहृदय खोट्टिग की मृत्यु हो गयी।

खोट्टिग के भतीजे और उत्तराधिकारी कर्क द्वितीय ने राज्य की बिगड़ती हुई कीर्ति को पुनः स्थापित करने के बजाय अपने दुराचारी कुशासन से स्थिति को और भी खराब कर दिया। फलस्वरूप उत्पन्न अव्यवस्था और अराजकता का लाभ उठाकर तरदवाड़ी (बीजापुर जिला) के करद राजा चालुक्य तैल (तैलप) ने राष्ट्रकूट राजा के विरुद्ध विद्रोह कर दिया और ९७३ ई० में उसे एक भीषण युद्ध में पराजित किया। यद्यपि कर्क द्वितीय भाग कर मैसूर गया और वहाँ ९९१ ई० तक एक छोटे से राज्य पर राज्य करता रहा, तैल ने राष्ट्रकूट राज्य पर अधिकार कर लिया। गंगराज मारसिंह ने अपने भतीजे और कृष्ण तृतीय के दौहित्र इन्द्र के लिए राज्य वापस प्राप्त करने की कोशिश की, किन्तु वह ९७४ ई० में पराजित हुआ। मारसिंह और इन्द्र दोनों ही जैन साधु हो गये और तैल दक्षिण का निष्कण्टक शासक बन गया।

---

१ खोटिक अथवा कोट्टिग भी लिखा जाता है।

२. परवर्ती चालुक्य

चालुक्यों का दूसरा वंश अपनी राजधानी कल्याण (अथवा कल्याणपुर, आधुनिक निजाम राज्य में कल्याणी) के नाम पर इतिहास में कल्याण के चालुक्य नाम से प्रसिद्ध है। यद्यपि यह वंश पहले के चालुक्य वंश से सम्बन्धित था, तथापि यह वही नहीं था। किन्तु तैल, जिसने इस वंश की स्थापना की, अपने को बादामी के चालुक्यों का प्रत्यक्ष वंशज कहता है। गद्दी पर बैठते ही तैलप का पञ्चलदेव से युद्ध आरम्भ हो गया जो गंगराज्य के उत्तरी भाग का स्वामी बन बैठा था। आरम्भ में तैल द्वितीय (बादामी का तैल इस नाम को धारण करने वाला पहला राजा माना जाता है) पहले तो घोर संकट में पड़ गया पर अन्ततोगत्वा उसने उसे हराकर उसका राज्य छीन लिया। ९८० ई० से पूर्व किसी समय उसने चोलराज उत्तम पर भी विजय प्राप्त की। उत्तर में उसने दक्षिण कोंकण के शिलाहारों और सेंऊणदेश (दौलताबाद के आस-पास के प्रदेश) के यादवों को हराया और इन दोनों ने ही, जो अब तक राष्ट्रकूटों के करद थे, उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। उसने लाट को भी जीता और अपने सेनापति बारप्प को वहाँ का शासक बनाया। इस प्रकार दक्षिण में अपने राज्य को संगठित कर तैल, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, अपनी विजयिनी सेना लेकर गुजरात के चौलुक्य, मालवा के परमार और चेदि के कलचुरियों के विरुद्ध बढ़ा। परमारराज मुञ्ज से उसकी लड़ाई, मुञ्ज की पराजय और मृत्यु का उल्लेख पहले किया जा चुका है।

सत्याश्रय

सत्याश्रय ९९७ ई० में अपने पिता तैल द्वितीय का उत्तराधिकारी हुआ। उसे परमार सिन्धुराज ने हराकर मुञ्ज से छीने हुए प्रदेशों को वापस ले लिया। कलचुरि कोकल्ल द्वितीय का भी दावा है कि उसने सत्याश्रय को पराजित किया था। किन्तु सत्याश्रय ने उत्तरी कोंकण के शिलाहारों को हराया और उन्होंने उसकी अधीनता स्वीकार की। उसके राज्यकाल की सबसे स्मरणीय घटना चोलों के साथ उसकी लड़ाई है। राजराज महान् ने नौ लाख सेना लेकर उसके राज्य पर धावा किया और सामने जो कुछ आया उसे छीन लिया। सम्पूर्ण भूमि को रौंदता हुआ वह दक्षिणापथ के भीतर दूर तक चला गया पर अन्ततोगत्वा वह पराजित होकर भागने को विवश हुआ। इसके बाद सत्याश्रय ने आक्रमण किया और कुर्नूल तथा गुण्टूर जिले तक विस्तृत सारे शत्रु-प्रदेशों को जीत लिया।

सत्याश्रय के बाद उसके तीन बेटे एक के बाद एक कर गद्दी पर बैठे। सबसे छोटे जयसिंह की ज्ञात तिथियाँ १०१५–१०४२ ई० के बीच हैं। उसे तीन प्रबल

जयसिंह द्वितीय

शत्रु राजाओं—कलचुरि गांगेयदेव, परमार भोज और राजेन्द्र चोल—के गुट का सामना करना पड़ा। उन्होंने एक साथ ही उस पर दक्षिण और उत्तर से आक्रमण किया। आरम्भ में तो उन्हें कुछ सफलता मिली पर अन्ततोगत्वा उनके हाथ कुछ न लगा। जयसिंह द्वितीय ने अकेले ही ऐसे तीन शक्तिशाली राजाओं के विरुद्ध अपने राज्य की रक्षा की और उन्हें भगा दिया, यह उसके लिए अत्यन्त सराहनीय है। इस संबंध में यह भी उल्लेखनीय है कि परमार और कलचुरि राजाओं ने १०१९ ई० के आस-पास उन दिनों इस गुट का संघटन किया था, जिन दिनों सुल्तान महमूद उत्तरी भारतको रौंद रहा था। काश! यह शक्तिशाली गुट किसी भारतीय राजा के विरुद्ध न होकर उसके विरुद्ध संघटित हुआ होता। जयसिंह ने अपने करद राजाओं और कर्मचारियों के विद्रोहों को भी दबाने में वैसी ही योग्यता प्रकट की। वह बीदर जिले में स्थित कल्याण से राज्य करता था। उसके राज्यकाल में अथवा उससे कुछ पूर्व मान्यखेट से राजधानी उठा कर वहाँ लायी गई थी।

सोमेश्वर

सोमेश्वर प्रथम आहवमल्ल जयसिंह द्वितीय का बेटा और उत्तराधिकारी हुआ। उसकी ज्ञात तिथियाँ १०४३–१०६८ ई० के बीच की हैं। गद्दी पर बैठने के तत्काल बाद ही वह चोलों के साथ युद्ध में फँस गया, जो थोड़े-थोड़े अन्तर पर उसके राज्यकालपर्यन्त और उसके बाद भी चलता रहा। चोलराज राजाधिराज ने उसके राज्य पर धावा किया और प्रतिरोध करने वाली तीन सेनाओं को एक के बाद एक कर हराया और विजय करता हुआ कल्याण तक पहुँचा, उसे खूब लूटा और आग लगा दी। सोमेश्वर भागा और राजाधिराज समस्त दक्षिणापथ को कुचलता हुआ लूट के माल से धनी होकर वापस लौटा। राजाधिराज ने पुनः १०४७ ई० में और १०५१–५२ ई० में दो बार धावे किये। अन्तिम अभियान कोप्पम में हुई बड़ी लड़ाई के लिए प्रसिद्ध है। कोप्पम की पहचान अभी तक नहीं हो सकी है। राजाधिराज मारा गया और चोल सेना अस्त व्यस्त हो गयी किन्तु उसका भाई राजेन्द्रदेव उसे एकत्र कर विजय प्राप्त करने में सफल रहा। सोमेश्वर के अनेक सेनापति तथा भाई मारे गये और वह भागा। राजेन्द्रदेव ने युद्ध के मैदान में ही अपना राज्याभिषेक किया।

सोमेश्वर ने भी चोल राज्य पर धावा कर प्रतिशोध लिया। कोप्पम के युद्ध से कुछ दिन पूर्व उसने कांची पर अधिकार कर लिया था। १०५८–१०६१ ई० के बीच उसने दो धावे और किये और अन्तिम धावे में वह पराजित हुआ।

राजेन्द्र के उत्तराधिकारी वीरराजेन्द्र का दावा है कि उसने सोमेश्वर को कम से कम पाँच बार हराया। इनमें से कुछ लड़ाइयाँ तो पूर्वी चालुक्य राज्य के संबंध में लड़ी गयीं और उनका उल्लेख अन्यत्र किया जायेगा। दोनों प्रतिद्वन्द्वी राजाओं के बीच की सुप्रसिद्ध लड़ाई १०६२ ई० में कुडलसंगम नामक स्थान पर हुई जिसकी पहचान अभी तक नहीं की जा सकी है। उस घनघोर युद्ध में दोनों ओर की सेनाएँ खूब जूझीं। अन्त में चालुक्य बुरी तरह पराजित हुए। सोमेश्वर अपने लड़कों के साथ भागा; किन्तु उसकी पत्नी और खजाना वीरराजेन्द्र के हाथों लगा। चालुक्यों के विरुद्ध इस विजय की याद चोल बहुत दिनों तक गौरव के साथ करते रहे। सोमेश्वर ने इस पराजय का प्रतिशोध लेने की चेष्टा १०६३–१०६७ ई० के बीच कई बार की, पर हर बार असफल रहा। किन्तु उसका बेटा विक्रमादित्य १०६७–६८ में अपने धावे में सफल रहा और उसने चोल राजधानी को लूटा। किन्तु अन्ततोगत्वा दोनों ओर की इन लड़ाइयों, धावों और लूट-मार का परिणाम कुछ भी न निकला और अन्त में किसी के हाथ कोई भी प्रदेश न लगा।

चोलों के साथ निरन्तर संघर्ष करते हुए भी सोमेश्वर को अन्य राज्यों से लड़ाइयाँ मोल लेने का मौका मिलता रहा। उसने न केवल उत्तरी कोंकण को जीता और गुजरात तथा मालवा पर धावा किया, वरन्, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, कलचुरि कर्ण से भी युद्ध ठाना। उसने पूर्व में दक्षिण कोशल और पश्चिम में केरल पर धावा किया और सेंऊड़ देश के यादवों के विद्रोह को दबाया। सोमेश्वर ने अपने दूसरे बेटे विक्रमादित्य की योग्यता से प्रभावित होकर उसे युवराज बनाना चाहा; किन्तु उसने अपने बड़े भाई के पक्ष में उसे अस्वीकार कर दिया। प्रत्युत वह दिग्विजय करने निकला और बङ्गाल, आसाम, वेङ्गी, चोल, पाण्ड्य और सिंहल आदि अनेक देशों को जीता।

सोमेश्वर के बाद १०६८ ई० में उसका बड़ा लड़का सोमेश्वर द्वितीय गद्दी पर बैठा। चोलराज वीरराजेन्द्र ने अपनी बेटी विक्रमादित्य को ब्याही थी। अतः अपने दामाद को गद्दी पर बैठाने की दृष्टि से उसने धावा किया। पहले तो उसे कुछ सफलता मिली, पर सोमेश्वर द्वितीय ने उसे हरा दिया और विक्रमादित्य ने भी अपने भाई की अधीनता स्वीकार कर ली। उसके बाद सोमेश्वर ने उत्तर की ओर अभियान किया और, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, कुछ काल के लिये उसने मालवा पर अधिकार कर लिया।

अपने भाई की अधीनता में विक्रमादित्य राज्य के दक्षिणी भाग के उपरिक के रूप में शासन करता था। उन्हीं दिनों उसके ससुर वीरराजेन्द्र की मृत्यु हो गयी। उसकी मृत्यूपरान्त चोलों के यहाँ कुछ उपद्रव उठ खड़ा हुआ। फलतः विक्रमा-

सिंह ने चोल देश में पहुँच कर विद्रोह का दमन किया और वीरराजेन्द्र के बेटे अधिराजेन्द्र को गद्दी पर बैठाया। किन्तु अधिराजेन्द्र की मृत्यु एक जन-विद्रोह में हो गयी और कुलोत्तुंग ने चोल गद्दी पर अधिकार कर लिया। विक्रमादित्य ने उसे हटाने की चेष्टा की पर वह असफल रहा। चोलों से संघर्ष चल ही रहा था कि विक्रमादित्य ने अपने भाई सोमेश्वर द्वितीय के विरुद्ध विद्रोह कर उसे हरा दिया और बंदी कर स्वयं १०७६ ई० में गद्दी पर बैठ गया। बिल्हण ने विक्रमांकचरित में अपने आश्रयदाता के इस कार्य का औचित्य यह कहकर सिद्ध करने की चेष्टा की है कि सोमेश्वर दुष्ट और क्रूर राजा था तथा अपने कर्त्तव्य की उपेक्षा करता था। राजकवि के इस कथन में पूर्ण सत्यता है या नहीं, कहना कठिन है।

विक्रमादित्य षष्ठ ने ५० वर्षों (१०७८-११२६ ई०) तक शान के साथ राज्य किया। उसकी ख्याति उत्तर और दक्षिण में किये जानेवाले उसके सैनिक अभियानों के कारण है। अपने पिता के राज्यकाल में उसने अनेक लड़ाईयों में भाग लिया था और कुमारावस्था में ही दिग्विजय के लिए निकला था। "विक्रमांकदेव चरित" तथा उसके राज्यकाल के अनेक शिलालेखों से

विक्रमादित्य षष्ठ

ज्ञात होता है कि उसने उत्तर भारत में गुर्जर, डाहल, मरु, सिन्धु, तुरुष्क, काश्मीर, विदर्भ, नेपाल और बंग को जीता था। निस्संदेह इसमें अत्युक्ति है, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि विक्रमादित्य ने १०८८ ई० के लगभग नर्मदा पार किया और चौलुक्यों तथा रत्नपुर के कलचुरियों से उसका संघर्ष हुआ। दक्षिणापथ और दक्षिण भारत की उसकी विजय के सम्बन्ध में हमारी जानकारी विस्तृत एवं निश्चित है। १०८२ ई० के बाद उसके छोटे भाई ने विद्रोह किया किन्तु वह पराजित हुआ और बन्दी कर लिया गया। उसने द्वारसमुद्र (मैसूर) के होयसलों, गोआ के कदम्बों, कोंकण के शिलाहारों और सेउड् के यादवों के विद्रोह का सफलतापूर्वक दमन किया। होयसलराज विष्णुवर्द्धन वीरता के साथ लड़ा और उसने कुछ विजयें भी प्राप्त कीं पर अन्त में उसे विक्रमादित्य की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी।

उसके राज्यकाल में भी चोलों के साथ संघर्ष चलता रहा। १०८५ ई० से पूर्व किसी समय उसने कांची पर अधिकार कर लिया। कुलोत्तुङ्ग से पूर्वी चालुक्य राज्य के अधिकार के लिए बहुत दिनों तक उसका युद्ध चलता रहा। कभी इनका कभी उनका उस पर अधिकार हुआ करता।

विक्रमादित्य ने त्रिभुवनमल्ल की उपाधि धारण की और अपने राज्यारोहण से एक नया सम्वत् चलाया था। किन्तु नया विक्रम सम्वत् उसकी मृत्यु के पश्चात्

नहीं चल सका। उसका साम्राज्य उत्तर में नर्मदा तक और दक्षिण में जिला कृष्णा और मैसूर तक फैला हुआ था। पूर्व में कभी २ वह समुद्र-तट तक पहुँच जाता और पश्चिम में तो आसमुद्र था ही। काश्मीरी महाकवि बिल्हण के अतिरिक्त, जिसकी चर्चा ऊपर हो चुकी है, मिताक्षरा के प्रणेता सुविख्यात न्यायशास्त्री विज्ञानेश्वर उसके दरबार में रहते थे।

विक्रमादित्य षष्ठ के बेटे और उत्तराधिकारी सोमेश्वर तृतीय को होयसलराज विष्णुवर्द्धन के साथ घोर युद्ध करना पड़ा, जिसने उसके राज्य पर धावा किया था। पर सोमेश्वर ने इस शक्तिशाली करद को पराजित कर दिया।

सोमेश्वर तृतीय कहा जाता है कि उसने आन्ध्र, तमिल देश, मगध और नेपाल की विजय की थी। इनमें से पहले दो तो उसकी चोलों के साथ होनेवाली लड़ाई को ही व्यक्त करते हैं। सम्भव है कि उसने आरम्भ में कुछ सफलता पायी हो, पर ११३४ ई० में किसी समय पूर्वी चालुक्य राज्य को वह खो बैठा। उसने कभी मगध और नेपाल की ओर भी अभियान किया होगा, इसका विश्वास नहीं होता। हाँ, यह बात अवश्य है कि उन दिनों कर्णाट के कुछ वंश नेपाल, बंगाल, और बिहार में राज्य करते थे। सम्भव है उनकी स्थापना विक्रमादित्य षष्ठ के द्वारा किये गये धावों के समय हुई हो और जिन्हें चालुक्य अधिकारी सोमेश्वर तृतीय के अधीन समझते रहे हों। सोमेश्वर बहुत विद्वान् था और उसने "मानसोल्लास" अथवा "अभिलषितार्थ चिन्तामणि" की रचना की थी।

सोमेश्वर तृतीय के पश्चात् जगदेकमल्ल ११३८ ई० में गद्दी पर बैठा। उसे होयसलों और कदम्बों तथा अन्य कई करद राजाओं के विद्रोह का सामना करना पड़ा किन्तु उसने उन्हें दबा दिया। उसके मालव आक्रमण और चौलुक्य कुमारपाल से युद्ध की चर्चा ऊपर हो चुकी है। कुलोत्तुंग चोल द्वितीय और कलिंग के अनन्तवर्मन् चोड गंग से हुई लड़ाइयों में वह विजयी रहा। उसके बाद उसका छोटा भाई तैल तृतीय ११५१ अथवा उसके कुछ ही बाद गद्दी पर बैठा।

तैल तृतीय पर चौलुक्य कुमारपाल और कुलोत्तुंग चोल द्वितीय ने आक्रमण किया। वह उन्हें भगा ही पाया था कि तेलंगाना के करद काकतीयराज प्रोल ने विद्रोह कर दिया। तैल उसे दबाने बढ़ा किन्तु पराजित हुआ

तैल तृतीय और बन्दी कर लिया गया। यद्यपि प्रोल ने उसे बाद में छोड़ दिया पर इस घटना से चौलुक्यों के सम्मान पर गहरा धक्का लगा। ११६२ ई० से पूर्व किसी समय प्रोल के उत्तराधिकारी रुद्र ने तैल तृतीय को पराजित किया और चालुक्यों की शक्ति को कुचल डाला। चारों ओर करद सामन्तों ने विद्रोह कर दिया और उनमें से एक—कलचुरि बिज्जल, ने ११५६ ई०

में दक्षिणापथ की प्रभुसत्ता को छीन लिया। ११५० ई० से पूर्व किसी समय उसने राजधानी पर भी अधिकार कर लिया किन्तु जब तक तैल तृतीय जीवित रहा, उसकी अधीनता वह नाममात्र को मानता रहा।

बिज्जल ने विद्रोह करनेवाले अनेक करद राजाओं को हराकर राज्य में शांति स्थापित की और वह चोलों, कलिंग के गंगों, चौलुक्यों और त्रिपुरी के कलचुरियों से सफलतापूर्वक लड़ा। कुछ परवर्ती अभिलेखों में कहा गया है कि उसने अंग, बंग, मगध, नेपाल, तुरुष्क और सिंहल को भी जीता किन्तु यह केवल परम्परागत प्रशस्ति मात्र जान पड़ती है।

बिज्जल द्वारा अपहरण

परवर्ती काल की अनेक पुस्तकों में उल्लिखित अनुश्रुतियों के अनुसार बिज्जल जैनियों का संरक्षक था। वह अपने मंत्री, लिंगायत सम्प्रदाय के संस्थापक बसव से लड़ पड़ा और उसके हाथों मारा गया। किन्तु इस अनुश्रुति की सत्यता संदिग्ध जान पड़ती है क्योंकि उससे पूर्व के और अधिक विश्वसनीय अभिलेखों के अनुसार ११६८ ई० में बिज्जल ने अपने बेटे सोमेश्वर के पक्ष में राजत्याग किया था।

कहा जाता है कि सोमेश्वर ने अनेक विजयें कीं, जिनमें चोलों, गंगों और चौलुक्यों के ऊपर की भी विजयें शामिल थीं। ११७७ ई० में उसकी मृत्यु हुई। उसके छोटे भाई संकम के सम्बन्ध में भी कहा जाता है कि उसने बंगाल से सिंहल तक के अनेक देशों को जीता। उसने ११७७ से ११८० ई० तक राज्य किया।

संकम के छोटे भाई और उत्तराधिकारी आहवमल्ल की भी वैसी ही अत्युक्तिः है। किन्तु उसके राज्यकाल में चौलुक्यराज तैल तृतीय के बेटे सोमेश्वर चतुर्थ ने दक्षिणापथ का काफी भाग हस्तगत कर ११८१ ई० में चालुक्यराज को पुनः प्रतिष्ठित किया। आहवमल्ल एक छोटे से भाग पर अब भी राज्य करता रहा और उसके बाद ११८३ ई० में उसका छोटा भाई सिंहण भी गद्दी पर बैठा। किन्तु एक वर्ष के भीतर ही उसने सोमेश्वर चतुर्थ की अधीनता स्वीकार कर ली।

किन्तु सोमेश्वर के भाग्य में अधिक दिनों तक अपने पैतृक राज्य का उपभोग न लिखा था। यादवों ने ११८९ ई० से पूर्व ही उसे दक्षिणापथ से निकाल बाहर किया और उसने अपने गोआ के करद राजा के यहाँ शरण ली, जो उसकी प्रभुता ११९८ ई० तक स्वीकार करता रहा। उसके बाद उसका अथवा उसके वंश का कुछ भी पता नहीं लगता।

३—यादव

यादव अपने को उस यदु वंश का कहते हैं जिसमें सुप्रसिद्ध कृष्ण हुए थे। साहित्य एवं अभिलेखों में उनकी वंश-परम्परा का विस्तृत उल्लेख है। ऐतिहासिक

काल में उनके दो वंश शासन करते हुए पाये जाते हैं, एक तो सेउन देश में अर्थात् देवगिरि या दौलताबाद के आस पास के प्रदेश में और दूसरा, जो होयसल नाम से प्रसिद्ध है, मैसूर में द्वारसमुद्र (आधुनिक हलेबिद) में। ये दोनों ही वंश राष्ट्रकूटों और पश्चिमी चालुक्यों के करद थे और १० वीं शताब्दी में उन्हें पहले-पहल प्रमुखता प्राप्त हुई। दक्षिणी वंश १२ वीं शताब्दी के आरम्भ में बहुत शक्तिशाली हो गया और विष्णुवर्द्धन ने दक्षिणापथ में अपना प्रभुत्व स्थापित करने के उद्देश्य से चालुक्य राज्य पर आक्रमण किया। किन्तु जैसा पहले कहा जा चुका है, चौलुक्य राजाओं ने उसके प्रयत्नों को विफल कर दिया। उन्हीं की तरह उत्तरी वंश भी महत्त्वाकांक्षी था और उसे अधिक सफलता भी मिली। भिल्लम कलचुरियों और पश्चिमी चालुक्यों को पराजित कर दक्षिणापथ के चालुक्य राज्य के अधिकांश भाग का स्वामी बन बैठा। उसने अपनी राजधानी देवगिरि (आधुनिक दौलताबाद) में बनायी। इसके कारण ही यह वंश देवगिरि का यादव वंश कहलाता है।

होयसल भी इस स्थिति का लाभ उठाने से न चूके और दक्षिण की राजनीति में अपनी स्थिति प्रमुख बनाने का उन्होंने पुनः प्रयत्न किया। उन्होंने नाममात्र के चालुक्यराज को सरलता से हरा दिया। इसके बाद प्रभुत्व के लिए दोनों यादव वंशों में संघर्ष शुरू हुआ।

पहले तो भिल्लम अधिक सफल रहा। उसने कावेरी के किनारे स्थित श्रीरंगपट्टम् तक होयसल वीरबल्लाल द्वितीय के राज्य को रौंद डाला और चोलराज कुलोत्तुङ्ग तृतीय को भी हराया, पर पीछे ११८८ ई० में बल्लाल द्वितीय ने भिल्लम को हरा कर होयसल प्रदेश छोड़ने को बाध्य किया। चार वर्ष पश्चात् बल्लाल द्वितीय ने आक्रमणकारी रूप धारण किया और दक्षिण में कृष्णा नदी तक यादव राज्य को ले लिया।

भिल्लम का बढ़ाव दक्षिण की ओर तो रुक गया पर उत्तर की ओर वह अपनी विजयिनी सेना लेकर बढ़ता रहा। उसने मालवा के विन्ध्यवर्मन् और गुजरात के भीम द्वितीय को हराया। अन्य कई राज्यों को पराजित करने का भी श्रेय उसे दिया जाता है पर नड्डुल के चाहमानों ने उसे पराजित कर दिया।

भिल्लम का बेटा और उत्तराधिकारी जैत्रपाल अथवा जैतुगी (११९३-१२०० ई०) भी महान् विजेता था। वह दक्षिण में काकतीयों, गंगों और चोलों तथा उत्तर में परमारों एवं चौलुक्यों से सफलतापूर्वक लड़ा। जैतुगी का बेटा और उत्तराधिकारी सिंहण अपने वंश का सबसे बड़ा शासक हुआ। उसने होयसलों को पराजित कर अपने पितामह से छीने हुए प्रदेशों को पुनः वापस ले लिया और दक्षिणापथ में अपनी वंश की एकछत्र प्रभुता स्थापित की। उसने

उत्तर में भी विस्तृत विजयें कीं, कई बार गुजरात पर सफल धावे किये और लाट को जीता। मालव शासक उसने, उत्तर के एक मुसलमान शासक और छत्तीसगढ़ तथा जबलपुर के कलचुरि अथवा चेदियों को भी हराया। कोल्हापुर के शिलाहारों, गोआ के कदम्बों तथा दक्षिण के अनेक छोटे राज्यों ने उसकी अधीनता स्वीकार की। होयसलों के विरुद्ध अपने सफल अभियान की स्मृति में उसने कावेरी तट पर एक विजय-स्तम्भ स्थापित किया। इस प्रकार सिंहण के दीर्घ राज्यकाल (१२००–१२४७) में देवगिरि के यादव विस्तृत साम्राज्य पर राज्य करने लगे, जिसके अन्तर्गत न केवल कुल दक्षिणापथ था वरन् कृष्णा के पार दक्षिण भारत का भी कुछ भाग था। उसने चक्रवर्ती सम्राट की सभी उपाधियाँ धारण की थीं।

सिंहण के बाद उसके दो पौत्र कृष्ण (१२४७–१२६०) और महादेव (१२६०–१२७१) गद्दी पर बैठे। उन दोनों ने राज्य को अक्षुण्ण बनाये रखा। वे उत्तर तथा दक्षिण के राजाओं तथा दक्षिणापथ के छोटे सामन्तों से सफलतापूर्वक लड़ते रहे। उन्होंने तुंगभद्रा के उस पार के कुछ प्रदेश होयसलों से छीन लिये। महादेव ने उत्तरी कोंकण को अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया। उसका मंत्री सुप्रसिद्ध हेमाद्रि था। वह गुजरात के बघेलों, मालवा के परमारों और तेलंगाना (वारंगल) के काकतीयों पर पूर्ण विजय करने का श्रेय अपने स्वामी को देता है।

अगला राजा कृष्ण का बेटा रामचन्द्र था। उसने होयसल देश को जीतने का अन्तिम प्रयास किया। उसने एक सुसज्जित सेना भेजी जो राजधानी द्वार समुद्र तक पहुँच तो गई किन्तु फाटक के बाहर ही वह मार भगाई गई।

रामचन्द्र

गुजरात के आक्रमण में भी उसे असफलता ही मिली; किन्तु अनेक सामन्तों को उसने अवश्य जीता। वह अपने वंश का अन्तिम स्वतन्त्र राजा था। दिल्ली के मुसलमान शासक के भतीजे अलाउद्दीन खिलजी ने १२९४ या १२९६ ई० में उसके राज्य पर धावा किया। खुले मैदान में पराजित होनेपर वह अपने दुर्ग में घुस गया और फाटक बन्द कर लिया। बाद में उसने सन्धि कर ली और खिराज देना स्वीकार किया। सन्धि के अनुसार उसे अपने राज्य का कुछ भाग भी छोड़ना पड़ा और तत्काल उसे ६०० मन मोती २ मणियाँ, १००० पासा चाँदी, ४००० थान रेशम और अन्य बहुमूल्य वस्तुएँ भी देनी पड़ीं। इससे यादवों की शक्ति और कीर्ति विच्छिन्न हो गयी और दक्षिण के होयसलों तथा पूरब के काकतीयों ने मुसलमानों के विरुद्ध संगठित होने की अपेक्षा यादवों के विरुद्ध अपना लाभ उठाना शुरू कर दिया। कुछ वर्षों पश्चात् रामचन्द्र ने

खिराज देने से इन्कार किया। १३०७ ई० में मुसलमान सेनापति काफूर[1] ने उसे हराया। वह बन्दी करके दिल्ली ले जाया गया, किन्तु वहाँ रिहा कर दिया गया और करद सामन्त के रूप में वह राज्य करने लगा। ५ वर्षों पश्चात् उसके बेटे शंकर (अथवा सिंहण द्वितीय) ने पुनः अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी किन्तु १३१३ ई० में काफूर ने उसे पराजित कर मार डाला। अलाउद्दीन खिलजी की मृत्यु के पश्चात् रामचन्द्र के दामाद हरपाल ने विद्रोह किया और वह बन्दी किया गया। उसकी जीवित चमड़ी निकालकर उसे मार डाला गया। पश्चात् दक्षिणापथ मुसलमानों का प्रान्त बन गया।

४—काकतीय

काकतीय लोग अपने को करिकाल चोल का वंशज कहते हैं, जो जाति का शूद्र और दुर्जय वंश का था तथा काकतीयपुर में आकर बस गया था। इस वंश का प्रथम ज्ञात राजा बेट प्रथम था, जिसने राजेन्द्र चोल के आक्रमण से उत्पन्न अव्यवस्था का लाभ उठाकर नलगोंडा जिले (हैदराबाद) में एक छोटा सा राज्य स्थापित कर लिया। उसके बेटे और उत्तराधिकारी प्रोल प्रथम ने अपने स्वामी चालुक्य सोमेश्वर प्रथम की उल्लेखनीय सेवायें कीं और पुरस्कार स्वरूप अन्मकोंड—विषय (वारंगल में हनमकोंडा) प्राप्त किया। अगले राजा बेट द्वितीय (१०७९–१०९० ई०) को विक्रमादित्य ने और भी प्रदेश प्रदान किये और उसने अपनी राजधानी अन्मकोंड को बनायी।

उसके बेटे और उत्तराधिकारी प्रोल द्वितीय (१११५ ई०) ने चालुक्य राज्य के विघटन का लाभ उठाकर तेलंगाना और आन्ध्र देश के सामन्तों को जीत कर अपने राज्य का विस्तार किया। चालुक्यराज तैलप तृतीय ने उसपर आक्रमण किया। पर, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, वह पराजित कर बन्दी कर लिया गया। प्रोल द्वितीय ने उसे छोड़ दिया किन्तु उसके बाद स्वयं वह स्वतन्त्र राजा के रूप में राज्य करने लगा।

प्रोल द्वितीय के बेटे और उत्तराधिकारी रुद्र प्रथम ने ११६२ ई० से पूर्व किसी समय तैल को पुनः हराया और ११८५ ई० में कुर्नूल जिले को जीत लिया।

अगले राजा महादेव को यादव सिंहण ने पराजित कर मार डाला। महादेव का बेटा गणपति ११९९ ई० में गद्दी पर बैठा। वह अपने वंश का सबसे शक्तिशाली राजा था। चोल साम्राज्य के विघटन के फलस्वरूप पाण्ड्यों, होयसलों

---

1. काफूर को मलिक नायब की उपाधि मिली थी। किन्तु उसे साधारणतः मलिक काफूर के नाम से ही पुकारा जाता है।

और काकतीयों के बीच नियमित त्रिकोणात्मक युद्ध होने लगे। गणपति ने समस्त आन्ध्र, नेल्लोर, कांची, कुर्नूल और कुडप्पा के जिले जीत लिये। इस प्रकार वह एक विस्तृत साम्राज्य का शासक बन बैठा। किन्तु यह १२५० ई० के कुछ समय पश्चात् ही हुआ। जटावर्मन् सुन्दरपाण्ड्य ने उसे हराकर नेल्लोर और कांची छीन लिया। गणपति ने अपनी राजधानी ओरंगुल (वारंगल) को हटा ली।

गणपति की बेटी रुद्राम्बा १२६१ ई० के बाद उसकी उत्तराधिकारिणी हुई। उसे यादवराज महादेव ने हरा दिया और कुडप्पा और कुर्नूल जिले के अम्बदेव ने अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी। किन्तु मार्कोपोलो ने रानी के शासन-योग्यता की बड़ी प्रशंसा की है। वह १२९३ ई० में काकतीयों के महत्त्वपूर्ण पोतद्वार मोटूपल्ली में आया था।

रुद्राम्बा के बाद उसका दौहित्र प्रतापरुद्र गद्दी पर बैठा और उसने वंश की शक्ति तथा कीर्ति पुनः स्थापित की। अम्बदेव को हराकर कुडप्पा और कुर्नूल जिले उसने पुनः जीत लिये तथा नेल्लोर पर भी आक्रमण किया। किन्तु उसके दक्षिण के अभियान में काफूर के १३०९–१० के आक्रमण के कारण विघ्न पड़ गया। वह वीरता के साथ लड़ा किन्तु अपने कोष से काफी धन देकर उसे सन्धि मोल लेनी पड़ी। मुसलमानों के भावी आक्रमणों को रोकने के निमित्त अपने साधन संचित करने की अपेक्षा उसने अपने दक्षिण अभियानों को जारी रखना ही उचित समझा। उसने नेल्लोर और कांची दोनों को जीत लिया और त्रिचनापल्ली तक अपनी विजयिनी सेनाएँ ले गया। इन सफलताओं के बावजूद भी वह अपनी ही मूर्खता से बर्बाद हुआ। जैसा कि स्पष्ट दिखाई देता था, मुसलमानों ने १३२३ ई० में उसके राज्य पर धावा किया। उलुग खाँ ने जो बाद में मुहम्मद तुगलक के नाम से प्रसिद्ध हुआ, प्रतापरुद्र को पराजित कर बन्दी कर लिया और काकतीय राज्य दिल्ली सल्तनत का भाग बन गया।

अध्याय १२

पूर्वी और पश्चिमी दक्षिणापथ

अ. पश्चिमी दक्षिणापथ

पश्चिमी दक्षिणापथ में अनेक छोटे २ वंश राज्य करते थे। दक्षिण की ओर से आरम्भ करने पर पहले हमें गोमिन मिलते हैं जिनकी राजधानी चन्द्रपुर (गोआ में चांदोर) थी। इस वंश के दो राजाओं—देवराज और चन्द्रवर्मन्, के नाम ज्ञात हैं जो सम्भवतः ४थी और ५वीं शताब्दी में हुए। भोज नाम का एक दूसरा राजवंश ६ठीं–७वीं शताब्दी में इसी क्षेत्र में राज्य करता था। इस वंश के तीन राजाओं—श्री कापालिवर्मन् धर्म महाराज, पृथ्वीमल्लवर्मन् और अनिर्जितवर्मन् के नाम अब तक ज्ञात हुए हैं।[1]

गोमिन

इनके उत्तर राष्ट्रकूट लोग थे, जो अपनी राजधानी मानपुर (सम्भवतः सतारा जिले का मान) से राज्य करते थे। इस वंश का संस्थापक मानांक सम्भवतः ५वीं शताब्दी में हुआ और उसका बेटा, दो पौत्र और एक अभिमन्यु नामक प्रपौत्र उसके उत्तराधिकारी हुए।

इनके उत्तर में कूटक थे जिनका नाम सम्भवतः त्रिकूट पर्वत के नाम पर पड़ा और जो सम्भवतः कोंकण में स्थित है। इस वंश का पहला महत्वपूर्ण राजा इन्द्रदत्त का बेटा महाराज दह्सेन हुआ। उसने ४५६ ई० में राज्य किया और एक अश्वमेध यज्ञ भी किया। उसके बेटे व्याघ्रसेन (४९० ई०) के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वह अपरान्त, (उत्तरी कोंकण) और अन्य देशों का शासक था। इस वंश के अभिलेख कन्हेरी, सूरत और पर्दी (सूरत से ५० मील दक्षिण) में पाये गये हैं। किन्तु उनके सिक्के दक्षिणी गुजरात और पश्चिमी घाट के पार के प्रदेशों में भी मिले हैं।

---

१. १५वीं ओरियंटल कान्फरेंस का विवरण (निबन्धों का सारांश पृष्ठ ९९)

२४८—४९ (अथवा २४९—५०) से आरम्भ होनेवाले सम्वत् का प्रयोग करनेवाले राजाओं में त्रैकूटक निश्चित रूप से सर्वप्रथम ज्ञात होते हैं। यह संवत् पीछे चलकर कलचुरि संवत् के नाम से प्रसिद्ध हुआ और समझा जाता है कि उसे उन आभीरों ने चलाया था, जो उस समय उत्तरी महाराष्ट्र में राज्य करते थे। कुछ विद्वानों का मत है कि त्रैकूटक पहले आभीरों के करद अथवा उनके अधीन अधिकारी थे और पश्चात् उन्हें हराकर स्वयं शासक बन गये। किन्तु कुछ लोगों का यह कहना है कि तीसरी शताब्दी में आभीर पश्चिम-दक्षिणापथ में एक बड़ी शक्ति, सम्भवतः साम्राज्य शक्ति थे। किन्तु राजनीतिक शक्ति के रूप में आभीरों के सम्बन्ध की हमारी जानकारी अत्यल्प है।

सम्भवतः त्रैकूटकों को कलचुरियों ने हराकर स्वयं को प्रतिष्ठापित कर लिया। वे ६ठी शताब्दी में उसी प्रदेश में राज्य करते पाये जाते हैं। वे उसी संवत् का प्रयोग भी करते थे। उनका इतिहास पहले दिया जा चुका है।

कलचुरि

चालुक्यों के उत्थान से पूर्व दक्षिणापथ में शिलाहार स्वतन्त्र शक्ति जान पड़ते हैं, पर इस सम्बन्ध में निश्चित प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। उनकी तीन शाखायें राष्ट्रकूटों के सामन्तों के रूप में उत्तरी तथा दक्षिणी कोंकण तथा कोल्हापुर में पायी जाती हैं। उत्तरी कोंकण के शिलाहार ८१०—१२६० ई० तक के बीच लगभग साढ़े चार सौ वर्षों तक, राज्य करते रहे। वे राष्ट्रकूटों के अधीन थाना और कोलाबा जिलों के शासक थे। जब राष्ट्रकूटों की शक्ति को चालुक्यों ने समाप्त कर दिया तब इन लोगों ने अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी। पर यह स्वतन्त्रता अल्पकालिक थी। गुजरात के चालुक्यों ने उन पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया और पीछे देवगिरि के यादवों ने उन्हें जीत लिया। इस वंश में कुल २० शासक हुए। दक्षिण कोंकण के शिलाहार ८०८—११०० ई० तक राज्य करते रहे। पहले वे राष्ट्रकूटों के, बाद में चालुक्यों के अधीन थे। बाद में कोल्हापुर की शाखा ने उनके क्षेत्रों को जीत लिया। इस तीसरी शाखा का पता राष्ट्रकूटों के पतन के समय से लगता है और यह तीनों में सबसे शक्तिशाली जान पड़ती है। परवर्ती चालुक्यों के राज्यकाल में वे अर्धस्वतन्त्र रूप में राज्य करते रहे और अन्तिम चालुक्यराज को हटाने में इनके एक शासक ने बिज्जल की सहायता की। उस घटना के पश्चात् वे स्वतन्त्र रूप से उस समय तक राज्य करते रहे जब तक कि यादवराज सिंहण ने उनके राज्य को अपने राज्य में मिला न लिया।

शिलाहार

(ब) पूर्वी दक्षिणापथ

१. नल

राजाओं का एक वंश अपने को राजा नल का (सम्भवतः निषध के उस नल का, जिसकी करुण कहानी महाभारत में वर्णित है) का वंशज कहता है। वह वंश जयपुर (विजगापट्टम जिला) में राज्य करता था और उसकी राजधानी पुष्करी नामक नगर में थी। छठीं शताब्दी के लगभग इस वंश के अधिकार में वाकाटकों के मुख्य शाखा की पुरानी राजधानी नन्दिवर्धन (रामटेक पर्वत के निकट) पायी जाती है। इससे पता लगता है कि नलों ने वाकाटक राज्य का बहुत बड़ा भाग जीत लिया था किन्तु शीघ्र ही किसी शत्रु ने, जिसकी पहचान नहीं हो सकी है, उन्हें हरा दिया और उनकी राजधानी को ध्वस्त कर दिया। भवदत्तवर्मन् के बेटे स्कन्दवर्मन् ने अपने वंश की खोई हुई लक्ष्मी को पुनः प्राप्त किया और जन-शून्य राजधानी को फिर बसाया। भवदत्त तथा इस वंश के दूसरे शासक अर्थ-भट्टारक ने सोने के सिक्के चलाये थे जो कि बस्तर राज्य में मिले हैं। चालुक्य राजा विक्रमादित्य प्रथम के कुछ अभिलेखों में नलवाड़ी विजय का उल्लेख है जिसके अन्तर्गत बेलारी और कुर्नूल जिले के कुछ भाग थे। मध्य प्रदेश के रायपुर जिले के इस काल के कुछ अन्य शासक भी अपने को नल का ही वंशज कहते हैं। इन बातों से जान पड़ता है कि नलों की एकाधिक शाखा किसी समय दक्षिण कोशल से लेकर दक्षिण के कुर्नूल जिले तक राज्य करती थी। किन्तु इस वंश का विस्तृत अथवा क्रमबद्ध इतिहास बता सकना सम्भव नहीं है।

२. दक्षिण कोसल

रायपुर, बिलासपुर और सम्भलपुर के वर्तमान जिलों के प्रदेश को दक्षिण कोसल कहते हैं। उत्तर कोसल (अवध) से भिन्नता व्यक्त करने के लिए ही उसके नाम के साथ दक्षिण जोड़ा जाता है। वह सातवाहन साम्राज्य के अन्तर्गत था और सम्भवतः उसके ह्रास के पश्चात् एक स्वतन्त्र राज्य बन गया। उसके राजा महेन्द्र को समुद्रगुप्त ने हराया था और वह पाँचवीं शताब्दी के अन्तिम चरण तक गुप्त साम्राज्य के अन्तर्गत रहा। इस समय रायपुर जिले में शूर ने एक नये राजवंश की स्थापना की। उसके बाद उसके पाँच उत्तरा-धिकारी हुए; उनमें से अन्तिम भीमसेन द्वितीय ७ वीं शताब्दी के आरम्भ में राज्य करता था। कुछ लोग इसके समय को एक शताब्दी पीछे खींच ले जाते हैं। प्रायः ठीक इसी समय रायपुर में शरभ नामक राजा ने एक नये राजवंश की

स्थापना की और अपने नाम पर अपनी राजधानी का नाम शरभपुर रखा किन्तु उसका ठीक स्थान ज्ञात नहीं है। पश्चात् यह राजधानी हटाकर श्रीपुर (रायपुर जिले का वर्तमान सिरपुर) ले जायी गयी। इस वंश के छह राजाओं का पता चलता है, जिनमें से अन्तिम प्रवरराज सम्भवतः ५५० ई० में राज्य करता था।

इस वंश को हटाकर पांडुवंश नामक एक दूसरा वंश राज्यारूढ़ हुआ, जो पहले कालिंजर (बाँदा जिला) के आस-पास के प्रदेश में राज्य करता था। राजा नन्न और उसके बेटे तीवर ने समस्त दक्षिण कोसल जीत लिया और वे उसपर राज्य करते रहे। किन्तु यह ज्ञात नहीं कि उनका अधिकार कालिंजर पर भी था या नहीं। तीवर सम्भवतः छठीं शताब्दी के अन्तिम भाग में राजा हुआ। (यद्यपि उसे कुछ लोग ८ वीं शताब्दी में मानते हैं।) उसके एक उत्तराधिकारी बालार्जुन ने शिवगुप्त (अथवा महाशिवगुप्त) की उपाधि धारण की थी। सम्भवतः उसे ही चालुक्य पुलकेशिन् ने हराया था। इस वंश को सम्भवतः नलों ने उखाड़ फेंका।

पांडुवंश की एक शाखा उस भूभाग पर भी राज्य करती थी, जो प्राचीन काल में मेकल नाम से प्रसिद्ध था। यह नाम आज भी नर्मदा नदी के उद्गम के निकट मेकल शृङ्खला के नाम से सुरक्षित है। इस वंश के ५ राजाओं का पता चलता है जो सम्भवतः ५ वीं शताब्दी में राज्य करते थे।

पांडुवंशी सोमवंशी भी कहे जाते हैं, किन्तु यह उपाधि एक दूसरे राजवंश के लिए प्रयुक्त होती है, जो इस क्षेत्र में सम्भवतः १० वीं शताब्दी में राज्य करता था। इस वंश का पहला राजा शिवगुप्त था किन्तु उसका बेटा जनमेजय महाभवगुप्त प्रथम ही अपने वंश की महत्ता का संस्थापक था। उसने उड़ीसा को जीतकर त्रिकलिंगराज की उपाधि धारण की थी। वह ३३ वर्षों से अधिक काल तक राज्य करता रहा। उसके बाद उसके चार उत्तराधिकारी और हुए। तत्पश्चात् वैध उत्तराधिकारी के अभाव में काफी उत्पात उठ खड़ा हुआ। अमात्यों ने महाभवगुप्त प्रथम के एक दौहित्र महाशिवगुप्त तृतीय को गद्दी पर बैठाया। उसने कोसल तथा उत्कल दोनों में शान्ति स्थापित की। सम्भवतः यह उपद्रव राजेन्द्र चोल द्वारा कोसल और उड़ीसा की विजयों के कारण उठ खड़ा हुआ था। उस विजय की चर्चा पीछे की जा चुकी है। महाशिवगुप्त ने न केवल अपने राज्य को बाहरी अधिकार एवं उपद्रवों से मुक्त किया वरन् कहा जाता है कि उसने कर्णाट, लाट, गुर्जर, राढ़ और गौड़ के राजाओं को भी पराजित किया। उसका बेटा उद्योतकेसरी महाभवगुप्त चतुर्थ, ११ वीं शताब्दी के मध्य में गद्दी पर बैठा। कहा जाता है कि उसने भी डाहल, ओड्र और गौड़

के राजाओं को हराया। किन्तु उद्योतकेसरी के पश्चात्, एक ओर कलिंग के परवर्ती गंगों द्वारा और दूसरी ओर कलचुरियों द्वारा आक्रान्त होने के कारण इस वंश की शक्ति और कीर्ति नष्ट हो गयी। १११८ ई० से कुछ पहले उड़ीसा को अनन्तवर्मन् चोड़गंग ने जीत लिया। बहुत सम्भव है कि रामपाल और अनन्त वर्मन् के बीच जो कूटनीतिक चालें और राजनीतिक लड़ाइयाँ चल रहीं थीं, उसमें सोमवंशी राजा दाँव-पेंच के आधार रहे हों। इसी समय तुम्माण के कलचुरियों ने धीरे-धीरे समस्त दक्षिण कोसल जीत लिया और १२ वीं शताब्दी के प्रथम चरण में सोमवंशी शक्ति का अन्त हो गया। ऐसी सम्भावना जान पड़ती है कि उद्योतकेसरी के राज्यकाल में सोमवंशियों का प्रधान केन्द्र उड़ीसा था और उनकी राजधानी ययातिनगर (आधुनिक जाजपुर) था, जिसे जनमेजय महाभवगुप्त के बेटे ययाति महाशिवगुप्त प्रथम ने अपने नाम पर बसाया था।

३. उड़ीसा

खारवेल के बाद उड़ीसा का इतिहास तिमिराच्छन्न है। ५७० ई० तक वह गुप्तों की अधीनता स्वीकार करता था। इसके कुछ ही बाद शम्भुयशस् ने जो या तो स्वयं मानवंश का था अथवा उस वंश का करद था; उत्तरी और दक्षिणी तोषली पर शासन किया। उसके अन्तर्गत बालासोर से पुरी तक उड़ीसा का अधिकांश भाग था। उसकी ज्ञात तिथियाँ २६० और २८३ हैं जो गुप्त संवत् की समझी जाती हैं। इस प्रकार उसका राज्यकाल ५८० से ६०३ ई० के बीच ठहरता है। गुप्त संवत् का प्रयोग भी अप्रत्यक्ष रूप से गुप्तों की अधीनता ही प्रगट करता है। उनके पतन के पश्चात् उड़ीसा में मान और शैलोद्भव लोगों ने स्वतन्त्र राज्य स्थापित किये।

शैलोद्भव

शैलोद्भव काँगोद के प्रदेश पर राज्य करते थे, जो चिलका झील से गंजाम जिले के महेन्द्रगिरि तक विस्तृत था। इस वंश के राजाओं के कुछ विचित्र नाम अथवा उपाधियाँ थी, यथा—रणभीत, जिसने इस वंश की स्थापना की, सैन्यभीत और अयशोभीत। ७ वीं शताब्दी के आरम्भ में बंगाल के शशांक ने काँगोद को जीत लिया। उड़ीसा में मानवंश का अन्त हुआ और वहाँ शशांक के उपरिक शासन करने लगे। किन्तु शैलोद्भव शशांक के करद बने रहे। शशांक की मृत्यु के पश्चात् उड़ीसा को हर्ष ने रौंदा। ७ वीं शताब्दी के मध्य के लगभग शैलोद्भव के राजा सैन्यभीत माधववर्मन् ने, जो श्रीनिवास नाम से भी प्रसिद्ध है, अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी। वह शक्तिशाली राजा था

और उसने एक अश्वमेध यज्ञ किया। उसके बेटे ने भी अश्वमेध यज्ञ किया और सम्भवतः अपने राज्य की सीमा को उत्तर में महानदी तक बढ़ा लिया। इसके बाद ही गृहकलह के फलस्वरूप शैलोद्भव निर्बल पड़ गये किन्तु ८ वीं शताब्दी के मध्य तक अथवा उसके कुछ बाद तक वे राज्य करते रहे।

अगली ढाई शताब्दियों तक उड़ीसा के विभिन्न भागों में विभिन्न राजवंश राज्य करते रहे किन्तु उनकी निश्चित स्थिति अथवा कालक्रम के सम्बन्ध में विशेष कुछ ज्ञात नहीं है। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण कर और भंजों की अनेक शाखायें हैं।

कर राज्य के अन्तर्गत बालासोर, कटक और पुरी के तटवर्ती जिले और उनके पीछे की भूमि थी। इस वंश के १६ राजाओं के नाम ज्ञात हुए हैं,

कर

जिनमें ५ स्त्रियाँ थीं। इन सब राजाओं के नाम के अन्त में कर है। उनमें शिवकर उर्फ़ उन्मत्तसिंह का यह दावा है कि उसने राढ़नरेश (पश्चिमी बङ्गाल) को पराजित कर उसकी बेटी का अपहरण किया था। सम्भवतः यही उड़ीसा का वह राजा था जिसने चीनी सम्राट् ते-सुसांग के पास ७९५ ई० में एक बौद्ध हस्ताक्षरांकित हस्तलिपि भेजी थी क्योंकि उसके नाम के चीनी रूपान्तर का अर्थ "भाग्यवान् राजा जो पवित्र कार्य करता है और सिंह है" होता है और वह पूर्णतः शिवकर और सिंह पर घट जाता है। कहा जाता है कि उसके बेटे शुभाकर ने कलिंग-विजय की थी।

करों को देवपाल ने हराया और कुछ काल तक उनका राज्य पाल साम्राज्य का अंग रहा। कर अभिलेख सम्भवतः इसी घटना का संकेत करते हैं जब वे राज्य के उस घोर संकट में पड़ जाने की बात कहते हैं, जिसके बाद राजमाता त्रिभुवन महादेवी ने शासन को हाथ में लेकर वंश की लक्ष्मी को पुनः स्थापित किया था। यह वंश १० वीं शताब्दी के मध्य तक राज्य करता रहा। उसकी राजधानी गुहदेवपाटक थी, जिसकी पहचान अभी तक नहीं हो सकी है।

यद्यपि भञ्ज नामान्त राजाओं के ३० से अधिक अभिलेख प्राप्त हैं, फिर

भञ्ज

भी इस वंश का विस्तृत इतिहास ज्ञात नहीं है। निःसंदेह उनकी कई शाखायें थीं जिनमें से महत्त्वपूर्ण शाखायें खिजिंग और खिञ्जलि में राज्य करती थीं।

मयूरभंज में खिचिंग नाम से प्रसिद्ध स्थान ही खिजिंग का ध्वंसावशेष है और इस राज्य के राजा आज तक पुराने भंजों की परम्परा में चले आ

रहे हैं। इस बात को मानने के काफी प्रमाण हैं कि पिछले नरेश, जिनका नाम यजान्त था, उसी राजवंश के अन्तिम शासक थे, जो इस प्रदेश पर १००० वर्षों से चला आ रहा था। यह भारतीय इतिहास में अभूतपूर्व है। खिजिंग का विस्तृत इतिहास तो ज्ञात नहीं है; किन्तु वहाँ मिलने वाली मूर्तियाँ और मन्दिरों के ध्वंसावशेष इस बात के द्योतक हैं कि वहाँ कला और वास्तु बहुत ही विकसित था और इस प्रकार वह अप्रत्यक्ष रूप से व्यक्त करता है कि वहाँ के शासक और जनता की शक्ति और संस्कृति बहुत बड़ी-चढ़ी थी।

खिजिंग

खिंजली की पहचान अभी तक नहीं हो सकी है, किन्तु वह खिजिंग के उत्तर था और उस राज्य के अन्तर्गत वर्तमान बौद्ध और सोनपुर राज्य थे। पश्चात् उसकी सीमा गंजाम जिले तक विस्तृत हो गयी और वह महानदी के उत्तर और दक्षिण के दो भागों में बँट गया था। शत्रुभंज और उसका बेटा रणभंज इस वंश के आरम्भिक राजा थे, जिन्होंने इस वंश की महत्ता स्थापित की। विचित्र बात तो यह है कि खिजिंग के दो शक्तिशाली राजाओं के नाम भी यही थे, किन्तु वे इनसे निस्संदेह भिन्न व्यक्ति थे। खिंजली का राज्य ७५१ ई० से १००० ई० तक अथवा उसके कुछ बाद तक कायम रहा। १५ वीं शताब्दी तक बौद में भंज रजवाओं का राज्य रहा ज्ञात होता है और अस्क तथा बहरामपुर (गंजाम जिला) के बीच किंजिली नामक स्थान पर आज भी भंज परिवार रहते हैं। यह किंजिली सहसा प्राचीन खिंजली का स्मरण दिलाता है।

खिंजली

४. आन्ध्र

(अ) छोटी-छोटी शक्तियाँ

आन्ध्र देश गोदावरी और कृष्णा के निचले कांठे में स्थित भूभाग का नाम है, किन्तु सम्भवतः सातवाहन विजय के फलस्वरूप उसकी सीमा कृष्णा के दक्षिण तक विस्तृत हो गयी थी।

सातवाहनों के बाद इस क्षेत्र में राज्य करनेवाले राजवंशों में सबसे प्रथम इक्ष्वाकु ही ज्ञात होता है। इन इक्ष्वाकुओं का अयोध्या (अवध) के सुप्रसिद्ध इक्ष्वाकुओं से कोई सम्बन्ध था या नहीं यह नहीं ज्ञात है, किन्तु कोशल और इक्ष्वाकु जैसे सुप्रसिद्ध नामों का दक्षिण में फिर से प्रकट होना उत्तर से उस जाति के दक्षिण आने का द्योतक हो सकता है।

इक्ष्वाकु

आन्ध्र देश के इक्ष्वाकु वंश का संस्थापक चान्तमूल प्रथम (शान्तमूल प्रथम) था जो सम्भवतः तीसरी शताब्दी के मध्य में हुआ था। उसने अश्वमेध और अन्य वैदिक यज्ञ किये। वह कृष्णा के निचले कांठे में राज्य करता रहा। उसके बेटे वीरपुरिसदत्त (वीरपुरुषदत्त) के अभिलेख अमरावती, जगय्यपेट और नागार्जुनीकोंडा-तीनों प्रसिद्ध बौद्ध स्थानों, में पाये गये हैं। तीसरी शताब्दी के अन्त के लगभग पल्लवों ने उन्हें उखाड़ फेंका। इक्ष्वाकुओं के उत्तर मछलीपट्टम के आस-पास के प्रदेश पर बृहत्फलायन नामक राजवंश राज्य करता था। इसे भी पल्लवों ने तीसरी शताब्दी के अन्त में निकाल बाहर किया।

बृहत्फलायन

आन्ध्र पर पल्लवों का अधिकार अधिक काल तक नहीं रहा। ४ थी शताब्दी के मध्य में हम गुंटूर जिले में एक स्वतन्त्र राजवंश को राज्य करते पाते हैं। इस वंश की स्थापना आनन्द गोत्र के कन्दर (कृष्ण) ने की थी। उसके बाद केवल अत्तिवर्मन् और दामोदरवर्मन् नामक दो राजाओं के राज्य करने का पता लगता है।

आनन्द

आनन्दों के उत्तर शालंकायनों का राज्य था और उनकी राजधानी वेंगी (गोदावरी जिले में एलोर के निकट आधुनिक पेडुवेगी) थी। इसी वंश के हस्तिवर्मन् को समुद्रगुप्त ने पराजित किया था। हस्तिवर्मन् के उत्तराधिकारी आन्ध्र देश पर ६ ठीं शताब्दी के अन्त तक राज्य करते रहे और विष्णुकुण्डिन् द्वारा अपदस्थ किये गये।

शालंकायन

विष्णुकुण्डिन् का नामकरण सम्भवतः उस राजवंश के मूल निवासस्थान के नामपर हुआ था। यह श्रीपर्वत (वर्तमान नल्लमलई पर्वत शृंखला) के ६० मील पूर्व विष्णुकोंड नामक स्थान हो सकता है; क्योंकि इस वंश के शासक श्रीपर्वतस्वामी नाम के देवता के उपासक थे। इस प्रकार विष्णुकुण्डिन् भी उसी क्षेत्र में थे, जहां कि इक्ष्वाकु राज्य करते थे। इस वंश के राजा माधववर्मन् प्रथम का कहना है कि उसने ग्यारह अश्वमेध यज्ञ १००० अग्निष्टोम और हिरण्यगर्भ महादान नामक यज्ञ किये थे। विष्णुकुण्डिन् लोग शक्तिशाली राजा थे। वे कलिंग के गंगों से सफलतापूर्वक लड़े। उनके राज्य का अधिकतम विस्तार गुंटूर, कृष्णा, गोदावरी, और विजगापट्टम तक हुआ था।

विष्णुकुण्डिन्

इस वंश के अब तक सात-आठ राजाओं के नाम ज्ञात हुये हैं जिनके वंशक्रम और कालक्रम के सम्बन्ध में विद्वानों में घोर मतभेद है। इस राज्य की स्थापना

सम्भवतः ५ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुई थी और वह चालुक्य पुलकेशि द्वितीय द्वारा ६२४ ई० के लगभग विजित होने तक संभवतः कायम रहा।

(ब) पूर्वी चालुक्य

चालुक्यराज पुलकेशि द्वितीय ने जब ६२४ ई० के लगभग पूर्वी समुद्रतट को, जिसमें पिष्टपुर और वेंगी के राज्य सम्मिलित थे, जीता तो अपने छोटे भाई कुब्ज विष्णुवर्द्धन को उस प्रदेश का उपरिक नियुक्त किया। वह प्रदेश *राज्य की स्थापना* विजगापट्टम से नेल्लोर जिले तक विस्तृत था। शीघ्र ही विष्णुवर्द्धन ने स्वतन्त्र होकर एक नये राज्यवंश की स्थापना की जो पूर्वी चालुक्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ। वह पहले पिष्टपुर से राज्य करता था, पीछे उसने वेंगी को अपनी राजधानी बनायी। उसके बेटे और उत्तराधिकारी जयसिंह प्रथम ने पुलकेशि द्वितीय और उसके बेटों की कोई सहायता उस समय नहीं की, जब ६४२–६५५ ई० के बीच पल्लवों ने उनके राज्य पर धावे किये।

बादामी के चालुक्यों के राज्य को जीतने के पश्चात् राष्ट्रकूटों ने स्वभावतः अपनी विजय को पूर्ण करने के निमित्त पूर्वी चालुक्य राज्य को अपने राज्य में सम्मिलित करना चाहा। ७६९–७० ई० से पूर्व राष्ट्रकूट *राष्ट्रकूटों से संघर्ष* राज कृष्ण प्रथम ने अपने पुत्र गोविन्द द्वितीय के नेतृत्व में पूर्वी चालुक्यों के विरुद्ध एक अभियान भेजा, जिसने उसे परास्त कर अधीनता स्वीकार करने को बाध्य किया। यह उस दीर्घकालीन युद्ध का श्री गणेश था जो राष्ट्रकूट वंश के अन्त होने तक दोनों पक्षों की विजय और हारों के बीच चलता रहा।

कुछ अन्य अभागे राजाओं की भाँति वेंगी-नरेश विष्णुवर्द्धन चतुर्थ ने भी राज्याधिकार के लिए भाइयों में होनेवाले संघर्ष में ध्रुव के विरुद्ध गोविन्द द्वितीय की सहायता कर अपनी स्थिति सुधारनी चाही, पर ध्रुव ने उसे बुरी तरह दण्डित किया। विष्णुवर्द्धन चतुर्थ के बेटे विजयादित्य द्वितीय (७९९–८४७ ई०) का विरोध उसके भाई भीम सालुक्की ने किया और राष्ट्रकूटराज गोविन्द तृतीय की सहायता से उसने गद्दी प्राप्त कर ली। किन्तु अमोघवर्ष के गद्दी पर बैठने के पश्चात् जो उपद्रव हुए, उसके बीच विजयादित्य ने अपने भाई और उसके राष्ट्रकूट मित्र को हराकर न केवल अपना राज्य वापस लिया वरन् राष्ट्रकूट राज्य के एक बहुत बड़े भाग को भी रौंद डाला। कहा जाता है कि राष्ट्रकूटों और गंगों से उसका जो संघर्ष १२ वर्षों तक चलता रहा, उसमें उसने १०८ लड़ाइयाँ लड़ीं। अन्ततोगत्वा

राष्ट्रकूटराज ने पूर्वी चालुक्यराज को हराकर वेंगी पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर ही लिया।

विजयादित्य द्वितीय का पौत्र विजयादित्य तृतीय (८४८–९२ ई०) अपने वंश का सबसे शक्तिशाली राजा हुआ। उसने दक्षिण में पल्लवों, पाण्ड्यों और पश्चिमी गंगों को और उत्तर में दक्षिण कोशल, कलिंग तथा अन्य छोटे राज्यों को हराया। किरणपुर (बालाघाट, मध्यप्रदेश) के युद्ध में उसने राष्ट्रकूटराज कृष्ण द्वितीय और कलचुरी शंकरगण की संयुक्त सेनाओं पर महान् विजय प्राप्त की, अचलपुर (एलिचपुर) को जला दिया और राष्ट्रकूट राज्य को रौंद डाला।

राष्ट्रकूटों ने इस पराजय का बदला अगले चालुक्यराज भीम प्रथम (८९२–९२२) के राज्य-काल में लिया। उसे उन्होंने कई बार हराया तथा पूर्वी चालुक्य राज्य के एक भाग को लूटा और अपने अधीन कर लिया।

गृहकलह किन्तु अपने शासन के अन्तिम दिनों में भीम ने राष्ट्रकूट सेनाओं को हराकर निकाल बाहर किया। उसके पौत्र अम्म प्रथम (९२२–९२९) की मृत्यु के पश्चात् उत्तराधिकार के लिए अनेक दावेदारों के बीच झगड़ा शुरू हुआ। उनमें से एक युद्धमल्ल द्वितीय, (९३६–९४६) ने राष्ट्रकूटों की सहायता से राज्य प्राप्त किया। और वस्तुतः वे ही उसके नाम पर शासन करते रहे। किन्तु चालुक्य भीम द्वितीय (९३६–९४६) ने उसे निकाल बाहर किया। उसके बेटे अम्म द्वितीय राजमहेंद्र ने अपने नाम पर एक नया नगर राजमहेन्द्रपुर (राजमहेन्द्री) बसाया और अपनी राजधानी उठाकर वहाँ ले गया। ११ वर्षों तक राज्य करने के पश्चात् युद्धमल्ल के बेटे बाड़प ने, जो राष्ट्रकूट कृष्ण तृतीय की सहायता से राजा हुआ था; उसे निकाल बारह किया। अम्म द्वितीय ने कलिंग में जाकर शरण ली और शीघ्र ही लौटकर राज्य पर पुनः अधिकार भी कर लिया। ९७० ई० में उसे उसके बड़े भाई दानार्णव ने मार डाला। परन्तु दानार्णव को भी ९७३ में अम्म के साले जटाचोड़ भीम ने मार डाला, जो स्वयं वेंगी का शासक बन बैठा। भीम वेंगी का शासक हुआ, किन्तु ९९९ ई० में दानार्णव के बेटे शक्तिवर्मन् प्रथम ने, जो चोल दरबार में भाग गया था, राजराज महान् की सहायता से भीम को मार कर पुनः गद्दी प्राप्त की। अब से पूर्वी चालुक्य चोलों के अधीनस्थ होकर राज्य करने लगे। शक्तिवर्मन् के छोटे भाई एवं उत्तराधिकारी विमलादित्य ने राजराज महान् की बेटी कुन्दव्वई तथा एक अन्य चोल राजकुमारी से विवाह किया, जिनसे क्रमशः राजराज तथा विजयादित्य नामक उसके दो बेटे हुए।

राजराज १०१८ ई० में गद्दी पर बैठा और राजेन्द्र चोल की बेटी अम्मङ्ग-माम्बा से विवाह किया, जिससे राजेन्द्र चोल (द्वितीय नामक) पुत्र हुआ जो अपने परवर्ती नाम कुलोत्तुंग से अधिक प्रसिद्ध है। विजयादित्य ने अपने भाई से १०३० ई० में विद्रोह कर दिया और विजगापट्टम जिले में एक छोटे से राज्य पर राज्य करने लगा। पीछे १०६० ई० में उसने वेंगी की राजगद्दी हस्तगत कर ली।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इस समय के अवसरों का लाभ उठाकर आन्ध्र देश में राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित करने के लिए चोलों और परवर्ती चालुक्यों में संघर्ष चल रहा था। चालुक्य विक्रमादित्य ने आन्तरिक अशान्ति का लाभ उठाकर परमार जयसिंह की सहायता से विजयादित्य को पराजित किया। किन्तु चोलराज वीरराजेन्द्र ने उसके शत्रुओं को हराकर उसे पुनः गद्दी पर बैठाया। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है; वीरराजेन्द्र के मरते ही, कुलोतुंग प्रथम (१०७०–१११८) ने चोल गद्दी पर अधिकार कर लिया। उसने अपने चचा से आन्ध्र राज्य को, जो वस्तुतः उसका था, वापसी की माँग की। विक्रमादित्य की स्थिति, कलचुरि यशस्कर के १०९३ ई० के पूर्व किये जाने वाले धावे से खराब हो गई थी। अतः उसने चुपचाप आन्ध्र देश का अधिकार छोड़ दिया और वह चोल साम्राज्य का अङ्ग बन गया। वस्तुतः पूर्वी चालुक्यराज कुलोतुङ्ग विस्तृत चोल साम्राज्य पर राज्य करने लगा और पूर्वी चालुक्यों का इतिहास चोलों के इतिहास के साथ निहित हो गया जिसकी चर्चा पीछे की जायेगी। विजयादित्य ने गङ्गराज की शरण ली जिसने उसे एक छोटे से प्रदेश पर राज्य करने दिया।

कोलत्तुंग

५. कलिंग

(अ) छोटी शक्तियाँ

खारवेल के शासन के पश्चात् कलिंग का इतिहास कुछ अधिक ज्ञात नहीं। सम्भवतः वह सातवाहन साम्राज्य का अंग बन गया था और उसके पतन के पश्चात् वह अनेक छोटे छोटे राज्यों में बँट गया था, जैसा कि हम इस क्षेत्र को समुद्रगुप्त की दिग्विजय के समय पाते हैं। गुप्त सम्राट की अधीनता स्वीकार करने वाले दो राज्य पिष्टपुर (पूर्वी गोदावरी जिले का पीठापुरम्) और देवराष्ट्र (विजगापट्टम् जिला), पीछे भी बचे रहे। किन्तु अन्यों के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं।

अभिलेखों से ज्ञात होता है कि पाँचवीं-छठीं शताब्दी में इस प्रदेश में कई राजवंश राज्य करते थे। उनमें से एक का नाम पितृभक्त था जो मध्य कलिंग में

राज्य करता था और उसकी राजधानी सिंहपुर (चिकाकुल के निकट सिंगुपुरम्) थी। इस वंश को सम्भवतः दक्षिण कलिंग के माठरों ने, जिनकी राजधानी पिष्टपुर थी, अपदस्थ कर दिया। उन्होंने सिंहपुर से भी अनेक दानपत्र प्रशासित किये हैं। माठरों को वसिष्ठों ने अपदस्थ कर दिया। वसिष्ठ लोग मूलतः मध्य कलिंग-स्थित देवराष्ट्र के शासक थे, किन्तु अनन्तवर्मन् ने, जो सम्भवतः छठीं शताब्दी के आरम्भ में हुआ, अपनी राजधानी पिष्टपुर बनायी। इस वंश के सभी राजे अपने को कलिंगपति कहते हैं किन्तु उनमें से अधिकांश या तो केन्द्रीय कलिंग के या दक्षिणी कलिंग के शासक थे और कभी-कभी ही उनका अधिकार दोनों पर हो जाया करता था। उसके कुछ अन्य राजाओं के भी नाम ज्ञात हैं। अन्ततोगत्वा पिष्टपुर अथवा दक्षिण कलिंग के राज्य को बादामी के चालुक्यों ने जीत लिया। इस बीच उत्तर कलिंग में गंग लोग शक्तिशाली हो गये थे और उन्होंने मध्य कलिंग को सम्भवतः उस समय अपने राज्य में मिला लिया, जब केन्द्रिय और दक्षिणी कलिंग के राजा परस्पर प्रभुत्व के लिए लड़ रहे थे। उसकी चर्चा पीछे की जा चुकी है।

(ब) पूर्ववर्ती पूर्वी गंग

गंग लोग काफी संख्या में अपने अभिलेख छोड़ गये हैं, जिनपर उनकी अपने संवत् में ही तिथियाँ अंकित हैं। यह संवत् सम्भवतः ५५० ई० में आरम्भ हुआ था। ऐसा जान पड़ता है कि उन्होंने इस प्रदेश में अपने राज्य की स्थापना की स्मृति में इसे चलाया था। आगे चलकर हम देखेंगे कि मैसूर के प्रदेश पर एक गंगवंश पहले से ही राज्य करता चला आ रहा था। सम्भवतः कलिंग के गंग मैसूर के गंगों की ही शाखा थे। उनके नाम के आगे पूर्वी और पश्चिमी शब्दों का उपयोग एक दूसरे से अन्तर प्रकट करने के लिए किया गया है।

पूर्वी गंगों की मुख्य राजधानी कलिंग नगर (गंजाम जिले में मुखलिंगम्) और एक दूसरी राजधानी दंतपुर (मलूर) में थी। इस वंश के शासनपत्रों का आरम्भ महेन्द्र पर्वत (जिला गंजाम) पर स्थित गोकर्णेश्वर शिव की वंदना से होता है।

सर्वप्रथम जिस गंग राजा का पता लगता है, वह इन्द्रवर्मन् था। वह ४९ गंग संवत् में राज्य करता था। बहुत सम्भव है कि वही इस वंश का संस्थापक भी रहा हो और उसके राज्यवर्ष को उसके उत्तराधिकारियों ने जारी रखा हो, जो आगे चलकर संवत् का रूप धारण कर लिया हो। इस वंश के बहुत से राजाओं के नाम उनके शासन-पत्रों से ज्ञात हुए हैं। सभी के नाम वर्मन्नान्त हैं। किन्तु

इन्द्रवर्मन्

उनके संबंध में इससे अधिक कुछ ज्ञात नहीं। उनमें से कुछ ने कलिंगाधिपति अथवा त्रिकलिंगाधिपति की उपाधि धारण की थी। त्रिकलिंग का निश्चित तात्पर्य तो मालूम नहीं, किन्तु सम्भवतः उसका अभिप्राय दक्षिण कोसल और कलिंग के बीच के अटवी प्रदेश से हो। यह भी सम्भव है कि उसका उपयोग कलिंग के तीन भागों (उत्तरी, केन्द्रीय और दक्षिणी) को व्यक्त करने के लिए किया जाता रहा हो। उनके शासनपत्रों से जान पड़ता है कि उनके राज्य के अन्तर्गत साधारणतः गंजाम और विजगापट्टम के जिले थे। यदा-कदा कुछ राजाओं ने अपनी शक्ति उत्तर, दक्षिण अथवा पश्चिम की ओर भी बढ़ा ली थी। यह वंश ४०० वर्षों से अधिक काल तक राज्य करता रहा। अन्तिम ज्ञात शासक देवेन्द्रवर्मन् चतुर्थ ने ३९७ गंग संवत् (४९३ ई०) में एक शासन जारी किया था।

अगली शताब्दी में गंगों के संबंध में कुछ अधिक सुनाई नहीं पड़ता। कलिंग को पहले पूर्वी चालुक्यों ने, फिर पीछे राजराज महान् और राजेन्द्र नामक दो चोल राजाओं ने जीत लिया।

(स) परवर्ती पूर्वी गंग

११ वीं शताब्दी में हम इस प्रदेश में एक दूसरे गंगवंश को राज्य करता हुआ पाते हैं। पूर्ववर्ती राजाओं से इनकी भिन्नता व्यक्त करने के निमित्त इन्हें परवर्ती पूर्वी गंग कहा जाता है। इस वंश का आरम्भिक इतिहास अस्पष्ट है। पता नहीं कि उनका पूर्ववर्ती गंगों के साथ कोई संबंध था या नहीं। इस वंश का प्रथम शासक, जिसके संबंध में हमारी कुछ जानकारी है, वज्रहस्त अनन्तवर्मन् था। वह १०३८ ई० में गद्दी पर बैठा था और उसने त्रिकलिंगाधिपति की उपाधि धारण की थी। उसने अपनी राजधानी कलिंगनगर से अनेक अभिलेख प्रकाशित किये। उसका पौत्र अनन्तवर्मन् चोड़गंग वंश की महत्ता का संस्थापक था। १०७८ ई० में राज्यारूढ़ होने से पूर्व वह अपने पिता राजराज के शासन-काल में राज्य-व्यवस्था से सम्बद्ध था।

अनन्तवर्मन् और चोड़गंग

पूर्वी चालुक्य-राज विजयादित्य को शरण देने के कारण कुलोत्तुङ्ग चोल क्रुद्ध हो उठा और उसने दो बार गंग राज्य पर धावा किया और समस्तकलिंग को १०८३ ई० के कुछ बाद जीत लिया। किन्तु अनन्तवर्मन् ने न केवल अपना राज्य ही फिर प्राप्त कर लिया वरन् १०९० ई० से पूर्व विजगापट्टम जिले को भी ले लिया। उसने गोदावरी जिले को भी जीता किन्तु उसे कुलोत्तुङ्ग चोल ने पुनः वापस जीत लिया।

उड़ीसा विजय

उड़ीसा के सोमवंशियों की शक्ति के ह्रास और गद्दी के लिये दो प्रतिस्पर्धी दावेदारों की लड़ाई के फलस्वरूप बंगाल के रामपाल और गंग शासकों-दोनों, ने उनके आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप कर उसे हस्तगत करने का निश्चय किया। कर्णकेसरी को राजराज ने गद्दी पर बैठाया था, किन्तु रामपाल ने उसे गद्दी से उतार दिया। किन्तु उसे अथवा उसके उत्तराधिकारी को अनन्तवर्मन् ने पुनः गद्दी पर बैठाया। यह उड़ीसा को हस्तगत करने के निमित्त पहला कदम था। उन्होंने वास्तविक अधिकार १११८ ई० में प्राप्त किया और तब से गंग राजे अपने को त्रिकलिंगाधिपति के साथ-साथ उत्कलाधिपति भी कहने लगे।

अन्य विजयें

किन्तु अनन्तवर्मन् को केवल उड़ीसा ले लेने मात्र से ही संतोष न हुआ। पालों के ह्रास का लाभ उठाकर उसने बंगाल पर भी धावा किया और हुगली जिले में गंगा के किनारे तक के प्रदेश को जीत लिया। अनन्तवर्मन् ने काफी दिनों तक शासन किया और उसका राज्यकाल कम से कम ११५० ई० तक था। यद्यपि वह कलचुरियों और परमारों के साथ युद्ध में बहुत सफल न हो सका तथापि वह गंगा से गोदावरी तक एक विस्तृत साम्राज्य छोड़ गया। उसने पुरी में जगन्नाथ का सुप्रसिद्ध मंदिर बनवाया।

मुसलमानों से संघर्ष

अनन्तवर्मन् के उत्तराधिकारी दक्षिणी-पश्चिमी बंगाल को अपने अधीन न रख सके। जैसा कहा जा चुका है, वह सेनों के हाथ में चला गया। सेनराज लक्ष्मणसेन का तो यह दावा है कि उसने पुरी में विजय-स्तम्भ स्थापित किया था। किन्तु मुहम्मद बख्तियार खिल्जी के आक्रमण के कारण सेन लोग पराभूत हो गये और उसने उत्तरी और पश्चिमी बंगाल पर अधिकार कर लिया तथा १२०० ई० में उड़ीसा की सीमा तक पहुँच गया। १२०५ ई० में बख्तियार ने उड़ीसा के विरुद्ध अपनी सेना भेजी, किन्तु उसे अनन्तवर्मन् चोड़गंग के पौत्र राजराज तृतीय के विरुद्ध, जो उस समय गद्दी पर था, सफलता न मिल सकी। उसके बेटे और उत्तराधिकारी अनंगभीम तृतीय की ज्ञात तिथियाँ १२१६–१२३५ ई० हैं। उसने भी बंगाल के मुस्लिम शासक खिलजी गयासुद्दीन इवाज के आक्रमण को पीछे हटा दिया। वह तुम्माण के कलचुरियों से भी सफलतापूर्वक लड़ा, किन्तु काकतीय गणपति ने उसे बुरी तरह हराया।

अनंग भीम तृतीय के बेटे और उत्तराधिकारी नरसिंह प्रथम ने १२४३ ई० में बंगाल के मुस्लिम राज्य पर साहसपूर्वक आक्रमण कर ख्याति अर्जित की। उसके सेनापति ने कटसिन स्थित मुस्लिम सूबेदार को हराया और उसके सेनापति

नरसिंह प्रथम

को मारकर लखनौर पर अधिकार कर लिया और राजधानी लखनावती (गौड़) के द्वार तक पहुँच गया। किन्तु यह सुनकर कि बंगाल के शासक की सहायता के लिए अवध से एक बड़ी मुस्लिम सेना आ रही है, वह लौट गया। उसने ४ लड़ाइयाँ और लड़ीं। अन्तिम लड़ाई में वह पराजित हुआ और गंगों का कुछ प्रदेश मुसलमानों ने छीन लिया। वीरता के साथ मुसलमानों का प्रतिरोध करनेवाला नरसिंह प्रथम पुरी के निकट स्थित कोणार्क के सुप्रसिद्ध मंदिर का निर्माता था।

नरसिंह प्रथम के पौत्र नरसिंह द्वितीय ने न केवल मुसलमानों द्वारा विजित प्रदेश वापस लिया परन्तु उन्हें दक्षिणी-पश्चिमी बंगाल से भी खदेड़ दिया और गंगा के किनारे तक जा पहुँचा। वहाँ से उसने १२९६ ई० में कुछ दान पत्र प्रकाशित किये। बंगाल के मुसलमान शासक तो चुप हो बैठे पर उलुग खाँ ने, १३२३ ई० में वारंगल जीतने के बाद पश्चिम से गंग राज्य पर आक्रमण किया। किन्तु उसे नरसिंह द्वितीय के पुत्र और उत्तराधिकारी भानुदेव द्वितीय ने पीछे हटा दिया।

१४ वीं शताब्दी भर मुसलमानों के आक्रमण होते रहे। इसके अतिरिक्त गंगों को विजय नगर के आक्रमणों से भी अपनी रक्षा करनी पड़ी। फलतः उनकी स्थिति और भी खराब हो गयी। भानुदेव द्वितीय के पौत्र भानुदेव तृतीय (१३५३–१३७६ ई०) को बंगाल के शमसुद्दीन इलियास खाँ, विजय नगर के बुक्का और दिल्ली के सुलतान फिरोज तुगलक के आक्रमणों से काफी क्षति उठानी पड़ी। भानुदेव तृतीय ने सुलतान की अधीनता स्वीकार कर ली; किन्तु उसके हटते ही वह फिर स्वतन्त्र बन बैठा। उसके बेटे नरसिंह चतुर्थ (१३७९–१४२४) के राज्यकाल में दक्षिणापथ, जौनपुर और मालवा के मुसलमान शासकों ने उड़ीसा के विरुद्ध अनेक अभियान किये, किन्तु नरसिंह चतुर्थ ने इन सभी धक्कों को सहते हुए भी उड़ीसा और कलिंग पर अपना अधिकार बनाये रक्खा। उसकी मृत्यु होते ही उसके मंत्री जितेन्द्र ने गद्दी का अपहरण कर १४३३ ई० में एक नये वंश की स्थापना की, जो सूर्यवंश कहलाया।

इस प्रकार गंगों को एक मात्र ऐसे भारतीय राजवंश होने का गौरव प्राप्त है जिसने दो शताब्दियों से अधिक काल तक मुस्लिम आक्रमणों का सफलतापूर्वक प्रतिरोध किया और अन्त तक अपनी स्वतन्त्रता कायम रखी। इस बीच मुसलमानों ने हिमालय से कन्याकुमारी तक प्रायः सारा देश जीत लिया।

तेरहवाँ अध्याय

दक्षिण भारत

तीसरी शताब्दी के अन्त से लगभग छठीं शताब्दी तक का दक्षिण भारत का इतिहास अस्पष्ट है। उसके बाद का इतिहास विस्तृत रूप में प्रायः अनवरत जाना जा सकता है। अगले ३०० वर्षों में, अर्थात् छठीं शताब्दी से नवीं शताब्दी तक, पल्लवों और पाण्ड्यों को हम कावेरी के दोनों किनारों पर दक्षिण की प्रमुख शक्तियों के रूप में पाते हैं। इन दोनों और चालुक्यों अथवा राष्ट्रकूटों के साथ त्रिकोणात्मक युद्ध ही इस काल के राजनीतिक इतिहास का मुख्य विषय है। नवीं शताब्दी तक चोलों—जिन्हें दक्षिण में सबसे बड़ी साम्राज्य शक्ति होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ—का राजनीतिक शक्ति के रूप में कोई स्थान न था। पुराने समय के चेर तथा गंग और कदम्ब आदि कुछ नयी शक्तियों का भी इस काल के इतिहास में भाग नगण्य ही है। वे अपनी सुविधा और अवसर के अनुसार किसी न किसी प्रभुशक्ति की अधीनता मानते रहे।

१. पल्लव

सातवाहनों के पश्चात् उनके साम्राज्य का दक्षिणी-पश्चिमी भाग अर्थात् वनवासी अथवा वैजयंती (कनड़ जिलों) के आस-पास के प्रदेश पर चुटु वंश ने अधिकार कर लिया। इस वंश के शासकों ने शातकर्णि की उपाधि धारण की थी। सम्भवतः सातवाहनों के साथ उनका कोई सम्बन्ध था। किन्तु वे कभी शक्तिशाली न हुए और उनका राज्य थोड़े ही दिनों तक रहा। पूर्वी प्रदेश, जो कृष्णा के दक्षिण था, पल्लवों के हाथ में चला गया। ये लोग अपनी राजधानी कांचीपुरम् (कांजीवरम्) के आस-पास के प्रदेश तोंडईमंडलम् में राज्य करते थे।

पल्लवों का उल्लेख संगम काल के तमिल साहित्य में नहीं है, और सामान्यतः वे विदेशी समझे जाते हैं। वे सम्भवतः सातवाहनों के शासनकाल में उपरिक अथवा सैनिक अधिकारी के रूप में तमिल प्रदेश में बस गये। कुछ लोग

उद्भव

तो पल्लवों को पह्लव अथवा पार्थव समझते हैं। अन्य लोग उन्हें एक स्थानीय जाति ही मानते हैं। उनके मतानुसार वे या तो कुरुम्ब थे या उनसे संबन्ध रखते थे।

आरम्भिक पल्लव शासकों में सिंहवर्मन् और शिवस्कन्दवर्मन् के नाम कुछ ताम्रपत्रों से ज्ञात हुए हैं जो प्राकृत में हैं और सम्भवतः ३ री शताब्दी ई० के हैं। उनके सम्बन्ध में केवल इतना ही निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उन्होंने ब्राह्मण यज्ञ किये और एक सुसंगठित क्षेत्र पर राज्य किया जो दक्षिणी प्रायद्वीप के उत्तरी भाग में दोनों समुद्रों तक विस्तृत था। इनके पश्चात् लगभग ८ राजे हुए, जिनके नाम संस्कृत में लिखे शासन-पत्रों से ज्ञात होते हैं। इन्हें वंश और कालक्रम में व्यवस्थित करने की अनेक चेष्टाएँ की गयी हैं, किन्तु कोई भी सिद्धान्त अभी सर्वमान्य नहीं हुआ है। सामान्यरूप से उनको ४ थी—६ ठीं शताब्दी के बीच में रक्खा जा सकता है। समुद्रगुप्त द्वारा पराजित कांची का विष्णुगोप निस्संदेह इसी काल का पल्लव शासक था।

६ ठीं शताब्दी के अन्तिम चरण में सिंहविष्णु का राज्य आरम्भ होता है। इस काल से आगे हम एक दृढ़ आधार पर खड़े होकर कुछ कह सकते हैं। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि इसी समय पांड्य भी प्रकाश में आते हैं और उनके शासक कडुंगोन के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उसने भी अपने समकालिक सिंहविष्णु की भाँति ही कलभ्रारों को पराजित कर शासन आरम्भ किया। सुझाया जाता है कि सिंहविष्णु और उसके समकालिक पाण्ड्यराज कडुंगोन द्वारा इस क्षेत्र में सांस्कृतिक एवं राजनीतिक नवयुग आरम्भ करने से पूर्व इन अर्धबर्बर और ब्राह्मण-विरोधी जातियों का दक्षिण भारत में महत्त्वपूर्ण स्थान था।

कहा जाता है कि सिंहविष्णु (५७५–६०० ई०) ने चोल देश पर अधिकार कर लिया था और उसका राज्य कृष्णा से गोदावरी तक फैला हुआ था। उसका बेटा और उत्तराधिकारी महेन्द्रवर्मन् (६००–६३० ई०) बहुमुखी प्रतिभा से युक्त था। उसने संस्कृत में कुछ प्रहसन लिखे और ठोस चट्टानों में सम्पूर्ण मन्दिर काटने की नयी वास्तु-शैली को जन्म दिया। वह संगीत में अत्यन्त पारगंत था। किन्तु दुर्भाग्यवश चालुक्यराज पुलकेशिन् द्वितीय के साथ उसकी लड़ाई हो गयी और वह पराजित हुआ। पुलकेशिन् ने उसके राज्य का उत्तरी भाग ले लिया।

इस प्रकार जो युद्ध आरम्भ हुआ वह तब तक चलता रहा जब तक चालुक्य दक्षिण में राज्य करते रहे। उनके बाद उनका स्थान ग्रहण करने वाले राष्ट्रकूटों से भी यह युद्ध चलता रहा। महेन्द्रवर्मन् के बेटे और उत्तराधिकारी नरसिंहवर्मन् (६३०–६८ ई०) ने न केवल पुलकेशिन् के नये आक्रमण को रोका वरन् स्वयं थोड़े दिनों बाद आक्रमण-अभियान किया। वह बदामी तक बढ़ गया और कुछ दिनों के घेरे के पश्चात् उसे ले लिया, इस युद्ध में पुलकेशिन् पराजित हुआ और मारा

नरसिंहवर्मन् प्रथम

गया। (६४२ ई०) कहा जाता है कि नरसिंहवर्मन् ने चोलों, चेरों और कलभ्रों को भी हराया। मानवर्मन् नामक सिंहली राजकुमार को उसने शरण दी और उसे गद्दी प्राप्त कराने के निमित्त सिंहल पर दो नौकाभियान भी भेजे। दक्षिण का वह सर्वशक्तिशाली राजा था और उसने पल्लवों की शक्ति और प्रतिष्ठा को अभूतपूर्व कोटि तक पहुँचा दिया।

चालुक्य शक्ति के पूर्ण पतन एवं विक्रमादित्य द्वारा ६५५ ई० के लगभग उसके पुनःस्थापन की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। कहा जाता है कि विक्रमादित्य ने न केवल नरसिंहवर्मन् को ही वरन् उसके दो उत्तराधिकारियों, अर्थात् उसके बेटे महेन्द्रवर्मन् द्वितीय और महेन्द्रवर्मन् के पुत्र परमेश्वरवर्मन् प्रथम, को भी हराया। चालुक्यराजने मैसूर के गंगों और दक्षिण के पाण्ड्यों की सहायता पाकर पल्लव राज्य पर धावा किया और सम्भवतः महेन्द्रवर्मन् द्वितीय (६६८–७० ई०) आक्रमण को रोकते समय मैसूर के पास कहीं पर पराजित हुआ और मार डाला गया। किन्तु परमेश्वरवर्मन् प्रथम (६७०–६९५) ने दक्षिण में पाण्ड्यों द्वारा पराजित होने पर भी बादामी पर सफलतापूर्वक धावा किया। प्रतिशोधस्वरूप विक्रमादित्य ने पल्लव राज्य को ध्वस्त कर डाला और त्रिचनापल्ली के निकट कावेरी तट पर स्थित उरियापुर तक चला गया। कहा जाता है कि इस क्षेत्र की एक लड़ाई में परमेश्वर ने विक्रमादित्य को, जिसकी सेना में लाखों सैनिक थे, चिथड़े ओढ़कर भागने को विवश किया। इस कथन के सम्बन्ध में हम चाहे जो भी सोचें, इतना तो मानना ही होगा कि वह निर्णायक युद्ध था। उसने चालुक्यों को लौट जाने को बाध्य किया और दोनों शक्तियों के संघर्ष में एक प्रकार की शिथिलता सी आ गयी।

परमेश्वरवर्मन् का पुत्र और उत्तराधिकारी नरसिंहवर्मन् द्वितीय (६९५–७२२) राजसिंह के नाम से भी प्रसिद्ध है। उसका राज्यकाल शान्तिपूर्ण रहा। वह अपने वास्तु निर्माण के लिए ही मुख्यरूप से विख्यात है। उसने अनोखी द्रविड़ शैली को जन्म दिया। उसके बनाये हुए अनेक मन्दिरों में, सबसे प्रसिद्ध काँची का राजसिंहेश्वर अथवा कैलाशनाथ का मन्दिर है। उसके समय में चित्रकला की भी उन्नति हुई। सम्भवतः उसके दरबार में संस्कृत का महापण्डित दण्डिन् भी रहता था। उसने ७२० ई० में अपने राजदूत चीन भेजे जिनका चीनी सम्राट ने बहुत सम्मान किया। विचित्र बात तो यह है कि उसने पल्लव सेना को "अरब और तिब्बतियों के दमन में काम आने वाली सेना" की उपाधि दी थी। इसका तात्पर्य हमें स्पष्ट नहीं हो सका है।

नरसिंहवर्मन् के बेटे और उत्तराधिकारी परमेश्वरवर्मन् द्वितीय को चालुक्य आक्रमण का सामना करना पड़ा। उसकी राजधानी काँची को शत्रुओं ने जीत लिया, किन्तु वे शीघ्र ही वहाँ से हट गये।

७३१ ई० के लगभग परमेश्वरवर्मन् द्वितीय की निस्संतान मृत्यु हुई। फलतः राज्य के मुख्य नागरिकों ने राज्यवंश की दायाद शाखा के एक १२ वर्षीय बालक को शासक चुना। इस बालक नरेश का नाम पल्लवमल्ल था और वह नन्दिवर्मन् के नाम से प्रसिद्ध हुआ। ६५ वर्षों या उससे अधिक काल तक वह राज्य करता रहा। आरम्भ में ही पाण्ड्यों के साथ उसको लड़ाई हुई। पाण्ड्यराज राजसिंह प्रथम ने पल्लववंश के एक कथित दावेदार का पक्ष लिया। दोनों ही पक्ष अनेक युद्धों में अपनी विजय की बात कहते हैं, किन्तु पाण्ड्यों की किसी सफलता की कोई बात जान नहीं पड़ती। नन्दिवर्मन् की सफलता मुख्यरूप से उसके राजभक्त और योग्य सेनापति उदयचन्द्र के कारण हुई। उसने पूर्वी चालुक्यों के किसी करद एक निषादराज को हराकर उत्तर में कुछ प्रदेश अपने स्वामी के लिए प्राप्त किये।

पाण्ड्यों की आक्रमणकारी योजनाओं को रोकने के लिये नन्दिवर्मन् ने कोंगु और केरल के शासकों के साथ मिलकर एक संघ का निर्माण किया। किन्तु पाण्ड्य राजा जटिल परान्तक ने उन्हें हरा दिया और समस्त कोंगु को अपने राज्य में मिला लिया। यहाँ तक कि वह पल्लवों के क्षेत्र में भी पेन्नार नदी तक चढ़ गया। इस प्रकार नन्दिवर्मन् के प्रयत्न बुरी तरह असफल हुये।

चालुक्यराज विक्रमादित्य द्वितीय ने, जिसने ७३० ई० में अपने युवराजावस्था में ही पल्लवराज्य पर धावा कर काँची को जीता था, पुनः नन्दिवर्मन् को पराजित किया और राजधानी पर अधिकार कर लिया। किन्तु मन्दिरों को नष्ट करना तो दूर उसने उनकी सारी सम्पत्ति लौटा दी। कुछ दिनों बाद नन्दिवर्मन् के राज्यकाल में ही चालुक्यों ने पुनः दूसरी बार धावा किया और वे बहुत सा धन लूट ले गये। ७५० ई० के लगभग चालुक्य शक्ति को अपदस्थ करने वाले राष्ट्रकूट दन्तिदुर्ग ने काँची पर धावा किया। इन सभी के आक्रमणों के बावजूद नन्दिवर्मन् अपना राज्य अक्षुण्ण बनाये रहा। यही नहीं, ऐसा जान पड़ता है कि उसने गंगराज श्रीपुरुष को हराकर उसके कुछ प्रदेश अपने राज्य में मिला लिये थे। पीछे गंगराज शिवमार द्वितीय और राष्ट्रकूट गोविन्द द्वितीय की मैत्री के कारण गोविन्द द्वितीय के बाद गद्दी पर बैठने वाला ध्रुव उससे रुष्ट हो गया। फलतः नन्दिवर्मन् को बहुत-सा धन देकर राष्ट्रकूटराज को संतुष्ट करना पड़ा।

अगले राजा दन्तिवर्मन् (७९६–८४० ई०) के शासन-काल में पल्लवों को दक्षिण में पाण्ड्यों के और उत्तर में राष्ट्रकूटों के आक्रमणों के कारण काफी क्षति उठानी पड़ी। किन्तु अगले राजा नन्दिवर्मन् तृतीय ने पाण्ड्यों को हराकर अपने खोये हुये प्रदेश पुनः ले लिये। वह एक शक्तिशाली शासक था और उसने एक बड़ा जलबेड़ा तैयार किया। मलय प्रायद्वीप में तकुअप के एक तमिल अभिलेख में एक विष्णुमन्दिर एवं अवनिनारणम् नामक तालाब की चर्चा है। यह नन्दिवर्मन् का विरुद था और इसका सम्बन्ध उसी से जोड़ा जाता है। किन्तु अपने राज्यकाल के अन्तिम दिनों में वह पाण्ड्यों द्वारा हरा दिया गया और थोड़े दिनों पश्चात् ८६५ ई० के लगभग मर भी गया। इस पराजय का प्रतिशोध अगले राजा नृपतुंग ने पाण्ड्य-राज श्रीमान् को बुरी तरह हराकर लिया और पल्लवों की शक्ति और कीर्ति को पुनः अर्जित किया। ८८० ई० के लगभग उसी के काल में पल्लवराज अपराजित ने चोल एवं अन्य करद राजाओं की सहायता से पाण्ड्यों को पुनः श्रीपुरंबियम् के निर्णायक युद्ध में पराजित किया। अपराजित का इतिहास अस्पष्ट है, किन्तु सम्भवतः वह नृपतुंग का संबन्धी था और राज्य के शासन में नृपतुंग के साथ उसका भी हाथ था। नृपतुंग ने ४१ वर्षों तक राज्य किया। किन्तु ऐसा जान पड़ता है कि राज्य के अन्तिम दिनों में अपराजित ने शासन में मुख्य भाग लिया था।

किन्तु अपराजित की महान् सफलता भी पल्लवों को न बचा सकी। चोल-राज आदित्य के मन में, जो अब तक पल्लवों का करद था, पल्लवों को हराकर चोलों की पुरानी कीर्ति पुनः स्थापित करने की आकांक्षा जागृत हुई पाण्ड्यों के साथ हुये युद्धों के कारण उनकी निर्बलता को उसने आंक लिया था। ८९१ ई० से कुछ पूर्व उसने अपराजित को एक घनघोर युद्ध में पराजित कर दिया और तोण्डइमण्डलम् को जीत लिया। इस प्रकार पल्लव शक्ति का अन्त उसके वंशगत शत्रु पाण्ड्य और राष्ट्रकूटों ने नहीं, वरन् उसके अपने ही करद चोलों ने किया; और उनके स्थान पर प्रभुत्व शक्ति के रूप में वे उदित हुए।

२. प्रथम पाण्ड्य साम्राज्य

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, ६ ठीं शताब्दी के अन्तिम चरण में कडुं-गोन ने पाण्ड्य शक्ति को पुनरुज्जीवित किया; किन्तु उनके चौथे राजा अरि-केसरी मारवर्मन् (अथवा परांकुश) ६७०–७१० ई० के राज्यकाल से पूर्व का इतिहास प्रायः अज्ञात है। मारवर्मन् ने केरल और अन्य राज्यों को जीतकर अपने राज्य की वृद्धि की और चालुक्यराज विक्रमादित्य प्रथम के साथ मिलकर पल्लवों पर

धावा किया। उसने पल्लवराज परमेश्वरवर्मन् को पराजित किया, किन्तु इससे उसे अथवा उसके मित्र को कोई स्थायी लाभ न हुआ। अरिकेसरी के उत्तराधिकारी कोच्चडयन (७१०-३५) ने उसकी साम्राज्यवादी नीति जारी रखी और कोंगु देश (कोयम्बटूर और सलेम जिला) के यदि कुल नहीं तो अधिकांश भाग को जीत लिया। उसके उत्तराधिकारी मारवर्मन् राजसिंह प्रथम (७३५-६५ ई०) की पल्लवराज नन्दिवर्मन् के साथ हुई लड़ाई का उल्लेख ऊपर हो चुका है। राजसिंह पल्लवों के विरुद्ध तो कोई उल्लेखनीय विजय न प्राप्त कर सका किन्तु ७५० के लगभग वेणबई में गंग और उनके अधिराट् चालुक्यों की संयुक्त सेना पर उसने बहुत बड़ी विजय प्राप्त की। उसके उत्तराधिकारी जटिल परान्तक (७६५-८१५) बनाम वरगुण ने भी अनेक विजयें कीं और अपने राज्य की सीमा का विस्तार किया। उसके अन्तर्गत अब त्रिचनापल्ली, तंजोर सलेम और कोयम्बटूर के जिले शामिल थे। नन्दिवर्मन् द्वारा संघटित संघ के विरुद्ध उसकी सफलता का वर्णन किया जा चुका है। उसके बेटे श्रीमार श्रीवल्लभ (८१५-८६५) ने शानदार विजयों के साथ अपना राज्यारम्भ किया। कहा जाता है कि गंग, पल्लव, चोल, कलिंग और मगध तथा अन्य शत्रुओं की सम्मिलित सेना को उसने कुम्भकोणम् में हराया। उसने सिंहल पर भी एक अभियान किया और उसकी राजधानी को लूटा। परन्तु अपने शासन के अगले दिनों में उसे अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। उसके पुत्र वरगुणवर्मन् ने विद्रोह कर दिया और उसके निमन्त्रण पर सिंहलराज ने उसके राज्य पर आक्रमण कर दिया। इसी बीच पल्लवराज नृपतुंग ने उसपर आक्रमण कर दिया और बुरी तरह पराजित हुआ। उसकी अनुपस्थिति में उसकी राजधानी सिंहली सेना के हाथ लगी। श्रीमार ने अपनी राजधानी पुनः लेने की कोशिश की, किन्तु पराजित हुआ और कुछ ही दिनों बाद मर गया। सम्भव है सिंहली और पल्लव-राजाओं ने इस अवसर पर मिलकर काम किया हो। पल्लवराज नृपतुंग के करद के रूप में वरगुणवर्मन् द्वितीय गद्दी पर बैठा। वह उनका खिलौना बन चुका था।

वरगुण ने आगे चलकर पल्लवों की पराधीनता से मुक्त होने की कोशिश की। किन्तु ८८० के लगभग, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, श्रीपुरम्बियम् में बुरी तरह पराजित हुआ। कुछ दिनों बाद वह मर गया और उसका छोटा भाई परान्तक उर्फ वीरनारायण शडयन् (८८०—९००) गद्दी पर बैठा। उसके और उसके उत्तराधिकारी मारवर्मन् राजसिंह द्वितीय (९००-९२०) के राज्यकाल में पाण्ड्यों का चोलों से संघर्ष हुआ। इस समय पल्लवों के पतन के बाद चोल तेजी से महान् शक्ति के रूप में उठ रहे थे। ९१० ई० से पूर्व

आदित्यचोल के बेटे परान्तक ने पाण्ड्य राजधानी मदुरा पर अधिकार कर लिया। पाण्ड्यों ने सिंहलों के साथ मिलकर संघ बनाया और प्रतिरोध की चेष्टा की किन्तु दोनों की संयुक्त सेनाएँ ९२० ई० के लगभग मदुरा के निकट वेलूर में पराजित हुईं। राजसिंह सिंहल भागा और वहाँ से केरल चला गया। उसके बाद उसका कुछ पता नहीं चलता। इस प्रकार ३०० वर्षों से अधिक जीवित रहकर कडुंगोन द्वारा स्थापित पाण्ड्य राज्य समाप्त हो गया।

३. गङ्ग, कदम्ब एवं अन्य छोटे राज्य

(अ) पश्चिमी गंग

कलिंग के पूर्वी गंगों से भिन्नता प्रकट करने के लिए ही यह राजवंश पश्चिमी गंग कहलाता है। यह वंश वर्तमान मैसूर के अधिकांश भाग पर राज्य करता रहा, जो उसके नाम पर गंगवाड़ी कहलाता है। इस राज्य की स्थापना कोंकणिवर्मन् धर्ममहाधिराज ने की थी। वह सम्भवतः ४ थी शताब्दी के उत्तरार्ध में हुआ था और उसकी राजधानी कोलार थी। हरिवर्मन् ने ४३५-४६० तक राज्य किया। वह पल्लवों का करद था। वह अपनी राजधानी कोलार से उठाकर शिवसमुद्र के निकट कावेरी तट पर स्थित तलकाड़[1] ले गया। दुर्विनीत (५४०-६००) ने पल्लवों की अधीनता का भार उतार फेंका और पुन्नाड़ (दक्षिणी मैसूर) और कोंगु देश जीत लिए। उसने चालुक्यों से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाये रक्खा। अपने अनेक पूर्वजों और उत्तराधिकारियों की तरह दुर्विनीत भी संस्कृत का महान् विद्वान् और कई पुस्तकों का प्रणेता था। अगला उल्लेखनीय राजा श्रीपुरुष (७२६-७८८) हुआ। कोंगु देश को पाण्ड्यों ने ले लिया। श्रीपुरुष की स्थिति इस दृष्टि से दयनीय थी कि वह दो विरोधी गुटों के बीच के एक सीमान्त राज्य पर राज्य करता था। उसके एक ओर तो राष्ट्रकूट और पल्लव थे तथा दूसरी ओर पल्लव और पाण्ड्य। वह पाण्ड्यों का मित्र था। उसने नन्दिवर्मन् पल्लव-मल्ल पर एक महान् विजय प्राप्त की, फिर भी राष्ट्रकूट आक्रमण से वह बच न सका। सर्वांशतः देखने पर यह कहा जा सकता है कि श्रीपुरुष ने अपना कार्य योग्यतापूर्वक किया और उसने कोंगुणि-राजाधिराज-परमेश्वर की साम्राज्यबोधी उपाधि धारण की। वह अपनी राजधानी हटाकर मान्यपुर (बंगलोर के निकट

कोंकणिवर्मन्

---

१. कुछ लोगों का कहना है कि राज्य का बँटवारा हो गया था और राजा का एक भाई कोलार में राज्य करता था।

गयों) ले गया। उसका राज्य अपनी समृद्धि के कारण श्रीराज्य कहा जाता था। नोलम्बवाड़ी (चितलदुर्ग जिला) के नोलम्बों ने उसकी अधीनता स्वीकार की थी।

ऊपर कहा जा चुका है कि राष्ट्रकूट ध्रुव और गोविन्द तृतीय ने श्रीपुरुष के बेटे और उत्तराधिकारी शिवमार द्वितीय को पराजित किया और दो बार बन्दी बनाया। राष्ट्रकूटों की गद्दी पर अमोघवर्ष के बैठने के बाद की अशान्ति में गंगों ने सफल विद्रोह किया और अपनी स्वतन्त्रता तब तक बनाये रक्खा जब तक ९३७ ई० में कृष्ण तृतीय ने अपने सम्बन्धी बूतुग को वहां की गद्दी पर बैठा न दिया। इस काल के बीच और उसके पश्चात् भी गंगों ने युद्ध में पाण्ड्यों के विरुद्ध पल्लवों का और चोलों के विरुद्ध राष्ट्रकूटों का साथ दिया। वे बाणों और पूर्वी चालुक्यों से भी लड़े। १००४ ई० में चोलों ने तलकाड़ पर अधिकार कर लिया और गंग शासक को उसकी अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। किन्तु करद रूप में भी धीरे धीरे गंग शासन का अन्त हो गया।

(ब) कदम्ब

कदम्ब अपने को उत्तर भारत से आया हुआ कहते हैं, किन्तु वे कुंतल (उत्तरीकनारा जिला) के मूल निवासी जान पड़ते हैं। एक पुराने अभिलेख में इस राजवंश के उद्भव का मनोरंजक वृत्तान्त पाया जाता है।

उद्भव

उसमें कहा गया है कि मयूरशर्मन् नामक एक विद्वान् ब्राह्मण अध्ययन के लिए कांची गया। वहाँ किसी पल्लव अधिकारी ने उसका अपमान कर दिया। इस अपमान का बदला चुकाने के लिए उसने शस्त्र-ग्रहण किया और पल्लवों के सीमान्त रक्षकों को हराकर उनके कुछ प्रदेश पर अधिकार कर लिया। पर अन्त में पल्लवों से उसकी मैत्री हो गयी और राजभक्ति के कार्यों के कारण उन्होंने उसे पश्चिमी तट पर सामन्त-राज्य दे दिया। सम्भव है कि इसमें कुछ तथ्य हो। मयूरशर्मन् सम्भवतः चौथी शताब्दी के तृतीय चरण में हुआ। असम्भव नहीं कि समुद्रगुप्त के आक्रमण के कारण उत्पन्न अव्यवस्था के बीच उसने स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर वनवासी को अपनी राजधानी बनाई हो। उसके बेटे और उत्तराधिकारी कंगवर्मन् ने अपने वंश की उपाधि शर्मन् से बदल कर वर्मन् कर दी और धर्ममहाराजाधिराज की उपाधि धारण की। सम्भवतः यही वह कुन्तल-नरेश था जिसे वाकाटक राजा विन्ध्यसेन ने हराया था। उसका पौत्र काकुत्स्थवर्मन् (४३०–४५० ई०) शक्तिशाली राजा जान पड़ता है। उसका दावा है कि उसने गुप्तों तथा अन्य राजाओं से अनेक विवाह सम्बन्ध स्थापित किये थे।

काकुत्स्थवर्मन् के निधन के शीघ्र ही पश्चात् राज्य का दक्षिणी भाग उसके छोटे बेटे की अधीनता में एक स्वतन्त्र राज्य बन गया। बड़ी शाखा का मृगेशवर्मन् (४७५-४९०) का कहना है कि उसने पश्चिमी गंगों और पल्लवों को पराजित किया था। अगला उल्लेखनीय राजा रविवर्मन् था जिसने पश्चिमी गंगों को हराया और कदम्बों की छोटी शाखा उसके अधीन हो गयी। किन्तु इस वंश का कीर्ति-युग अल्पकालिक था। उसके बेटे हरिवर्मन् के राज्य काल में (५३७–५४७ ई०) करद चालुक्यराज पुलकेशि ने बादामी में एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना कर ली। ऊपर इसका वर्णन किया जा चुका है। हरिवर्मन् स्वयं छोटी शाखा के कृष्णवर्मन् द्वितीय द्वारा पराजित हुआ।

राज्य का बटवारा

कृष्णवर्मन् के पूर्वजों को पहले पल्लवों की और पुनः पीछे अपनी बड़ी शाखा की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी थी। यद्यपि उसने कदम्ब राज्य को पुनः एक किया और अपने स्वनामधन्य की तरह अश्वमेध यज्ञ भी किया, किन्तु छोटी शाखा के संस्थापक उसके बेटे अजवर्मन् को चालुक्यों की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। अजवर्मन् के बेटे ने स्वतन्त्रता प्राप्त करने की कोशिश की किन्तु पुलकेशि द्वितीय ने बनवासी पर अधिकार कर कदम्ब राज्य का अन्त कर दिया।

(स) छोटे-छोटे राज्य

यद्यपि स्वतन्त्र शक्ति के रूप में कदम्बों का अन्त हो गया, उनके इक्के-दुक्के राजे और कुछ करद वंश १० वीं शताब्दी और उसके कुछ काल बाद तक पाये जाते हैं। दक्षिण भारत में कदम्बों के समकालीन कुछ अन्य वंश भी थे। दक्षिणी कनारा में, जो तुलुवदेश कहलाता था, आलुप लोग राज्य करते थे। उनका तथा दो अन्य राज्यों-कोंगु (कोयंबटूर और सलेम) और केरल (चेर), का कदम्बों की शक्ति के उत्थान के बहुत पहले से ही अस्तित्व था। किन्तु उनमें से कोई भी राजनैतिक महत्ता प्राप्त न कर सका। इनका संक्षिप्त वृत्तान्त इस प्रकार है।

आलुप

आलुपों को चालुक्य तथा अन्य बड़ी शक्तियों ने जीत लिया। फिर भी यदा कदा कुछ महत्त्व के राजाओं का पता लगता है, जो सम्भवतः स्वतन्त्र थे। होयसालों ने उन्हें जीतकर उनका क्षेत्र अपने राज्य में मिला लिया।

कोंगु

पहले कहा जा चुका है कि कोंगु देश क्रमशः पश्चिमी गंग, पाण्ड्य और चोलों के हाथ में रहा।

केरल के पेरुमल का पुराना वंश चेरमन पेरु के साथ समाप्त हो गया। सामान्यतः यह विश्वास किया जाता है कि वह मुसलमान अथवा ईसाई हो गया और ८२४-२५ में आरम्भ होने वाले कोलम् अथवा मलयालम्

केरल

संवत् के उद्भव के साथ, नये वंश की स्थापना हुई। नये वंश का स्थाणुरवि आदित्य प्रथम चोल का मित्र था। केरलों ने पाण्ड्य और चोल वंशों को रानियाँ दीं और ६ वीं शताब्दी में आये अरबों को शरण दिया; जिनकी अधिकांशतः भारतीय माताओं से जन्मी संतानें आज मोपला कहलाती हैं। यह भी माना जाता है कि पहली शताब्दी ई० में इस प्रदेश में यहूदी आकर बसे, किन्तु इसका लिखित पहला प्रमाण भास्कर रविवर्मन् (९७८-१०३६ ई०) का शासन-पत्र है, जिसमें पश्चिमी तट पर क्रंगनूर के पास जोसफ रब्बान को भूमि प्रदान किये जाने का उल्लेख है।

बाण, जो अपने को असुर बाण का वंशज कहते हैं, पल्लवों के करद के रूप में कोलार और उत्तरी आरकट में राज्य करते थे। उन्होंने ९ वीं शताब्दी में स्वतन्त्रता प्राप्त की। वे पश्चिमी गंगों तथा नीलम्बों के विरुद्ध सफलतापूर्वक लड़े। यद्यपि परान्तक प्रथम का कहना है कि उसने उन्हें नष्ट कर डाला किन्तु ९४९ ई० में वे लोग राष्ट्रकूटों की ओर से चोलों के विरुद्ध तक्कोलम् के सुप्रसिद्ध युद्ध में लड़ते हुए पाये जाते हैं। पीछे उन्हें चोलों ने हराया। इस प्रकार बाणों का राज्य समाप्त हो गया। किन्तु १६ वीं शताब्दी ई० में बाण सरदार पांड्य देश में उत्तरदायित्वपूर्ण पद पर काम करते पाये जाते हैं।

वैदुम्ब, जो ९ वीं शताब्दी में रेनाण्डु देश (कुडप्पा जिला) में राज्य करते थे; सम्भवतः आलुपों के करद थे। उन्होंने उन्हें पश्चिमी

वैदुम्ब

गंगों के विरुद्ध युद्ध में सहायता दी थी। चोलों ने बाणों के साथ ही उन्हें भी जीत लिया।

४. चोल

दक्षिण भारतीय इतिहास के समंग काल में महत्त्वपूर्ण भाग लेने के पश्चात् ५०० वर्षों से अधिक काल तक चोलों ने किसी विशेष राजनीतिक शक्ति का उपभोग न किया। निस्संदेह इसका कारण क्रमशः कदम्बों और

विजयालय

पल्लवों का आक्रमण है। फिर भी चोलों का नाम तथा उनकी परम्परा तेलुगु चोड़ों ने जारी रक्खी जो पल्लवों, चालुक्यों अथवा राष्ट्रकूटों के करद के रूप में रेनाण्डु (कुडप्पा जिला) में राज्य करते थे। लगभग

९वीं शताब्दी के मध्य में चोल पुनः प्रकाश में आते हैं। इस समय करिकाल आदि पूर्ववर्ती चोलों की पुरानी राजधानी उरयुर के आस-पास के प्रदेश में, पल्लवों के करद के रूप में, एक शक्तिशाली चोल राजा राज्य करता पाया जाता है। पल्लवों की पाण्ड्यों से निरन्तर लड़ाई चलती रहती थी। फलतः चोलों को—सम्भवतः उन दोनों की सीमा के बीच वाले प्रदेश में रहने वाले चोलों को, अवसर मिला और पाण्ड्यों अथवा उनके करदों के मूल्य पर उन्होंने अपना विस्तार किया। इस प्रकार विजयालय ने पाण्ड्यों के करद मुत्तरयुर से तंजोर जीत लिया। उसके राज्य का विस्तार कावेरी के निचले काँठे में उत्तर से दक्षिण वेल्लार तथा कोळेरून नदियों तक हो गया। तञ्जोर इस नये राज्य की राजधानी बना।

जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, विजयालय के बेटे और उत्तराधिकारी आदित्य प्रथम (८७१–९०७) ने श्रीपुरम्बियम् के निर्णायक युद्ध में पाण्ड्यों के विरुद्ध अपने स्वामी पल्लवराज की निष्ठापूर्वक सहायता की। राज-भक्ति के फलस्वरूप उसके कृतज्ञ स्वामी ने कुछ प्रदेश उसे पुरस्कारस्वरूप और प्रदान किये। किन्तु आदित्य पल्लवों की

आदित्य

निर्बलता से परिचित हो गया था और उसके मन में स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर अपने पूर्वजों की कीर्ति को पुनःस्थापित करने की लालसा जागृत हुई। फलतः पल्लवों और चोलों में संघर्ष होते देर न लगी और सम्भवतः ८९१ ई० के पूर्व ही वह आरम्भ भी हो गया। आदित्य ने पल्लवराज को पराजित कर मार डाला और तुण्डमण्डलम् को अपने राज्य में मिला लिया। इसके बाद उसने कोंगु देश जीता और पश्चिमी गङ्गों को हराया। उन्होंने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। आदित्य द्वारा प्रारम्भ किये गये कार्य को उसके बेटे और उत्तराधिकारी परान्तक ने पूरा किया। वह ९०७ ई० में गद्दी पर बैठा। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, सिंहली सेना की सहायता के बावजूद उसने पाण्ड्यों को हराकर उनके राज्य को ले लिया। पल्लवों की बची-खुची शक्ति भी उसने समाप्त कर दी, बाणों को उखाड़ फेंका और वेदुम्बों को पराजित किया। इस प्रकार ९३० ई० के आते-आते चोल पश्चिमी तट को छोड़ कर उत्तर पेन्नार से कन्याकुमारी तक सारे दक्षिण भारत पर राज्य करने लगे। पश्चिमी तट पर केरलों का राज्य था।

किन्तु यह वैभव अधिक दिनों तक न टिक सका। पल्लवों और चालुक्यों की पुरानी शत्रुता अब दायरूप में उनके उत्तराधिकारियों-चोलों और राष्ट्रकूटों, को मिली। राष्ट्रकूटराज कृष्ण तृतीय चोलों की बढ़ती हुई शक्ति से आतंकित हो उठा और आगे बढ़कर गङ्गराज को जीत लिया और दक्षिण भारत पर धावा किया। इसकी चर्चा पीछे की जा चुकी है। उसने ९४९ ई० में चोलों को

तक्कोलम् में बुरी तरह से हराकर तोण्डईमण्डलम् को ले लिया। इससे चोलों की शक्ति और कीर्ति पर गहरा धक्का लगा और वे अपना साम्राज्य खो बैठे। पाण्ड्य और छोटे-छोटे राज्य स्वतन्त्र हो गये।

अपने कार्यों के इस प्रकार के विनाश को देखने के लिये परान्तक प्रथम बहुत दिनों तक जीवित न रह सका और ९५३ ई० में उसकी मृत्यु हो गयी। चोलों का अगले ३२ वर्षों का इतिहास अज्ञात सा है। चोलराज सुन्दर चोल अथवा परान्तक द्वितीय (९५७–९७३ ई०) ने वीरपाण्ड्य और उसके सिंहली मित्रों को हराया, किन्तु उससे उसे कोई निर्णायक अथवा स्थायी लाभ न हुआ। हाँ, क्षीणशक्ति राष्ट्रकूटों से उसने तोण्डईमण्डलम् वापस जीत लिया।

सुन्दर चोल का बेटा राजराज प्रथम ९८५ ई० में गद्दी पर बैठा। इस तिथि से चोलों के इतिहास के वैभवपूर्ण काल का आरम्भ होता है। उसने अपने शासन-पत्रों के आरम्भ में अपनी विजयों की विस्तृत सूची देने की एक नयी प्रथा प्रचलित की। फलस्वरूप चोल साम्राज्य के तीव्र गति से हुए उत्थान का पता पाना हमारे लिए सुगम हो गया है। राजराज ने पुनः उस आक्रामक साम्राज्यवादी नीति का आरम्भ किया, जिसे राष्ट्रकूटों ने बुरी तरह झकझोरा था। राष्ट्रकूटों की जगह अब पश्चिमी चालुक्य आ गये थे किन्तु उन्होंने चोलों की शत्रुता दायरूप में प्राप्त की। राजराज ने पश्चिमी गङ्ग देश को जीत कर अपने राज्य में मिला लिया। उसके पश्चात् पश्चिमी चालुक्यों से उसका वह दीर्घकालीन किन्तु अनिर्णायक युद्ध आरम्भ हुआ जिसकी चर्चा ऊपर हो चुकी है।

राजराजमहान्

किन्तु दक्षिण में राजराज को अत्यधिक सफलता मिली। उसने केरलराज को पराजित किया। कान्दलूरसाल (त्रिवेन्द्रम्) में उसने उसके पोतों को नष्ट कर दिया और कोल्लम् (क्वीलौन) पर आक्रमण किया। पाण्ड्यराज को हराकर उसने मदुरा पर अधिकार कर लिया। कुडमलइ (कुर्ग) का उदगइ दुर्ग उसके अधिकार में आ गया और इस प्रकार उसे पाण्ड्य और केरल दोनों के विरुद्ध मोर्चा लेने के लिए एक सुविधाजनक स्थान मिल गया। अपनी शक्तिशाली नौसेना की सहायता से उसने मालद्वीप भी जीता। सबके बाद उसने सिंहल पर आक्रमण कर उसके उत्तरी भाग को अपने राज्य में मिला लिया।

पूर्वी और पश्चिमी चालुक्यों में मैत्री भाव बढ़ने न देने के उद्देश्य से उसने पूर्वी चालुक्य राज्य के मामलों में हस्तक्षेप किया। उसने वेंगी को जीतकर अपने कृपापात्र शक्तिवर्मन् को गद्दी पर बैठाया और शक्तिवर्मन् के छोटे भाई विमलादित्य के साथ अपनी बेटी कुन्दवइ का विवाह कर मैत्री-संबंध को सुदृढ़ बनाया। भावी

घटनाओं को दृष्टि से यह विवाह अत्यन्त महत्वपूर्ण था। कलिंग के गङ्गों की आँखें वेंगी पर लगी हुई थीं अतः राजराज का उनसे संघर्ष हुआ और उसने उन्हें भी युद्ध में पराजित किया।

राजराज दक्षिण भारत के महत्तम शासकों में था और वह वस्तुतः 'महान्' कहे जाने का पूर्ण अधिकारी है। वह एक महान् विजेता था, जिसने शक्तिशाली चोल साम्राज्य की नींव डाली। उसने अपने विस्तृत साम्राज्य के शासन के लिए सुन्दर व्यवस्था की, जिसकी चर्चा आगे की जायेगी। १००० ई० में प्रारम्भ किया जाने वाला उसका भूमापन का महान् कार्य था और स्वायत्त शासन की प्रगति भारतीय इतिहास में शासन-व्यवस्था के विकास का महत्वपूर्ण विकासचिह्न है। शासन व्यवस्था सुधारने की दृष्टि से उसने कुछ अन्य प्रथाओं का भी अनुसरण किया। उसने १०१२ में अपने बेटे राजेन्द्र को शासन कार्य में लगाया। इससे भावी शासक को अनुभव तो हुआ ही उत्तराधिकार के लिये झगड़ा भी रुका।

राजराज महान् निर्माता भी था। तंजोर का सुप्रसिद्ध 'राजराजेश्वर' मंदिर आज भी चोल कला के वैभव को व्यक्त करता है। राजराज स्वयं शैव था किन्तु उसने विष्णु मंदिर भी बनवाये, और जावा के शैलेन्द्र राजा मारविजयोत्तुङ्ग-वर्मन् को एक बौद्ध विहार बनाने और उसके व्यय के लिये धन की व्यवस्था करने में उसने सहायता दी।

अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् १०१८ ई० में राजेन्द्र गद्दी पर बैठा, किन्तु उसका राज्यकाल १०१२ ई० से ही आरम्भ हुआ माना जाता है। उसी समय से उसने युवराज के रूप में अपने पिता के साथ शासन व्यवस्था में सहयोग करना आरम्भ किया था। राजेन्द्र ने भी अपने पिता का अनुसरण कर अपने बेटे राजाधिराज को १०१८ ई० में युवराज बनाया।

राजेन्द्र

राजेन्द्र, जो सामान्यतः राजेन्द्र चोल के नाम से प्रसिद्ध है, योग्य पिता का योग्य पुत्र था। उसने चोल शक्ति को महत्ता की चरम सीमा तक पहुँचाया। उसकी विस्तृत विजयों का उल्लेख उसके अभिलेखों में पाया जाता है, जो संक्षेप में इस प्रकार है। दक्षिण में उसने न केवल पाण्ड्य, चेर और सिंहल को जीता, वरन् अपने राज्य के प्रान्तों के रूप में उन पर शासन भी किया। चालुक्यों को उसने अनेक युद्धों में बुरी तरह पराजित किया और उनकी राजधानी को भी तहस-नहस किया, किन्तु उससे उसे कोई स्थायी लाभ न हुआ।

उसके राज्य-काल के दो सैनिक अभियान विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। एक अभियान समुद्र के पूर्वी किनारों से होता हुआ कलिंग, ओड्र (उड़ीसा) और

दक्षिण कोशल के रास्ते बंगाल तक गया और उसने न केवल पश्चिमी और दक्षिण बंगाल के तीन छोटे छोटे राजाओं को हराया वरन् महान् पालराज महीपाल को भी पराजित किया। इस अभियान का गङ्गा-किनारे तक ले आने का कथित उद्देश्य तो केवल गङ्गा का पवित्र जल ले आना था। कहा जाता है कि पराजित राजाओं के कन्धों पर यह जल ढुलवाया गया। जो भी हो, अभियान एक धावा मात्र था और उससे उसके राज्य-क्षेत्र में किसी प्रकार की वृद्धि नहीं हुई। दूसरा अभियान भारतीय इतिहास में अद्वितीय कहा जा सकता है। यह बहुत बड़ा नौसैनिक अभियान था जिसकी अभूतपूर्व योजना की गयी थी। इतना बड़ा नौसैनिक अभियान प्राचीन भारत में न तो उसके पूर्व कभी हुआ था और न फिर उसके पश्चात् ही कभी हुआ। इस अभियान का उद्देश्य शैलेन्द्र साम्राज्य को जीतना था जिसके अन्तर्गत मलय प्रायद्वीप, जावा, सुमात्रा और आस-पास के अन्य अनेक द्वीप शामिल थे। शैलेन्द्र का राजराज के साथ मैत्री संबंध था। राजेन्द्र के इस विरोध का क्या कारण था, अज्ञात है। जो भी हो, उसे अत्यधिक सफलता मिली। उसके नाविक दल ने बंगाल की खाड़ी पार कर सैनिकों को उतारा, जिन्होंने सुमात्रा और सम्भवत: जावा के भी अनेक करद राजाओं को एक एक कर जीता। तत्पश्चात् वह मलय प्रायद्वीप तक गया और वहाँ शैलेन्द्रों के प्रमुख गढ़ कटाह अथवा कडारम् (केडाह) को जीता। पूर्व की सबसे बड़ी नौ-शक्ति एवं शक्तिशाली शैलेन्द्र साम्राज्य ने विजयिनी चोल सेना के सामने घुटने टेक दिये। राजेन्द्र चोल को अपनी पताका गङ्गा तट से सिंहल द्वीप तक और बंगाल की खाड़ी के पार जावा, सुमात्रा और मलय प्रायद्वीप[1] पर फहरते देख कर गौरव पूर्ण संतोष हुआ।

राजेन्द्र चोल निस्संदेह भारतीय इतिहास का एक महत्तम विजेता था और उसने अपनी महान् विजयों की स्मृति में कडारंगाएड और गङ्गईकोंड की जो गौरवपूर्ण उपाधियाँ धारण की थी, वे उचित ही थी। उसने एक नयी राजधानी भी बनवाई जिसका नाम गङ्गईकोंडचोलपुरम् रक्खा और उसे मन्दिरों तथा महलों से अच्छी तरह सजाया। उसको अनेक बड़े कार्यों में सिंचाई के निमित्त बनवाई गई १६ मील एक लम्बी नहर थी। वेद की विभिन्न शाखाओं के अध्ययन के निमित्त उसने एक महाविद्यालय की भी स्थापना की। इस प्रकार राजेन्द्र चोल न केवल एक महान् विजेता था वरन् शान्ति की कलाओं में भी वह पारङ्गत था। अपने सुविख्यात पूर्वजों की भाँति ही उसने भी शासन-व्यवस्था में अभूतपूर्व कार्य-कुशलता दिखलाई।

---

१. यह सामान्य धारणा ग़लत है कि राजेन्द्र चोल ने पेगू को जीता।

राजाधिराज

राजेन्द्र चोल का बेटा राजाधिराज, जो अपने पिता के साथ १०१९ से ही शासन में सहयोग देता रहा, १०४४ ई० में गद्दी पर बैठा। उसका अधिकांश समय अपने पूर्वजों द्वारा छोड़े गये विस्तृत साम्राज्य में अक्सर होने वाले विद्रोहों को दबाने में ही लगा रहा। चोल, पाण्ड्य, सिंहल और अन्य छोटे-छोटे राज्यों के विद्रोही राजाओं को बुरी तरह पराजित कर वह अपने राज्य में शान्ति स्थापित करने में अत्यन्त सफल रहा। उसने चालुक्य राज्य पर आक्रमण किया। चालुक्यराज सोमेश्वर ने कोप्पम् में उसका सामना किया। खूब घनघोर युद्ध हुआ और राजेन्द्र मारा गया (१०५२–५३ ई०)। किन्तु उसके भाई राजेन्द्र ने चालुक्य सेना पर विजय प्राप्त की और युद्धस्थल में ही अपना राज्याभिषेक किया।

चोलों और चालुक्यों के बीच होने वाला युद्ध निरन्तर चलता रहा। कितने ही घनघोर युद्ध हुए, जिनमें सबसे महत्वपूर्ण कुडलसंगमम् का युद्ध था। इस युद्ध-स्थान की पहचान अभी तक नहीं हो सकी है। चोलराज वीरराजेन्द्र १०६३ ई० में गद्दी पर बैठा। उसने अनेक युद्ध जीते और अपने विस्तृत साम्राज्य पर सफलतापूर्वक राज्य किया। इसके बाद १०७० ई० में उसका लड़का गद्दी पर बैठा; किन्तु वह एक वर्ष के भीतर ही निकाल बाहर किया गया और चोल साम्राज्य कुलोत्तुङ्ग के हाथ चला गया।

कुलोत्तुङ्ग

पूर्वी–चालुक्यराज राजराज के पुत्र कुलोत्तुङ्ग प्रथम में काफी चोल रक्त था। उसकी पितामही राजराज महान् की पुत्री थी। उसकी माँ राजेन्द्रचोल गंगईकोंड की पुत्री थी और उसने स्वयं कोप्पम् के विजेता राजेन्द्र की पुत्री से विवाह किया था। उसने वीरराजेन्द्र के बेटे अधिराजेन्द्र को हटा दिया, उसकी ओर से हुए विद्रोहों का दमन किया और स्वयं चोल गद्दी पर दृढ़ता के साथ जम गया (१०७० ई०)। वह वीर और स्फूर्तिवान् राजा था और उसने अनेक सैनिक सफलताएं प्राप्त कीं। अपने दीर्घकालिक राज्यकाल में (१०७०–१११८) उसने चालुक्यराज विक्रमादित्य षष्ठ द्वारा निरन्तर किये गये आक्रमणों को पीछे हटाया और अपने राज्य में होने वाले विद्रोहों का दमन किया। विक्रमादित्य अपने साले अधिराजेन्द्र का पक्ष ले रहा था। किन्तु सिंहल स्वतन्त्र हो गया।

कुलोत्तुङ्ग ने अपने बेटों को उपरिक पदों पर नियुक्त किया और कलिंग के अनन्तवर्मन् चोड़गंग को पराजित किया। किन्तु १११८ ई० के लगभग, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, विक्रमादित्य षष्ठ ने वेंगी पर अधिकार कर लिया। इसी समय होने वाला होयसलों का उत्थान एक दूसरी अशुभ बात थी।

उन्होंने चोलों को कावेरी के उस पार पहले ही खदेड़ दिया था और इस प्रकार मैसूर का पठार उनकी अधीनता से मुक्त हो गया। कुलोत्तुङ्ग ने १०८१ और ११११० ई० में दो बार भूमापन कराया था।

अगले १०० वर्षों में कुलोत्तुङ्ग के उत्तराधिकारियों का शासन राजनीतिक दृष्टि से विशेष महत्त्व नहीं रखता। इस काल में पाण्ड्य राज्य के एक प्रतिस्पर्धी हकदार की ओर से उनका सिंहली राजा के साथ काफी दिनों युद्ध चलता रहा। इसके अतिरिक्त रेनणडु के तेलुगु चोड़; बाण और कादव आदि अनेक करद राजा भी इस बीच शक्तिशाली हो उठे। होयसाल, पाण्ड्य, कलिंग के पूर्वी गंग तथा काकतीय आदि राजवंशों का उत्थान इस काल की अन्य उल्लेखनीय घटनायें हैं।

इन सब बातों का प्रभाव स्पष्टरूप से राजराज तृतीय के शासन-काल (१२१६–१२४६) में परिलक्षित होता है। पाण्ड्यों ने उसे बुरी तरह हराया और उसकी राजधानी भी छीन ली। होयसालों ने शक्तिशाली राज्य स्थापित कर लिया था और चोल नरेश को अपने विद्रोही करदों को दबाने के निमित्त उनसे अनेक बार सहायता लेनी पड़ी। व्यावहारिक दृष्टि से चोल शासक प्रायः होयसलों के अधीन और उनके रक्षित थे।

एक बार चोलराज अपने एक करद पेर्रुञ्जिंग के हाथों बन्दी हो गया। यह चोलों के शक्तिशाली साम्राज्य के विघटन का स्पष्ट निर्देश था। राजेन्द्र तृतीय (१२४६–१२७९) को पाण्ड्यों के विरुद्ध कुछ सफलता मिली; किन्तु जब गणपति काकतीय ने कांची पर अधिकार कर लिया (१२५०), तो उसे गहरा धक्का लगा। उससे उत्पन्न अव्यवस्था का लाभ उठाकर जटावर्मन् सुन्दरपाण्ड्य उत्तर की ओर बढ़ा और चोल, होयसल और काकतीयों को हराता हुआ नेल्लोर तक पहुँच गया और उस पर अधिकार कर लिया। इसके फलस्वरूप चोलराज राजेन्द्र तृतीय पाण्ड्यों का करद हो गया। १०१३ ई० में मलिक नायक काफ़ूर के आक्रमण होने पर चोल राज्य का बचा-खुचा चिह्न भी मिट गया।

५. होयसल

होयसलों के उत्थान को चर्चा ऊपर हो चुकी है। उत्तरवर्ती चालुक्यों और चोलों के बीच हुए दीर्घकालीन संघर्ष के समय वे सीमावर्ती प्रदेश के शासकों के रूप में सामने आये। जब चालुक्यों ने पश्चिमी गंगों द्वारा शासित प्रदेशों को पूर्णतः जीत लिया तो होयसल राजे सीमावर्ती चौकियों के शासक बनाये गये थे। धीरे धीरे वे शक्तिशाली हो गये। १२ वीं शताब्दी के आरम्भ में या उससे कुछ

पहले होयसलराज बल्लाल प्रथम चालुक्यों के करद के रूप में एक छोटे से राज्य पर शासन करता था। उसकी राजधानी बेलूर थी। किन्तु सम्भवतः द्वार-समुद्र (आधुनिक हलेबिड) उसकी दूसरी राजधानी थी।

११०६ ई० के बाद ही बल्लाल का उत्तराधिकारी उसका छोटा भाई बिट्टीदेव अथवा विष्णुवर्द्धन हुआ, जिसने अपने वंश की महत्ता की नींव डाली। उसने गंगवाड़ी और नोलम्बवाड़ी (बिल्लारी जिला) को जीत कर अपने राज्य में मिला लिया। ११३१ ई० तक उसके राज्य की सीमा कृष्णा नदी तक फैल गयी। इस प्रकार उसके अन्तर्गत न केवल सारा मैसूर ही वरन् उत्तर के कुछ सीमावर्ती प्रदेश भी शामिल थे। फलस्वरूप उसका पश्चिमी चालुक्य राजाओं विक्रमादित्य और सोमेश्वर तृतीय तथा पड़ोस के अन्य छोटे २ रजवाड़ों के साथ संघर्ष हुआ। किन्तु विष्णुवर्द्धन का दावा है कि उसने उन सबको पराजित किया। यद्यपि ११३७ में उसने प्रभुसत्ता का द्योतक तुलापुरुष यज्ञ किया तथापि वह अपने अन्तिम समय ११४१ ई० या उसके कुछ बाद तक पश्चिमी चालुक्यों की अधीनता नाममात्र को स्वीकार करता रहा।

वीरवल्लाल द्वितीय

विष्णुवर्द्धन के पौत्र वीरवल्लाल द्वितीय (११७३–१२२० ई०) ने चालुक्य शक्ति के ह्रास का लाभ उठाकर ११९३ ई० में अपनी पूर्ण स्वतन्त्रता घोषित कर दी। फलस्वरूप, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, होयसलों का यादवों से संघर्ष हुआ। बल्लाल का बेटा और उत्तराधिकारी नरसिंह द्वितीय (१२२०–१२३४) भी शक्तिशाली राजा था। उसने पाण्ड्यों और अन्य विद्रोही करदों के विरुद्ध ह्रासोन्मुख चोल राजा की सहायता की। उसके बेटे सोमेश्वर (१२३४–१२६२) ने चोल राज्य को अपने संरक्षण में ले लिया। अपने छोटे बेटे रामनाथ के साथ वह नयी राजधानी में जा बसा, जिसे उसने श्रीरंगम् के निकट कन्नानूर में बनाया था। मूल होयसल राज्य को उसने अपने बड़े बेटे नरसिंह तृतीय के हाथ में छोड़ दिया। सोमेश्वर पाण्ड्यों के विरुद्ध अनेक बार वीरता के साथ लड़ा किन्तु अन्ततोगत्वा पराजित हुआ और मारा गया। पाण्ड्यों ने होयसलों को दक्षिण कावेरी प्रदेश से निकाल बाहर किया और चोल राज्य को रौंद डाला। सोमेश्वर की मृत्यु के पश्चात् उसका राज्य उसके दोनों बेटों में बंट गया। नरसिंह तृतीय (१२६२–१२९१) यादवों से सफलतापूर्वक लड़ा किन्तु पाण्ड्यों द्वारा दक्षिण से निकाले जाने पर उसके छोटे भाई ने उससे विद्रोह कर दिया और उसके राज्य का कुछ भाग ले लिया। नरसिंह के बेटे और उत्तराधिकारी वीरवल्लाल तृतीय ने राज्य की एकता पुनर्स्थापित की और योग्यतापूर्वक पाण्ड्यों से अपने राज्य की रक्षा की। यादवों

तथा चोल साम्राज्य के पतन के पश्चात् दक्षिण में उठ खड़े हुए अनेक विद्रोही करद राजाओं के साथ उसे कठोर युद्ध करना पड़ा। जिस समय वह इन युद्धों में व्यस्त था, दक्षिण भारत पर मुसलमानों के आक्रमण आरम्भ हुए। १३१० ई० में काफूर ने उसे हराया। किन्तु ३० वर्षों से अधिक काल तक वह पहले खिलजियों और उनके बाद मुहम्मद तुगलक से लड़ता रहा। मुहम्मद तुगलक थक गया था, सुलतान को अनेक विद्रोहों का सामना करना पड़ा, इसके कारण उसका तो भय कम हो गया; किन्तु बल्लाल को मदुरा में स्थापित मुस्लिम वंश के साथ लोहा लेना पड़ा। मुसलमानों ने होयसलों की दक्षिणी राजधानी कन्नानूर में एक शक्तिशाली सेना खड़ी कर दी थी। वह उनसे वीरता के साथ लड़ा और १३४२ ई० में त्रिचनापल्ली के निकट एक लड़ाई में मारा गया। उसके बाद उसका लड़का गद्दी पर बैठा। उसने थोड़े दिनों तक राज्य किया। उसके पश्चात् होयसलों का नामोनिशान मिट गया।

६. द्वितीय पाण्ड्य साम्राज्य

दसवीं शताब्दी के आरम्भ में चोल परान्तक प्रथम के हाथों पराजित हो जाने के बाद पाण्ड्यों ने स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए अनेक प्रयत्न किये किन्तु वे सफल न हो सके। राजेन्द्र चोल, कुलोत्तुंग प्रथम और कुलोत्तुंग तृतीय ने उन्हें बुरी तरह हराया। कुलोत्तुंग तृतीय ने (११७८–१२१६) पाण्ड्यों पर ११८२, ११८९ और १२०५ ई० में तीन बार धावा किया और उनके शासक जटावर्मन् कुलशेखर (११९०–१२१६) को हराया तथा त्रिवांकुर को जीत लिया।

किन्तु कुलशेखर के उत्तराधिकारी मारवर्मन् सुन्दर पाण्ड्य (१२१६–१२३९ ई०) ने चोलों के विरुद्ध पासा पलट दिया। कुलोत्तुंग तृतीय को हराकर उसने उरयपूर और तंजोर में आग लगा दी। यद्यपि होयसलों की सहायता से कुलोत्तुंग ने अपना राज्य पुनः प्राप्त कर लिया किन्तु उसे सम्भवतः पाण्ड्यों की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। चोल राजराज तृतीय ने फिर युद्ध आरम्भ किया और वह पुनः पराजित हुआ; किन्तु होयसलों के हस्तक्षेप से बच गया। होयसलों के कारण चोलों के विरुद्ध मारवर्मन् को दो बार सफलतायें न मिलीं; तथापि उसका अधिकार एक विस्तृत राज्य पर था जिसके अन्तर्गत त्रिचनापली और पुदुकोटइ शामिल थे। उसके उत्तराधिकारी मारवर्मन् सुन्दरपाण्ड्य द्वितीय (१२३८–१२५१) को राजेन्द्र तृतीय ने हराया और सम्भवतः उसे चोलों की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। किन्तु इसका पूरा बदला अगले राजा जटावर्मन् सुन्दरपाण्ड्य प्रथम ने (१२५१–१२६८) चुकाया। वह इस काल का सबसे शक्तिशाली राजा था। उसने द्वितीय पाण्ड्य साम्राज्य की स्थापना की। उसने चेर राज्य को हराया; दक्षिण से होयसल

शक्ति को उखाड़ फेंका और, जैसा कहा जा चुका है, चोल शक्ति को एकदम नष्ट कर दिया। उसने उत्तरी सिंहल को भी जीता और चोलों के पतन के पश्चात् उभड़ने वाले विद्रोही करदों का दमन किया। कांची पर उसने अधिकार किया; गणपति काकतीय को हराया और नेल्लोर तक सफलतापूर्वक अभियान किया। उसने चोल राज्य और कोंगु देश को अपने राज्य में मिला लिया। इस प्रकार उसने एक विस्तृत साम्राज्य पर शासन किया, जिसके अन्तर्गत मैसूर को छोड़कर उत्तर में नेल्लोर तक दक्षिण भारत का सारा प्रदेश तथा उत्तरी सिंहल भी सम्मिलित था। विजित प्रदेशों से लूटी हुई अपार धनराशि का उपयोग उसने मन्दिरों, विशेषतः श्रीरंगम् और चिदम्बरम्, के सजाने में किया। उनकी छतें उसने सोने की बनवाईं।

पाण्ड्य राजाओं ने राजकुमारों के शासन में भाग देने की चोल प्रथा का अनुसरण किया। इन राजकुमारों ने राज्यारोहण से पूर्व भी अपने नाम से शासन-पत्र जारी किये और उन विजयों का श्रेय लिया, जिन्हें सम्भवतः उन्होंने अपने पूर्ववर्ती राजाओं के काल में किया था। इस प्रकार जटावर्मन् वीर पाण्ड्य प्रथम (१२५३–१२७५), जटावर्मन् सुन्दर पाण्ड्य प्रथम और उसके उत्तराधिकारी मारवर्मन् कुलशेखर पाण्ड्य (१२६८–१३१०) दोनों के साथ शासन में सहयोगी था। मारवर्मन् कुलशेखर पाण्ड्य के साथ चार राजकुमार जटावर्मन् सुन्दर पाण्ड्य द्वितीय (१२७६ ई०), मारवर्मन् विक्रम पाण्ड्य (१२८३ ई०), जटावर्मन् वीरपाण्ड्य द्वितीय (१२९६ ई०) और जटावर्मन् सुन्दर पाण्ड्य तृतीय (१३०३ ई०) शासन में सहयोगी थे। इससे पाण्ड्य राज्य के सम्बन्ध में समसामयिक विदेशी लेखों में पायी जानेवाली इस गलत धारणा का निराकरण हो जाता है कि वह अनेक स्वतन्त्र राजाओं में बंटा हुआ था।

कुलशेखर ने उत्तराधिकार में प्राप्त अपने विस्तृत साम्राज्य को अक्षुण्ण रखा और उसने कोलम् (क्वोलौन) पर अधिकार किया। उसने सिंहल पर भी एक सफल अभियान किया और उसकी सेना बुद्ध के सुप्रसिद्ध दंत धातु को लेकर वापस लौटी। किन्तु सिंहल नरेश पराक्रमबाहु ने उसकी अधीनता स्वीकार कर धातु को वापस माँग लिया।

वेनिस-निवासी यात्री मार्कोपोलो १२९३ ई० में पाण्ड्य देश में आया था। उसने इस साम्राज्य की शक्ति, धन और वैभव का विस्तृत उल्लेख किया है तथा उसे भारत में ही नहीं "संसार में सर्वोत्तम, सर्वसुन्दर और सबसे भला" कहा है। उसके अन्तर्गत अनेक बन्दरगाह थे जो विश्वव्यापार के महान् केन्द्र थे। उनका विस्तृत विवरण मुस्लिम इतिहासकारों, विशेषतः वसफ, से प्राप्त होता है।

मारवर्मन् के दो बेटे थे। उनमें एक जटावर्मन् सुन्दर पाण्ड्य नामक औरस पुत्र था और दूसरा जारज था जिसका नाम जटावर्मन् वीर पाण्ड्य था। मारवर्मन् ने इस दूसरे पुत्र जटावर्मन् वीर पाण्ड्य को अपना उत्तराधिकारी बनाया। इस पर जटावर्मन् सुन्दर पाण्ड्य ने अपने पिता को मार डाला और १३१० ई० में स्वयं गद्दी पर आ बैठा। पर वीर पाण्ड्य ने शीघ्र ही उस पितृघाती को निकाल बाहर किया। इस पर उसने होयसल राज्य पर आक्रमण करने वाले मलिक नायब काफ़ूर से सहायता माँगी। काफ़ूर इस अवसर को पाकर बड़ा प्रसन्न हुआ। वीर पाण्ड्य ने उसके विरुद्ध होयसलों की सहायता की थी। फलतः दो भाइयों के इस झगड़े ने भारत के सुदूर दक्षिण के अन्तिम हिन्दू राज्य का नामोनिशान मिटा देने का मलिक काफ़ूर को सुनहला अवसर प्रदान कर दिया।

१३१० में होने वाले काफ़ूर के आक्रमण ने इस प्रदेश के उन सभी हिन्दू राज्यों को, जो किसी समय चोल और पाण्ड्य राज्य के अंग थे, नष्ट कर दिया। किन्तु आधी शताब्दी पश्चात् एक नये साम्राज्य का उदय हुआ जो बहुलांश में उन्हीं के समान था। यह विजयनगर का साम्राज्य था। भारतीय इतिहास के मुसलमानी काल में उसका प्रमुख स्थान है।

चौदहवाँ अध्याय

राजनीतिक सिद्धान्त और शासन-काल

इस काल के कम से कम आरम्भिक भाग तक राजनीतिक सिद्धान्तों एवं शासन-व्यवस्था के स्वरूप में किसी प्रकार का उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं जान पड़ता। राजा के अधिकार और सम्मान में निस्सन्देह वृद्धि हुई। इसका प्रमाण यह है कि राजाओं ने 'महाराजाधिराज' और 'परमभट्टारक' सदृश ऊँची २ उपाधियाँ धारण कीं। राजकीय अभिलेखों में भी राजा के देवत्व पर जोर दिया गया है, यथा—समुद्रगुप्त न केवल इन्द्र, वरुण, कुबेर और यम के समान कहा गया है, वरन् वह पृथ्वी पर निवास करनेवाला देवता भी माना गया है। ये विचार गुप्त सम्राटों तथा परवर्ती अनेक राजाओं द्वारा धारण की गई 'परमेश्वर' अथवा 'परमदैवत' सदृश उपाधियों में मूर्त्त हुए हैं। पूर्ववर्ती काल में इस प्रकार की उपाधियाँ यवन अथवा कुषाण आदि विदेशी राजाओं ने धारण की थीं। उस समय के किसी भारतीय राजा की ऐसी उपाधि नहीं मिलती।

किन्तु लोकप्रिय सरकार की प्राचीन भावनायें मुक्त रूप से शुक्रनीति में वर्णित पायी जाती हैं, जो तत्कालीन प्राचीन भारतीय राजनीति के ग्रन्थों में सबसे बाद का है। उसमें उसी पुराने प्रभाव में लिखा है कि "राजा को ब्रह्मा ने प्रजा का सेवक बनाया है, जो अपनी वृत्ति के रूप में बलि पाता है।" उसमें प्रस्तावों और समस्याओं पर विचार करने के निमित्त समिति की आवश्यकता पर जोर दिया गया है और लिखा है कि राजा को अपने मंत्रियों की सहायता से शासन करना चाहिए।[1] *उसमें आदेश दिया गया है कि राजा प्रत्येक मंत्री से लिखित तर्कयुक्त* मत प्राप्त करे और फिर उसे अपने विचार से मिलाये और जो बहुमत को स्वीकार

---

१. "ऐसा राजा भी जो सभी विद्याओं में पारंगत हो और राजनीति शास्त्र का दक्ष विद्वान् हो, मंत्रियों से बिना बताये राजनीतिक बातों पर स्वयं विचार न करे।"

"बुद्धिमान् राजा को चाहिए कि वह मंत्रियों, पदाधिकारियों तथा प्रजा और सभा में उपस्थित लोगों के सुविचारित निर्णय को माने और कभी केवल अपने मत से न चले।"

हो वैसा हो करे।' यह भी लिखा है कि 'राजा को अपने कर्मचारियों का नहीं, वरन् प्रजा का पक्ष ग्रहण करना चाहिए, और "जिस अधिकारी पर सौ व्यक्ति आरोप लगायें उसे निकाल देना चाहिए।" अन्त में यह निर्दिष्ट किया गया है कि 'यदि राजा गुण और सदाचार का शत्रु हो और शक्ति से हीन हो तो प्रजा को चाहिए कि उसे राज्य का विनाशक समझ कर त्याग दे।'

पुराने नौकर-शाही ढंग की शासन व्यवस्था को गुप्त राजाओं ने जारी रखा; किन्तु उसका संघटन अधिक विस्तृत बनाया। उच्च पदाधिकारियों को व्यक्त करने के लिए अनेक पद-नामों में 'महा' शब्द जोड़ दिया गया। यथा—महाबलाधिकृत, महाप्रतिहार, महादण्डनायक। गुप्त शासकों ने दो नये पदों-सांधिविग्रहिक (परराष्ट्र मंत्री अर्थात् शान्ति और युद्ध के मंत्री) और कुमारामात्य, की भी स्थापना की। कुमारामात्य उन उच्चाधिकारियों की उपाधि थी जो न केवल सम्राट से वरन् युवराज से भी लगे होते थे और जो कभी-कभी विषयों (जिलों) के अधिकारी के रूप में भी नियुक्त किये जाते थे। महत्वपूर्ण अधिकारियों का दूसरा वर्ग आयुक्त कहलाता था, जो सम्भवतः अशोक के अभिलेखों और कौटिल्य के अर्थशास्त्र में उल्लिखित युक्तों के समान ही था।

इस काल में शासन-व्यवस्था अधिक विस्तृत रूप में संघटित जान पड़ती है। राज्य का विभाजन भुक्ति, विषय, मंडल, भोग और ग्राम[1] के रूप में किया जाता था। वे मोटे रूप में क्रमशः आधुनिक कमिश्नरी, जिला, तहसील, थाना और ग्राम के समान रहे होंगे। भुक्ति का शासक प्रायः उपरिक कहलाता था और उसकी नियुक्ति केन्द्रीय सरकार द्वारा होती थी। वह विषयपतियों की नियुक्ति करता था। गुप्तकालीन कुछ अभिलेखों से इन विषयपतियों के कार्यों पर एक रुचिकर प्रकाश पड़ता है। उनका सदर दफ्तर नगरों में होता था, जहाँ उनके कर्मचारी रहते थे और उनके शासन कार्यों में सहायता करने के लिए चार सदस्यों की एक सलाहकार समिति होती थी। ये सदस्य विभिन्न स्वार्थों के प्रतिनिधि होते थे। यथा—(१) नगरश्रेष्ठिन् (श्रेणी का प्रधान)—नगर का सबसे बड़ा धनी। सम्भवतः यह श्रेणियों का मुख्य रूप से और धनी जनता का सामान्य रूप से प्रतिनिधित्व करता था। (२) सार्थवाह—सम्भवतः यह व्यापारी-समाज का प्रतिनिधि था। (३) प्रथम कुलिक—सम्भवतः यह दस्तकारों का प्रतिनिधित्व करता था। (४) प्रथम कायस्थ (प्रधान लेखक)—यह या तो वर्ग रूप में कायस्थों का प्रतिनिधि हो सकता है अथवा वह उस ढंग का कोई सरकारी अधि-

१. इन इकाइयों के नाम काल और स्थान के अनुसार बदलते रहे हैं।

कारी रहा हो, जैसा कि आजकल चीफ सेक्रेटरी होता है। यह संस्था 'अधिष्ठानाधिकरण' कहलाती थी। किन्तु इसी ढंग की दो और संस्थाओं—विषयाधिकरण और अष्टकुलाधिकरण—का भी उल्लेख पाया जाता है। इनके संघटन के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ ज्ञात नहीं है; किन्तु अष्टकुलाधिकरण में गाँव के मुखिया और कुटुंबिन् लोग होते थे। सम्भवतः यह संस्था गाँवों में वही काम करती थी जो नगर में अधिष्ठानाधिकरण।

परवर्ती काल में सरकार के सूक्ष्म संघटन का अनुमान बहुसंख्यक अधिकारियों के उन नामों की सूची से होता है, जिनका उल्लेख तत्कालीन अभिलेखों में हुआ है। इन नामों से प्रत्येक अवस्था में उनके कार्यों का अनुमान करना सम्भव नहीं हो सका है। धर्मपाल के खालिमपुर वाले ताम्रफलक में भूमिदान संबंधी एक आदेश की सूचना निम्नलिखित अधिकारियों को दी गई है :—

(१) राजन्	—	करद राजा
(२) राजनक्	—	अमीर वर्ग
(३) राजपुत्र	—	राजकुमार
(४) राजामात्य	—	राज्यमंत्री अथवा सलाहकार
(५) सेनापति	—	सेना का संचालक
(६) विषयपति	—	विषय (जिले) का शासक
(७) भोगपति	—	भोग (एक प्रादेशिक इकाई) का शासक
(८) षष्ठाधिकृत	—	राजा को मिलने वाले उत्पादन के छठें भाग का नियंत्रक अथवा निरीक्षक
(९) दंडशक्ति	—	(देखिये नीचे संख्या ४९)
(१०) दंडपाशिक	—	फांसी देनेवाला अथवा पुलिस का अधिकारी
(११) चौरोद्धरणिक	—	चोरों से सम्बन्धित व्यवहार का पुलिस अफसर
(१२) दौःसाधसाधनिक	—	(देखिये नीचे ४५) कुली अथवा ग्राम निरीक्षक
(१३) दूत	—	राजदूत
(१४) खोल	—	जासूस
(१५) गमागमिक	—	पत्र-वाहक

(१६) अभित्वरमाण	—	
(१७) —अ–१७ इ) हस्त्यश्वगो-महिषाजाविकाध्यक्ष	—	हाथी, घोड़े, गाय, भैंस, बकरी और भेड़ों का निरीक्षक
(१८) नौकाध्यक्ष	—	नौसेना का निरीक्षक
(१९) बलाध्यक्ष	—	सेना का निरीक्षक
(२०) तरिक	—	(सम्भवतः घाट, कुञ्जों और जंगल की देख-रेख करने वाला)
(२१) शौल्किक	—	चुंगी अफसर
(२२) गौल्मिक	—	सैनिक अफसर
(२३) तदायुक्तक	—	
(२४) विनियुक्तक	—	
(२५) ज्येष्ठ कायस्थ	—	प्रधान लेखक (क्लर्क अथवा कागज-पत्र रखने वाला)
(२६) महामहत्तर	—	
(२७) महत्तर	—	(गाँव का वृद्ध ?)
(२८) दशग्रामिक	—	सम्भवतः दस गावों के समूह का अधिकारी
(२९) करण	—	संख्यानक

बंगाल के पाल, चन्द्र, वर्मन् और सेन राजाओं के ताम्र शासनों में निम्न-लिखित कुछ अन्य अधिकारियों के भी नाम पाये जाते हैं :—

(३०) राणक	—	(करद शासक ?)
(३१) पुरोहित	—	पुजारी
(३२) प्रमातृ	—	(भूमि मापनेवाला अथवा न्यायाधिकारी)
(३३) महाधर्माध्यक्ष	—	प्रधान न्यायाधिकारी
(३४) महासान्धिविग्रहिक	—	युद्ध और शान्तिमन्त्री
(३५) महासेनापति	—	मुख्य अथवा प्रधान सेनापति
(३६) महामुद्राधिकृत	—	राज मुद्रा रखने वाला अधिकारी
(३७) अन्तरंग	—	राजवैद्य
(३८) बृहद् उपरिक	—	गवर्नर जनरल (?)
(३९) महाक्षपटलिक	—	कागज-पत्र रखने वाला अधिकारी

(४०) महाप्रतिहार	—	प्रतिहारों का मुखिया
(४१) महाभोगिक	—	पाकशाला का प्रधान
(४२) महाव्यूहपति	—	सैनिक व्यूहों का स्वामी
(४३) महापीलुपति	—	हस्तिसेना का प्रधान पीलवान
(४४) महागणस्थ	—	गणनायक
(४५) दौःसाधिक	—	(संभवतः उपर्युक्त संख्या १२ के ही समान)
(४६) दंडनायक	—	(सम्भवतः ऊपर उल्लिखित संख्या ६) मजिस्ट्रेट अथवा सेनानायक
(४७) महासर्वाधिकृत	—	
(४८) कोट्टपाल	—	दुर्ग अथवा कोट का अधिकारी

इसी प्रकार की सूची भारत के अन्य भागों के लेखों और साहित्यिक पुस्तकों में मिलती है। इनमें निम्नलिखित और नाम जोड़े जा सकते हैं।

(४९) दिविरपति	—	लेखकों का प्रधान (?)
(५०) द्रंगिक	—	एक प्रकार का सैनिक अधिकारी
(५१) शासयिता	—	राज्यादेश को कार्यान्वित करने वाला
(५२) राज्याधिकृत	—	प्रधान मंत्री
(५३) तैर्थिक	—	घाटों और पुलों का अधिकारी
(५४) रहस्याधिकृत	—	गुप्तचर विभाग का प्रधान ?
(५५) मर्यादाधुर्य	—	पड़ाव का आयोजक
(५६) राजस्थानीय	—	वाइसराय (?)
(५७) छत्रपाल	—	अधीनस्थ अथवा करद राज्य-स्थित सम्राट् का प्रतिनिधि
(५८) नगराधिप	—	नगर निरीक्षक
(५९) द्वारपति	—	मार्गनिरीक्षक
(६०) कम्पनेश	—	प्रधान सेनापति

यह सूची किसी प्रकार भी पूर्ण नहीं कही जा सकती। उन्हीं अभिलेखों में, जिनमें इन नामों की ये लम्बी सूचियाँ दी गयी हैं, लिखा है—"तथा राजा के अन्य आश्रित जिनका उल्लेख अध्यक्षों की सूची में है और उनका उल्लेख यहाँ नहीं

किया गया है।" इससे जान पड़ता है कि अध्यक्षों की कोई ऐसी सूची होती थी, जैसी कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र में दी गई है। इस प्रकार पुरानी भावनायें अब भी अक्षुण्ण पायी जाती हैं और शासन का पुराना ढाँचा अब भी चला आता है; यद्यपि यह मान्य है कि उसमें समय के साथ परिवर्त्तन और परिवर्द्धन भी हुए।

तत्कालीन प्रचलित शासन-व्यवस्था के स्वरूप को जानने के निमित्त चोलों की शासन प्रणाली का उल्लेख किया जा सकता है क्योंकि उसका विस्तृत परिचय समकालिक साधनों से मिलता है। आरम्भ से ही वह बहुत सुव्य-

चोल प्रशासन वस्थितथी। शासन की इकाई ग्राम-समाज था जिसमें प्रायः एक गांव और कभी २ कई गावों का समूह होता था। इस प्रकार के प्रत्येक समूह की अपनी एक परिषद् होती थी। इस परिषद् की देख-रेख विषयपति के अधीन थी; किन्तु ग्राम शासन के सभी मामलों में यह संस्था प्रायः पूर्णतः सत्तासम्पन्न थी। (इन संस्थाओं की विस्तृत जानकारी के लिए अगला अध्याय देखिये)।

इस प्रकार के अनेक ग्राम-समाज (कुड्रम्) मिलकर जिला (नाडु), और कई जिले मिल कर कमिश्नरी (कोट्टम् अथवा वलनाडु) बनाते थे। कई कमिश्नरियों को मिलाकर, प्रान्त (मण्डल) बनता था। प्रत्येक प्रान्त एक वाइसराय के अधीन होता था जो प्रायः राजपरिवार से चुना जाता था। सारा चोल साम्राज्य ऐसे ६ प्रान्तों में बँटा हुआ था।

विजेता विलियम के सुप्रसिद्ध 'डोमस्डे बुक' से कम से कम एक शताब्दी पूर्व, इस साम्राज्य की सारी खेतिहर भूमि की पैमाइश अत्यन्त सतर्कता के साथ हो चुकी थी और सारे खेतों की जमाबन्दी भी की गयी थी। अभिलेखों से जान पड़ता है कि यह पैमाइश $\frac{1}{52,428}$ वर्ग इञ्च तक शुद्ध थी। सरकारी कर अन्न अथवा स्वर्ण में अथवा दोनों में निश्चित किया जाता था। भूमि पर पड़ने वाला सारा कर-भार, जिसमें सभी प्रकार के रिवाजी कर भी सम्मिलित थे, पूरी उपज का लगभग $\frac{1}{6}$ वाँ भाग होता था।[1]

सम्राट् स्वयं शासन का निरीक्षण करते थे और आदेश देते थे। उन्हें राज-सचिव लिखता था। "जो कोई भी आदेश होता था उसे प्रधान सचिव (ओलई-नायकम्) एवं अन्य सचिवों से स्वीकृत कराना पड़ता था। अन्त में वह पत्र-प्रेषक द्वारा सम्बन्धित व्यक्तियों के पास भेजा जाता था। वहाँ संबंधित वाइसराय, उपरिक अथवा परिषदों द्वारा स्वीकृत होने पर उसकी रजिस्ट्री की जाती थी और तब अक्षपटल के पास भेजी जाती थी।"[2]

---

१. आयंगर कृत एन्टिक्वेन्ट इण्डिया, पृष्ठ १५८ और आगे

२. वही पृष्ठ १७७।

किन्तु उस समय का सामान्य रुख, विशेषतः गुप्त साम्राज्य के ह्रास के पश्चात्, लोक नियन्त्रण को निर्बल कर अनियन्त्रित नौकरशाही अथवा एकतन्त्र की स्थापना की ओर था। कब और किन परिस्थितियों में ऐसी स्थिति आयी, कहना कठिन है। भिन्न-भिन्न युगों और क्षेत्रों में इस स्थिति के अलग-अलग कारण रहे होंगे। किन्तु पतन की इस अवस्था के उत्तरदायी कारणों की कई परिस्थितियों के सम्बन्ध में निम्नलिखित कहा जा सकता है।

पहली बात, उदार धार्मिक सम्प्रदायों के विरुद्ध कट्टर ब्राह्मणवाद को पूर्ण विजय के फलस्वरूप पुरोहित वर्ग और राज्य शक्ति में एक प्रकार का गठबन्धन सा हुआ। पुरोहित अपने धर्म की रक्षा और संरक्षण के लिए राजा के मुखापेक्षी होने लगे और अक्सर उन्होंने शासक के हाथों अपनी आध्यात्मिक शक्ति और सम्मान बेंचकर राज-समर्थन प्राप्त किया। इस प्रकार राजाओं ने नवब्राह्मणवाद के सामाजिक और धार्मिक प्रभुत्व की रक्षा की और आवश्यकता होने पर उसकी रक्षा के लिए शक्ति का भी प्रयोग किया। कृतज्ञता और स्वार्थ ने ब्राह्मण लेखकों और धर्म के रक्षकों को राज्यशक्ति और सम्मान का अतिरंजित वर्णन करने और लोक भावनाओं की निन्दा करने को प्रेरित किया।

दूसरे जाति व्यवस्था की तेजी के साथ बढ़ती हुई कठोरता ने भारतीय समाज को अनेक जटिल विभागों में बांट दिया। इसने जहाँ एक ओर लोगों में स्थानीय सहयोग और संघटन की भावना भरी, वहीं राष्ट्रीय भावना के विकास के विरुद्ध कार्य भी किया। ऊँच-नीच और छूत-अछूत की भावना के कारण, जो कि जाति-विकास में निहित थी, यह सोचना, बेकार था कि लोग राजनीतिक मामलों में संघठित होकर कोई कार्य करेंगे। अस्तु, जनता में व्याप्त फूट ने राजा को मनमानी करने का सुवर्ण सुअवसर दिया।

तीसरे, अनेक धार्मिक सम्प्रदायों का विकास राष्ट्र के विकास के लिए घातक था। देश के सबसे मेधावी व्यक्ति अपनी सारी शक्ति धर्म और दर्शन के अध्ययन में लगाने लगे और राजनीति में केवल निम्नस्तर की बुद्धि के लोगों का ही हाथ रह गया। यह बड़ा महत्त्वपूर्ण है कि इस काल में राजनीति विज्ञान की प्रगति रुक गयी। जो दो एक पुस्तकें लिखीं भी गयीं, वे बिना किसी नवीनता के पुरानी बातों की पुनरावृत्ति मात्र हैं।

इन सब एवं कुछ अन्य कारणों से राजनीतिक विचारों का विकास रुक गया। इसका जो परिणाम हुआ, उस पर आज पछताने से कोई लाभ नहीं। याद रखना होगा कि व्यक्ति की तरह ही राष्ट्र को भी बचपन, जवानी और बुढ़ापे से होकर गुजरना पड़ता है। व्यक्ति की भांति ही राष्ट्र के लिए भी सदा बचपन की चमक

अथवा जवानी की स्फूर्ति बनाये रखना अथवा बुढ़ापे के ह्रास से बचे रहना सम्भव नहीं है। ई० पू० १५०० से हमने भारत के इतिहास का सिंहावलोकन किया है और ऋग्वैदिक कालीन शैशविक आरम्भ से एक शक्तिशाली सभ्यता को विकसित होते देखा है। इस काल के अन्त में राजनीतिक शरीर में बुढ़ापे का चिन्ह और ह्रास दिखाई पड़ता है। पहले जो रचनात्मक शक्ति और वातावरण के अनुकूल बन जाने की उसमें क्षमता थी, उनका स्थान अब सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र के मूर्खतापूर्ण अंधविश्वासों और कट्टर रूढ़िवादिता ने ग्रहण कर लिया। फलस्वरूप पहले तो उसमें स्थिरता की झाईं लगी और फिर ह्रास आरम्भ हो गया। विचित्र बात यह है कि बूढ़े व्यक्ति की भाँति ही इस काल में केवल दर्शन और धर्म में प्राचीन तीव्रता की एक हल्की सी आभा दिखाई पड़ती है। किन्तु जब सारी सभ्यता मृत्यु के कठोर पंजों में पड़ चुकी थी तो किसी भी बात से कोई विशेष लाभ होने वाला नहीं था।

पन्द्रहवाँ अध्याय

स्थानीय स्वायत्त शासन का विकास

यद्यपि इस काल में राजनीतिक सिद्धान्तों में कोई महत्त्वपूर्ण विकास और जनता की शासन-विधि में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं हुए तथापि इस युग की विशेषता ग्राम पंचायतों और जिला संघों के स्थानीय स्वायत्त शासन संस्थाओं के विकास में परिलक्षित होती है। उनके अस्तित्व का पता आरम्भ काल से ही लगता है और उनकी चर्चा पहले भी की जा चुकी है। किन्तु उनके स्वरूप और कार्य पर असंख्य अभिलेखों से जो मुख्यतः दक्षिण भारत से प्राप्त हुए हैं, अद्भुत प्रकाश पड़ता है और उनसे ज्ञान पड़ता है कि भारत की राजनीतिक प्रतिभा ने किस प्रकार उनका विकास किया था। यह विषय अत्यन्त विस्तृत है और उसका पूर्ण विवेचन यहाँ सम्भव नहीं है। अतः यहाँ उसकी चर्चा केवल निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत संक्षेप में की जायगी।

(१) ग्राम पंचायतों के अधिकार और कार्य

(२) ग्राम पंचायतों का संविधान

(३) बड़ी सांघातिक संस्थायें

१. अधिकार और कार्य

ग्राम संस्थाएं अपने सीमित क्षेत्र में राज्य के प्रायः सभी अधिकारों का उपभोग करती थीं और वे शासन संविधान का एक अभिन्न अंग समझी जाती थीं। उनके पास सामूहिक सम्पत्ति होती थी जिसे वे सार्वजनिक हित के लिए बेंच अथवा बंधक रख सकती थीं। उन्हें विस्तृत न्याय-अधिकार प्राप्त थे और वे जघन्य अपराधों को छोड़ अपने गाँव की सीमा के भीतर के सभी मुकदमों को सुन सकती थीं। वे सभी प्रकार के सार्वजनिक दानों का संरक्षक (ट्रस्टी) होती थीं। लोग उनके पास धन, भूमि और अनाज इस शर्त पर जमा करते थे कि उसके सूद से दाता की इच्छानुसार कार्य पूर्ण किया जायगा। वे पंचायतें बाजारों को नियन्त्रित कर साधारण कर लगा तथा सार्वजनिक महत्त्व के उद्देश्य विशेष के निमित्त अतिरिक्त कर उगाह सकती थीं। उन्हें ग्राम-निवासियों से बेगार लेने का भी

अधिकार था। पीने के पानी की व्यवस्था तथा बगीचों, नहरों और यातायात के साधनों की उचित देख-रेख ग्राम पंचायतों के विशेष कर्तव्य थे। अकाल और अभाव के समय ग्राम पंचायतें निर्धन लोगों के कष्ट निवारण के लिए सहायता देती थीं। वे इस कार्य के लिए मन्दिर के खजानों से ऋण लेती थीं और कभी २ अपनी सम्पत्ति भी बेच देती थीं। सरकार इन पंचायतों के भारी उत्तरदायित्व को समझती थी और उन्हें उसने गाँव की वास्तविक स्थिति के अनुसार सरकारी कर के आदायको नियन्त्रित करने का अधिकार दे रखा था। ग्राम पंचायतें मन्दिरों एवं अन्य स्थानीय संस्थाओं की देख-रेख के अपने उत्तरदायित्व को भली प्रकार समझती थीं। शिक्षा तथा दातव्य संस्थाओं की व्यवस्था भी पंचायतें ही करती थीं। प्रायः ऐसी संस्थाएँ स्थानीय मन्दिरों से सम्बद्ध होती थीं। राजेन्द्र चोल के समय के एक अनोखे अभिलेख से पता चलता है कि राजा की सैनिक सफलता के निमित्त एक ग्राम पंचायत ने विभिन्न विषयों की शिक्षा पानेवाले ३४० विद्यार्थियों और १० अध्यापकों के लिए विस्तृत व्यवस्था की थी। ये पंचायतें डाकुओं और शत्रुओं से गाँव की रक्षा करने की भी व्यवस्था रखती थीं। जो स्थानीय लोग उसकी रक्षा में विशेष नाम करते थे, उनके सम्बन्ध में संस्थायें अत्यधिक गर्व का अनुभव करती थीं। विशालयदेव नामक एक व्यक्ति ने एक मन्दिर से मुसलमान आक्रमकों को भगाकर उसे पुनः प्रतिष्ठित किया था। फलतः ग्राम पंचायत ने कृतज्ञता के प्रतीकस्वरूप फसल के समय उसे प्रत्येक व्यक्ति की ओर से निश्चित मात्रा में अन्न दिये जाने की व्यवस्था की थी और उसे मन्दिर के सम्बन्ध में कतिपय विशेष अधिकार प्रदान किये थे। अनेक अभिलेखों में देश के लिए रक्त बहाने वाले व्यक्तियों को कर-मुक्त भूमि देने के उल्लेख पाये जाते हैं। राजराज प्रथम के राज्यकाल के आठवें वर्ष में कलिप्पेरुमाण नामक एक व्यक्ति गाँव की रक्षा करता हुआ मारा गया। इस शहीद को पुण्य प्राप्त कराने के लिए ग्रामपंचायत ने स्थानीय मंदिर में निरन्तर बत्ती जलने की व्यवस्था की थी। एक अभिलेख में ग्राम पंचायत के एक मनोरंजक आदेश का उल्लेख है। उसमें कहा गया है कि उस गाँव के निवासी अपने ग्राम तथा स्थानीय मंदिर और अन्य संस्थाओं के हित के विरुद्ध कोई कार्य न करें और यदि वे वैसा करें तो उन्हें ग्रामद्रोहियों के रूप में दण्ड दिया जायेगा और उन्हें शिव के स्पर्श का अधिकार न होगा।

ग्राम-पंचायतों का ग्राम-भूमि पर पूर्ण अधिकार था। वे ग्राम की आन्तरिक व्यवस्था के मामले में प्रायः पूर्ण स्वतन्त्र थीं और उनके कार्यों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं होता था। साथ ही वे गाँव से मिलने वाले कर की अदायगी के लिये उत्तरदायी समझे जाते थे। एक अभिलेख का ऐसा उदाहरण प्राप्त है, जिसमें

कहा गया है कि सरकारी मालगुजारी के बकाये के कारण ग्राम पंचायत के सदस्य पकड़कर जेल भेज दिये गये थे। राज्याधिकारी समय २ पर उनके हिसाब की जाँच करते थे। कर्त्तव्य की उपेक्षा करने पर इन संस्थाओं पर जुर्माना होता था। एक बार तो मन्दिर के अधिकारियों द्वारा इस बात की शिकायत किये जाने पर कि मन्दिर को मिलनेवाली रकम का कुछ भाग ग्रामपञ्चायतवाले लोग हजम कर जाते हैं, राजा ने वहाँ की ग्रामपञ्चायत पर जुर्माना किया था। दूसरी ओर यदि गाँव की सीमा के किसी मन्दिर के कर्मचारी कोई दुष्कर्म करें तो पञ्चायत भी उसकी ओर राजा का ध्यान आकृष्ट कर सकती थी। पञ्चायत द्वारा पारित कुछ विधानों पर राजा की स्वीकृति आवश्यक थी। इसी प्रकार यदि किसी राज-शासन से किसी ग्राम की स्थिति पर कोई प्रभाव पड़ता हो, तो रजिस्ट्री होने और अक्षपटल के पास भेजे जाने से पूर्व वह ग्राम पञ्चायत के पास स्वीकृति के लिए भेजा जाता था। कभी २ ग्राम पञ्चायतों के सदस्य सार्वजनिक कार्यों के निमित्त राजा से मिलने जाते थे। राजा और ग्राम पञ्चायतों के बीच सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध के अनेक उदाहरण पाये जाते हैं।

२. संविधान

सभा अथवा महासभा ग्राम पञ्चायतों की सबसे बड़ी शासन संस्था थी और ग्राम से सम्बद्ध सभी बातों में पूर्ण अधिकार रखती थी। सम्भवतः काल और स्थान के अनुसार इस संस्था के संविधान में अन्तर होता रहता था। कहीं-कहीं गाँव के सभी बालिग पुरुष सभा के सदस्य होते थे और कहीं वह कुछ चुने हुए लोगों की ही सभा होती थी। पिछली अवस्था में सभा की सदस्यता की योग्यता के नियम बने हुए थे। सभा के सदस्यों की संख्या भी एकसमान थी। एक जगह ४०० नागरिकों के बीच ३०० सदस्यों की सभा थी। एक अन्य स्थान में सभा के सदस्यों की संख्या ५१२ थी; पर कभी-कभी वह १००० जैसी बड़ी संख्या तक पहुँच जाती थी। यदि सब में नहीं तो अधिकांश अवस्थाओं में गाँव का एक मुखिया होता था। सभा-स्थल सम्बन्धी ज्ञान से अनुमान किया जाता है कि ग्राम पञ्चायतों की हैसियत में काफी अन्तर था। संभवतः यह अन्तर गाँव के महत्व के अनुसार ही होता था। कुछ सभाओं के सम्बन्ध में ज्ञात होता है कि उनकी बैठकों के लिए राजा की ओर से भवन बनवाये गये थे; किन्तु प्रायः उनकी बैठक स्थानीय मन्दिरों में हुआ करती थी। कुछ पञ्चायतों की बैठक के लिये तो इमली के पेड़ की छाया ही पर्याप्त समझी जाती थी।

यद्यपि ग्राम पंचायतों में सभा ही सर्वोच्च अधिकारी संस्था थी, शासन का विस्तृत और ब्यौरेवार कार्य अधिकांश अवस्थाओं में एक या

समितियाँ

अधिक समितियों द्वारा होता था। अत्यन्त महत्वपूर्ण समितियों की निम्नलिखित सूची से उनका कार्य और महत्व प्रकट होता है :—

(१) वर्ष के लिए निर्वाचित महत्तर लोग

(२) दान के लिए निर्वाचित महत्तर लोग

(३) तड़ाग के लिए निर्वाचित महत्तर लोग

(४) उपवनों के लिए निर्वाचित महत्तर लोग

(५) न्याय-निरीक्षण के लिए निर्वाचित महत्तर लोग

(६) सुवर्ण के लिए निर्वाचित महत्तर लोग

(७) ग्रामरक्षा के लिए निर्वाचित महत्तर लोग

(८) खेतों के निरीक्षण के लिए निर्वाचित महत्तर लोग

(९) मन्दिरों के प्रबन्ध के लिए निर्वाचित महत्तर लोग

(१०) सन्यासियों की देख रेख के लिए निर्वाचित महत्तर लोग

'प्रथम समिति' वार्षिक निरीक्षक समिति भी कहलाती थी। सम्भवतः वह सामान्य तथा उन फुटकर कार्यों को देखती थी जो अन्य समितियों के अन्तर्गत, जिनका कार्य और कर्त्तव्य उनके नामों से स्पष्ट है, नहीं आते थे। युवा और वृद्ध दोनों इन समितियों में होते थे। एक ऐसा उदाहरण भी प्राप्त है, जहां हम न्याय समिति में एक स्त्री को सदस्य रूप में पाते हैं।

इन समितियों के संघटन का अत्यन्त मनोरंजक और विस्तृत विवरण एक उदाहरण विशेष में पाया गया है। सम्बन्धित गाँव बीस वार्डों में विभक्त था। प्रत्येक वार्ड के निवासी एकत्र होकर इन समितियों के योग्य व्यक्तियों की सूची तैयार करते थे। केवल ३५ से ७० वर्ष की अवस्था वाले तथा कतिपय सम्पत्ति और शिक्षा-योग्यता रखने वाले व्यक्ति ही निर्वाचन के योग्य समझे जाते थे। जो किसी समिति में रह चुके हों और उन्होंने अपना हिसाब-किताब न दिया हो, तथा जो पंचमहापापों में किसी के अपराधी हों, वे तथा उनके सगे संबंधी इस सूची से अलग कर दिये जाते थे। इसी प्रकार अनेक अपराधों के अपराधियों का विस्तृत विवरण मिलता है और वे सभी सदस्यता के अयोग्य समझे जाते थे। इस प्रकार समिति में काम करने योग्य छांटे हुए व्यक्तियों में से प्रत्येक वार्ड के लिये एक-एक व्यक्ति चोटियों द्वारा निर्वाचित होता था और यथासम्भव ईमानदारी सम्बन्धी सभी एहतियात इस निर्वाचन में बरते जाते थे। इस संबंध में जो लम्बे

और अत्यन्त सूक्ष्म नियम दिये गये हैं, वे साधारण जनता की राजनीतिक प्रशिक्षा के अत्यन्त मनोरंजक उदाहरण हैं। इस प्रकार चुने हुए ३० व्यक्तियों में से योग्यता और पूर्व अनुभव के आधार पर विभिन्न समितियों के सदस्यों का निर्वाचन होता था। समितियों के निर्वाचन के लिए जो व्यापक नियम दिये गये हैं, उनसे ग्राम पंचायतों के अति-लोकतांत्रिक स्वरूप का भान होता है। यह स्पष्ट है कि ग्राम पंचायतों का काम मुख्यतः इन्हीं समितियों द्वारा होता था और निस्संदेह यही कारण है कि अपने में भ्रष्टाचार रोकने के लिए इतनी कड़ी एहतियात बरती जाती थी। लोकतान्त्रिक विधान की भावना और शक्ति को हानि पहुँचाये बिना उनकी स्वाभाविक बुराइयों को दूर करने का प्रयत्न किया जाता था। इस संबंध में जो नियम बनाये गये थे उन्हें दूर-दर्शिता और बुद्धिमानी से परिपूर्ण, अनोखे तथा अद्वितीय नियम कहना चाहिए। उनमें एक नियम यह भी था कि जो पिछले तीन वर्षों से इनमें से किसी समिति में न रहा हो, वही उसके लिये चुना जाय। निस्संदेह इसका उद्देश्य प्रत्येक ग्रामीण को समितियों में काम करने का उचित अवसर देना था ताकि ग्राम पंचायत की सदस्यता के उत्तरदायित्व को संभालने के लिए उसकी आवश्यक राजनीतिक प्रशिक्षा हो सके। सदस्यों के चुनने के ढंग की तुलना, जिसमें भ्रष्टाचार और व्यक्तिगत प्रभाव को सतर्कतापूर्वक दूर रखने का यथा-साध्यपूर्ण प्रयत्न किया जाता था, उन बातों से, जो प्राचीन एवं अर्वाचीन लोक-तान्त्रिक राज्यों के सम्बन्ध में हमें ज्ञात हैं, अच्छी तरह की जा सकती है।

३. बड़ी सांघातिक संस्थायें

ग्राम पंचायतों के अतिरिक्त दक्षिण भारत के निवासियों की सहयोग-भावना अनेक स्थलों पर विस्तृत क्षेत्रों के निवासियों के संयुक्त कार्यों के रूप में भी झलकती है। इस सम्बन्ध में एक राजप्रासाद में हुई आठ जिलों के १६ सदस्यों की बड़ी जिला महासभा का उल्लेख किया जा सकता है। एक अन्य स्थान में एक जिले के निवासियों ने दो आदमियों को इस बात का ठेका दिया कि वे उस जिले में आने वाले यान पर दलाली वसूल करें और उससे होनेवाली आय में से प्रति वर्ष निश्चित मात्रा में स्थानीय मंदिर को दान दिया करें। उस जिले के ५०० सच्चरित्र व्यक्ति इस व्यवस्था की देख-रेख के लिए नियुक्त किये गये। एक पांड्य अभिलेख से ज्ञात होता है कि ९६ जिलों के अठारह उपविभागों के निवासियों ने मिलकर कतिपय बिसातखाने की चीजों से होनेवाली आय को मन्दिर की मरम्मत के निमित्त अलग कर देने का निश्चय किया था। एक चोल अभिलेख से पता लगता है कि एक जिले के निवासियों ने एक मन्दिर विशेष की पूजा-व्यवस्था के निमित्त अपने ऊपर एक विशेष कर लगाने का निश्चय किया

था। एक दूसरा उदाहरण है जिसमें एक जिले के निवासियों ने एक नदी पर बाँध बाँधने के निमित्त प्रत्येक गाँव के ऊपर एक निश्चित चन्दा लगाया था।

ऐसे भी अनेक उदाहरण लिखित हैं जिनसे ज्ञात होता है कि पूरे जिले के लोग मुकदमों का निर्णय करने के लिए एकत्र होते थे। ऐसी न्याय-समितियों की भी बात सुनाई पड़ती है जिसमें 'चारों दिशाओं, १८ जिलों तथा विभिन्न देशों के लोग' अथवा 'जिलों के किसान और चारों दिशाओं के डेढ़ हजार आदमी' एकत्र होते थे। इस वाक्य तथा 'आठ जिलों के १६ आदमी' और 'जिले के ५०० सच्चरित्र आदमी' आदि उक्तियों से स्पष्ट जान पड़ता है कि प्रतिनिधित्व का सिद्धान्त लोग पूर्णतः समझते थे। एक स्थान में तो स्पष्टतः विभिन्न क्षेत्रों के ३२००० प्रतिनिधियों का उल्लेख है। इन बातों को जिला सभा और गाँवों के मुखियों आदि के उल्लेख के साथ यदि देखें तो इस बात में कोई संदेह नहीं रह जाता कि कुछ जगहों में जिलों की निश्चित और स्थायी संस्थायें थीं। ग्राम और जिले की संस्थाओं के बीच तहसील की भी संस्था का उल्लेख पाया जाता है।

जिले से बड़े क्षेत्र के भी सांघातिक संघटन थे। राजराज चोल के एक अभिलेख में १२ जिलों की महासभा का उल्लेख है। १२ वीं शताब्दी ई० के त्रिवांकुर के एक लेख में सम्पूर्ण राज्य के ६०० प्रतिनिधियों की संस्था का उल्लेख है।

इस प्रकार हमें एक छोर पर ग्राम पंचायतें और दूसरी छोर पर समस्त राज्य परिषद् के रूप में नियमित क्रमबद्ध स्वशासित संस्थायें मिलती हैं। प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त से ही यह संभव हो सका। रोम और यूनान सहित कोई भी प्राचीन राष्ट्र इस प्रकार के किसी राजनीतिक स्वरूप की कल्पना न कर सका, जो प्रादेशिक विस्तार के साथ-साथ लोकतन्त्र के सिद्धान्त का भी समन्वय कर सके। यह भारत की राजनीतिक सूझ थी, जिसने राजनीति की इस नयी व्यवस्था का आविष्कार किया और जिसने परवर्ती काल में दूसरे देशों में आश्चर्यजनक प्रभाव उपस्थित किया।

सोलहवाँ अध्याय

धर्म

१. बौद्ध धर्म

पिछले एक अध्याय में बौद्ध धर्म के उत्थान और विकास तथा उसके विश्व-धर्म के रूप में विस्तार की चर्चा की गयी है। इस देश में उसके ह्रास और पतन की चर्चा यहाँ की जायगी। किसी भी महत्त्वपूर्ण धार्मिक आन्दोलन के लिए किसी प्रकार की निश्चित तिथि निर्धारित कर सकना सदैव कठिन है। इसलिए मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि गुप्तों के प्रभुत्व का काल बौद्धधर्म के उत्थान और पतन की विभाजन रेखा थी।

गुप्त सम्राट ब्राह्मण धर्म के अनुयायी थे। यद्यपि बौद्धधर्म के प्रति उनके मन में कोई द्रोह न था तथापि वे मौर्य अथवा कुषाण शासकों की तरह उस धर्म के विशेष संरक्षक भी न थे। धार्मिक दृष्टिकोण के परिवर्तन का संकेत गुप्त शासकों के अभिलेखों के इस कथन में मिलता है कि समुद्रगुप्त ने चिरोत्सन्न अश्वमेध यज्ञ को फिर से आरम्भ किया। यज्ञों के पुनरुज्जीवन के साथ २ ब्राह्मण देवी-देवताओं की उपासना भी होने लगी। गुप्त सम्राटों के उत्तर भारत में राजनीतिक प्रभुत्व के युग-चौथी और पाँचवीं शताब्दियों, में ब्राह्मण धर्म का निश्चित रूप से प्रबल पुनरुत्थान और बौद्ध धर्म का ह्रास होने लगा। यह परिवर्तन इस बात से स्पष्ट प्रकट होता है कि जहाँ गुप्तों से पूर्व के असंख्य अभिलेखों में एक-आध को छोड़कर प्रायः सभी में बौद्ध और जैन आदि ब्राह्मणेतर धर्मों की चर्चा हुई है वहीं गुप्तकाल के अधिकांश अभिलेखों में केवल ब्राह्मण धर्म की चर्चा है। पाँचवीं शताब्दी के अन्त में हूणों के आक्रमण ने उत्तर-पश्चिमी भारत में बौद्धधर्म को विनाशकारी धक्का दिया। हूणों ने बौद्ध मन्दिरों और विहारों को नष्ट और बौद्ध भिक्षुओं को कत्ल कर डाला। अब बौद्धधर्म की आत्मा और शक्ति विहार-व्यवस्था में ही रह गई थी और विहारों के नष्ट करने का मतलब धर्म को नष्ट करना था। विहार में मानों वह दुर्गबन्दी थी जिसने आसपास के क्षेत्र में बौद्धधर्म का प्रभाव बना रखा था। विहारों के नष्ट होते ही पास के क्षेत्रों से बौद्धधर्म भी लुप्त हो गया। अपनी केन्द्रीय स्थिति, विशालता और भव्यता के कारण विहार सदैव ही विधर्मियों के

आक्रमण के लक्ष्य हुये। हूणों के आक्रमण की भाँति ही पीछे हुए इस्लामी आक्रमण ने भी बौद्ध धर्म का एकदम ही विनाश कर दिया। अन्य धर्मों पर उनके आक्रमण का इतना गहरा प्रभाव नहीं पड़ा।

हूण आक्रमण के प्रभाव का अनुमान ह्वेनसांग के वृत्तान्त से किया जा सकता है। उसे उत्तर-पश्चिमी भारत में बौद्ध धर्म के जीवन का नामोनिशान भी नहीं मिला। जब ह्वेनसांग इस देश में आया (६२९–६४५ ई०) हजारों मन्दिरों और विहारों के निर्जन और ध्वस्त खंडहर अपने बीते वैभव की कथा कह रहे थे। हर्षवर्द्धन के संरक्षण से बौद्धधर्म को, जो उत्तर भारत में मृतप्राय हो रहा था, एक अल्पकालिक नवजीवन और शक्ति मिली। यद्यपि चीनी यात्री ने स्पष्ट स्वीकार नहीं किया है तथापि उसके वर्णनों से यह जान पड़ता है कि बंगाल और उत्तर प्रदेश को छोड़कर अन्यत्र बौद्धधर्म का शक्तिशाली प्रभाव लुप्त हो चुका था। देश के अन्य भागों में वह जैनधर्म और नवजागृत ब्राह्मण अथवा हिन्दू धर्म के साथ जीवन-मरण का संघर्ष कर रहा था।

बंगाल और बिहार के पाल सम्राटों के रूप में बौद्धधर्म को अन्तिम सुदृढ़ आधार-स्तम्भ मिला। जिन चार शताब्दियों तक यह वंश शक्तिशाली रहा, बौद्ध-धर्म को उसका बेहिचक संरक्षण प्राप्त रहा। बोधगया, नालन्दा, उदंतपुरी (बिहार) और विक्रमशिला के विहारों ने प्राचीन परम्परा को बनाये रखा। पाल राज्य के बौद्ध उपदेशकों ने तिब्बत में इस धर्म का प्रचार किया, जहाँ वह आज भी अबाध शक्ति के साथ प्रचलित है।

१२ वीं शताब्दी के समाप्त होने से पूर्व ही इस अन्तिम गढ़ से भी बौद्ध धर्म निष्कासित हो गया। सेनों ने उस शताब्दी के मध्य में बंगाल को जीत लिया और वहाँ हिन्दू धर्म को पूर्णरूप से प्रतिष्ठित किया। फलतः बौद्धधर्म केवल बिहार की सीमा में ही बच रहा; और जब ११९९ ई० में मुसलमानों ने उस प्रान्त को जीता तो बौद्धधर्म को अपने जन्म-स्थान में भी शरण लेने की कोई जगह न बची। सम्भव है, इक्के-दुक्के अथवा छोटे-मोटे सम्प्रदाय प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से अगली शताब्दियों में भी इस धर्म को मानते रहे हों और संभवतः आज भी वे हैं, पर समाज की शक्ति के रूप में १२०० ई० में बौद्धधर्म का लोप हो गया और उसकी शक्ति फिर लौट न सकी।

अनेक परिस्थितियों के कारण भारत से बौद्धधर्म का लोप हुआ। राज-संरक्षण के अभाव और विदेशी आक्रमण, जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है, इसके शक्तिशाली कारण थे। इनके अतिरिक्त उसके विनाश के कारण थे—इसमें अनेक सम्प्रदायों के उठ खड़े होने से उत्पन्न आन्तरिक कलह, बौद्धसंघ में भ्रष्ट-

मार्गी क्रियाओं के प्रवेश के फलस्वरूप आध्यात्मिक ह्रास और नवशक्ति के साथ ब्राह्मण हिन्दूवाद का पुनर्जागरण। ब्राह्मण धर्म ने अपनी शक्ति का जोरदार प्रदर्शन किया और बौद्धधर्म की त्रुटियों पर संहारक आघात किया। हिन्दू धर्म और उसके पुराने शक्तिशाली विरोधी धर्म के बीच के संघर्ष में कुमारिल भट्ट, (७०० ई०) और शंकराचार्य (७८२–८२० ई०) के दो नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इन लोगों ने अपने विरोधियों के साथ अनेक सफल शास्त्रार्थ किये, जिनकी स्मृतियाँ आज भी दंत-कथाओं में सुरक्षित हैं। इन लोगों के शास्त्रार्थ की शर्त यह होती थी कि जो हारे वह या तो अपने विरोधी के धर्म को स्वीकार करे या अपनी जान से हाथ धोये और यदि उसके पास किसी धार्मिक संस्था की सम्पत्ति हो तो उसे उस विरोधी को सौंप दे। इन दंत-कथाओं के सम्बन्ध में हम चाहे जो भी सोचें, इसमें तो संदेह ही नहीं कि बौद्धधर्म का ह्रास और हिन्दू धर्म की सफलता का कारण बहुत कुछ हिन्दू धर्म की बौद्धिक महत्ता है। उसमें उन्हें शीघ्रता और सरलता के साथ जो सफलता मिली, उसके कारण बहुत कुछ बौद्धधर्म के विभिन्न सम्प्रदायों के हीन और गलित आचार और व्यवहार थे।

हम यह कहने के आदी से हैं कि बौद्धधर्म अपने जन्म-स्थान से लुप्त हो गया। वस्तुतः इस कथन को सही कहना कठिन है। सच बात तो यह है कि बौद्धधर्म को हिन्दू धर्म के नाम से पुकारे जाने वाले नवब्राह्मण धर्म ने आत्मसात् कर लिया। संस्कृत भाषा और मूर्तिपूजा को अपनाकर तथा विश्वास और भक्ति को धर्म में महत्त्व देकर, महायानवाद बहुत कुछ ब्राह्मण देववाद के निकट पहुँच गया था। पीछे चलकर सम्मतिय आदि बौद्ध सम्प्रदायों उसके और भी निकट आ गये। दूसरी ओर हिन्दुओं ने बौद्ध धर्म के मुख्य उपदेशों को ग्रहण कर लिया। बौद्ध और जैन धर्म के अहिंसा-सिद्धान्त अर्थात् पशुओं के अवध ने उसपर इतना गहरा प्रभाव डाला कि आज भी भारत के अधिकांश भाग के उच्च हिन्दू पूर्णतः शाकाहारी हैं। सर्वोपरि बुद्ध हिन्दू देव-परिवार में सम्मिलित कर लिये गये और वे आज भी प्रत्येक कट्टर और हिन्दू धार्मिक द्वारा विष्णु के दश अवतारों में गिने जाते हैं। आज भी बौद्धधर्म को आत्मसात् करने की प्रक्रिया देश भर के मन्दिरों में परिलक्षित होती है, जहाँ बौद्ध मूर्तियाँ हिन्दू देवताओं के रूप में धार्मिक हिन्दुओं द्वारा पूजी जाती हैं।

इस प्रकार जहाँ आन्तरिक कारणों से दोनों सम्प्रदायों का सम्मिलन हुआ, वहीं बाह्य कारणों से, जिनकी चर्चा ऊपर हुई है, बौद्ध सम्प्रदायवाद की शक्ति की रीढ़ टूट गई। फलतः दोनों एक दूसरे में घुल मिल गये। विदेशी शत्रुओं ने बौद्ध विहारों को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला, भिक्षु इधर-उधर बिखर गये, और बौद्ध गृहस्थों

की बहुत बड़ी संख्या चुपचाप हिन्दू धर्म-क्षेत्र में घुस गई। आज यही आपसी सम्मिलन हमारी आँखों के सामने नेपाल में भी हो रहा है।

२. जैन

बौद्धधर्म के विपरीत जैनधर्म ने इस विवेच्य काल के पूर्वार्द्ध में काफी उन्नति की। पूर्वी चालुक्य और राष्ट्रकूटों तथा गंगों और कदम्बों ने जैन धर्म को संरक्षण दिया और उनके राज्य-कालों में दक्षिण में इसकी विशेष उन्नति हुई। किन्तु ७वीं शताब्दी से शैव और वैष्णव सन्तों के प्रभाव के कारण दक्षिण भारत में जैनधर्म का ह्रास होने लगा। परवर्ती चालुक्यों के राज्य-काल में इस धर्म का पूर्व विजयी स्वरूप समाप्त हो गया और १२ वीं शताब्दी तक दक्षिणापथ में भी शैव और वैष्णव धर्मों ने बहुत अंशों तक उसका स्थान ग्रहण कर लिया। उत्तरवर्ती चालुक्यों से राज्य छीननेवाला कलचुरि नरेश बिज्जल जैन था, किन्तु लिंगायत सम्प्रदाय (शिव की लिंग रूप में पूजा करनेवाला संप्रदाय) की क्रान्ति के फल-स्वरूप वह मारा गया। होयसल भी जैन थे। यद्यपि पीछे उन्होंने भी वैष्णवधर्म ग्रहण कर लिया, फिर भी वे उसकी रक्षा करते रहे। किन्तु चोल और पाण्ड्य धर्मान्ध शैव थे। कहा जाता है कि उन्होंने जैनों का कठोर दमन किया। कहा जाता है, पांड्य नरेश सुन्दर ने ८००० जैनियों को मरवा डाला। मदुरा के विशाल मन्दिर की दीवारों पर उनकी यातनाओं के चित्र अंकित हैं। सौभाग्य से इस प्रकार के दमन की कहानियाँ बहुत ही कम मिलती हैं। उनके विपरीत पारस्परिक सहिष्णुता, सहानुभूति और समन्वय के ही उदाहरण अधिक मिलते हैं।

बौद्धधर्म की भांति ही हिन्दुओं के आत्मसात्करण की पद्धति के कारण जैनियों को भी बड़ी हानि हुई। आज भी हिन्दूकरण की प्रक्रिया जारी है, फिर भी बौद्धों की तरह जैन अपनी जन्म-भूमि से खतम नहीं हो गये। आज भी भारत में लगभग १४ लाख जैन हैं। इस अन्तर का मुख्य कारण यह है कि जैनों के गढ़-गुजरात और राजपूताना, प्रारम्भिक मुस्लिम आक्रामकों के मूर्ति-विध्वंसक ज्वाला में कम झुलसे।

३. शैव धर्म

इन उदार धर्मों पर विजयी होनेवाला हिन्दू धर्म, पूर्व-बुद्धकालीन ब्राह्मण धर्म से तत्वतः भिन्न था। निस्संदेह सैद्धान्तिक रूप से यह नव-धर्म प्राचीन वैदिक प्रणाली और विश्वासों पर ही आश्रित था तथापि उसकी अपनी विशेषताएँ थीं, जो मूलतः एकदम भिन्न थीं। उसने देश में बहुत दिनों तक प्रभावशाली बने रहनेवाले बौद्ध आदि उदार धर्मों की भावनाओं को भी काफी ग्रहण किया था।

नये धर्म की मुख्य विशेषता यह थी कि उसमें वैष्णव और शैव सम्प्रदायों के रूप में देववादी प्रणाली को प्रधानता दी। यद्यपि अब भी वैदिक साहित्य का पाठ होता था और वैदिक यज्ञ भूले न गये थे पर नया धर्म अपनी प्रेरणा के निमित्त एक नये साहित्य—मुख्यतः पुराण और महाकाव्यों, पर आश्रित था और उसका पूजा-विधान भी एकदम भिन्न था। महान् देवता के रूप में विष्णु, शिव अथवा शक्ति के प्रति विश्वास, देव-समूहों के प्रति उस वैदिक विश्वास से बिल्कुल भिन्न था जिसमें कोई भी देवता एक दूसरे से बढ़-चढ़कर नहीं समझा जाता था। वैदिक धर्म की सर्वमुख्य भावना 'श्रद्धा' और उपनिषदों के तत्वज्ञान का स्थान इस धर्म में भक्ति ने ले लिया। दोनों के पूजा-विधान में भी महान् अन्तर था। देवताओं को आह्वान कर वरदान प्राप्त करने के निमित्त विशाल खुले हुए यज्ञ अथवा उस निमित्त बने हुए यज्ञकुण्डों पर यज्ञ करने की जगह अब विष्णु अथवा शिव की व्यक्तिगत पूजा होने लगी और उनके अपने अलग २ मन्दिर बनने लगे, जो भव्यता और विशालता में जैनों और बौद्धों के पवित्र भवनों से बढ़चढ़ कर थे।

किन्तु नये धर्म की सर्वमुख्य विशेषता शैव और वैष्णव संप्रदाय जैसे अनेक उल्लेखनीय सम्प्रदायों का जन्म और विकास है। शैव और वैष्णव धर्म के जन्म की चर्चा पहले के एक अध्याय में की जा चुकी है।

ऐसा जान पड़ता है कि आरम्भ में साम्प्रदायिक भावना से मुक्त शिव की उपासना सामान्य रूप से होती थी। शशांक और हर्षवर्द्धन सदृश महाराज, कालिदास और भवभूति सदृश महाकवि, सुबन्धु और बाणभट्ट सदृश महान् गद्य-लेखक शिव के महान् भक्त थे। किन्तु सम्भवतः वे किसी सम्प्रदाय विशेष को मानते न थे। यही बात अधिकांश जनता के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। ६ठीं शताब्दी तक शैव धर्म भारत के दक्षिणी छोर तक फैल गया था और चम्पा तथा कम्बोडिया का भी प्रमुख धर्म बन गया।

किन्तु साथ ही शैव सम्प्रदाय भी तेजी के साथ विकसित हुए। सातवीं शताब्दी में चीनी यात्री ह्वेनसांग को पश्चिम में बलूचिस्तान तक अनेक सिद्ध पाशुपत मिले थे। उस समय भी बनारस शैवों का एक गढ़ था। यहाँ अनेक मन्दिर थे और महेश्वर की १०० फुट ऊँची एक ताम्रमूर्ति थी। महेश्वर के अनुयायियों के सम्बन्ध में चीनी यात्री ने लिखा है कि "कुछ लोग सिर घुटाये रहते हैं और कुछ सिर पर जटायें बाँधते हैं तथा विवस्त्र (नंगे) घूमते हैं। वे अपने शरीर पर भस्म लगाये रहते हैं और नाना प्रकार के त्याग और तपस्या द्वारा जीवन-मरण से मुक्त होने की चेष्टा करते हैं।"

विभिन्न शैव सम्प्रदायों के सम्बन्ध में शैव साहित्य से जो कुछ ज्ञात होता है, उसी के अनुरूप ही यह कथन भी है।

पाशुपत सम्प्रदाय के अनुसार सत्य की प्राप्ति और ज्ञान और कर्म की उच्च शक्ति तक पहुँचने के निमित्त अन्य बातों के अतिरिक्त निम्नलिखित कार्य आवश्यक थे।

(१) शरीर में भस्म मलना और भस्म पर ही सोना;

(२) गले और ओठों को जोरों के साथ खींच कर 'हा-हा' का स्वर-नाद करना;

(३) हुडुक्कार (जीभ को तालू से लगा कर बैल की बोली के समान पवित्र नाद करना);

(४) लंगड़े-लूले की तरह चलना;

(५) ऐसे काम करना जिसकी दूसरे भर्त्सना करें और ऐसा जान पड़े कि अच्छे बुरे का ज्ञान कुछ रह ही नहीं गया है।

इन पागलपने और जंगली तरीकों के पीछे जो दार्शनिकता, तत्त्व-विज्ञान, और मनोविज्ञान निहित हैं, उन्हें सारी विचित्रताओं के बावजूद किसी प्रकार भी महत्त्व-हीन नहीं कहा जा सकता।

शैव सिद्धान्त

शैव सिद्धान्त सुगम और नरम सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है। वह सन्ध्या-पूजा, जप-यज्ञ, योग-त्याग, ध्यान-समाधि, कष्ट-त्याग एवं आत्म-शुद्धि करने वाले यज्ञों तथा विभिन्न प्रकार की लिंगोपासना पर जोर देता है।

कापाल और कालामुख

दो अन्य शैव सम्प्रदायों—कापाल और कालामुखों, के सिद्धान्त और व्यवहार देखने में अत्यन्त घृणित हैं। कुछ तो ऐसे हैं कि भद्रता की दृष्टि से आधुनिक किसी पुस्तक में उनकी चर्चा भी नहीं की जा सकती। उनके कुछ अन्य कार्य हैं (१) कपाल में भोजन करना (२) शव की राख शरीर में मलना, (३) भस्म खाना (४) गदा धारण करना (५) शराब का बर्तन रखना (६) और उसमें बैठे हुए देवता की उपासना करना। ये भयंकर क्रियाएं रुद्र शिव के मूल भयंकर और जंगली स्वरूप पर प्रकाश डालती हैं अथवा उसके मुख्य अनुयायियों के वर्ग के मानसिक एवं आचारावस्था को व्यक्त करती हैं।

काश्मीर का शैव सम्प्रदाय

सर रा० गो० भण्डारकर ने ठीक ही लिखा है कि "मानव बुद्धि की इस नैतिक हीनता की भयंकर कल्पनाओं से हटकर काश्मीर के शैव सम्प्रदाय की चर्चा करना कहीं अधिक सुखद है, जो कि अधिक मानवतापूर्ण और बुद्धिवादी है।" काश्मीरी शैवधर्म के दो सम्प्रदाय नवीं और दसवीं शताब्दी ई० में हुए। इन सम्प्रदायों के तत्त्व-विज्ञान सम्बन्धी धारणाओं की विशेषता उनकी दृढ़ मौलिकता है।

उनके धार्मिक कर्म स्वस्थ और आध्यात्मिकता की उन्नति में सहायक जान पड़ते हैं। ऊपर वर्णित सम्प्रदायों के जंगली और पागलपन से परिपूर्ण अनुशासनों से मुक्त रहकर उसने शैव धर्म को अन्य धर्मों के बीच आदरपूर्ण स्थान प्रदान किया है। शैव धर्म के इस परिवर्तित स्वरूप का कारण बहुत कुछ महान् दार्शनिक शंकराचार्य (७८८—८२० ई०) का प्रभाव जान पड़ता है।

दक्षिण भारत में शैव सम्प्रदाय

पूर्णतः भक्ति के ढंग का शैव धर्म ५०० ई० से दक्षिण भारत में फैला। नायनार कहलाने वाले अनेक संतों ने भक्तिपूर्ण गीतों में इस धर्म के उच्च आध्यात्मिक भावों को व्यक्त किया है और शैवधर्म को शक्तिशाली बनाया है। इन सन्तों की संख्या सामान्यतः ६३ बतायी जाती है और उनके गीत आज भी सर्वत्र पढ़े और आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं। शैवधर्म की सांप्रदायिक कट्टरता का अनुमान तिरुमूलर के इस कथन से व्यक्त होता है कि "१००० मन्दिरों के दान अथवा १ करोड़ वेदज्ञ ब्राह्मणों के भोजन कराने से कहीं अधिक फलदायक एक शिवज्ञानी को एक बार भोजन कराना है।" किन्तु इसके साथ ही वह यह भी मानते हैं कि "आगम (शैव सम्प्रदाय का धार्मिक साहित्य) वैसे ही ईश्वर के वाक्य हैं जैसे वेद।"

दक्षिण भारत के शैव सम्प्रदायों में वीर शैव अथवा लिंगायत सम्प्रदाय अधिक उल्लेखनीय है। दर्शन पर शंकर और रामानुज दोनों का प्रभाव पड़ा है। उन्होंने लिंग और नंदी दोनों को विशेष महत्त्व दिया। इस सम्प्रदाय को यदि कलचुरि नरेश बिज्जल के प्रधान मंत्री बसव ने स्थापित नहीं किया तो उसने उसे महत्त्व तो अवश्य ही प्रदान किया। बसव ने अपने राजा से झगड़कर उसे अपने एक शिष्य द्वारा मरवा डाला। बसव और उसके भतीजे चन्द बसव के नेतृत्व में यह सम्प्रदाय दृढ़ रूप से स्थिर हो गया। इस सम्प्रदाय में भक्ति, सत्य, सदाचार और स्वच्छता पर बहुत जोर दिया गया है। इसकी दूसरी विशेषता उसकी ब्राह्मण-विरोधी भावना है। कुछ लोगों का कहना है कि ब्राह्मणों की बढ़ती हुई प्रतिष्ठा और शक्ति के प्रति द्वेषभाव के कारण इस सम्प्रदाय का विकास ब्राह्मणेतर हिन्दुओं में हुआ। यह मजे की बात है कि लिंगायत सम्प्रदाय के लोग अनेक ब्राह्मण व्यवहारों के विरुद्ध आचरण करते हैं। उनके यहाँ विधवाओं का पुनर्विवाह वैध है, वे यज्ञोपवीत के स्थान पर रेशम के डोरे को लिंग में बाँध कर गले में लटकाते हैं; और गायत्री मंत्र की जगह शिवस्तोत्र का जाप करते हैं। ब्राह्मण विरोधी भावना कुछ अन्य शैव सम्प्रदायों में भी पायी जाती है यथा—कालामुखों का कहना है कि किसी जाति का भी व्यक्ति दीक्षामात्र से ही ब्राह्मण हो सकता है।

राष्ट्रकूटों और चोल नरेशों के संरक्षण में शैव धर्म दक्षिण में अत्यन्त लोकप्रिय हुआ और उनके तत्कालीन वैभव के उदाहरण विशाल मन्दिर और मठ हैं। यहाँ तक कि बंगाल के बौद्ध पाल राजाओं ने भी पाशुपत सम्प्रदाय के शैव मन्दिर बनवाये थे। सेन राजा तो कट्टर शैव थे ही। विजयसेन के एक अभिलेख में प्रद्युम्नेश्वर के एक विशाल मन्दिर बनवाने का उल्लेख है।

४. वैष्णव धर्म

इस काल में वैष्णव धर्म ने भी बहुत उन्नति की। गुप्त, चालुक्य और होयसल आदि राजाओं ने उसे संरक्षण प्रदान किया। वैष्णव मूर्तियों से युक्त असंख्य मंदिर उसके अखिल भारतीय प्रसार के द्योतक हैं। सुदूर पूर्व के भारतीय उपनिवेशों में भी उसका प्रसार हुआ।

इस काल में वैष्णव धर्म के सिद्धान्तों में काफी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। सबसे पहले अवतारवाद के सिद्धान्त ने बहुत विशाल रूप धारण किया। इस भावना का विकास यद्यपि इतिहास के बहुत आरम्भिक काल में ही हो चुका था, इसने महत्त्वपूर्ण रूप इस विवेच्यकाल में ही धारण किया। अवतारों की संख्या और स्वरूप भिन्न २ पुस्तकों में भिन्न २ दिया गया है। आरम्भ में उनकी संख्या ४ या ६ थी, पीछे चल कर उनकी संख्या १० हुई और इससे भी अधिक (२४ या ३९) तक बढ़ी। अन्ततोगत्वा जैनों के प्रथम तीर्थंकर ऋषभ और बुद्ध भी विष्णु के अवतार समझे जाने लगे। स्वाभाविक रूप से कृष्ण की भी गणना अवतारों में की जाने लगी, यद्यपि पीछे वर्णित ऐतिहासिक कारणों से वे एकदम भिन्न ठहरते हैं। अन्य अवतारों में राम और दत्तात्रेय के ही अनुयायी आज अधिक हैं।

वैष्णव धर्म में दूसरा महान् परिवर्तन वासुदेव कृष्ण के जीवन में दो नये अध्यायों का समावेश है। एक तो बाल कृष्ण की ग्वालों के बीच पालन-पोषण किये जाने की कहानी और दूसरे गोपिकाओं के साथ उनकी रासलीला। कृष्ण के जीवन के ये दृश्य आज के वैष्णव धर्म में इतना अधिक महत्त्व रखते हैं कि यह कथन शायद धर्मविरुद्ध होगा कि मूल धर्म में इनका कोई स्थान न था। किन्तु वस्तुतः बात ऐसी ही जान पड़ती है। सम्भव है ग्वाल कृष्ण संबंधी धारणायें काफी प्राचीन हों। भेड़ चरानेवाले के रूप में एक धार्मिक नेता के जीवन आरम्भ करने की बात असंगत नहीं है; किन्तु कंस, नन्द और यशोदा संबंधी अनेक घटनाओं और उनमें आश्चर्यजनक कार्यों का समावेश यथा—गोवर्धनधारण और पूतना-वध आदि का समावेश स्पष्ट ही बहुत पीछे हुआ है। इनका उल्लेख किसी आरंभिक साहित्य में नहीं मिलता। कुछ विद्वानों का मत है कि इन बातों को कृष्ण की कथा में

आभीरों ने जोड़ा, जिनकी घुमन्तु ढंग की विदेशी जाति थी और ईसा की आरंभिक शताब्दियों में अथवा उससे भी पहले पश्चिमी भारत में आकर बसी। कृष्ण और गोपियों की रोमांचक प्रेम-कहानियाँ तो और भी पीछे की हैं। इसका एक और बाद का रूप राधा का समावेश है, जो कृष्ण की पत्नी तो नहीं परन्तु मुख्य प्रेमिका हैं।

वैष्णव धर्म के प्रभाव और शक्ति को दक्षिण भारत में आलवारों ने बहुत अधिक फैलाया। उनकी वैष्णव धर्म में वही स्थिति है जो शैवों में नायनारों की।[1] उनके तमिल गीतों में गहरी अनुभूति और सच्चे सदाचार की इतनी गहरी अभिव्यक्ति है कि वे वैष्णव वेद समझे जाते हैं। ये गीत दक्षिण भारत में आज भी बड़े लोकप्रिय हैं, और उनके रचयिता इतने आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं कि उनकी मूर्तियों की भी पूजा विष्णु और उनके अवतारों की मूर्तियों के साथ ही होती है।

किन्तु वैष्णव धर्म के भक्तिवाद को दो ओरों से एक बड़े खतरे का सामना करना पड़ा। एक ओर तो शबरस्वामिन् और कुमारिल भट्ट के नेतृत्व में मीमांसकों के सम्प्रदाय का शक्तिशाली विकास हो रहा था। उन लोगों का कहना था कि प्राचीन वैदिक यज्ञ ही मुक्ति के एकमात्र मार्ग हैं। दूसरी ओर दार्शनिक शिक्षा का प्रचार हो रहा था, जो विश्वास, धर्म और भक्ति को मुक्ति का साधन न मान कर आत्मिक ज्ञान पर जोर देता था। सुप्रसिद्ध शंकराचार्य ने अपने अद्वैतवाद के सिद्धान्त का प्रचार किया जिसके अनुसार एक विश्वात्मा के अतिरिक्त और किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं है। अतः प्रेम और भक्ति के लिए कोई स्थान ही नहीं है क्यों कि उसके लिए दो स्वतन्त्र सत्ताओं—प्रेमी और प्रेमिका—की आवश्यकता होती है। शंकराचार्य की अद्भुत मेधा, अपार ज्ञान, अद्भुत व्यक्तित्व और विवाद की योग्यता के सम्मुख ऐसा जान पड़ा कि देश के एक कोने से दूसरे कोने तक जो कुछ भी है वह बह जायगा। किन्तु वैष्णव भी समय के उपयुक्त और योग्य साबित हुए। आचार्यों का एक वर्ग उठ खड़ा हुआ जो दार्शनिक आधार पर अपने मत का प्रतिपादन करने के लिए आगे बढ़ा। नाथ मुनि, यामुनाचार्य और सुप्रसिद्ध रामानुज (११ वीं शताब्दी ई०) प्रथम तीन आचार्य हुए। रामानुज का नाम शंकर के मुकाबले में लिया जाता है। उन्होंने अपने विशिष्टाद्वैतवाद के सिद्धान्त से वैष्णव धर्म को एक नया रूप दिया, जो शंकर के अद्वैतवाद का उत्तर था।

---

१. आलवारों और नायनारों के विवरण के लिये देखिये अध्याय १७ अनुच्छेद ५।

रामानुज के बाद सबसे उल्लेखनीय वैष्णव आचार्य १३ वीं शताब्दी में माधव अथवा आनन्दतीर्थ हुए। उन्होंने नये दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया किन्तु वासुदेव आदि व्यूहों का उन्मूलन उनका उल्लेखनीय परिवर्तन था। विष्णु ही महान् आत्मा हैं, उनके इस प्रतिपादन के साथ प्राचीन भागवत धर्म का स्थान विशुद्ध वैष्णव धर्म ने ग्रहण किया। रामानुज और माधव दोनों ने वैष्णव धर्म से गोप और गोपिका तत्त्व को अलग कर दिया था किन्तु उनको निम्बार्क सम्प्रदाय में पुनः प्रधानता मिली। निम्बार्क रामानुज के बाद हुए थे। वे जन्मना तैलंग ब्राह्मण थे, पर उत्तर भारत में ही रहे और वहीं अपने मत का प्रचार किया। उनके सम्प्रदाय का मुख्य तत्त्व यह है कि कृष्ण हजारों गोपिकाओं से घिरे हुए हैं और राधा उनकी प्रमुख प्रेमिका हैं। चैतन्य ने पीछे इस मत को बहुत बल दिया, जिसके कारण उत्तर भारत के वैष्णवधर्म में आज भी इस तत्त्व का प्रबल प्राधान्य है। निम्बार्क मथुरा के निकट वृन्दावन में रहते थे, जो कृष्ण के बाल-जीवन और गोपियों के साथ उनकी रासक्रीडा के स्थल के रूप में प्रसिद्ध है।

अन्य अनेक वैष्णव आचार्य हुए हैं, किन्तु उनकी चर्चा इस पुस्तक की परिधि के आगे की है।

सत्रहवाँ अध्याय

साहित्य

१. ब्राह्मण-साहित्य

प्राचीन भारत की सभ्यता और संस्कृति के स्वरूप को उसके अद्भुत साहित्य और शिक्षा-प्रणाली की चर्चा बिना समझना असम्भव है। किन्तु भारतीय साहित्य का इतिहास विस्तारपूर्वक अथवा क्रमबद्ध दे सकना यहाँ सम्भव नहीं है। केवल महत्त्वपूर्ण और उल्लेखनीय रचनाओं का सामान्य परिचय दिया जा रहा है।

गुप्तों से पूर्व का साहित्य मुख्यतः धर्म द्वारा प्रेरित था। हम पहले वैदिक, बौद्ध और जैन साहित्यों की चर्चा कर चुके हैं। उसी प्रकार इस काल में ब्राह्मण धर्म ने अपने साहित्य का सर्जन किया, जिसका वर्गीकरण महाकाव्य, स्मृति, पुराण और दर्शन के रूप में किया जा सकता है।

दो महाकाव्यों—रामायण और महाभारत—की चर्चा पहले की जा चुकी है (द्वितीय खण्ड; सातवाँ अध्याय)। स्मृतियों में समाज-व्यवस्था के नियम और

स्मृति

विधान श्लोकबद्ध हैं। वे वैदिक साहित्य के धर्मसूत्रों पर आश्रित हैं, किन्तु उनमें बदली हुई सामाजिक अवस्था के अनुरूप मुक्त रूप से काफी परिवर्तन और परिवर्द्धन भी किया गया है। मनुस्मृति[1] इस वर्ग की सुप्रसिद्ध पुस्तक है और सम्भवतः २०० ई० पू० और २०० ई० के बीच उसकी रचना हुई थी। विष्णु, याज्ञवल्क्य, नारद और बृहस्पति आदि अन्य महत्त्वपूर्ण स्मृतियों की रचना ईसा की प्रथम पाँच शताब्दियों के बीच हुई थी। इस प्रकार के ग्रन्थों की संख्या बहुत बड़ी है और उनसे भी अधिक उनकी टीकाएँ हैं। ये टीकाएँ न केवल स्मृतियों की व्याख्या करतीं हैं परन् समाज की बदली हुई अवस्थाओं के अनुकूल उनके रूप को भी परिवर्तित कर देती हैं। वर्तमान हिन्दू समाज का पथप्रदर्शन अधिकांशतः इन्हीं टीकाओं द्वारा होता है। इनमें से कुछ तो ९०० ई० में रची गयीं और कुछ बहुत पीछे की—१६ वीं शताब्दी की—रचनायें हैं।

---

१. इसे मनुसंहिता भी कहते हैं।

पुराण की व्याख्या करना अथवा उसकी विषयवस्तु को निश्चित रूप से बता सकना कठिन है। वे एक प्रकार से परम्पराओं, दन्तकथाओं, किम्वदंतियों, रूढ़िवादी विचारों, कर्मकाण्डों, आचार और धार्मिक तथा दार्शनिक सिद्धान्तों के भण्डार हैं। इस वर्ग के साहित्य की उत्पत्ति सम्भवतः पूर्ववर्ती काल में ढूंढ़ी जा सकती है किन्तु जो पुराण आज उपलब्ध हैं, वे सबके सब नये हिन्दू धर्म से सम्बद्ध हैं, और इस विवेच्य काल की ही देन हैं। रूढ़िगत परम्परा के अनुसार पुराणों की संख्या १८ है किन्तु वस्तुतः इससे कहीं अधिक संख्या में पुराण ग्रन्थ मिलते हैं। इनके अतिरिक्त कितने ही उप पुराण भी हैं। पुराणों ने नये धर्म के लिये धर्म ग्रन्थों का काम किया और सरल भाषा में रचे जाने के कारण वे अत्यन्त लोकप्रिय हुए। इन पुराणों में से कुछ साम्प्रदायिक ढंग के हैं और शैव और वैष्णवों के कुछ विशेष पुराण हैं, जिनमें देवविशेषों की प्रशंसा की गयी है। प्रसिद्ध पुराणों में वायु पुराण, मत्स्य पुराण, विष्णु पुराण, मारकण्डेय पुराण, भागवत पुराण और स्कन्द पुराण उल्लेखनीय हैं। इनमें से प्रथम चार की रचना सम्भवतः ३००–६०० ई० के बीच हुई थी।

पुराण

इस काल के दार्शनिक ग्रन्थ अनेक और विविध प्रकार के हैं। वे प्रायः धर्म से सम्बद्ध हैं। जिस प्रकार बौद्ध धर्म के महायान और अन्य सम्प्रदायों के दार्शनिक ग्रन्थ पाये जाते हैं इसी प्रकार विभिन्न वैष्णव और शैव सम्प्रदायों के भी दार्शनिक ग्रन्थ हैं। उनमें सुविख्यात शंकर (७७८–८२० ई०) का दर्शन है जिन्होंने वेदान्त दर्शन को सुदृढ़ आधार पर रखकर विश्व ख्याति प्राप्त की है। उनके बाद कुमारिल, जो ६५०–७५० ई० के बीच हुए, और रामानुज का नाम लिया जा सकता है। अनेक बौद्ध और जैन दार्शनिक भी हुए, जिनकी चर्चा यहाँ अनपेक्षित है।

२. लौकिक साहित्य

ऊपर वर्णित धार्मिक साहित्य की पूर्ति काव्य, नाटक, गीत, आख्यानक आदि लौकिक साहित्यों द्वारा की गयी।

लौकिक भारतीय साहित्य के इतिहास में कालिदास का नाम सर्वोपरि है। उन्हें प्रथम तीन वर्ग के सर्वोत्तम साहित्य की रचनाओं का श्रेय प्राप्त है। उनके रघुवंश और कुमारसम्भव जैसे महाकाव्य, शकुन्तला और विक्रमोर्वशीय जैसे नाटक और मेघदूत जैसे गीत सारे संसार में पढ़े जाते हैं। ये रचनाएं उन्हें तब तक अमर रखेंगी जब तक मनुष्य का साहित्य के प्रति आकर्षण बना रहेगा।

इतनी ख्याति के बावजूद यह आश्चर्यजनक है कि इस सुप्रसिद्ध कवि के सम्बन्ध में कोई भी प्रामाणिक बात ज्ञात नहीं है। उनके जीवन की बात तो दूर, उनके समय के सम्बन्ध से भी हम अनभिज्ञ हैं। अनुश्रुतियों के अनुसार वे उज्जयिनी-नरेश विक्रमादित्य के, जो ५८ ई० पू० वाले विक्रम संवत् के संस्थापक कहे जाते हैं, दरबार में रहते थे। इस कथन को मानने में अनेक कठिनाइयाँ हैं। अतः प्रायः विद्वान् कालिदास का ५वीं शताब्दी ई० में होना मानते हैं। सम्भवतः चन्द्रगुप्त द्वितीय अथवा कुमारगुप्त उनके संरक्षक थे।

कालिदास प्रमुख साहित्यिकों में अग्रणी थे, तथापि उनसे न तो साहित्य का आरम्भ और न अन्त होता है। ईसा शताब्दी से बहुत पूर्व से ही काव्यों की रचनायें होती चली आ रही थीं। आरम्भिक युग की सुविख्यात रचना अश्वघोषकृत बुद्धचरित है। अश्वघोष कवि, दार्शनिक एवं धर्मोपदेशक थे। वे बौद्ध परम्परा के अनुसार कनिष्क के समय में हुए थे। गुप्त सम्राटों की अनेक प्रशस्तियाँ सुन्दर काव्य शैली में लिखी गयी हैं। प्रयाग प्रशस्ति के रचयिता हरिषेण की शैली इतनी प्रौढ़ है कि वे "कालिदास और दण्डिन् से होड़ करते दिखाई पड़ते हैं।" परवर्ती काव्यों में भारवि (६ठी शताब्दी ई०) कृत किरातार्जुनीय, भट्टि (७वीं शती ई०) कृत रावणवध (भट्टि काव्य), माघ (७वीं या ८वीं शताब्दी ई०) कृत शिशुपाल-वध और श्रीहर्ष (१२ वीं शती ई०) कृत नैषधचरित उल्लेखनीय हैं। एक कम प्रख्यात प्राकृत काव्य गौड़वहो (गौड़-राज वध) है। उसके रचयिता वाक्पतिराज कन्नौजनरेश यशोवर्मन् के दरबार में रहते थे। उन्होंने अपने स्वामी की गौड़-विजय का यशोगान किया है।

काव्य

रीति-काव्य के क्षेत्र में सातवाहन नरेश हाल के अतिरिक्त, जो संभवतः पहली शती ई० में हुए, कालिदास का कोई अन्य उल्लेखनीय पूर्ववर्ती ज्ञात नहीं है। उनकी रचना सप्तशतक अथवा गाथासप्तशती प्राकृत में लिखी गयी है और उसमें अनेक सुन्दर कवितायें हैं।[1] परवर्ती कवियों में अमरु (७वीं शती ई० ?), भर्तृहरि (७वीं शती ई० ?) बिल्हण (११वीं शती ई०) और जयदेव (१२वीं शती ई०) के नाम उल्लेखनीय हैं।

काव्य की भाँति ही नाटक का विकास भी बहुत प्राचीन कहा जाता है। किन्तु कालिदास से पूर्व के नाटक बहुत कम बच रहे हैं। अश्वघोष के नाटकों की

---

१. कीथ उनकी रचना का समय २००–४५० ई० मानते हैं। (हिस्ट्री, संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ २२४)

नाटक

चर्चा पहले हो चुकी है। १९१० में भास के तेरह नाटकों का पता लगा,[1] जिनका उल्लेख कालिदास ने बड़े आदर के साथ किया है। इनमें से स्वप्नवासवदत्ता और प्रतिज्ञायौगन्धरायण की लोक प्रसिद्धि है। इस क्षेत्र में कालिदास[2] के बाद, अनेक लब्धप्रतिष्ठ नाटककार हुए, यथा—मृच्छकटिक के रचयिता शूद्रक (५वीं ६ठीं शती ई०), रत्नावली और नागानन्द के सुप्रसिद्ध लेखक और सुविख्यात सम्राट हर्षवर्द्धन। किन्तु इस काल का सबसे महान् नाटककार यदि कोई है तो वह भवभूति (८वीं शती)। उनके आगे केवल कालिदास को रखा जा सकता है। वे कन्नौज के राजा यशोवर्मन् के दरबार में रहते थे और उत्तररामचरित और मालती-माधव उनकी सर्वोत्तम कृतियाँ हैं। उसके बाद कालक्रम में मुद्राराक्षस के रचयिता विशाखदत्त (८०० ई०) आते हैं। इनके १०० वर्ष पश्चात् राजशेखर हुए और वे प्रतिहार सम्राटों-महेन्द्रपाल और महिपाल, के दरबार में रहते थे। उनकी सर्वोत्तम रचनायें कर्पूरमंजरी और बालरामायण हैं जो प्राकृत में लिखी गई हैं।

गद्य में लिखी गयी आख्यायिकाओं में सर्वप्रथम उल्लेखनीय रचना दण्डिन् (६ठी शती ई०) कृत दशकुमारचरित है। उसके बाद की सुबन्धु (६ठीं शती ई०) कृत वासवदत्ता है। इस क्षेत्र में सम्भवतः सबसे बड़े लेखक सम्राट हर्षवर्द्धन के राजकवि बाणभट्ट थे। उनकी रचनाएँ कादम्बरी और हर्षचरित रचना और शैली की दृष्टि से इस क्षेत्र में सर्वोत्तम हैं।

कथा-कहानी

कथा-कहानियों में तो संस्कृत साहित्य विशेष रूप से भरा पूरा है। इनमें, एक मनोरंजक पुस्तक पंचतन्त्र है। इसका अनुवाद पहलवी, अरबी और सीरियायी भाषाओंमें बहुत पहले ही हो गया था। इस प्रकार इसका पाश्चात्य देशों में प्रवेश हुआ और उसका अनुवाद प्रायः यूरोप की सभी भाषाओं में हुआ है। सुप्रसिद्ध और लोकप्रिय हितोपदेश भी पंचतन्त्र पर ही आश्रित है।

गुणाढ्य (१–२री शती ई०) कृत बृहत्कथा भी इसी प्रकार का आरम्भ काल का एक ग्रन्थ है, जो अब लुप्त हो गया है। किन्तु उसका सार दो परवर्ती रूपान्तरों[3]–क्षेमेन्द्रकृत बृहत्कथामंजरी और सोमदेव कृत कथासरित्सागर में अब

---

१. कुछ विद्वान् इन्हें भास की रचना नहीं मानते हैं।

२. कुछ विद्वान् इस लेखक को पहले, अर्थात् ४-५ वीं शताब्दी में, मानते हैं।

३. बृहत्कथा का एक अन्य संस्करण बुद्धस्वामिन् कृत श्लोक-संग्रह है, जिसका एक खंडित अंश प्राप्य है।

रहा है। दोनों ही ११वीं शताब्दी की रचनायें हैं। कथासरित्सागर एक विशाल ग्रन्थ है जो आकार में महाभारत का चौथाई है। इस प्रकार के अन्य प्रसिद्ध ग्रन्थ वेतालपंचविंशति, सिंहासनद्वात्रिंशिका और शुकसप्तति हैं।

इस प्रकार के लौकिक साहित्य की रचनाओं के अतिरिक्त विशिष्ट विषयों के भी अनेक ग्रन्थ हैं। कोष, व्याकरण, नाट्यशास्त्र, काव्यशास्त्र की पुस्तकों की संख्या इतनी अधिक है कि उनकी चर्चा यहाँ सम्भव नहीं है। इतना ही कहा जा सकता है कि इन विषयों की पुस्तकों को काफी महत्त्व दिया गया है। प्राचीन भारत में ऐतिहासिक साहित्य का बहुत कम विकास हुआ था। हर्षचरित और गौड़वहो के अतिरिक्त, जिनकी चर्चा ऊपर हो चुकी है, छः अन्य ऐतिहासिक रचनाएं उल्लेखनीय हैं; यथा—काश्मीरी राजकवि बिल्हण कृत 'विक्रमांकदेव चरित' अर्थात् परवर्ती चालुक्यराज विक्रमादित्य छठे का चरित्र, पद्मगुप्त (१००० ई०) कृत 'नवसाहसांकचरित' अर्थात् मालवनरेश सिन्धुराज का चरित्र, बल्लाल कृत 'भोज प्रबन्ध' अर्थात परमार नरेश भोज का जीवन चरित्र, पृथ्वीराज रासो, पृथ्वीराजविजय, हेमचन्द्र (१२ वीं ई०) कृत कुमारपालचरित, अर्थात् चालुक्य नरेश कुमारपाल का जीवनवृत्त, और सन्ध्याकरनन्दी (१२ शती ई०) कृत रामचरित अर्थात् बंगाल के अन्तिम पाल राजाओं में रामपाल का चरित्र। यद्यपि इन पुस्तकों का विषय ऐतिहासिक है तथापि आधुनिक शब्दावली में उन्हें इतिहास नहीं कहा जा सकता। इस ढंग की कही जानेवाली यदि कोई पुस्तक है तो वह १२ वीं शताब्दी में कल्हण द्वारा लिखा गया काश्मीर का इतिहास राजतरंगिणी है। इनके अतिरिक्त उनकी राजवंशावलियाँ हैं जिनसे ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध होती है।

यद्यपि इतिहास की ओर लोगों का ध्यान अत्यल्प रहा, परन्तु उससे सम्बद्ध राजनीति और अर्थशास्त्र जैसे विषय विकास की चरम सीमा पर पहुँचे हुए थे। इस काल में अनेक सम्प्रदाय और व्यक्तिगत लेखक पैदा हुए। आज उनकी अधिकांश रचनाएँ लुप्त हो गयी हैं। उपलब्ध रचनाओं में सबसे प्रसिद्ध कौटिल्य कृत अर्थशास्त्र है। वह चन्द्रगुप्तमौर्य के सुप्रसिद्ध मंत्री कौटिल्य अर्थात् चाणक्य की रचना समझी जाती है, पर कुछ लोग उसे बहुत पीछे की रचना मानते हैं। उसमें न केवल राजनीतिक दर्शन और शासन-व्यवस्था मात्र की चर्चा है, वरन् अन्तर्राष्ट्रीय विधान, सैनिक विज्ञान, व्यापार, वाणिज्य, उद्योग, खनिज, धातु-विज्ञान तथा अन्य अनेक प्रासंगिक विषयों की भी चर्चायें हैं। अन्य सुप्रसिद्ध पुस्तकों

अर्थशास्त्र और राजनीतिशास्त्र

में कामन्दकीय नीतिसार (७ वीं शती ई०) और शुक्रनीति है, जो बहुत पीछे की रचना है और उसमें बारूद के प्रयोग का उल्लेख है।

वैज्ञानिक साहित्य

गणित और ज्योतिष में तो भारतीय विद्वानों को उच्च कोटि की सफलता प्राप्त हुई थी। प्राचीनतम वैज्ञानिक पुस्तकें सिद्धान्तों की (४ शती ई०) थीं इनके कुछ ही अंश उपलब्ध हैं। इस विज्ञान को विकसित करनेवाले परवर्ती विद्वानों में आर्यभट्ट (जन्म ४७६ ई०) वराहमिहिर (६ ठीं शती ई०) ब्रह्मगुप्त (५९८ ई०) और भास्कराचार्य (जन्म १११४ ई०) के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। भौतिक और रसायन शास्त्र में भी लोगों ने प्रगति की थी।

चिकित्सा साहित्य

चिकित्सा शास्त्र में तो भारतीयों ने काफी उन्नति की थी। प्राचीन परम्परा के अनुसार चरक संहिता के रचयिता चरक कनिष्क के समकालीन थे। दूसरा उल्लेखनीय नाम सुश्रुत संहिता के सुप्रसिद्ध लेखक सुश्रुत का है। वे ४ थी शताब्दी ई० से पहले हुए थे। इस विषय के अन्य सुप्रसिद्ध लेखक वाग्भट्ट (सातवीं शती) और चक्रपाणि दत्त (११ वीं शती) थे। चीनी तुर्किस्तान के काशगर नामक स्थान से हस्तलिखित ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं जिनके अन्तर्गत कुछ महत्त्वपूर्ण चिकित्सा ग्रन्थ भी हैं। यह संग्रह सम्भवतः पाँचवीं शती का है और उनके अन्वेषक के नाम पर इसे बोअर हस्तलिपि कहा जाता है।

भारतीय साहित्य में अन्य ऐसे कितने ही विषयों की रचनाएँ उपलब्ध हैं, जिनका उल्लेख विस्तारपूर्वक यहाँ सम्भव नहीं है। कामशास्त्र सम्बन्धी साहित्य बहुत विशाल है। अश्व, गज, कृषि, बागवानी, नाट्य (भरत कृत नाट्यशास्त्र) नृत्य, सङ्गीत, (संगीत रत्नाकर) ललित कला और वास्तुकला, (मयमत और मानसार) सम्बन्धी साहित्य ग्रन्थों की भी रचनाएँ हुई हैं। चौर्य कला और बाजबाजी जैसे विषयों पर भी पुस्तकें उपलब्ध हैं। संक्षेप में संस्कृत साहित्य में मानव विचारों और कार्यों का ऐसा पूर्ण प्रतिनिधित्व पाया जाता है जो आज के युग को छोड़कर अन्यत्र अनुपलब्ध है।

३. धार्मिक जैन साहित्य

जैन समाज किस प्रकार श्वेताम्बर और दिगम्बर दो परस्पर विरोधी सम्प्रदायों में बंट गया और किस प्रकार श्वेताम्बरों ने बारह अंगों का संग्रह किया, इसकी चर्चा पहले हो चुकी है। इन अंगों के सहित जो धार्मिक जैन साहित्य आज उपलब्ध है वह एकमात्र श्वेताम्बर समाज का है। उनकी अन्तिम व्यवस्था पाँचवीं शताब्दी के मध्य में वल्लभी की संगीति में हुई थी। इस संग्रह की रचना

उन्हीं ग्रन्थों के आधार पर की गयी जो ई० पूर्व ३ री शताब्दी के आरम्भ में पाटलिपुत्र की संगीति में प्रस्तुत किये गये थे। इस प्रकार इनका मूलस्रोत महावीर और उनके तत्काल के परवर्ती शिष्यों में पाया जा सकता है।

श्वेताम्बरों का धार्मिक साहित्य आर्ष अथवा अर्धमागधी कही जानेवाली प्राकृत भाषा में है। उसका वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है।—

(१) बारह अङ्ग
(२) बारह उपांग
(३) दस प्रकीर्ण
(४) छः छेदसूत्र
(५) चार मूलसूत्र
(६) विविध ग्रन्थ, जिनकी संख्या ४ है।

(१) बारह अङ्ग—प्रथम अंग आयारंगसुत्त (आचारांग सूत्र) में जैन मुनियों द्वारा पालन किये जानेवाले नियम दिये गये हैं। क्षुद्र से क्षुद्र जीव की रक्षा के सम्बन्ध में अत्यन्त बारीक विधान बताये गये हैं, और विभिन्न प्रकार की आत्म साधना पर अत्यधिक जोर दिया गया है। कहा गया है कि मुनि भले ही जड़ होकर मर जाय, किन्तु वह कभी अपना वचन भंग न करे।

(२) दूसरे अंग, सूयगडंग (सूत्रकृतांग) में मुख्यतः जैनेतर सिद्धान्तों का इस दृष्टि से खण्डन किया गया है कि युवक जैन भिक्षु अन्य धर्मों के गुरुओं के तर्क के सम्मुख अपने धर्म को रक्षा कर सकें।

(३–४) तीसरे और चौथे अंग ठाणांग (स्थानांग) और समवायंग, बौद्धों के अंगुत्तर निकाय की भांति जैन सिद्धान्तों को संख्या क्रम से व्यक्त करते हैं।

(५) पाँचवां अंग, भगवती, जैन धार्मिक साहित्य में सबसे महत्वपूर्ण समझा जाता है। उसमें जैन सिद्धान्तों का विस्तृत प्रतिपादन है और जैन कल्पना के अनुसार स्वर्ग के सुखों और नर्क की यातनाओं का विशद वर्णन है। इस पुस्तक के एक महत्त्वपूर्ण खण्ड में महावीर तथा उनके पूर्ववर्ती और समवर्ती लोगों की कहानियाँ दी हुई हैं। यथा—पाँचवें अध्याय में आजीविक सम्प्रदाय के संस्थापक गोशाल मक्खलीपुत्त का मनोरंजक वृत्तान्त है।

(६) छठे अंग का नाम नायाधम्म कहाओ (ज्ञाता धर्मकथा) है। इसमें धर्म के मुख्य सिद्धान्त कथा-कहानियों और दृष्टान्तों द्वारा समझाये गये हैं।

(७) सातवां अंग उवासगदसाओ (उपासकदशाः) में दस धनी श्रेष्ठियों की कहानी है, जो जैन धर्म में दीक्षित हुए और कठोर तपस्या करके स्वर्ग गये।

(८–९) अन्तगडदसाओ (अन्तकृद्दशाः) और अणुत्तरोववाइयदसाओ (अनुत्त-रौपपातिकदशाः) नामक ८–९ वें अंगों में उन जैन मुनियों की कहानियाँ हैं जिन्होंने कठोर आत्म यातना द्वारा मृत्यु प्राप्त कर अपनी आत्मा की रक्षा की। साहित्य की दृष्टि से ये ग्रन्थ निम्न कोटि के हैं। उनकी शैली निर्जीव यान्त्रिक और अत्यन्त नीरस है।

(१०) पण्हावागरणाइम् (प्रश्न व्याकरणानि) में दस सिद्धान्त दस निषेध आदि रूढ़िगत बातें दी गयी हैं।

(११) विपागसूयम् (विपाकश्रुतम्) में इस जीवन में किये गये अच्छे या बुरे कर्मों के मृत्यु के पश्चात् होनेवाले परिणामों के स्वरूप की कहानियाँ दी गयी हैं।

(१२) १२ वें लुप्त अङ्ग दिट्ठी-वाय (दृष्टिवाद) की विशेष सामग्री अन्य पुस्तकों के आधार पर थोड़ी-बहुत ज्ञात है। उनसे जान पड़ता है कि उसमें विभिन्न प्रकार के स्फुट सिद्धान्तों का संग्रह था।

(२) इन प्रत्येक अङ्गों का एक एक उपांग है, किन्तु इन १२ उपांगों में साहित्यिक सामग्री तनिक भी नहीं है। उनके विषय रूढ़िवादी और दंतकथात्मक हैं। राय पसेणिअ नामक दूसरे उपांग में थोड़ा सा साहित्य जान पड़ता है। उसमें केसि नामक जैन मुनि और पायेसि नामक राजा (सम्भवतः कोशल के प्रसेनजित) के बीच वर्तालाप है। पाँचवें, छठें और सातवें उपांगों में ज्योतिष, भूगोल, सृष्टि आदि की चर्चायें हैं। आठवें उपांग निरयावलि सुत्तम् में अजातशत्रु का वृत्तान्त दिया हुआ है, किन्तु उसकी ऐतिहासिक सत्यता सन्दिग्ध है।

(३) जैसा कि नाम से स्पष्ट है, दस प्रकीर्णों (प्रकीर्ण्ण) में विभिन्न सैद्धा-न्तिक बातों की चर्चायें हैं और ये पद्य में लिखे गये हैं।

(४) छः छेदसूत्रों में बौद्धों के विनयपिटक की भाँति स्त्री-पुरुष जैन मुनियों के आचार बताये गये हैं और कथा द्वारा उन्हें समझाया गया है। सबसे प्रसिद्ध पुस्तक भद्रबाहु कृत कल्पसूत्र है जो महावीर के बाद ६ ठें थेर थे और उनकी मृत्यु के लगभग १७० वर्ष पश्चात् हुए थे। कल्पसूत्र चौथे छेदसूत्र का अंश है। उसमें तीन खण्ड हैं, पहले खण्ड जिनचरित में जिनों, विशेषतः महावीर के चरित्र, अत्यन्त भव्य शैली में वर्णित हैं। दूसरे खण्ड थेरावलि में विभिन्न जैन सम्प्रदायों और उनकी शाखाओं तथा संस्थापकों की सूची दी गयी है। तीसरे खण्ड में मुनियों द्वारा बरते जानेवाले नियम बताये गये हैं। पाँचवें छेदसूत्र में एक और कल्पसूत्र है जो जैन मुनियों और सन्यासिनियों के आचार नियमों की प्रधान पुस्तक मानी जाती है।

(५) चारों मूल सूत्र जैन साहित्य में बहुमूल्य समझे जाते हैं। (१) उत्तरज्झयण (उत्तराध्ययन) सूत्र एक प्रकार का धार्मिक काव्य है और धार्मिक साहित्य के अत्यन्त महत्वपूर्ण अङ्गों में समझा जाता है। उसमें दृष्टान्त, कहावतें, गीत और वार्तालाप हैं।

(६) ऐसे धार्मिक ग्रन्थों में, जो उपर्युक्त किसी समूह के अन्तर्गत नहीं आते, नन्दिसुत्त (नन्दिसूत्र) और अणुयोगद्दार (अनुयोगद्वार) विशेष उल्लेखनीय हैं। वे एक प्रकार के ज्ञानकोष हैं, जिनमें जैन मुनियों द्वारा अर्जित किये जाने वाले ज्ञान की विभिन्न शाखाओं की सामग्री है। इसमें न केवल धार्मिक बातें हैं, वरन् काव्यशास्त्र, अर्थशास्त्र और कामशास्त्र आदि की भी चर्चायें हैं।

४. धर्मेतर जैन साहित्य

धर्मेतर साहित्य के क्षेत्र में धार्मिक साहित्य की टीकाओं का सर्वप्रथम उल्लेख किया जा सकता है। इनमें सबसे प्राचीन निज्जुत्ति (निर्युक्ति) कही जाती हैं। उनका काल भद्रबाहु के समय का माना जाता है। पीछे चलकर इनका विकास विस्तृत प्राकृत में लिखे गये भाष्यों और चूर्णियों और संस्कृत में लिखी गई टीकाओं और वार्तिकों के रूप में हुआ।

टीकाकारों में हरिभद्र की सबसे अधिक ख्याति है। उन्होंने विद्वान् और कवि के रूप में विशेष प्रसिद्धि प्राप्त की। वे ९ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुए थे और कहा जाता है कि उन्होंने १४४४ ग्रन्थ लिखे थे। तीन अन्य प्रसिद्ध टीकाकार शान्तिसूरि, देवेन्द्रगणि और अभयदेव ११ वीं शताब्दी में हुए थे। इन टीकाओं में प्राचीन ऐतिहासिक अथवा अर्द्ध ऐतिहासिक परम्पराएँ तो हैं ही, उनके साथ ही ऐसी भी बहुत-सी कथायें और कहानियाँ हैं जो पीछे की उपज हैं। वस्तुतः कथा और कहानियां ही जैन साहित्य की मुख्य विशेषतायें जान पड़ती हैं और ऐसे अनेक स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं जिनमें कहानियाँ अथवा कहानियों के संग्रह हैं। ऐसे कुछ ग्रंथ निम्नलिखित हैं :—

कहानियाँ—(१) कालकाचार्य कथानक—यह बहुत प्राचीन समझा जाता है। इसमें शकों द्वारा उज्जयिनी के विजय की वृत्तकथा दी गयी है।

(२) उत्तम-चरित्र-कथानक—इसमें अनेक साहसपूर्ण घटनाओं से भरी एक कहानी दी गयी है।

(३–४) जिन कीर्तिसूरि लिखित चम्पक श्रेष्ठि कथानक और पाल-गोपाल-कथानक, जो १५ वीं शताब्दी के मध्य की रचना है।

कहानी संग्रह—(१) सम्यक्त्व कौमुदी—इसमें एक सेठ और उसकी आठ पत्नियों के धार्मिक सम्यक्त्व-प्राप्ति का वर्णन है।

(२) कथाकोश—यह कहानियों का खजाना है। इनमें से कुछ तो भारत की सीमा के बाहर भी प्रसिद्ध हैं। इसमें महाभारत की नल-दमयन्ती कथा का जैन रूप पाया जाता है।

(३) राजशेखर कृत अन्तरकथासंग्रह (१५ वीं शताब्दी)

(४) सोमचन्द्र कृत कथामहोदधि (१५ वीं शताब्दी)

(५) हेम विजयकृत कथारत्नाकर (१६ वीं शताब्दी)

(६–७) शुभशीलगणि कृत कथाकोष और पञ्चशति-प्रबोधसंबंध (१५ वीं शताब्दी)

जैनियों के पास काव्य साहित्य भी बहुत अधिक है, जो चरित्र और प्रबन्ध कहे जाते हैं। चरित्रों में तीर्थंकरों और ऋषियों की और प्रबन्धों में ऐतिहासिक काल में हुए जैन मुनियों और सामान्य व्यक्तियों की कहानियाँ हैं। ये पुस्तकें प्रायः शिक्षात्मक हैं। इस कारण इन्हें वास्तविक अर्थ में जीवनचरित्र न कहकर व्यक्ति विशेष के चारों ओर संग्रह की गयी भव्य कहानियाँ ही समझना चाहिए। चरित्रों में या तो किसी एक धार्मिक पुरुष की अथवा अनेक धार्मिक पुरुषों की कहानियाँ दी गई हैं। इस ढंग की एक सुप्रसिद्ध पुस्तक हेमचन्द्र कृत त्रिषष्टि शलाका–पुरुष–चरित है जिसमें ६३ व्यक्तियों के चरित्र वर्णित हैं।

हेमचन्द्र का नाम जैन लेखकों में सर्वोपरि गिना जाता है। वे अद्भुत मेधावी थे। जैनधर्म-शिक्षा के अतिरिक्त वे व्याकरण, कोष, काव्यशास्त्र और छन्दशास्त्र में भी पारङ्गत थे। वे अहमदाबाद के निकट धुंधुक नामक स्थान में १०८९ ई० में पैदा हुए थे और उन्होंने ८४ वर्ष की अवस्था में (११७२ ई०) कैवल्य प्राप्त किया। उनका अधिकांश समय गुजरात की राजधानी में चालुक्यनरेश जयसिंह सिद्धराज (१०९४–११४३) ई० और उसके उत्तराधिकारी कुमारपाल (१०४३–११७१ ई०) के संरक्षण में बीता। कुमारपाल को हेमचन्द्र ने जैन धर्म में दीक्षित किया था, जिसने एक नवदीक्षित व्यक्ति के उत्साह के साथ अपने राज्य में जैन धर्म को प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया। उसने पशु-वध का निषेध कर दिया, जैन मन्दिर बनवाये और साहित्यिक जैन व्यक्तियों को प्रश्रय दिया। उसी के राज्य काल में हेमचन्द्र ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक त्रिषष्टिशलाका-पुरुष-चरित लिखी, जिसे जैनी महाकाव्य की कोटि में गिनते हैं। इस पुस्तक में दस पर्व हैं। अन्तिम पर्व महावीरचरित में महावीर का जीवनवृत्त है जो विशेष महत्त्व का समझा जाता है। किन्तु साहित्यिक इतिहास की दृष्टि से मूल्यवान इस पुस्तक के

परिशिष्ट के रूप में 'परिशिष्टपर्वन्' अथवा 'स्थविरावलिचरित' ही है, जिसमें जैन धर्म के आरम्भिक पुरुषों के चरित्र दिये गये हैं। इसमें दिये गये नाम और उनका कालक्रम ऐतिहासिक माना जा सकता है। कहानियों में स्वतः ऐतिहासिक महत्त्व बहुत कम पाया जाता है किन्तु उनमें उन कहानियों के परिवर्तित रूप पाये जाते हैं, जो अन्य साधनों से ज्ञात हैं, और कुछ तो भारत की सीमा के बाहर भी पाये गये हैं।

विभिन्न पट्टावलियों में जैन आचार्यों की सूची मिलती है। उनका इतिहास धर्मसागरगणि के गुर्वावली सूत्र और मेरुतुंग की थेरावली में दिया गया है। प्रभाचन्द्र और प्रद्युम्न सूरि (१२५० ई०) कृत प्रभावकचरित में २२ जैन आचार्यों का चरित्र दिया हुआ है, जिनमें हेमचन्द्र भी हैं।

मेरुतुंग (१३०६ ई०) कृत प्रबन्धचिन्तामणि और राजशेखर (१३४९ ई०) कृत प्रबन्धकोष आदि कुछ अर्ध ऐतिहासिक ग्रन्थ भी हैं, जिनमें ऐतिहासिक व्यक्तियों के जीवनों पर कहानियों की सृष्टि की गई है। ऐसे व्यक्तियों में जैन आचार्य एवं भोज, विक्रमादित्य, शीलादित्य आदि राजा भी हैं।

दिगंबर लोग कभी २ चरित्रों को पुराण नाम से भी पुकारते हैं, यथा-विमल-सूरि कृत पद्मचरित अथवा पद्मपुराण। एक महापुराण भी है, जिसका कुछ अंश जिनसेन ने और कुछ उनके शिष्य गुणभद्र ने लिखा था। इसमें ब्राह्मण पुराणों की भाँति कर्म और पूजा-विधान दिये गये हैं। जिनसेन ने हरिवंश पुराण की भी रचना की थी। यह पुस्तक ७८३ ई० में पूरी हुई थी। जैन साहित्य में गद्य में लिखे गये रोमान्स भी हैं। इनमें हरिभद्र कृत समराइच्चकहा और सिद्धर्षि कृत (९०६ ई०) उपमितिभवप्रपंचा-कथा का उल्लेख किया जा सकता है।

जैन साहित्य में अनेक रोमान्स काव्य भी हैं। बाणकृत कादम्बरी के ढङ्ग पर सोमदेव ने (९५९ ई०) यशस्तिलक और धनपाल (९७० ई०) ने तिलक-मञ्जरी की रचना की। माघ के शिशुपालवध के अनुकरण पर हरिचन्द्र ने धर्म-शर्माभ्युदय नामक महाकाव्य की रचना की। विक्रमकृत नेमिदूत नामक एक मनोरञ्जक काव्य है, जिसमें हर छन्द की अन्तिम पंक्ति कालिदास के मेघदूत से उद्धृत की गई है। स्वतन्त्र रूप से लिखे गये महाकाव्यों में मलयसुन्दरी-कथा, कनकसेन वादिराज (१० वीं शती) कृत यशोधरा-चरित और मलधारि देवप्रभ (१३ वीं शती) कृत मृगावती-चरित का उल्लेख किया जा सकता है।

जैन साहित्य धार्मिक गीतों से भरा पूरा है। इस दिशा में मानतुंग कृत भक्तामर-स्तोत्र, कुन्दकुन्द (७ वीं शती) कृत पवयनसार (प्रवचनसार), धर्मदास कृत

उपदेशमाला, सोमप्रभ (१२७६ ई०) कृत शृङ्गारवैराग्यतरङ्गिणी और मुनिचंद्र सूरि (११२१ ई०) के संग्रह गाथाकोष के नाम उल्लेखनीय हैं।

अन्त में कुछ ऐसे लेखकों की चर्चा भी अपेक्षित है जिन्हें जैन आदर की दृष्टि से देखते हैं।

(१) उमास्वाति अथवा उमास्वामिन् की ख्याति ५०० पुस्तकों के रचयिता के रूप में है। उनके तत्वार्थाधिगमसूत्र को दिगंबर और श्वेताम्बर दोनों ही प्रामाणिक मानते हैं। इसमें जैनों के सृष्टि—विश्वास, तत्व—विज्ञान और नैतिक आचार की चर्चायें हैं। उनकी दूसरी पुस्तक श्रावक-प्रज्ञप्ति में जन-साधारण के निमित्त जैनधर्म को व्यवस्थित रूप से समझाया गया है। वे सम्भवतः ७ वीं शताब्दी ई० में हुए थे।

प्रसिद्ध लेखक

(२) सुभाषितरत्न-संदोह और धर्मपरीक्षा के लेखक अमितगति १० वीं शताब्दी के अन्तिम भाग और ११वीं शताब्दी के आरम्भ में हुए थे। उनकी पुस्तकों में ब्राह्मण धर्म, विशेषतः जाति व्यवस्था पर, तीव्र आक्रमण किया गया है। उन्होंने रामायण और महाभारत की अनेक घटनाओं का उद्धरण बहुत विकृत रूप में दिया है।

(३) चामुण्ड महाराज ने ९७८ ई० में चारित्रसार की रचना की। इसमें दिगम्बरों के आचार सिद्धान्तों का प्रतिपादन है।

(४) शान्तिसूरि कृत जीवविचार एक अद्भुत पुस्तक है। इसमें धर्मशास्त्र, पशु—विज्ञान, वृक्ष—विज्ञान, मानव—विज्ञान और दन्त कथायें, सभी की एक साथ चर्चा की गई है।

५. द्रविड़ साहित्य

(१) तमिल

इस काल के तमिल साहित्य में मुख्यतः शैव और वैष्णव सन्तों के भक्तिपूर्ण भजन हैं। उनमें गहरी अनुभूति के साथ २ व्यञ्जना का साहित्यिक सौन्दर्य भी है। शैव सन्तों में, जो नायनार कहे जाते हैं, तिरुमूलर, सम्बन्दर, अप्पर, सुन्दरर और मणिक्कवाचगर का उच्च स्थान है। ये लोग ७वीं और ८वीं शताब्दी के आरम्भ में हुए थे। इनके भजनों का संग्रह ग्यारह तिरुमुरइ के रूप में हुआ है और तमिल शैव उन्हें श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं। मणिक्कवाचगर के तिरुवाचकम् के सम्बन्ध में कहा गया है कि उससे जो द्रवित नहीं होता वह पत्थर है। उसमें तमिल शैव सम्प्रदाय की आध्यात्मिकता का उच्च स्वरूप सुन्दरतम ढंग से व्यक्त किया गया है। पेरियपुराणम् नामक एक अन्य उल्लेखनीय पुस्तक में ६३ शैव सन्तों के

चरित्र हैं। इनमें सभी वर्ण और जाति के स्त्री और पुरुष हैं और कुछ तो अछूत भी हैं, किन्तु ये सभी आदर की दृष्टि से देखे गये हैं, जिससे इस धर्म की उदारता प्रकट होती है।

आलवार कहे जानेवाले वैष्णव सन्तों में भी विभिन्न सम्प्रदायों के स्त्री और पुरुष दोनों हैं। इनमें राजा भी हैं और कंगाल और कल्ल भी। परम्परा के अनुसार उनकी संख्या बारह है और उनका समय (७वीं और ९वीं) शताब्दियों के बीच माना जा सकता है। उनकी रचनाओं का संग्रह नालायिर-प्रबन्धम् के नाम से प्रसिद्ध है। उसमें चार हजार छन्द हैं। नम्मालवार की, जो सबसे बड़े आलवार कहे जाते हैं, चार कविताएं इस संग्रह में सबसे महत्वपूर्ण मानी जाती हैं और श्री वैष्णव उन्हें चारों वेदों का तमिल संस्करण मानते हैं। इसी प्रकार अन्तिम आलवार तिरुमंगई की छह कविताएँ षड्वेदांग समझी जाती हैं। एक अन्य आलवार कुलशेखर, जो मलाबारनरेश थे; पेरुमाल-तिरुमोलि और मुकुन्दमाला नामक दो अत्यन्त सुंदर कविताओं के रचयिता थे। अपने गीत-सौन्दर्य के कारण मुकुन्दमाला की तुलना जयदेव के गीतगोविन्द से की जाती है।

इस विस्तृत धार्मिक साहित्य की लोकप्रियता, धर्मग्रंथ के रूप में नालायिर प्रबन्धम् को मान्यता और दक्षिण भारत के सभी प्रमुख मन्दिरों में उत्सवों के अवसर पर उसके गान ने तमिल भाषा का महत्व बढ़ाकर संस्कृत के समकक्ष पहुँचा दिया। उसके फलस्वरूप अनेक बड़ी २ टीकायें बनीं जिनका उद्देश्य प्रबन्ध का स्पष्टीकरण और अस्पष्ट बातों को समझाना है। इस प्रकार एक नये धार्मिक साहित्य का उदय हुआ जो आधा संस्कृत और आधा तमिल है।

धर्मेतर साहित्य में दसवीं शती में होनेवाले जैन सन्यासी और कवि तिरुत्तक्कदेवर कृत जीवकचिन्तामणि का नाम लिया जा सकता है। यह एक रोमांस की कविता है, जिसमें नायक जीवक के विवाहों में परिणत होनेवाले प्रेम-साहसों के वर्णन हैं। दूसरा काव्य है चोल राज्य के दरबारी कवि जयगोंदार कृत कलिंगत्तुप्परणि, जो कुलोत्तुङ्ग प्रथम के कलिंग से हुए युद्ध की युद्धकविता है। और भी अधिक प्रसिद्ध एक कवि थे ओट्टकूत्तन, जो कुलोत्तुङ्ग प्रथम के तुरत पूर्व के तीन राजाओं के दरबारों में रहा करते थे। परन्तु सबसे बड़े तमिल कवि हुए कम्बन, जिन्होंने कुलोत्तुङ्ग तृतीय के समय में तमिल रामायण की रचना की। यह तमिल साहित्य का सबसे बड़ा महाकाव्य सही ही माना जाता है। व्याकरण, छन्दशास्त्र, काव्यशास्त्र और शब्दानुशासन पर भी अन्य अनेक प्रसिद्ध ग्रंथ लिखे गये।

(२) कन्नड़

तमिल के पश्चात् द्रविड़ समूह में कन्नड़ साहित्य सबसे प्राचीन है। इस साहित्य का वास्तविक इतिहास कविराजमार्ग से आरम्भ होता है जो राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष (८१४–८७८ ई०) कृत काव्यशास्त्र का ग्रन्थ है, यद्यपि इससे पूर्व की भी कुछ रचनाएँ पाई जाती हैं। अगली शताब्दी में इस साहित्य की परम उन्नति हुई। वह पम्प, पोन्न और रन्न नामक तीन रत्नों का युग था। इन्होंने जैन तीर्थंकरों के जीवन तथा महाभारत के आधार पर काव्य ग्रन्थों की रचना कर विशेष ख्याति प्राप्त की।

पंप उनमें सबसे महान् थे। वे राष्ट्रकूट राजा कृष्ण तृतीय के करद तथा वेमुलवाड़ के शासक अरिकेसरी द्वितीय के राजकवि थे। उनकी प्रसिद्धि दो ग्रंथों से है—एक तो आदिपुराण, जिसमें प्रथम जैन तीर्थंकर का जीवनवृत्त वर्णित है और दूसरा पंप-भारत, जिसके नायक हैं अर्जुन।

बाद के लेखकों में दुर्गसिंह की चर्चा की जा सकती है। बृहत्कथा पर आधृत पंचतंत्र के वे रचयिता थे। नागचंद ने भी राम की कथा पर एक चम्पूकाव्य लिखा, जिसका सारा स्वरूप जैन है।

कन्नड़ साहित्य संस्कृत महाकाव्यों, पुराणों और जैन कथानकों के आधार पर लिखे हुए साहित्य से भरा पूरा है। इसके अतिरिक्त उसमें ऐसी अनेक रोमाञ्चक कहानियाँ और कवितायें भी हैं, जो संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर हैं।

जैनों की तरह वीर शैवों ने भी कन्नड़ साहित्य के विकास में बड़ा योगदान किया। कन्नड़ साहित्य का वचन नामक गद्य साहित्य-लेखन उन्हीं के द्वारा प्रारम्भ हुआ। उसका कन्नड़ साहित्य में एक अपना स्थान है और आज भी लोक में वह बड़ा जनप्रिय है। इस लेखन पद्धति के विकास में दो सौ से अधिक स्त्री-पुरुष लेखकों के नाम लिये जाते हैं; जिनकी शैली सरल और साधारण लोगों द्वारा भी आसानी से बोधगम्य है।

शैवों और जैनों की ही तरह वैष्णवों का भी प्रसिद्ध साहित्य था। अत्यन्त प्राचीनों में रुद्रभट्ट का जगन्नाथ-विजय है, जो कृष्ण की कथाओं पर आधृत एक चम्पू है।

(३) तेलुगु

ग्यारहवीं शताब्दी में नन्नय द्वारा महाभारत के आदि और सभापर्वों के अनुवाद के साथ तेलुगु साहित्य का प्रारम्भ माना जा सकता है। तेलुगु के महत्तम कवि तिक्कन (१२२०–१३०० ई०) ने विराट पर्व से लेकर अंत तक महाभारत

के अनुवाद का काम किया। बीच का वनपर्व येर्राप्रगड (१२८०—१३५० ई०) द्वारा अनूदित हुआ। यह कवयित्री तेलुगु साहित्य में बहुत बड़ा स्थान रखती है।

रामायण के तेलुगु में दो अनुवाद हुये—एक १३ वीं शताब्दी में कोन बुद्धराज द्वारा और दूसरा चौदहवीं शताब्दी में हुळकि भास्कर द्वारा। संस्कृत के अन्य अनेक ग्रंथ तेलुगु में अनूदित किये गये। उनमें दण्डिन् का दशकुमार चरित, गणित के दो ग्रंथ और ज्ञानेश्वर की मिताक्षरा शामिल हैं। संस्कृत आदर्शों पर व्याकरण, राजनीति और पुराण ग्रंथ भी लिखे गये।

अठारहवाँ अध्याय

शिक्षा प्रणाली

ऊपर जिस विस्तृत साहित्य की चर्चा की गयी है, वह निस्संदेह ऐसी व्यावहारिक शिक्षा का परिणाम है, जिसका विश्व के इतिहास में कोई मुकाबला नहीं है। इस देश में शिक्षा की महत्ता बहुत आरम्भ काल से ही समझी जाने लगी थी और ज्ञान-प्राप्ति पर अधिक से अधिक जोर दिया जाता था। शिक्षा संस्थाएँ बहुत और अनेक प्रकार की थीं। सामान्य रूप में शिक्षक के घर एक या अधिक विद्यार्थी एकत्र हो जाते और वहीं उनकी पाठशाला लगती। ये विद्यार्थी उस परिवार के अंग समझे जाते; अध्यापक और उसकी पत्नी को वे लोग अपने माता-पिता समझते। शिक्षा-शुल्क के सम्बन्ध में विभिन्न प्रथाएँ थीं। कुछ अवस्था में तो शिक्षा निःशुल्क होती। शिक्षा समाप्त होने पर भले ही कोई यदि चाहे तो गुरु को दक्षिणास्वरूप कुछ भेंट दे दे। अन्य अवस्थाओं में धनी व्यक्तियों के बेटे शिक्षा-आरम्भ के समय ही अपने गुरु को शुल्कस्वरूप एक मुश्त कुछ धन दे देते थे। निर्धन विद्यार्थी गुरुपरिवार में सेवा-कार्य करके शुल्क की कमी पूरा करते थे।

इस प्रकार की शिक्षा के तीन उद्देश्य थे—ज्ञान की प्राप्ति, सामाजिक कर्त्तव्य और धार्मिक क्रियाओं के प्रति रुचि और सर्वोपरि चरित्र-निर्माण। तीनों ही ध्येय स्पष्ट रूप से लोगों के सामने होते थे और सबसे अधिक बल चरित्र-निर्माण पर दिया जाता था। ब्राह्मण धर्म के महान् प्रतिपादकों ने भी स्पष्ट शब्दों में कहा है कि—"यदि किसी व्यक्ति का हृदय वासनाओं से युक्त है तो उसे वेद को शिक्षा दान, यज्ञ, त्याग, आत्मकष्ट तथा तपस्या से भी फल की प्राप्ति नहीं हो सकती।" वासनाओं पर पूर्णतः अनुशासन होना चाहिए, क्योंकि यदि कोई भी इन्द्रिय अनियन्त्रित हुई तो मनुष्य की बुद्धि उसी प्रकार लुप्त हो जाती है जिस प्रकार एक छेद से मशक का पानी। इन्द्रियों पर इस पूर्ण नियन्त्रण के उच्च आदर्श की पूर्ति के लिए विद्यार्थियों के अनुशासनपूर्ण जीवन की व्यवस्था थी। उसे सभी प्रकार के ऐन्द्रिक मनोरंजनों से दूर रहकर सरल, त्यागमय जीवन व्यतीत करना होता था।

वह अपने गुरु के निकट सम्पर्क में रहकर उनके उच्च आदर्शों से प्रेरणा लेता था और अपने अनुकरण और उदाहरण द्वारा सामाजिक और नैतिक गुण ग्रहण करता था। इसके साथ ही उसके स्वभाव के कोमल तन्तु पोषित किये जाते और वह अपने गुरु की पत्नी और पुत्रों के साथ मधुर और स्नेह सम्बन्धों द्वारा पारिवारिक गुणों का भी विकास करता।

शिक्षा के विषय बहुत ही विस्तृत थे। उसके अन्तर्गत न केवल धार्मिक और लौकिक साहित्य और उसके आवश्यक विषय-व्याकरण, छन्द-शास्त्र, अलंकार-शास्त्र, तर्क और दर्शन ही थे; वरन् आयुर्वेद, धनुर्वेद, ज्योतिष, खगोल, गणित, राजनीति अर्थशास्त्र आदि व्यावहारिक और वैज्ञानिक साहित्य तथा भविष्य-ज्ञान, जादू और सभी प्रकार के यान्त्रिक कलाओं की भी शिक्षा दी जाती थी। वैज्ञानिक शिक्षा का व्यावहारिक पक्ष कितना प्रबल था, यह जीवक की कथा से प्रकट होता है। जब जीवक सात वर्षों तक तक्षशिला में आयुर्वेद की शिक्षा प्राप्त कर चुका तो उसके अध्यापक ने उसे उसके ज्ञान को परीक्षा लेने के लिए बुलाया और बुलाकर उससे कहा—"यह खुरपी लो और तक्षशिला के चारों ओर एक योजन तक घूम आओ, तुम्हें जो भी पौधा औषधि के काम का न जान पड़े, उसे ले आओ।" तदनुसार जीवक हाथ में खुरपी लिये नगर के चारों ओर घूमता फिरा पर उसे एक भी पौधा ऐसा दिखाई न पड़ा जो औषधि के काम का न हो। यही बात उसने आकर अपने गुरु से कही। वे अपने शिष्य के ज्ञान से पूर्णतः संतुष्ट हुए और उसे घर जाने की आज्ञा दी।

५ वीं शताब्दी में नालन्दा के विश्वविद्यालय के विकसित न होने तक तक्षशिला ही प्राचीन भारत का सुप्रसिद्ध शिक्षा-केन्द्र था। वहाँ अनेक विख्यात अध्यापक थे और वहाँ न केवल भारत के कोने २ से वरन् दुनिया के अन्य भागों से भी विद्यार्थी आते थे।

तक्षशिला के अतिरिक्त कुछ अन्य नगर भी शिक्षा केन्द्र के रूप में प्रसिद्ध थे। कभी २ इन नगरों में एक अध्यापक के पास सैकड़ों विद्यार्थी हो जाते और उनकी व्यवस्था सार्वजनिक ढंग से की जाती। कभी २ अध्यापक को अपने शिष्यों की शिक्षा में नागरिक जीवन का वातावरण बाधक जान पड़ता और वे उनके साथ एकान्त स्थान में चले जाते। वहाँ वे अपने विद्यार्थियों के साथ अपने ज्ञातियों की सहायता से झोपड़ों में रहते और सादा जीवन व्यतीत करते। जब उनकी ख्याति दूर २ तक फैल जाती तो लोग उनकी सारी आवश्यकताएं पूरी कर दिया करते। इस प्रकार के छोटे स्वरूपों से नालन्दा विश्वविद्यालय सरीखी बड़ी संस्थाएं बन

जाती। नालन्दा का विश्वविद्यालय समस्त एशिया की शिक्षा-संस्थाओं का शिरमौर था। इस प्राचीन विश्वविद्यालय की महत्ता और सफलता का अनुमान आज इतने दिनों पश्चात् कर सकना हमारे लिए कठिन है। एशिया के विभिन्न भागों से वयस्क विद्यार्थी अपनी शिक्षायें पूरी करने यहाँ आते थे। नालन्दा की उपाधि के बिना शिक्षा जगत् में किसी की कोई गिनती नहीं समझी जाती थी।

चीनी यात्री ह्वेनसांग ने कई वर्षों तक नालन्दा में शिक्षा प्राप्त की थी। उसने उसकी महत्ता का एक भव्य विवरण दिया है। उसने लिखा है कि भारत में शिक्षा की हजारों संस्थाएँ थीं पर कोई भी नालन्दा के मुकाबले भव्य न थी। १० हजार विद्यार्थी न केवल बौद्ध साहित्य की विभिन्न शाखाओं का अध्ययन करते वरन् वे वेद (अथर्ववेद भी), तर्कशास्त्र, व्याकरण, आयुर्वेद, सांख्य, दर्शन आदि भी पढ़ते थे। प्रतिदिन १०० आसनों से शिक्षायें दी जाती थीं। राजाओं की कई पीढ़ियों की उदारता के फलस्वरूप न केवल यहाँ निवास और व्याख्यान के भव्य भवन बनाये गये थे, वरन् गुरु और शिष्यों की इतनी बड़ी संख्या की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति भी की जाती थी। १०० गाँवों की आय, इस कार्य में व्यय होती थी और इन गाँवों के २०० परिवार उनकी दैनिक आवश्यकताओं की बारी २ से पूर्ति करते थे। चीनी यात्री ने ठीक ही लिखा है कि "इन्हीं कारणों से विद्यार्थियों को वहाँ इतना अधिक मिलता है कि उन्हें चारों आवश्यकताओं—कपड़ा, खाना, बिस्तर और दवा, के लिए किसी से कुछ कहने की आवश्यकता नहीं रहती। यही उनकी शिक्षा की पूर्णता का रहस्य है।"

ह्वेनसांग नालन्दा के शिक्षा-वातावरण से अत्यन्त प्रभावित था। उसका कहना है कि "गंभीर प्रश्नों के पूछने और उत्तर देने के लिए पूरा दिन भी पर्याप्त नहीं पड़ता। प्रायः काल से रात्रि तक लोग वाद-विवाद में लगे रहते हैं। बूढ़े और जवान एक दूसरे की सहायता करते हैं।"

नालन्दा केवल वयस्क विद्यार्थियों के लिये था और उसमें प्रविष्ट होनेवाले व्यक्ति को एक कठोर प्रारम्भिक परीक्षा पास करनी पड़ती थी। ह्वेनसांग का कहना है कि शिक्षक और विद्यार्थी उच्चतम योग्यता और मेधा के व्यक्ति होते थे और उनकी ख्याति शीघ्र ही दूर २ तक फैल जाती थी। विभिन्न नगरों से बड़ी संख्या में विद्वान् अपनी शंकाओं का समाधान करने यहाँ आते थे, और नालन्दा के विद्यार्थी जहाँ भी जाते वहाँ उन्हें ख्याति और सम्मान अवश्य मिलता। थोड़े में नालन्दा विश्वविद्यालय उच्चतम शिक्षा के आदर्श का मूर्तरूप था और एशिया के शिक्षक के रूप में भारत ने जो कार्य किया, उसका यह प्रत्यक्ष प्रमाण था।

हिन्दू स्वातन्त्र्य के अन्तिम दिनों तक नालन्दा शिक्षा का एक महत्वपूर्ण केन्द्र बना रहा। इस काल में विक्रमशिला आदि विश्वविद्यालय और हजारों छोटी बड़ी शिक्षा-संस्थाएँ देशभर में बिखरी हुई थीं और ज्ञान के सभी विषयों की पढ़ाई वहाँ होती थी। ये संस्थाएँ या तो किसी व्यक्ति के दान से चलती थीं अथवा सार्वजनिक धन द्वारा उनका प्रबन्ध होता था। शिक्षा के निमित्त अपनी थैली खोल देने में भारतीयों को कभी भी हिचक नहीं हुई। इन शिक्षा-संस्थाओं से किस ढंग के आदमी निकलते थे, उसका वर्णन ह्वेनसांग के शब्दों में ही अच्छी तरह किया जा सकता है, यथा—"जब वे अपनी शिक्षा पूर्ण कर चुकते और ३० वर्ष की अवस्था के हो जाते हैं तो उनके चरित्र का निर्माण हो जाता है और उनका ज्ञान परिपक्व। कुछ लोग प्राचीनता को अच्छी तरह जानते हैं और अपने को शिक्षा में ही विलीन कर देते तथा संसार से अलग रहकर अपने चरित्र की सादगी बनाये रखते हैं। वे सांसारिक प्रपञ्चों से अलग रहते हैं और उन्हें सांसारिक नेकनामी और बदनामी की कुछ भी परवाह नहीं होती। उनके नाम दूर-दूर तक विख्यात हो जाते हैं। राजा उनकी बहुत प्रशंसा करते हैं, फिर भी उन्हें अपने दरबार में खींच सकने में असमर्थ रहते हैं। देश का प्रधान उनकी प्रतिभा का सम्मान करता है। जनता उनकी कीर्त्ति फैलाती है और उन्हें सार्वजनिक सम्मान प्रदान करती है। थकावट को भूलकर वे कला और विज्ञान की रचना करते रहते हैं। सदाचार में विश्वास कर ज्ञान की खोज करते रहते हैं। ज्ञान के लिए यदि उन्हें १५० मील की भी यात्रा करनी पड़े तो कुछ नहीं है। ऐसे लोगों का परिवार भले ही सम्पन्न हो तब भी वे निर्धन रहना पसन्द करते हैं, और रास्ते चलते भीख माँगकर खाते हैं। उनके लिए सत्य का ज्ञान ही सम्मान है, निर्धन होना कोई अपमान नहीं है।

ह्वेनसांग ने जिस ढंग के व्यक्तियों की चर्चा की है, वैसे व्यक्ति प्रत्येक युग और प्रत्येक देश में पैदा नहीं होते। शिक्षा की अद्भुत व्यवस्था का परिणाम साधारण प्राचीन भारतीयों के उच्चस्तर में भी देखा जा सकता है। इस सम्बन्ध में अत्यन्त विश्वसनीय कथन समय-समय पर आनेवाले विदेशी यात्रियों के हैं। ३ रीं शताब्दी ई० पूर्व में आनेवाले यवन राजदूत मेगस्थनीज के विचार पीछे दिये जा चुके हैं। ७ वीं शताब्दी ई० में आनेवाले चीनी विद्वान् ह्वेनसांग की बात अब सुनिये—"क्षत्रिय और ब्राह्मण पवित्र हैं। उनमें तनिक भी दिखाव नहीं है। उनका जीवन सरल, सादा और मितव्ययी है। उनकी इस पवित्रता में किसी प्रकार का भी दबाव नहीं है, वे स्वयं वैसे हैं। सामान्य व्यक्ति हल्की बुद्धि के हैं, तथापि वे स्पष्टवादी और सम्मानजनक हैं। पैसे के मामलों में उनमें छल

प्रपञ्च नहीं है और न्याय के क्षेत्र में उदार हैं। वे समाज के विश्वासघाती नहीं हैं और अपने वचनों के प्रति पूर्णतः दृढ़ रहते हैं। उनके व्यवहार में मृदुता और स्निग्धता है तथा उनके शासन के नियम न्यायपूर्ण हैं।" इस प्रकार पूर्व और पश्चिम दोनों के मानदण्डों से भारतीय चरित्र उच्च और सम्मानजनक था। यह निस्संदेह शिक्षा की उस महान् प्रणाली का परिणाम था, जिसे भारतीयों ने विकसित किया। उस प्रणाली ने ही अत्यन्त विशाल साहित्य और सर्वोत्तम ढंग के व्यक्ति पैदा किये।

उन्नीसवाँ अध्याय

आर्थिक अवस्था

१. वाणिज्य और व्यापार

इस काल में वाणिज्य और व्यापार उन्नति की अवस्था पर था। व्यापार न केवल देश के विभिन्न भागों के बीच ही होता था, वरन् पूर्वी और पश्चिमी देशों के साथ भी भारत का नियमित व्यापारिक यातायात था। बङ्गाल की खाड़ी के बंदरगाहों से जहाज बृहत्तर भारतीय द्वीपसमूहों के द्वीपों और चीन तक जाया करते थे। ताम्रलिप्ति (बंगाल का आधुनिक तामलुक) सुप्रसिद्ध बंदरगाह था। चीनी बन्दरगाहों से यहाँ तक होनेवाली यात्राओं के अनेक वृत्तान्त मिलते हैं, कलिंग और तमिल राज्य के लोगों का भी इस यातायात में बहुत बड़ा हाथ था। भारत के पूर्वी तट और समुद्र पार के भारतीय उपनिवेशों के साथ नियमित व्यापारिक आदान-प्रदान होता था। इसी प्रकार भारत के पश्चिमी तट और पश्चिमी एशिया, अफ्रीका और यूरोप के साथ भी जबरदस्त व्यापार-सम्बन्ध था। फाहियान जो ५ वीं शताब्दी में इस देश में आया था, ताम्रलिप्ति से भारतीय व्यापार-पोत में सिंहल होता हुआ जावा और फिर जावा से चीन गया था। ह्वेनसांग ने भी भारत के अन्तर्देशीय और विदेशी व्यापार की चर्चा की है। सौराष्ट्र के सम्बन्ध में उसने लिखा है कि "यहाँ के लोग समुद्र द्वारा अपनी जीविकोपार्जन करते और व्यापार तथा वस्तुओं के आदान-प्रदान में लगे रहते हैं।" पश्चिम के एक अन्य राज्य के सम्बन्ध में भी उसने लिखा है कि व्यापार वहाँ के लोगों का मुख्य धंधा है। ९ वीं शताब्दी से भारतीय व्यापार का पता अरब लेखकों से चलता है। इस समय में अरब व्यापारी पश्चिमी संसार के व्यापार में अगुआ बनने लग गये थे। भारतीय अभिलेखों में भी व्यापारियों के कार्यों की चर्चायें हैं। वैशाली के प्राचीन नगर के खंडहरों से बहुत सी मिट्टी की मुहरें मिली हैं, जिन पर बहुत से व्यापारियों, श्रेष्ठियों आदि के नाम अंकित हैं और उनके निगमों का उल्लेख है। डा० ब्लाख का, जिन्हें ये मुहरें मिली थीं, कहना है कि आधुनिक चैम्बर आफ कामर्स की भाँति, कोई संस्था उत्तर भारत के किसी बड़े व्यापारिक केन्द्र-सम्भवतः पाटलिपुत्र, में भी थी।"

इसी प्रकार दक्षिण में भी व्यापारियों की अपनी सांघातिक संस्थायें थीं। "५०५ व्यापारियों की संस्था, ६६ जिलों के १८ तहसीलों के व्यापारियों की सभा" की चर्चा पायी जाती है। वणंज जाति की एक जबरदस्त संस्था थी, जिसमें भारत के दूरस्थ भागों के विभिन्न वर्गों के व्यापारियों के संघ थे। तात्कालिक लेखों में उनकी बहुत चर्चायें हैं और उनमें उनकी प्रशंसा की गयी है। एक जगह लिखा है कि वे लोग वीर हैं और उनका जन्म अनेक देशों में घूमने के लिए ही हुआ है। वे जल और थल मार्ग से छह महाद्वीपों के प्रदेशों में जाते और घोड़े, हाथी, मणि-मुक्ता, सुगन्ध और औषधि आदि का थोक और फुटकर व्यापार करते हैं।" इन व्यापारिक संस्थाओं में से कुछ को तो बड़े और अनेक विशेष राजनीतिक अधिकार भी प्राप्त थे।

बढ़ते हुए व्यापार और वाणिज्य के कारण देश बहुत ही धनी हो गया और भारत के धन की दूर २ तक ख्याति फैली थी। वलभी के सम्बन्ध में ह्वेनसांग ने लिखा है कि "वहाँ कई सौ घर हैं, जो करोड़पति हैं। वहाँ दूर २ देशों की दुर्लभ और मूल्यवान् वस्तुएँ बड़ी मात्रा में संग्रहीत हैं।" इसी प्रकार भारत की अपार धनराशि का उल्लेख मुसलमान लेखकों ने भी किया है। ९ वीं और उसके बाद की शताब्दियों के अरब यात्रियों ने सामान्य शब्दों में भारत के "असीम धन" और "अपार स्वर्णराशि" की चर्चा की है। अरब इतिहासकारों ने मुसलमान विजेताओं द्वारा भारत की अपार सम्पत्ति लूटे जाने का उल्लेख किया है। बताया गया है कि मुलतान के पतन के पश्चात् मुहम्मद इब्न कासिम को अकेले एक मन्दिर से १३२०० मन सोना मिला था। इसी प्रकार एक समसामयिक लेखक का कहना है कि जब सुलतान महमूद ने भीमनगर (काँगड़ा) को जीता तो वहाँ इतना खजाना और मणि-मुक्ता जमा था कि ऊँटों के लिए उसका ढो सकना असम्भव था, घरों में उन्हें रख सकना असम्भव था, कोई भी लेखक उसका उल्लेख कर नहीं सकता और न कोई गणितज्ञ उसकी कल्पना कर सकता है।" विस्तारपूर्वक चर्चा करते हुए उसने लिखा है कि जितने भी ऊँट मिल सके, खजाना उन पर लादा गया। शेष कर्मचारी लोग उठा ले गये। ढले हुए सिक्कों की संख्या ७ करोड़ की रही और उनके अतिरिक्त बिना ढला ७ लाख ४ सौ मन सोना था। गजनी पहुँचकर सुलतान ने अपने महल के आँगन में फर्श पर अपनी लूट को फैला दिया और विदेशी राजदूत इस सम्पत्ति को देखने आये। उन्होंने इतनी सम्पत्ति देखी तो क्या पुरानी पुस्तकों में पढ़ी भी न थी। उतनी सम्पत्ति ईरान और रोम के शाह ने भी जमा न की थी। काँरू के पास भी इतनी सम्पत्ति न थी, हालाँकि उसे इच्छा प्रकट करने मात्र की देर थी; ईश्वर से उसे सब मिल जाता था।

कन्नौज के एक मन्दिर के, जो कि देश का सबसे धनी मन्दिर न था, धन का यह विवरण है। उस लेखक ने थानेश्वर की लूट के सम्बन्ध में लिखा है कि "उसे गिन सकना असम्भव है।" इसी प्रकार की कहानियाँ अन्य नगरों की लूट में मिली सम्पत्ति के सम्बन्ध में भी कही गयी हैं। अलाउद्दीन खिलजी और देवगिरि के यादव नरेश में जो संधि हुई उसके अनुसार यादव नरेश ने अलाउद्दीन खिलजी को अन्य वस्तुओं के साथ "६०० मन मोती, २ मन मणि और एक हजार मन चाँदी" दिया था। ये विवरण कुछ अंशों तक अतिरंजित कहे जा सकते हैं, तथापि देश की अपार धनराशि की एक सामान्य कल्पना तो कराते ही हैं।

बीसवाँ अध्याय

कला और वास्तु

(अ) गुप्त-काल

देश की अपार धन-राशि के फलस्वरूप कला और वास्तु का अद्भुत विकास हुआ। गुप्त काल में, जो धर्म और बौद्धिक पुनर्जागरण के लिये प्रसिद्ध है, कला की तीनों शाखाओं—वास्तुकला, मूर्तिकला और चित्रकला का भी अद्भुत रूप से विकास हुआ।

यद्यपि गुप्तों की राजनीतिक सत्ता लगभग ५०० ई० में समाप्त हो गयी, संस्कृति, विशेषतः कला का स्वरूप, उसके बाद भी अक्षुण्ण बना रहा और वह एक शताब्दी अथवा उससे कुछ अधिक काल तक चलता रहा। इस प्रकार ३००–६०० अथवा ६५० ई० के बीच की अवधि का युग गुप्त-काल समझा जा सकता है।

१. वास्तु कला

गुप्तकालीन वास्तुकला में प्राचीन परम्परा बनी ही हुई है, उसके साथ ही नवयुग के आरम्भ के चिन्ह भी पाये जाते हैं। स्तूप और लयण (पत्थर काट कर बनायी गयी गुफायें), जिनमें चैत्य और विहार दोनों हैं, पुराने ढंग के बनते रहे; किन्तु साथ ही उन में अनोखी नूतनता भी है। सारनाथ का धमेक स्तूप, जो सम्भवतः ६ ठीं शताब्दी ई० का है, गोल पत्थर का बना ढोलनुमा है, जिसके ऊपर गोलाई में ईंट की चुनाई है। वह १२८ फीट ऊंचा है। यह स्तूप वास्तु के विकास के चरम रूप का द्योतक है। गुफाओं, विशेषतः अजन्ता की १६ वीं १७ वीं, और १६ वीं गुफाओं में, सभी प्राचीन आवश्यक बातों के होते हुए भी एक नूतनता है जो उनके विभिन्न प्रकारों के सुन्दर स्तम्भों तथा भीतरी दीवारों और निचली छतों पर बनाये गये चित्रों में प्रकट होती है। लयण विहार और चैत्यों का एक अन्य समूह एलोरा में है।

चिनाई शैली के चैत्य और कुब्जपृष्ठ हिन्दू मन्दिर पुरानी ही परम्परा पर बनते थे। आरम्भिक गुप्तकालीन मन्दिर छोटे २ सपाट छतों वाले होते थे और उनमें कभी २ चारों ओर खम्भों से युक्त बारादरी होती थी। सांची का छोटा किन्तु भव्य मन्दिर इस काल का एक सुन्दर उदाहरण है। उत्तर भारत में एक नयी

शैली ने जन्म लिया, जिसमें कुल के ऊपर शिखर होता है। [illegible] गुप्त मन्दिर उस काल में [illegible] ऊँचे चबूतरे पर [illegible] शैली सारे देश में फैलायी गयी। [illegible] गुप्तकाल के मन्दिर [illegible] आकार में [illegible] हैं [illegible] किन्तु [illegible] उनसे उत्तर भारत में मन्दिर वास्तु का आरम्भ होता है जिसने सुदूर देशों में भी अपना ओर प्रभाव स्थापित किया। इस ढंग के मन्दिरों के [illegible] सुन्दर उदाहरण भीतरगाँव के ईंटों के बने मन्दिर और देवगढ़ के दशावतार मन्दिर में प्राप्त होते हैं।

२. मूर्तिकला

मूर्तिकला के क्षेत्र में गुप्त-काल में इस देश में कला की चरम उन्नति हुई। बुद्ध की मूर्तियों में, जो बड़ी संख्या में सारनाथ तथा अन्य स्थानों में पायी जाती हैं, विकास का वह पूर्णरूप है, जो अगले युग में देश और विदेशों में मूर्तियों का आदर्श माना जाता था। यह कला मथुरा से प्रारंभ हुई, और वस्तुतः गुप्तकालीन मूर्तियों को प्रत्येक दृष्टि से पूर्णतः भारतीय एवं आदर्श कहा जा सकता है। एक कला-मर्मज्ञ के शब्दों में "कलाविकास के पूर्णतः स्वाभाविक चक्र में गुप्त कला उच्चतम स्थान रखती है।" सारनाथ स्थित बुद्ध की मूर्ति में भव्यता और शान्ति टपकती है। उसमें कला की पूर्णता के साथ-साथ सर्वांग आध्यात्मिक भावना की अभिव्यक्ति हुई है। फलतः वह अपने ढंग का एक उच्चतम नमूना है। कला के ये उच्चगुण देवगढ़ मन्दिर में कोरी गयी शिव, विष्णु आदि ब्राह्मण देवताओं की मूर्तियों में भी परिलक्षित होते हैं। देवत्व के पूर्णस्वरूप का विकास, गुप्तकालीन मूर्त्ति-कला का चरम उत्कर्ष कहा जा सकता है। देवताओं की ये मूर्तियाँ आकार-प्रकार में न केवल सुन्दर, आकर्षक और भव्य हैं, वरन् उनमें आध्यात्मिक अभिव्यक्ति भी प्रभावित होती है। उस काल की मानवीय एवं दैवी प्रायः सभी मूर्तियों में ये विशेषताएँ थोड़ी बहुत अवश्य पायी जाती हैं।

मानव-शरीर का सौन्दर्य और आकर्षण मृण्मूर्तियों (पार्थिव) एवं अलंकरण मूर्तियों में भी पाया जाता है, जो सुगढ़ और ओजपूर्ण हैं। गहरी कुराई के बेल-बूटों में फूल पत्तियों के बीच बौने और पशुओं की आकृतियों का अंकन अपनी स्वाभाविकता और सुन्दर गढ़न की दृष्टि से अत्यन्त प्रशंसनीय है।

गुप्तकालीन कलाकार एवं कारीगर धातु के कार्यों में भी उतने ही दक्ष थे। दिल्ली में कुतुबमीनार के निकट स्थित सुप्रसिद्ध लौह स्तम्भ धातुकला की चातुरी का आश्चर्यजनक नमूना है। साँचों द्वारा ताँबे की मूर्तियाँ बहुत बड़े पैमाने पर ढाली जाती थीं और यह कार्य बड़ी कुशलता और दक्षता के साथ किया जाता

था। ६ठी शताब्दी के अन्त में बुद्ध की ८० फुट ऊँची ताम्रमूर्ति नालन्दा (बिहार) में खड़ी की गयी थी। ७॥ फुट ऊँची बुद्ध की एक बहुत सुन्दर ताम्र-मूर्ति सुलतानगंज में मिली थी, जो आज बर्मिंघम संग्रहालय में प्रदर्शित है।

संक्षेप में ताल, गति और सौन्दर्य की उच्च भावना से परिपूर्ण उच्च आदर्श ही गुप्तकालीन मूर्तियों की विशेषता है। उनकी कला और निर्माण में ओज और सुरुचि टपकती है। गुप्तकालीन कला में बौद्धिकता की प्रधानता है, जिसके कारण उच्च विकसित भावना और अत्यधिक अलंकरण को नियन्त्रित रख सकने में वह समर्थ हो सकी है। परवर्ती काल में यह बाँध एक दम टूट गया।

२. चित्र-कला

साहित्यिक प्रमाण इतने अधिक उपलब्ध हैं कि इस बात में कोई सन्देह नहीं कि चित्रकला का प्रचलन इस देश में अति प्राचीन काल से था। धार्मिक पालि साहित्य एवं रामायण तथा महाभारत में घर की दीवारों को चित्रों द्वारा अलंकृत करने और अनुरूप छवि (शबीह) बनाने की चर्चायें बहुत पायी जाती हैं, किन्तु जो प्राचीनतम चित्र आज इस देश में उपलब्ध हैं, वे ई० पू० पहली-दूसरी शताब्दी से अधिक पुराने नहीं जान पड़ते। ये चित्र सरगुजा राज्य में रामगढ़ पर्वत पर स्थित जोगीमारा गुफा की दीवारों पर अंकित हैं। भेड़ूसा की गुफा में भी चित्रों के निशान पाये गये हैं जो सम्भवतः ३री शताब्दी ई० के हैं।

किन्तु इस देश के सर्वोत्तम भित्तिचित्र अजन्ता की गुफाओं में अंकित हैं, जो पहली से सातवीं शताब्दी के बीच बने थे। इन गुफाओं की संख्या २९ है। १८७९ ई० तक इनमें से १६ गुफाओं में चित्रों के चिन्ह मौजूद थे किन्तु तब से वे बहुत कुछ नष्ट हो गये हैं और जो कुछ आज बच रहा है वह गुफाओं की दीवारों और छतों में अंकित चित्रों का एक अत्यल्प अंश मात्र है।

अधिकांश चित्र ४०० से ६०० ई० के बीच के हैं और वे मुख्यतः वाकाटक और चालुक्य राजाओं के संरक्षण में बने थे। इन चित्रों के बनाने के लिए अजन्ता की गुफाओं की दीवारों पर पहले मिट्टी, गोबर और कुटी छर्रियों के मिश्रण का एक अस्तर दिया गया था और उसके ऊपर बहुत पतले सफेद पलस्तर की एक हल्की पर्त पोती गयी थी। इस प्रकार तैयार की हुई आधार-भूमि को चिकना कर तर रखा गया और तब उस पर चित्र का रेखांकन कर उनमें रंग भरा गया। प्रायः सफेद, लाल, विभिन्न साये की हिरमिजी, हल्का हरा और नीला रंग इन चित्रों के बनाने में प्रयुक्त हुआ है।

इन चित्रों में बुद्ध के चित्र और उनके भूत और वर्तमान जीवन की अनेक घटनाएँ अर्थात् जातक कहानियाँ अंकित की गयी हैं। अलंकरणों के निमित्त पशु

पक्षी और फूल-पत्तियों का अत्यधिक प्रयोग हुआ है। उनकी डिजाइनें, असंख्य हैं, जो सुरुचिपूर्ण होने के साथ २ ही कल्पनाप्रधान भी हैं। इन चित्रों की कला-कुशलता और रस-निरूपण के सम्बन्ध में ग्रिफ़िथ का, जिन्होंने १३ वर्षों तक इन चित्रों का अध्ययन किया था, निम्नलिखित कथन लोगों के सामान्य मतको व्यक्त करता है।

उन्होंने लिखा है कि अपनी कुछ सीमाओं में बँधे होने पर भी ये चित्र मुझे अपनी रचना में इतने परिपूर्ण, परम्परा के अनुकूल, डिजाइनों में इतने मनमोहक और विविध तथा रूप और रंग में इतने आह्लादकारी जान पड़े कि मैं उन्हें इटली के कुछ उन आरम्भिक कलात्मक नमूनों के समकक्ष रखे बिना नहीं रह सकता, जिनकी कि संसार ने प्रशंसा की है। ······अजन्ता की कला-कुशलता सराहनीय है। लम्बी टेढ़ी रेखाएं भी तूलिका के एक झटके में इस कुशलता से खींचीं गयी हैं कि उनमें कहीं भी मोटाई अथवा पतलापन नहीं जान पड़ता। उन पर रंगाई प्रायः स्पष्ट और ओजपूर्ण है। उनमें कुछ नमूने तो पाम्पे की सर्वोत्तम कला के नमूनों के समान हैं। ······ कपड़ों को उन लोगों ने अच्छी तरह समझा है। उनकी सिकुड़न भले ही कुछ अंशों में परम्परागत ढंग पर बनायी गयी हो, तथापि वे बिना सिले कपड़ों के पूर्वी ढंग की विशेषताओं को अच्छी तरह व्यक्त करते हैं······कला की शिक्षा की दृष्टि से किसी भारतीय कला-विद्यार्थी के सम्मुख अजन्ता में पाये जानेवाले नमूनों से बढ़कर और कोई दूसरी चीज उदाहरण रूप में नहीं रखी जा सकती। इसमें सजीव कलात्मक भावों से युक्त मनुष्यों के मुखड़े, भावपूर्ण गतिशील अंग, खिले हुए फूल, उड़ती हुई चिड़ियाँ, उछलते, लड़ते अथवा चुपचाप बोझा ढोने वाले पशु, सभी कुछ प्रकृति की पुस्तिका से लिये गये हैं और उसी के नमूनों पर बने हैं। इस दृष्टि से वे मुस्लिम कला से एकदम भिन्न हैं, जो कृत्रिम, अवास्तविक और विकास में अक्षम है।"

डेनमार्क के एक कलाकार ने अजन्ता के चित्रों की बहुमूल्य आलोचना कलाकार की दृष्टि से की है। उसका कहना है कि "वह वास्तविक भारतीय कला की चरम सीमा की प्रतिलिपि है। इन चित्रों की प्रत्येक वस्तु, चाहे वह सम्पूर्ण चित्रों का संघटन हो अथवा एक छोटी सी मोती अथवा फूल का निर्माण, पैनी दृष्टि और महान् कौशल को प्रदर्शित करती है।"

ग्वालियर राज्य के बाघ नामक गाँव की गुफाओं में भी भारतीय चित्र के अच्छे नमूने १९ वीं शताब्दी तक उपलब्ध थे; किन्तु आज उनका बहुत ही थोड़ा अंश बच रहा है। इनमें भी अजन्ता की कला के समान ही उच्च गुण पाये जाते हैं और सम्भवतः वे ६ वीं अथवा ७ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के हैं।

(ई) गुप्तोत्तर काल

१. वास्तु कला

(अ) लयण

गुप्त युग के पश्चात् के ६०० वर्षों में वास्तु कला के क्षेत्र में अद्भुत विकास हुआ। पूर्व की भांति इस काल में भी धार्मिक वास्तु ही मिलते हैं। इस काल में लयण अपने विकास की चरम सीमा तक पहुंचे और फिर धीरे २ उनका स्थान चिनाई के वास्तुओं ने ग्रहण किया। फिर भी उसके कुछ अच्छे नमूने प्राप्त हैं, यथा—एलोरा की ब्राह्मण गुफाएं (जो आरम्भिक बौद्ध गुफाओं से भिन्न हैं) और एलिफेण्टा और सालसेट द्वीप (बम्बई के निकट) के सुन्दर मन्दिर। ये सभी ७–६ वीं शताब्दी के बीच कोरे गये थे। इनसे कुछ पूर्व की अनेक स्तम्भयुक्त बारह दरियाँ और मद्रास से ३५ मील दक्षिण मम्मलपुरम् में स्थित सात प्रास्तरिक मन्दिर हैं जो रथ अथवा पगोडा कहे जाते हैं। इन्हें ७ वीं शताब्दी में पल्लव नरेश महेन्द्रवर्मन् और नरसिंहवर्मन् ने बनवाया था। ये रथ मन्दिरों के विशाल भवन को पत्थर में कोर कर चुने हुए वास्तु की भांति बनाये गये हैं। इस प्रकार की कला का अद्वितीय नमूना, जिसका संसार में कोई सानी नहीं है, एलोरा स्थित कैलाश मन्दिर है, जिसे राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण ने बनवाया था। पहाड़ी का एक पूरा टुकड़ा ही (१६० फुट, १८० फुट) काट और कोर कर एकप्रास्तरिक मन्दिर के रूप में बनाया गया है, जिसमें कुशादे हाल और सुन्दर उत्कीर्ण स्तम्भ हैं। फर्ग्युसन ने उसे भारत के वास्तु कला में अपने ढंग का एकमात्र नमूना बताया है और स्मिथ ने उसे पत्थर काटकर बनाये गये मन्दिरों में सबसे विशाल और भव्य और 'भारत की वास्तु कला में घोर आश्चर्यजनक वस्तु' माना है।

एलोरा की जैन गुफाओं (८००–६५० ई०) के साथ भारत के उस लयण वास्तु का प्रायः अन्त हो जाता है, जिसका क्रमशः विकास हम अशोक के समय से पाते हैं। धीरे २ उनका स्थान चिनाई वाले भवनों ने ग्रहण कर लिया, जो निस्संदेह कला के विकसित हो जाने के पश्चात् की अधिक सामान्य और भौतिक पद्धति है।

(ब) चिनाई वाले मन्दिर

चिनाई के मन्दिर गर्भगृह के ऊपर के शिखरों के स्वरूप के अनुसार दो भागों में बांटे जा सकते हैं। उत्तर के मन्दिरों में शिखर आयताकार और वर्ग के ऊपर ऊँचे मीनार सरीखा होता है जो ऊपर की ओर मोटे से पतला होता चला जाता है। उसके ऊपरी छोर पर एक गोल पत्थर का कलश होता है जो आमलक

पहुँचता है। दक्षिण भारत में शिखर वाले मन्दिरों में गर्भ होता है जिसके ऊपर स्तूपिका अथवा गुम्बज का होती है। किन्तु उत्तर भारत की शैली में विशेषता उत्तर के शिखर मिली के विभूषित होते हैं जो अपने शिखर का कोना तक ही मालूम कर देते हैं। भौगोलिक विभाजन के अनुसार वास्तु कला की ये दो शैलियाँ क्रमशः उत्तर भारतीय अथवा आर्य, और दक्षिण भारतीय अथवा द्रविड़ कही जाती हैं।

(स) उत्तर भारतीय शैली

भुवनेश्वर (उड़ीसा) के अनेक मन्दिर उत्तर भारतीय शैली के विकास के नमूने हैं। इन मन्दिरों में मुख्यतः दो भाग हैं—गर्भगृह जिसके ऊपर शिखर होता है और सामने की ओर मण्डप जिसके ऊपर पिरामिडनुमा नीची छत होती है। भुवनेश्वर के अनेक मन्दिरों में तीन सर्वोत्तम उदाहरण मुक्तेश्वर, राजरानी, और लिंगराज, जो अपने शिखर सहित १६० फुट ऊँचा है, मन्दिरों के हैं। कोणार्क का सुप्रसिद्ध किन्तु ध्वस्त मन्दिर अपनी अद्भुत मूर्ति और मण्डप के सुनियोजित पिरामिडाकार छत की दृष्टि से उल्लेखनीय है। इसको पूर्ण वेग से बना हुआ वास्तु कहा जाता है। पुरी का जगन्नाथ मन्दिर भी इसका एक सुन्दर नमूना है। पूर्वी तटपर उड़ीसा से लेकर पश्चिम में काश्मीर तक सारा उत्तर भारत इस प्रकार के मन्दिरों से भरा पड़ा है। उनका एक सुन्दर समूह चन्देलों की राजधानी खजुराहो में है। ये मंदिर इस वंश के राजाओं द्वारा ९००-११५० ई० के बीच बनवाये गये थे। इस शैली का एक सुन्दर उपरूप राजपूताना और गुजरात में पाया जाता है। इसकी विशेषताएं स्तम्भों के मुक्त प्रयोग और उनपर अत्यधिक अलंकरण और सुन्दर संगमर्मर की छतें हैं। इस शैली के दो सुन्दर नमूने आबू पर्वतवाले मन्दिर हैं जो सफेद संगमरमर के बने हैं। ये मंदिर १०३१ और १२३० ई० में बनवाये गये थे। इन मंदिरों की नक्काशी की सुन्दरता और कोमलता तथा डिजाइनों की बहुलता वर्णनातीत है।

उत्तर भारत के मंदिरों की शान और शौकत का एक स्पष्ट आभास, सुलतान महमूद गजनी के पेशकार अल्उत्बी के मथुरा के मंदिरों के वृत्तान्त से प्रकट होता है।

"नगर के मध्य में अन्य मन्दिरों से बड़ा और सुन्दर एक मन्दिर था जिसका न तो वर्णन हो सकता है और न चित्रण। उसके बारे में सुलतान ने लिखा है कि यदि कोई इसके समान भवन बनवाना चाहे तो वह बिना १० लाख (सुर्ख) दीनार के खर्चे के नहीं बनवा सकता और उसके बनवाने में २०० वर्ष लगेंगे और

यह भी तब सम्भव होगा जब उसमें सबसे योग्य कारीगर लगाये जाँय। मूर्त्तियों में से पाँच एक स्वर्ण की बनी थीं और हवा में बिना किसी सहारे लटक रही थीं। इन मूर्त्तियों में से एक की आँखों में दो लाल थे जिनका मूल्य इतना था कि यदि कोई उस ढंग का लाल बेचना चाहे तो उसे ५० हजार दीनार मिलेंगे। दूसरी मूर्त्ति में एक नीलम जड़ा था जो पानी से भी अधिक निर्मल, स्फटिक से भी अधिक चमकदार था और जिसका वजन ४५० मिस्कल[1] था। एक अन्य मूर्ति के दोनों पैरों का वजन ४४०० मिस्कल था। इन सभी मूर्त्तियों से जो सोना प्राप्त हुआ उसका वजन ९८३०० मिस्कल था। चाँदी की मूर्त्तियों की संख्या २०० थी, किन्तु बिना टुकड़े-टुकड़े किये उनका तराजू पर रख कर तौलना सम्भव न था। सुलतान ने हुक्म दिया कि सभी मन्दिर तेल डाल कर जला दिये जाँय और जमींदोज़ कर दिये जाँय।

(द) दक्षिण भारतीय शैली

द्रविड़ शैली के आरम्भिक उदाहरण चट्टान काटकर बना मम्मलपुरम् का धर्मराज रथ मन्दिर और चिनाई कर बने काँची के कैलाशनाथ और वैकुण्ठपेरूमल के मन्दिर हैं। ये सभी मन्दिर पल्लव राजाओं ने बनवाये थे। धर्मराज रथ तथा ६ अन्य मन्दिर, जो उसी स्थान पर बने हैं, सप्तरथ अथवा पगोडा कहे जाते हैं। ये सभी मन्दिर एक ही चट्टान काट कर गढ़े गये हैं और पल्लव कलाकारों के कौशल के प्रतीक हैं।

पल्लवों के पश्चात् चोल दक्षिण की प्रधान राजनीतिक शक्ति थे। साथ-ही वे महान् निर्माता भी थे। उन्होंने अनेक मन्दिर बनवाये, जिनमें तन्जौर तथा त्रिचना-पल्ली जिले के गंगईकोंडचोल्लपुरम् के विशाल मंदिर विशेष उल्लेखनीय हैं। तंजौर का शिव मन्दिर भारत का सबसे बड़ा, सबसे ऊँचा और अत्यन्त भव्य धार्मिक वास्तु है। यह मन्दिर १८० फुट लम्बा है। उसके गर्भ-गृह का क्षेत्रफल ८२ वर्ग फुट है और दो मंजिला है। इसके ऊपर तेरह खण्डों का विशाल पिरामिडाकार १९० फुट ऊँचा शिखर है। इसके बाह्य भाग का एक-एक इंच मूर्त्तियों से अलंकृत है और भीतर के प्रत्येक अंश चित्रित हैं।

(इ) दक्षिणीपठार के मन्दिर

आरम्भ में दक्षिणी पठार की अपनी कोई मन्दिर-निर्माण की शैली न थी और ऐहोल, बादामी और पट्टदकल में उत्तर भारतीय और दक्षिण भारतीय

१. एक मिस्कल = ७१ ग्रेन।—अनुवादक

दोनों शैलियों के मन्दिर मिलते हैं। १००० ई० के पश्चात् इनमें धीरे-धीरे कुछ परिवर्तन होता जान पड़ता है, जिससे आगे चलकर एक नयी स्पष्ट शैली निर्धारित हुई। कुछ लोग इसे दक्षिण शैली का एक उपभेद मात्र बताते हैं। उनका कहना है कि उस पर उत्तर का कोई प्रभाव नहीं है। किन्तु इन मन्दिरों के छोटे पिरामिडनुमा शिखर देखने में निस्संदेह उत्तर और दक्षिण के मेल जान पड़ते हैं। ऊँचाई और बनावट में भी ये मन्दिर दोनों के बीच के कहे जा सकते हैं। उत्तरी भारतीय शैली का प्रभाव स्पष्टतः अलंकरण के रूप में प्रयुक्त उत्तरी शैली के छोटे शिखरों के प्रयोग में झलकता है, किन्तु दक्षिण भारतीय शैली का प्रभाव निस्संदेह ही अधिक स्पष्ट है।

इस ढंग के अधिकांश मन्दिर परवर्ती चालुक्य अथवा होयसल राजाओं द्वारा बनवाये गये अथवा उनके राज्यकाल में बने। अतः इन राजवंशों के नाम पर यह शैली चालुक्य, होयसल, अथवा चालुक्य-होयसल कही जाती है। शिखर के स्वरूप के अतिरिक्त इन मन्दिरों की, जो अधिकांशतः आधुनिक मैसूर में हैं; विशेषता यह है कि उनके पुश्तों पर जिस बाहुल्य और विभिन्नता के साथ मूर्तिकारियाँ की गयी हैं उनका सानी कोई भी प्राचीन अथवा अर्वाचीन मन्दिर नहीं है। अतः होयसल मन्दिरों को उचित ही 'मानव श्रम का, जो कि पूर्व के निवासियों में असीम धैर्य के साथ मिश्रित है, एक अद्भुत नमूना' कहा गया है।

द्वारसमुद्र का होयसलेश्वर मन्दिर इस शैली का अच्छा नमूना है। उसमें वस्तुतः दो मन्दिर अगल-बगल बने हैं जो बीच से एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। इनमें से प्रत्येक मन्दिर ११२ फुट लम्बा और १०० फुट चौड़ा है और नियोजन में बाह्मी 'क' की भाँति है। इस कारण बाहर से उनमें अनेक कोण निकले हुए दिखाई पड़ते हैं। दोनों मन्दिर और उनके नन्दीमण्डप एक ऊँचे चबूतरे पर हैं जिनके कोण मन्दिर की भाँति ही निकले हुए हैं। इस २५ फुट ऊँचे चबूतरे का समूचा बाहरी भाग पशु-मूर्त्तियों और बेल-बूटों से अलंकृत है, जिनकी लम्बाई भवन के चारों ओर मिलाकर ७१० फुट है। नीचे के भाग में हाथियों के चित्र महावतों और साजों सहित बड़ी बारीकी के साथ बनाये गये हैं और इनकी संख्या लगभग २००० है। नीचे के हिस्से में इस ढंग की १० अलंकृत पंक्तियाँ हैं और तब उनके ऊपर दीवालों पर बनी बड़ी उत्कीर्ण मूर्त्तियाँ हैं। एक उच्च कला-मर्मज्ञ ने सच ही कहा है कि—"यह मन्दिर अपनी सुन्दर मूर्त्तियों के बाहुल्य के कारण बिना किसी अतिशयोक्ति के मनुष्य द्वारा बनाये गये वास्तुओं में सबसे उल्लेखनीय कहा जा सकता है।"

२. मूर्तिकला

वास्तुकला की उन्नति के ठीक विपरीत उत्तरोत्तर काल में मूर्तिकला का क्रमिक ह्रास हुआ। इसका मुख्य कारण सम्भवतः धार्मिक रूढ़ियों पर अत्यधिक जोर दिया जाना माना पड़ता है; क्योंकि कलाकारों को बिना किसी रस-सौन्दर्य का ध्यान किये ही धार्मिक पुस्तकों में वर्णित देवताओं के स्वरूप को आंख मूंदकर मानना पड़ता था। फलतः ये मूर्तियां या तो बेडौल हैं या निर्जीव यान्त्रिक आकृतियां हैं, जो हृदय में किसी प्रकार का रस-संचार नहीं करतीं। तथापि देश भर में बिखरे असंख्य नमूने इस बात के द्योतक हैं कि तत्कालीन मूर्तिकार अत्यन्त कलाकुशल थे और कभी-कभी उन्होंने ऐसी वस्तु भी तैयार की जो भव्य और मनमोहक है। पाल-काल की पूर्वी भारत की मूर्तियों का अपना एक वर्ग है और लोग उनमें उनको उत्कृष्ट मानते आये हैं। उड़ीसा की मूर्तियां भी बहुत अच्छी हैं। दक्षिण भारत की नटराज की कुछ कांस्य मूर्तियों की कला-मर्मज्ञों ने बहुत सराहना की है। दक्षिणी पठार में, एलोरा के कैलाश मन्दिर की कुछ मूर्तियां और एलिफेण्टा गुफा (८ वीं शताब्दी) के उत्कीर्ण फलक इस काल की मूर्ति-कला के अच्छे उदाहरण कहे जा सकते हैं।

३. चित्रकला

कैलाश के प्रास्तरिक मन्दिर की निचली छतों और पास के इन्द्रसभा, लंकेश्वर और गणेश लयणों में जो चित्र हैं, वे अजन्ता और बाघ की शैली आदि से भिन्न हैं। सम्भवतः उनकी दीवारें भी चित्रित थीं, किन्तु उनके चिह्न मात्र ही उपलब्ध हैं। इनमें से अधिकांश चित्र मन्दिर के ही काल के अर्थात् ८ वीं शताब्दी के हैं।

पुदुक्कोट्टई (मद्रास) के सित्तनवासल के गुहामन्दिर में पल्लव नरेश महेन्द्र वर्मन् के काल के कुछ सुन्दर चित्र हैं। ये पल्लव शासनकाल की कला की उत्कृष्टता के नमूने हैं।

११ वीं शताब्दी के चोल चित्र तंजौर के बड़े मंदिर में मिले हैं। इनके ऊपर पीछे दूसरे चित्र बना दिये गये थे, किन्तु अभी वे फिर से प्रकाश में आ गये हैं। उनकी उत्कृष्टता देखकर अजन्ता की याद आ जाती है और परवर्ती चित्रों से, जिनसे वे ढके हुए थे, वे एक दम भिन्न हैं।

परवर्ती काल की चित्रकला अधिकांशतः पूर्वी भारत और गुजरात में मिलने वाले ताड़पत्रों के सचित्र ग्रंथों से ही ज्ञात है। यद्यपि ये मूलतः अजन्ता के क्रमागत

हैं पर कला की दृष्टि से वे उससे घटिया हैं। यद्यपि पाल-काल के कुछ ग्रन्थों के चित्र अच्छे हैं पर उनकी तुलना रंग, भाव और रेखांकन की दृष्टि से अजन्ता बाघ, और सित्तनवासल के पूर्ववर्ती चित्रों से नहीं की जा सकती। इन बातों में तो, जो कला के मुख्यतत्व हैं, सातवीं शताब्दी तक के ही नमूने भारतीय चित्रकला के चरम वैभव को प्रकट करनेवाले हैं।

इक्कीसवाँ अध्याय

हिन्दू समाज का ह्रास

पिछले एक अध्याय में हमने इस बात की चर्चा की है कि भारतीय आर्य संस्कृति की मुख्य विशेषता उसकी आत्मसात् करने की महान् शक्ति थी। हम देख चुके हैं कि न केवल आदिम निवासी ही, जिनके सम्पर्क में इस देश में पहली बार आर्य आये, वरन्, यवन, पार्थव, शक और कुषाण आदि विदेशी जातियाँ भी धीरे २ विशाल भारतीय समाज में घुल मिल गईं। इस सूची में हूण और गुर्जरों का नाम भी जोड़ा जा सकता है। रामायण और महाभारत के वीरों के साथ जोड़ी जाने वाली वंशावलियों के बावजूद, संतोषजनक रूप से यह सिद्ध हो चुका है कि ५–६ ठीं शताब्दियों में भारत पर आक्रमण करनेवाली हूणादि जातियों का एक बहुत महत्त्वपूर्ण अंश राजपूत समुदाय में मौजूद है। हूणों की आज भी गणना राजपूतों की ३६ जातियों में की जाती है। गुर्जर भी सम्भवतः विदेशी थे। प्रतिहार सम्राट, जो निश्चय ही गुर्जर जाति के थे; मध्यकालीन इतिहास में परिहार के रूप में पुनः प्रकट हुए और वे प्रमुख चार अग्निकुलीय क्षत्रिय वंशों में गिने जाते हैं—अर्थात् वे उन राजपूत जातियों में हैं जिनके सम्बन्ध में कहा जाता है कि वे आबू पर्वत के अग्निकुण्ड से प्रकट हुए थे।

हिन्दुओं का औदार्य

इस प्रकार स्पष्ट है कि इस काल के आरम्भ में भी भारतीय आर्य—समाज में पूर्व की भाँति ही उदारता और ग्रहणशक्ति बनी हुई थी। उसके इस गुण का अन्तिम उल्लेखनीय उदाहरण बौद्धधर्म का हिन्दू समाज में आत्मसात् किया जाना है। इसकी चर्चा हम पहले कर चुके हैं। आत्मसात् करने की यह शक्ति इस समय तक अक्षुण्ण थी। भारतीयों ने विदेशी कला और मुद्रातत्व से प्रेरणा प्राप्त की और ज्योतिष के विकास में रोमक लोगों से काफी सहायता ली।

प्राचीन काल की इस उदार भावना के विपरीत अब हम संकीर्ण बहिष्कार के भाव भी बढ़ते हुए पाते हैं जिसके फलस्वरूप हिन्दुओं का विनाश हुआ। सभ्यता के इस स्वरूप का उल्लेख अल्बेरूनी ने बड़े जोरदार शब्दों में इसप्रकार किया है—

"हिन्दुओं की सारी कट्टरता उन लोगों के प्रति है, जो उनके यहाँ कुलीन विदेशी हैं। वे उन्हें म्लेच्छ अर्थात् अपवित्र कहते हैं और उनसे हर प्रकार के संबंध का निषेध करते हैं, चाहे वह विवाह हो अथवा अन्य किसी प्रकार का सम्बन्ध। उनके साथ बैठना और खाना-पीना भी निषिद्ध है, क्योंकि वे समझते हैं कि इससे वे अपवित्र हो जायेंगे। वे विदेशियों की आग और पानी से छू गई चीजों को भी अपवित्र समझते हैं, जब कि कोई भी परिवार बिना इन चीजों के रह नहीं सकता। यदि कोई चाहे और उनके धर्म के प्रति अनुरक्त हो तो भी वे किसी ऐसे व्यक्ति से नहीं मिलते जो उनके वर्ग का नहीं है। इस कारण भी उनके साथ सम्बन्ध एकदम असम्भव हो गया है और हमारे और उनके बीच एक गहरी खाई आ गयी है।

हिन्दू समझते हैं कि उनके देश के समान कोई दूसरा देश नहीं है न उनके राष्ट्र के समान कोई दूसरा राष्ट्र, न उनके धर्म के समान कोई दूसरा धर्म और न उनके विज्ञान के समान कोई दूसरा विज्ञान है। वे मूर्ख, दम्भी, आत्माभिमानी और जिद्दी हैं। सम्भवतः वे इतने क्षुद्र हैं कि वे अपना ज्ञान दूसरों को नहीं बताते। अपने ही लोगों में भी दूसरी जाति के लोगों से उसे छिपाकर रखते हैं, विदेशियों से तो कहना ही क्या। उनका विश्वास है कि पृथ्वी पर उनके देश के समान कोई देश नहीं है, उनके समान मनुष्य की कोई दूसरी जाति नहीं है और उनके समान दूसरे के पास कोई ज्ञान और विज्ञान नहीं है। वे इतने मूर्खाभिमानी हैं कि उनसे यदि खुरासान और फारस के किसी विज्ञान अथवा किसी विद्वान् की बात करिये तो वे आपको मूर्ख और झूठा समझेंगे। किन्तु यदि वे यात्रा कर दूसरे राष्ट्रों से मिलें जुलें तो निश्चय ही उनके विचार बदल जायेंगे, क्योंकि उनके पूर्वज आज की तरह संकीर्ण विचार के न थे।"

गम्भीर और आलोचक-बुद्धि के इस अरब विद्वान् ने संकीर्णता और हठधर्मी का जो दुखद चित्र अंकित किया है वह निश्चय ही ११ वीं शताब्दी में हिन्दू समाज के ह्रास का द्योतक है। बाह्य संसार के साथ भारतीयों के सम्बन्ध के पूर्ववर्ती इतिहास को याद करने पर यह बात तो और भी दुःखद जान पड़ती है। इतिहासकार के मुख से अनायास निकल ही पड़ता है "किस ऊँचाई से गिर कर किस गड्ढे में चले गये।"

इस बड़े परिवर्तन के कारण की खोज करने पर हमारा ध्यान तत्काल जाति-व्यवस्था की ओर जाता है, जिसने ब्राह्मण धर्म के पुनरुत्थान के समय से रूढ़िवादी रूप धारण कर लिया था। कहा जा चुका है कि वैदिक काल में समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जैसे विभागों में बँटा था। किन्तु यह न तो असामान्य था और न इसमें कोई बुराई उत्पन्न करनेवाली बात ही थी। इस प्रकार के भेद आज

भी यूरोपीय समाज में देखी जाती हैं। उदाहरण के लिए इंग्लैण्ड के लार्ड, पादरी, मध्यवर्ग और मजदूरों से तुलना कीजिए। ये वर्ग जाति की कठोर व्यवस्था से बहुत दूर हैं और इन दोनों के बीच अनेक माध्यमिक अवस्थायें रही हैं। जाति व्यवस्था की मुख्यतायें अर्थात् ब्राह्मणों की प्रभुता, जन्मना जाति, विभिन्न जातियों के बीच खानपान, और अन्तर्विवाह की मनाही—ये सब बातें बाद में आईं। प्राचीन धर्मग्रन्थों में इनमें से कोई भी बात मान्य न थी और इनमें से प्रत्येक को काफी संघर्ष के बाद मान्यता मिली। यह संघर्ष हिन्दू काल के अन्त तक होता रहा। अन्ततः क्षत्रियों के घोर प्रतिरोध के बावजूद ब्राह्मणों की विजय हुई और बौद्धधर्म के ह्रास ने उनकी प्रभुता पर मुहर लगा दी। एक बार उनका प्रभुत्व निश्चित हो गया तो वे शक्ति और संगठन के साथ उसके संरक्षण में लग गये, जब कि उन्हें अपनी शक्ति को किसी दूसरे अच्छे कार्य के लिए बचा छोड़ना चाहिए था। ब्राह्मणों ने जो कुछ किया उससे बढ़कर किसी सामाजिक परिवर्तन का उल्लेख सम्भव नहीं है। प्राचीन शास्त्र का नाम लेकर समाज में ऐसे २ नये तत्व जोड़े गये, जो उन्हीं शास्त्रों के शब्दों एवं भावनाओं के विरुद्ध थे। प्राचीन पुस्तकों में प्रत्यक्ष विपरीत उदाहरणों के होते हुए भी उन्होंने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि ब्राह्मण माता-पिता की संतति के अतिरिक्त अन्य कोई ब्राह्मण नहीं हो सकता। इस तथ्य के रहते हुए भी कि बहुत पीछे रचित मनु-संहिता भी विभिन्न जातियों के बीच अनेक प्रकार के विवाहों को स्वीकृति देती है, विवाह जाति में मर्यादित कर दिया गया। सबसे आश्चर्यजनक बात तो पीछे हुई। धार्मिक साहित्य में भोजन और यज्ञ का भोजन शूद्र द्वारा पकाये जाने की अनुमति दी गयी है और धार्मिक ढङ्ग की किसी भी छोटी से छोटी प्राचीन पुस्तक में भी विभिन्न जातियों के बीच परस्पर खान-पान पर रोक लगानेवाली बात नहीं है। फिर भी खान-पान और छूत-छात को नियन्त्रित करनेवाले नियम लागू कर दिये गये। नीच जाति की छाया से भी ब्राह्मण अशुद्ध होने लगे।

धीरे २ किन्तु दृढ़ता के साथ ब्राह्मणों ने शेष समाज को हीनता और अधीनता की स्थिति में नीचे गिरा दिया। क्षत्रियों के पास राज्याधिकार था और उन्हें कुछ सामाजिक सम्मान भी प्राप्त था। इसका संतुलन उन्होंने धीरे २ क्षत्रियों के पद और सम्मान पर नियन्त्रण कर लिया और उन्हें भी महत्वहीन बना दिया। वैश्यों की भी यही अवस्था हुई। फलतः क्षत्रिय और वैश्य भारतीय समाज से लुप्त-प्राय हो गये और उनके वंशज, जिन्हें आज अनेक पेशों की जातियों के रूप में हम बँटा पाते हैं, शूद्रों की उस स्थिति में पहुँच गये जिसमें आर्य समाज में मिलने वाली विभिन्न आदिम जातियों के वंशज एवं अन्य अनेक जातियाँ थीं।

आभीर, खस, आन्ध्र, वैदेह और मागध को, जो वस्तुतः सुप्रसिद्ध समाज थे मनुस्मृति में हम जाति के रूप पाते हैं। इसी प्रकार बुनकर, कुम्हार, बढ़ई, सुनार, लोहार, आदि शब्दों से उन पेशों के करनेवाले व्यक्ति-समूह का बोध होता था, किन्तु वे भी जाति के रूप में अब जड़ होते गये। यह मनुसंहिता के काल के पश्चात् हुआ, क्योंकि उसमें उनका उल्लेख जाति की सूची में न होकर पेशों की सूची में हुआ है। इन विभिन्न जातियों के विकास को समझने के निमित्त मनुसंहिता में एक निश्चित और व्यवस्थित सिद्धान्त प्रतिपादित करने की चेष्टा की गयी है। जातियों को दो श्रेणियों में विभाजित किया गया है। पहले वर्ग में वे जातियाँ हैं जो ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्यों के अपने धार्मिक कर्तव्यों से च्युत हो जाने अथवा ब्राह्मणों द्वारा उपेक्षित होने के कारण समय २ पर पतित होकर शूद्र हो गयीं। दूसरे वर्ग की जातियों का उद्भव वर्णसंकर सिद्धान्त द्वारा प्रतिपादित किया गया।

इस सिद्धान्त के अनुसार विभिन्न जातियों के पारस्परिक विवाहों से नयी जातियाँ उत्पन्न हुईं। अधिकांश जातियों का विकास चारों वर्णों के अन्तर्विवाह और उनके परिणामस्वरूप उद्भूत उपजातियों से हुआ। यह सिद्धान्त देखने में ही मूर्खतापूर्ण है और बिना बिचारे ही हँसकर टाल देने योग्य है। भला देखिये तो, यह विचित्र बात है कि चीनों, यवनों, शकों, सात्वतों, और आभीरों आदि का भी विकास इसी ढंग पर बताने की चेष्टा की गयी है। यही नहीं, यदि इस सिद्धान्त को ध्यानपूर्वक देखा जाय तो वह ब्राह्मण के लिए भी प्रतिष्ठादायक नहीं है। उदाहरणार्थ शूद्र पिता और ब्राह्मण माता की सन्तान चाण्डाल कहे गये हैं। कुछ जगहों में ब्राह्मणों की अपेक्षा चाण्डालों की संख्या बहुत अधिक पायी जाती है। तो क्या हम विश्वास कर लें कि ब्राह्मण लड़कियाँ अपनी जाति के बालकों की अपेक्षा शूद्रों के प्रति अधिक आकृष्ट होती थीं, यद्यपि उन दोनों के बीच वैध विवाह नहीं हो सकता था। इन सिद्धान्तों के बारे में हम चाहे कुछ भी सोचें, उनका परिणाम ब्राह्मणों के ऊँचे दावों की दृष्टि से पूर्णतः सन्तोषजनक हुआ। अब उनका सम्मानपूर्ण अधिकार निर्बन्ध हो गया और वे समाज के शास्त्र-निर्माता होकर सारी जनता के भाग्य-विधाता बन गये। सारी विद्या और संस्कृति पर उनका एकाधिकार हो गया। प्राचीन काल के क्षत्रिय और वैश्यों का भी उस पर अधिकार था, किन्तु समाज में अब उनके अवशेष रहे ही कहाँ ? यदि कुछ थे भी तो वे ब्राह्मणों की दया पर आश्रित थे। वे चाहते तो उन्हें पतित कर शूद्र बना देते। अन्तिम तीन चार शताब्दियों की राजनीतिक स्थिति ने ब्राह्मणों की बड़ी सहायता की। राजपूत कहे जाने-

वाली हूण और गुर्जरों के वंशजों अथवा आर्यसमाज में चन्देल सदृश आत्मसात् हुए देश के आदिवासियों के हाथ में ही मुख्यतः राज्याधिकार था। वे शासक क्षत्रिय अवश्य कहे जाते थे, किन्तु उनकी अपनी कोई भव्य परम्परा न थी। अपने नव उद्भव के कारण वे सामाजिक सम्मान और स्थिति के निमित्त ब्राह्मणों के मुखापेक्षी थे। यह उन्हीं से मिलना सम्भव था। फलतः स्वाभाविक था कि वे ब्राह्मणों के दास बने रहें और ब्राह्मण उनका उपयोग अपनी प्रभुता को चुनौती देने का साहस करनेवालों के विरुद्ध करते रहें।

हिन्दू समाज की अब उस व्यक्ति के सदृश दयनीय अवस्था हो गयी, जिसका सिर और पैर तो काम करता हो किन्तु बीच के अन्य भाग पंगु अथवा निष्क्रिय हो गये हों। स्पष्ट है कि दोनों में से किसी में भी स्वस्थ विकास की क्षमता नहीं हो सकती। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि इस दयनीय स्थिति के लिए अकेले ब्राह्मण ही उत्तरदायी नहीं हैं। जनता जैसी थी वैसी ही उसकी स्थिति हुई। यदि जनता में आत्मबल और शक्ति होती और वह अन्धविश्वासों की उस जंजीर को तोड़ पाती, जिसकी दासता में वह बाँधी जा चुकी थी, तो ब्राह्मण कभी अपना प्रभुत्व न जमा पाते। हिन्दुओं जैसी प्रतिभाशील जाति के अन्धविश्वासों के शिकार हो जाने पर यदि किसी को आश्चर्य हो तो अपने चारों ओर देख लेना ही पर्याप्त होगा। ऐसे मनुष्य भी जो संसार के किसी भी समाज से आचार और बौद्धिक गुणों में कम नहीं हैं, आज भी उस पुराने अन्धविश्वास में बँधे दिखाई पड़ते हैं। प्राचीन वेदों, ब्राह्मणों, सूत्रों और स्मृतियों को जानते हुए भी बङ्गाल के लाखों आदमी आँख मूँदकर १५ वीं शताब्दी के एक ब्राह्मण लेखक के ऐसे आदेशों को मानते चले जा रहे हैं, जो प्राचीन धार्मिक साहित्य के घोर विरुद्ध हैं। यही नहीं उसे ऐसे भी मनुष्य दिखाई पड़ेंगे जो विवेक और अपने सर्वोत्तम सुदिन की परम्पराओं को नहीं मानते वरन् पतित दिनों के अन्धविश्वासपूर्ण रीतिरिवाजों के सम्मुख आतंकयुक्त सम्मान के साथ सिर झुकाते हैं। जाति प्रथा से जो बुराईयाँ उत्पन्न हुईं उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

जाति प्रथा का परिणाम दूसरे क्षेत्रों में भी घातक हुआ। छुआछूत और अन्तभोंज तथा अन्तर्विवाह पर ऐसी रोक लगाई गई, जिसकी कल्पना स्मृतियों में भी न थी। उसका हिन्दू समाज पर विनाशक प्रभाव हुआ। बुद्धि-विकास रुक गया, जनता में शिक्षा का प्रचार कम हो गया, कलाकौशल के पूजकों को नीचा स्थान दे देने के कारण उनका विकास रुक गया तथा पवित्रता के ढोंगों पर जोर दिये जाने और म्लेच्छ देशों के लिये समुद्र-यात्रा वर्जित किये जाने से व्यापार और वाणिज्य की उन्नति बन्द हो गई। छोटे-छोटे टुकड़ों में बंट जाने के कारण

जनता में राष्ट्रीय भावना न पनप सकी। बङ्गाल के एक ब्राह्मण की अपने प्रान्त के किसी कारीगर अथवा किसान को अपेक्षा कन्नौज के एक ब्राह्मण के साथ नैकट्य की भावना थी।

मध्यकालीन यूरोप की भाँति भारत का भी विभाजन आड़े रूप में न होकर पड़े रूप में हुआ था। किन्तु यूरोप में वर्ग-स्वार्थ धीरे-धीरे राष्ट्रहित के सम्मुख दब गया, किन्तु भारत को जातिव्यवस्था की कठोरता ने वर्गस्वार्थ को निरन्तर जीवित रक्खा और लोगों में कभी भी सच्ची राष्ट्रीय भावना न जग सकी। सर्वोपरि, जातिव्यवस्था में बढ़ते हुए अन्धविश्वास और शुद्धाशुद्ध के विचार ने लोगों के दृष्टिकोण में सङ्कीर्णता और अभिमानपूर्ण उपेक्षा और बहिष्कार भावना उत्पन्न कर दी, जिसकी चर्चा अल्बेरूनी ने की है। उनकी यह उपेक्षा ही एक प्रकार से भारत के राजनीतिक ह्रास के लिए उत्तरदायी है। बाहरी दुनियाँ से अलग हो जाने के कारण विशान-विशेषतः एशियाई राष्ट्रों में विकसित सैनिक विज्ञान-के विकास के प्रति हिन्दू अज्ञानी ही बने रहे और इसकी पूर्ति उनके उच्च आदर्शों और अद्भुत साहस से न होनेवाली थी। मुसलमानों के आक्रमणों के ध्यानपूर्ण अध्ययन से यह झलकता है कि साहस, वीरता और धैर्य में भारतीय मुसलमानों से रंचमात्र भी कम न थे, फिर भी वे पराजित हुए। इसका कारण यही है कि वे विदेशों में हुई, सैनिक विज्ञान की उन्नति के साथ कदम न बढ़ा सके और उन सैनिक साधनों से अपरिचित बने रहे जिनमें उनके विरोधी पारङ्गत थे। माना कि पहले भी विदेशियों ने भारत को जीता था, किन्तु उनकी विजय सीमान्त प्रदेशों के आगे कदाचित ही हुई, और वह भी बहुत दिनों के लिए नहीं। भारतीय अपनी भूमि के लिए सफलतापूर्वक लड़े और सदैव विदेशी शत्रु को निकाल बाहर करने में सफल रहे। किन्तु मुस्लिम आक्रमणों के सम्मुख उनकी असमर्थता का कारण, जिससे सारा देश विदेशी सत्ता के सम्मुख पराधीन बना, जाति-व्यवस्था के कारण उत्पन्न ह्रास है। कहा जा सकता है कि जाति प्रथा इसका कारण नहीं अपितु उस अवस्था की द्योतक है, जब जनता में ही निर्बलता और ह्रास की स्थिति आ गयी थी, जिससे मुसलमानों की विजय सम्भव हुई। सम्भव है इस तर्क में बहुत सार हो, किन्तु इसमें तो सन्देह नहीं कि जाति का विकास और जनता का ह्रास दोनों पर एक दूसरे की क्रिया और प्रतिक्रिया हुई और जाति-व्यवस्था के विकास की प्रत्येक मंजिल हिन्दुओं को ह्रास की ओर ले आनेवाली थी।

किन्तु केवल जाति-व्यवस्था ही नव ब्राह्मण धर्म द्वारा निर्मित समाज की दुर्भाग्यपूर्ण विशेषता न थी। नारी समाज का भी, जिसे किसी समय उच्च सम्मान

प्राप्त था, जिस रूप में पतन हुआ वह कम दुर्भाग्य की बात नहीं है। उनके प्रति परिवर्तित भावना मनुस्मृति में, जो नव जागृत ब्राह्मण धर्म का वेद है, स्पष्ट है। मनु ने निस्सन्देह मीठे-मीठे वाक्य भी कहे हैं, जिनमें पुरानी भावनाएँ निहित हैं। यथा—'पिता भाई पति और देवर जेठों को अपनी भलाई के निमित्त स्त्रियों का आदर करना और उन्हें भूषित करना चाहिये।' 'जहाँ स्त्रियों की पूजा होती है वहाँ देवता प्रसन्न रहते हैं।' 'जहाँ उनका अपमान होता है वहाँ धार्मिक कार्यों का कुछ फल नहीं होता।' किन्तु व्यावहारिक विधान बनाते समय पता नहीं शास्त्रज्ञ के वे मीठे-मीठे वाक्य कहाँ चले गये। नारी की स्थायी पराधीनता का मूल सिद्धान्त इन शब्दों की दृढ़ता में व्यक्त किया गया है, "बचपन में स्त्री अपने पिता के अधीन रहे, युवावस्था में पति के और यदि पति मर जाय तो बेटे के। स्त्री को कभी स्वतन्त्र नहीं रहना चाहिये।" पति-पत्नी के बीच के स्वाभाविक स्नेहसम्बन्ध को, स्त्री को जबरदस्त हीनता की स्थिति में रखकर नष्ट कर दिया गया था। 'पति यद्यपि गुणहीन, विलासी और पतित हो तो भी धर्मपरायण पत्नी को उसको देवतुल्य निरन्तर पूजा करनी चाहिये।' 'जो स्त्री अपने दुराचारी, शराबी अथवा रोगी पति की उपेक्षा करती है, वह तीन मास तक त्यक्त और वस्त्राभूषण से वंचित होगी।' किन्तु इस प्रकार का कोई विधान पति के लिए नहीं है। कहा गया है कि जो स्त्री शराबी, दुराचारी, विद्रोही, रुग्णा, दुष्टा अथवा अपव्ययी है उसे किसी समय भी छोड़ा जा सकता है और दूसरी स्त्री ग्रहण की जा सकती है। यही नहीं, पति उसे और भी साधारण बात पर त्याग सकता है। बन्ध्या पत्नी का त्याग आठवें वर्ष किया जा सकता है, जिसके सभी बच्चे मर जाते हों, उसका दसवें वर्ष में; जो केवल लड़कियों को ही जन्म देती हो, उसे ११ वें वर्ष में; किन्तु जो झगड़ालू हो उसका तत्काल त्याग हो सकता है। बेचारी पत्नी को यह सारी हीनता मूर्तिवत् चुपचाप सहनी पड़ती, क्योंकि व्यक्त होने पर यदि पत्नी गुस्से में घर छोड़कर चली जाय तो या तो वह बन्दी कर ली जाय या परिवार के सदस्यों के सम्मुख निकाल दी जाय। कभी-कभी वह कोड़े अथवा बाँस से पीटी भी जा सकती थी। बेचारी पत्नी से तो आशा की जाती कि वह पति की मृत्यु के पश्चात् भी स्वयं जीवित जलकर उसका अनुगमन करेगी, किन्तु पति अपने सम्मुख मरनेवाली पत्नी की दाहक्रिया समाप्त करने के पश्चात् पुनः विवाह कर अग्नि प्रज्वलित कर सकता था। सबसे विचित्र बात तो यह है कि स्त्रियाँ, जिन्होंने एक समय वैदिक ऋचाओं की रचना की थीं, वेदाध्ययन और यज्ञ कर्म से वंचित कर दी गयीं ?

[1]मनु ने हिन्दू विधवाओं के पुनर्विवाह का निषेध किया है, किन्तु इतना निश्चित है कि उनके समय में इस प्रकार के विवाह प्रचलित थे। इसी प्रकार अन्य मामलों में भी मनुस्मृति के आदेश तत्कालीन अवस्था के द्योतक न होकर भविष्य में होनेवाली बातों की पूर्वछाया हैं। मनुस्मृति में नारी की पदमर्यादा के पतन की जो कल्पना की गयी है, वह शीघ्र ही साकार होकर सामने आयी।

मनुष्य और स्त्री-पुरुष के बीच जो अभेद्य दीवार खड़ी कर दी गई, उसके कारण हिन्दू राष्ट्र एवं पारिवारिक जीवन की सारी शक्ति और स्फूर्ति नष्ट हो गयी। अतः कोई आश्चर्य नहीं, यदि वे एक ऐसे धर्म के माननेवालों को सरल शिकार बने, जो अपने धर्मावलम्बियों को न केवल विश्वबन्धुत्व की शिक्षा देता है वरन् उसका व्यवहार भी करता है।

---

१. मनु ५·१५४, १६८; ९·१४–१८, ७८–८३; ८·२११।

बाईसवाँ अध्याय

सुदूर पूर्व के भारतीय उपनिवेश

बर्मा, चीन और हिन्देशिया के भारतीय उपनिवेशों की चर्चा पीछे की जा चुकी है। विवेच्य काल में इन उपनिवेशों में अनेक भारतीय नामवाले और सम्भवतः भारतीय वंश के राजाओं के अधीन शक्तिशाली राज्य विकसित हुए। उनमें से प्रत्येक का विस्तृत विवरण नहीं दिया जा सकता और उनका संक्षिप्त परिचय ही यहाँ दिया जा रहा है।

१. सुवर्णद्वीप

ईसा की आरम्भिक पाँच शताब्दियों में भारतीय औपनिवेशिकों ने मलय प्रायद्वीप में अनेक राज्य स्थापित किये। उनके सम्बन्ध में यद्यपि चीनी इतिवृत्तों तथा देश के विभिन्न भागों में मिले ध्वस्त मन्दिरों और मूर्तियों से अनेक महत्त्व-पूर्ण बातें ज्ञात हुई हैं, तथापि उनका क्रमबद्ध इतिहास लिख सकना सम्भव नहीं है। फिर भी इतना तो निस्संदिग्ध है कि मलय प्रायद्वीप सुदूर पूर्व में भारतीय उपनिवेशों के विस्तार का मुख्य द्वार था। तक्कोल (आधुनिक तकुआपा) भार-तीय व्यापारियों और उपनिवेशकों का पहला पड़ाव था। यहाँ से कुछ लोग समुद्री तट के किनारे किनारे जलमार्ग से, और अधिकांश क्रा के स्थलडमरूमध्य से होकर बण्डन की खाड़ी पर स्थित दूसरे किनारे पर पहुँचे और वहाँ से जल अथवा स्थल मार्ग से और पूरब की ओर श्याम, कम्बोडिया और अनाम की ओर बढ़े। पुरातात्विक अवशेषों से जान पड़ता है कि प्रायद्वीप के पार से होकर जाने वाले इस मार्ग पर भारतीयों की समृद्धिपूर्ण बस्तियाँ थीं। उनमें मुख्य नाखन श्रीधर्मरात (लिगोर) और छैय उत्तर की ओर पूर्वी तट पर थे। वे दोनों ही कृषिप्रधान थे। पश्चिमी तट पर तकुआपा और अन्य और कुछ उपनिवेश थे। राँगे और सोने की खानों की खुदाई उनकी समृद्धि का साधन था। आज भी तकुआपा के निकट पश्चिमी तट पर भारतीय शक्ल के लोग रहते हैं और नाखन श्रीधर्मरात और पतलुन में भारतीय वंश के ब्राह्मणों का उपनिवेश है, जो अपने पूर्वजों के स्थल मार्ग से मलय प्रायद्वीप होकर भारत से आने की बात कहते हैं।

पूर्णवर्मन् नामक राजा के ४ संस्कृत में लिखे लेख मिले हैं। यह राजा लगभग ५ वीं शताब्दी में पश्चिमी जावा में राज्य करता था। दो तीन शताब्दियों पश्चात् संजय ने मध्य जावा में एक शक्ति-शाली राज्य की स्थापना की; उसकी राजधानी सम्भवतः मतराम थी। श्रीविजय के राज्य की चौथी शताब्दी अथवा उससे कुछ पूर्व सुमात्रा में स्थापना हुई थी।

शैलेन्द्र साम्राज्य

मलय प्रायद्वीप; जावा और सुमात्रा के इन सभी राज्यों को शैलेन्द्रों ने जीत कर आठवीं शताब्दी में एक शक्तिशाली साम्राज्य की स्थापना की। उन्होंने अपना प्रभुत्व प्रायः समूचे सुवर्णद्वीप पर स्थापित कर लिया और उसके अन्तर्गत मलय प्रायद्वीप, सुमात्रा, जावा, बाली, बोर्नियो और पूर्वी द्वीपसमूह के अन्य द्वीप भी शामिल थे। शैलेन्द्र साम्राज्य का उल्लेख अनेक अरब लेखकों ने किया है। वे उसे जावग या जाबज अथवा महाराज का साम्राज्य बताते हैं और उसके धन और वैभव की चर्चा जोरों के साथ करते हैं। कहा जाता है कि "महाराज एक हजार परसंग अथवा इससे भी दूर तक स्थित अनेक द्वीपों का राजा था और तेज से तेज जहाज भी उसके राज्य के द्वीपों के चारों ओर दो वर्ष में पूरा चक्कर नहीं कर सकते थे। इस कथन का समर्थन समसामयिक लेखों से भी होता है। उनसे ज्ञात होता है कि शैलेन्द्रों ने कुछ काल के लिए कम्बुज पर अपनी राजनैतिक सत्ता कायम कर ली थी और सम्भवतः चम्पा के तट पर भी धावा किया था। शैलेन्द्र लोग बौद्ध थे और उनका राजनीतिक दौत्य-सम्बन्ध चीन तथा भारत के पाल और चोल सम्राटों के साथ था। भारतीय सम्राटों ने नालन्दा और नागपट्टम् में बौद्ध बिहार बनाने में उनकी सहायता की थी। शैलेन्द्र स्वयं महान् निर्माता थे और जावा स्थित सुप्रसिद्ध बुरोबुदुर का मंदिर उनकी शक्ति और वैभव का अमर स्मारक है।

६ वीं शताब्दी के पश्चात् शैलेन्द्र साम्राज्य का ह्रास हुआ किन्तु वह दो शताब्दियों तक और बना रहा। चोलों द्वारा शैलेन्द्र के पराजय की चर्चा पीछे की जा चुकी है। उसके बाद ही शैलेन्द्र धीरे २ लुप्त होने लगे। जावा ने ९ वीं शताब्दी में शैलेंद्रों की अधीनता का भार उतार फेंका और धीरे-धीरे राजसत्ता उठकर द्वीप के पूर्वी भाग में चली गयी; पश्चिमी और केंद्रीय जावा का महत्त्व घट गया। पूर्वी जावा में अनेक शक्तिशाली राजा हुए, जिनमें कडिरि और सिंहसारि अधिक महत्त्व के थे। १४ वीं शताब्दी में मजपहित नगर राजसनगर के राज्यकाल में एक विशाल साम्राज्य का केंद्र बना। वह १३५० ई० में गद्दी पर बैठा था। उसके अधीनस्थ राज्यों की विस्तृत सूची तत्कालीन एक साहित्यिक ग्रंथ नागरकृतागम् में दी हुई है। उस विस्तृत सूची से पता चलता है कि मलय प्रायद्वीप समूह के प्रायः सभी

द्वीप (फिलिप्पीन को छोड़कर) उसके अंतर्गत थे; दूसरे शब्दों में राजसनगर के साम्राज्य में पूर्वी द्वीपसमूह के आधुनिक डच अधिकृत प्रदेश (उत्तरी सेलीबीज को छोड़कर) और मलय प्रायद्वीप थे। नागरकृतागम् में ऐसे अनेक देशों की चर्चा है, जिनके साथ मजपहित का व्यापार-संबंध था अथवा जहाँ से ब्राह्मण और श्रमण जावा की राजधानी में आते जाते थे। उसमें लिखा है कि "बहुत बड़ी संख्या में लोग जम्बुद्वीप, काम्बोज, चीन, यवन, चम्पा, कर्णाटक, गौड़ और श्याम से आते थे। वे लोग जहाजों में व्यापारिक माल लेकर आते थे। इन देशों से श्रमण और विद्वान् ब्राह्मण भी आते थे और उनका आदर होता था।" जम्बुद्वीप से निस्संदेह भारत का तात्पर्य है। कर्नाटक और गौड़ का विशेष रूप से उल्लेख हुआ है। जान पड़ता है कि बंगाल और कन्नड़ जिलों के साथ घनिष्ठता व्यक्त करने के लिए ही उनका इस प्रकार उल्लेख किया गया है। भारत के प्रति जावा निवासियों में अधिक आदर भाव जान पड़ता है। नागरकृतागम् के एक श्लोक में (८३·२) कहा गया है कि जम्बुद्वीप और जावा दोनों ही सबसे अच्छे देश हैं और सबसे बढ़कर हैं। दोनों देशों के बीच का घनिष्ठ सम्बंध इस बात से भी प्रकट होता है कि जावा नरेश की प्रशंसा में काची (काजीवरम्) के भिक्षु बुद्धादित्य और मुतलीसहृदय ने, जो सम्भवतः तमिल ब्राह्मण था, कवितायें लिखी हैं।

१५ वीं शताब्दी के आरम्भ में इस साम्राज्य का ह्रास आरम्भ हो गया। उसके उत्तराधिकारी राज्यों में मलक्का को राजनीतिक शक्ति एवं वाणिज्य तथा व्यापार के बड़े केन्द्र के रूप में विशेष महत्त्व प्राप्त हुआ। उसके हिन्दू राजा ने सुमात्रा के एक मुसलमान राजा की बेटी से विवाह कर इस्लाम धर्म ग्रहण कर लिया। जावा के राजवंश के कुछ लोगों ने भी इस्लाम धर्म ग्रहण किया। इस धर्म का प्रचार इस देश में गुजरात से आये हुए भारतीय व्यापारियों ने किया। इस्लाम धर्म के शांतिपूर्ण ढंग से इस देश में धीरे २ प्रवेश के कारण वहाँ के हिन्दू राजा और उसके अनुयायियों ने बाली द्वीप में जाकर शरण ली, जिसका हजार वर्ष पूर्व हिन्दुओं ने उपनिवेशन किया था और जो उस समय जावा के अधीन था। तब से बाली द्वीप यव—भारतीय संस्कृति के विकास का केन्द्र बना और आज भी वह पूर्वी द्वीपसमूह अर्थात् प्राचीन सुवर्णद्वीप में ब्राह्मण धर्म का एक गौरवपूर्ण केन्द्र बना हुआ है।

२. चम्पा

हिन्दचीन के पूर्वी तट पर, जिसे आजकल अनाम कहते हैं, दूसरी तीसरी शताब्दी में एक हिन्दू राज्य की स्थापना हुई थी। इस राज्य की राजधानी चम्पा

नगरी थी और इसी नाम से देश भी प्रसिद्ध हुआ। राजा श्रीमार का एक संस्कृत अभिलेख मिला है, जो साधारणतः दूसरी या तीसरी शताब्दी का माना जाता है। हो सकता है कि वह और भी पीछे का हो। इस राज्य के इतिहास का बहुत कुछ पता अनेक अभिलेखों तथा चीनी इतिवृत्तों के उल्लेखों से लगता है। आरम्भिक राजाओं में भद्रवर्मन् नामक राजा प्रायः समस्त आधुनिक अनाम पर (टौंकिन और कोचीन चीन को छोड़कर) राज्य करता था, जो अमरावती, विजय और पांडुरंग नामक तीन प्रान्तों में विभक्त था। उत्तर में लगा हुआ देश टौंकिन का था। उसमें अन्नामवासी रहते थे और वह चीनी साम्राज्य का अंग था। चम्पा के हिन्दू राजे उत्तर की ओर अपनी राजशक्ति बढ़ाने को बहुत उत्सुक रहते थे। फलतः उनका चीनियों से अक्सर संघर्ष होता रहता था। चीनी आक्रमण के फल-स्वरूप कभी २ उन्हें भयानक परिणाम भी भुगतने पड़ते थे। पीछे जब अन्नामियों ने अपने को चीनीयों की पराधीनता से मुक्त कर लिया, तब उनकी चम्पा के साथ निरन्तर शत्रुता चलती रही। चम्पा के विभिन्न वंशों के राजाओं के बहुत से नाम मिलते हैं यथा—शम्भुवर्मन्, सत्यवर्मन्, इन्द्रवर्मन्, हरिवर्मन्, सिंहवर्मन् आदि। चम्पा पर अक्सर पश्चिमी पड़ोसी कम्बुज-राज्य का आक्रमण हुआ करता था। एक बार कम्बुज नरेश जयवर्मन् सप्तम ने चम्पा नरेश जयइन्द्रवर्मन् अष्टम को पराजित कर बन्दी बना लिया था और विजित प्रान्त के रूप में उसपर राज्य किया था (११९०) ई०। यद्यपि ३० वर्षों से अधिक काल तक निरन्तर युद्ध के पश्चात् चम्पा स्वतंत्र तो हुआ लेकिन १२८२–१२८५ ई० के बीच सुप्रसिद्ध महान् मंगोल सरदार कुब्ला खाँ ने चम्पा पर धावा किया और उसे बहुत क्षति पहुँचाई। इसके कुछ दिनों बाद ही अन्नामियों के साथ भी युद्ध छिड़ा। अन्नामीया उन दिनों बहुत शक्तिशाली हो गये थे। अगली दो शताब्दियों तक अन्नामी सम्राट चम्पा पर निरन्तर धावा करते रहे और १५ वीं शताब्दी आरम्भ होने से पूर्व ही धीरे-धीरे समस्त देश उन्होंने जीत लिया।

३. कम्बुज

ख्मेर लोगों का देश कम्बोडिया के प्राचीन हिन्दू राज्य को चीनी फूनान कहते थे। तीसरी शती के एक चीनी वृत्तान्त के अनुसार इस राज्य की स्थापना कौंडिण्य नामक एक ब्राह्मण ने की थी। उसने भारत से आकर वहाँ की रानी को हराया और उससे विवाह किया था। उस देश के निवासी अर्धजंगली थे और स्त्री-पुरुष दोनों नंगे फिरा करते थे। हिन्दू राजाओं ने, जिन्होंने समस्त कम्बोडिया और कोचीन चीन पर अधिकार कर लिया था, उन्हें सभ्यता की परिधि में लाने की

चेष्टा की और उन्हें सभ्य बनाया। इनमें से कुछ हिन्दू राजाओं ने श्याम तथा लाओस और मलय प्रायद्वीप के कुछ हिस्से को भी जीत लिया था और हिन्दचीन में प्रथम भारतीय साम्राज्य की स्थापना की थी। उनका चीन और भारत दोनों के साथ राजनीतिक सम्बन्ध बना हुआ था। जयवर्मन् की पट्टमहिषी कुलप्रभावती और उनके बेटे रुद्रवर्मन् के संस्कृत अभिलेख मिले हैं। ये दोनों ६ठीं शताब्दी में राज्य करते थे।

७ वीं शताब्दी के आरम्भ में कम्बुज, जो पहले फूनान का करद राज्य था, बहुत शक्तिशाली हो गया और फूनान को जीत लिया। इस प्रकार उसकी एक प्रमुख शक्ति हो गई। फलतः सारा देश उसी के (कम्बुज) नाम से पुकारा जाने लगा। ८ वीं शताब्दी ई० में कम्बुज शैलेन्द्रों के प्रभाव में आ गया था; किन्तु ९ वीं शताब्दी के आरम्भ में जयवर्मन् द्वितीय ने पुनः स्वतन्त्रता स्थापित की। कम्बोडिया की लोककथाओं के अनुसार वह बहुत बड़ा शासक था और देवताभ से युक्त समझा जाता था। निस्संदेह उसके राज्यकाल में इस देश के इतिहास का नया और शानदार युग आरम्भ हुआ। उस समय से आज तक का इतिहास नियमित रूप से उपलब्ध है। वह अपनी राजधानी उठाकर अंगकोर प्रदेश में ले गया और उसे संस्कृति का केन्द्र बनाया तथा उसे ऐसे वास्तुओं से अलंकृत किया, जिन्होंने कम्बुज के नाम को विश्वविख्यात बना दिया। उसने देवराज के तान्त्रिक सम्प्रदाय की स्थापना की, जो कम्बुज का राजधर्म बना। उसने आदेश दिया कि राजपुरोहित केवल एक कुल से चुना जाय। इन राजपुरोहितों का आज तक का २५० वर्षों तक का क्रमबद्ध इतिहास उपलब्ध है। जयवर्मन् द्वितीय ने ८०२–८५४ ई० तक राज्य किया, उसके बाद उसका बेटा गद्दी पर बैठा जिसकी मृत्यु ८७७ ई० में हुई। ८६३ ई० में लिखे गये एक चीनी इतिवृत्त के अनुसार कम्बुज राज्य के अन्तर्गत उस समय समस्त मध्य हिन्द-चीन था और उसकी सीमायें दक्षिण चीन में स्थित युन्नान को छूती थीं।

जयवर्मन् द्वितीय के पश्चात् सबसे शक्तिशाली राजा यशोवर्मन् हुआ, जिसने ८८९–९०८ ई० तक राज्य किया। कम्बुज की गद्दी पर बैठने वाला वह एक विशिष्ट शासक था। महान् विजेता और मेधावी विद्वान् होने के साथ २ वह महान् निर्माता भी था। कहा जाता है कि वह अनेक शास्त्रों और काव्यों में पारंगत था और उसने पतंजलि के महाभाष्य पर एक टीका लिखी थी। उसने अनेक मन्दिर और आश्रम बनवाये थे। आश्रमों में रहनेवाले आश्रमवासियों के सम्बन्ध में विस्तृत नियम और विधान अनेक अभिलेखों में ज्ञात होते हैं। इन अभिलेखों से कम्बुज के सामाजिक और धार्मिक जीवन पर प्रकाश पड़ता है, जो

बिल्कुल भारतीय ढंग का था। उसने एक नयी राजधानी की स्थापना की जो पहले कम्बुपुरी और पीछे चलकर यशोधरपुर कहलायी। उसके अन्तर्गत बाद वाली राजधानी का अधिकांश भाग था, जो आज अंगकोर थोम कहलाता है। इस राजधानी के आस-पास का प्रदेश कम्बुज साम्राज्य की महत्ता के युग में राज्य का निरन्तर केन्द्र बना रहा और वहीं से अंगकोर सभ्यता का विस्तार हुआ, जो कम्बुज के इतिहास का एक गौरवपूर्ण अध्याय है।

यशोवर्मन् का वंश लगभग सवासौ वर्षों (८८७-१००१ ई०) तक राज्य करता रहा। इस काल में कम्बुज का राजनीतिक प्रभुत्व स्याम और लाओस पर और सम्भवतः युन्नान पर भी था। यशोवर्मन् के पिता इन्द्रवर्मन् ने अपने लेख में इस बात का दावा किया है कि चीन, चम्पा और यवद्वीप के राजे उसके आदेश का आदरपूर्वक पालन करते हैं।

नये वंश के संस्थापक सूर्यवर्मन् प्रथम ने कम्बुज का प्रभुत्व उत्तरी स्याम पर स्थापित किया और सम्भवतः निचले वर्मा पर भी उसने आक्रमण किया।

सूर्यवर्मन् प्रथम

इस काल में ख्मेर कला और संस्कृति मेनाम की घाटी में पूर्णतः स्थापित हुई और ख्मेर की संस्कृति उत्तर में स्याम के सुखर्थाइ और सवंकलोक तक फैली। दूसरा शक्तिशाली राजा सूर्यवर्मन् द्वितीय (१११३-४५) हुआ। चीनी लेखकों के कथनानुसार उसके साम्राज्य में निचला वर्मा और मलय प्रायद्वीप का उत्तरी भाग सम्मिलित था। उसने चम्पा के उत्तरी भाग को भी जीत लिया था, किन्तु उसे अधिक दिनों तक अपने अधीन न रख सका। उसने सुप्रसिद्ध अंगकोर वाट का निर्माण कर अमर ख्याति प्राप्त की। वह संसार के आश्चर्यों में से एक कहा जाता है।

सूर्यवर्मन् की मृत्यु के पश्चात् भी चम्पा के साथ युद्ध चलता रहा और ११७७ ई० में चम्पा नरेश जयइन्द्रवर्मन् ने एक जलसेना भेजी, जिसने राजधानी को लूटा। किन्तु जब जयवर्मन् सप्तम, जो कम्बुज का सबसे बड़ा शासक था, ११८१ ई० में गद्दी पर बैठा तो वैभव का एक नया युग आरम्भ हुआ। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, उसने चम्पा को कम्बुज के अधीन कर लिया। अन्नामियों के साथ भी उसने लड़ाई की और निचले बर्मा का काफी अंश जीत लिया। इस प्रकार उसके राज्य काल में कम्बुज साम्राज्य अपनी उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच गया, जिसके अन्तर्गत उपलराबर्मा, टोंकिन और मलय प्रायद्वीप के दक्षिणी भाग को छोड़कर सारा हिन्द-चीन था।

यद्यपि वह युद्ध और विजयों में पूर्णतः व्यस्त रहा तथापि कम्बुज के महान् राजा के रूप में उसकी ख्याति शान्तिमय कार्यों के कारण ही विशेष है।

जयवर्मन् सप्तम ने अपने महान् साम्राज्य के अनुरूप एक नये राजनगर की योजना बनायी थी, जिसका मूर्तरूप सुप्रसिद्ध अंगकोर थाम (नगर धाम ?) है। यह नगर ऊँचे पाषाण प्राकार से घिरा हुआ था; उसके चारों ओर ११० गज चौड़ी खाई थी। दीवाल की तरह ही खाई की लम्बाई ८॥ मील थी और उसके किनारे बड़े २ पत्थर के टुकड़ों से चुने गये थे। प्राकार में ५ बड़े २ द्वार थे जिनसे होकर नगर में १०० फुट चौड़े और एक सिरे से दूसरे सिरे तक एक सीध में जाने वाले मार्ग थे। प्रत्येक द्वार पर एक विशाल तोरण था, जो ३० फुट ऊँचा १५ फुट चौड़ा था और उसके ऊपर ४ मानव मस्तक की आकृतियाँ एक दूसरे की पीठ के सहारे सटी बनी हुई थीं। यह नगर वर्गाकार था। प्रत्येक दिशा में उसकी लम्बाई २ मील थी। नगर के राजमार्ग बान-मन्दिर तक जाते थे, जो कि नगर के बीच में था। यह मन्दिर कम्बुज वास्तुकला का सर्वोत्तम नमूना समझा जाता है। इस मन्दिर के उत्तर एक बहुत बड़ा-७६५ गज लम्बा और १६५ गज चौड़ा, सार्वजनिक चौहट्टा है। उसके चारों ओर बाफूं, फिमेनकास और समाधि-स्तम्भ आदि सुप्रसिद्ध भवन हैं। इनमें से प्रत्येक भवन स्वतः दर्शनीय है।

जयवर्मन् सप्तम द्वारा स्थापित धर्मसंस्थान और जन सेवा के कार्य भी जिस पैमाने पर हुए वे उसके साम्राज्य के अनुरूप ही थे। राज्य की ओर से अकेले एक मन्दिर को दिये जानेवाले दान से ही उसके अपार साधन की विशालता और उसके धार्मिक भावों की गहराई का पता चलता है। पूर्ण वृत्तान्तों को देना सम्भव नहीं है, किन्तु कुछ बातों का उल्लेख किया जा सकता है। मन्दिर के देवताओं की सेवा में ६६,६२५ व्यक्ति नियुक्त थे और उसके व्यय के लिए ३४०० गांव दिये गये थे। वहाँ ४३९ अध्यापक थे जिनके अन्तर्गत ९७० विद्यार्थी पढ़ते थे। इन १४०९ व्यक्तियों का भोजन एवं अन्य आवश्यक दैनिक व्यय राज्य की ओर से दिया जाता था। इस मन्दिर से सम्बद्ध ५६६ पत्थर के और २८८ ईंटों के मकान थे। अन्य चीजों की, जिनकी विस्तृत सूची दी हुई है, चर्चा अनावश्यक है। वे सब भी उसी अनुपात में थीं। मन्दिर की सम्पत्ति में सोने और चाँदी की अपार राशि, ३५ हीरे ४०६२० मोती और ४०५४० अन्य मणियाँ थीं। जिस अभिलेख से यह विवरण उद्धृत किया गया है, उसमें बताया गया है कि सारे राज्य में ७९८ मन्दिर और १०२ अस्पताल थे और उन्हें प्रति वर्ष १,१७,२०० मन खारिक चावल दिया

जाता था। एक खारिक ३ मन ८ सेर के बराबर होता था। जयवर्मन् सप्तम ने १२१ वह्निगृह भी स्थापित किये थे जो आज की धर्मशालाओं की भाँति यात्रियों के विश्राम-स्थल थे। इनकी स्थापना यात्रियों की सुविधा के लिए राज्य के प्रमुख मार्गों पर की गयी थी।

जयवर्मन् सप्तम कम्बुज का अन्तिम महान् शासक था। उसकी मृत्यु के पश्चात् की शताब्दियों के कम्बुज के इतिहास के सम्बन्ध में विशेष कुछ ज्ञात नहीं, किन्तु इसमें संदेह नहीं कि १४ वीं शताब्दी में उसकी शक्ति और सम्मान क्षीण होने लगा। इसका मुख्य कारण थायी लोगों का तीव्र बढ़ाव था। वे युन्नान से निकल कर बर्मा और स्याम की ओर बढ़े। १३ वीं शताब्दी के अन्त में सुखोदय का सुप्रसिद्ध थायी नरेश रामखेमहंग अपनी विजयिनी सेना लेकर कम्बुज के मध्य तक पहुँच गया था। अयोध्या (अयूथिया) का थायी राज्य, जिसने १३५० में सुखोदय का स्थान ले लिया, प्रायः समस्त स्याम और लाओस का स्वामी बन गया। पूर्व की ओर अन्नामियों ने १५ वीं शताब्दी तक धीरे २ चम्पा का समस्त राज्य जीत लिया। इस प्रकार दो महत्त्वपूर्ण थायी शक्तियों के बीच कम्बुज पड़कर पिसने लगा और वे दोनों तेजी के साथ उसके राज्य के लिये विनाशक सिद्ध होने लगे। दोतरफा दबाव कम्बुज के लिए घातक सिद्ध हुआ। उसके निर्बल और निस्सहाय शासकों ने अपने दोनों प्रबल शत्रुओं को परस्पर लड़ाकर बचने की चेष्टा की; किन्तु उसका परिणाम उनके लिए ही घातक सिद्ध हुआ। शताब्दियों तक कम्बुज अपने दोनों निर्दय आक्रमणकारी पड़ोसियों का शिकार बना रहा। अन्ततोगत्वा कम्बुज की शक्ति और सम्मान खतम हो गया और उसका एक छोटा सा राज्य मात्र बच रहा। उसके राजा अंगदांग ने १८५४ ई० में अपने को फ्रांसीसियों के संरक्षण में सौंप दिया। इस प्रकार एक समय का महान् और शक्तिशाली कम्बुज का राज्य आज फ्रांसीसी संरक्षण में एक नगण्य स्थिति में है।

४. ब्रह्मदेश-बर्मा

जल और स्थल दोनों मार्गों से पहुँचकर भारतीय उपनिवेशकों ने ऊपरले और निचले बर्मा के विभिन्न भागों में अनेक राज्य स्थापित किये। वहाँ के जिन लोगों के बीच हिन्दू औपनिवेशिक बसे उनमें तीन विशेष उल्लेखनीय हैं। उत्तर की ओर से आरम्भ कर पहले मोन लोग आते हैं जो तैलंग भी कहे जाते थे। सम्भवतः यह नाम आरम्भ में उन भारतीय औपनिवेशिकों को व्यक्त करता था जो तेलंगाना अर्थात् भारत के पूर्वी तट के तेलुगु क्षेत्र से आये थे। बाद में यह वहाँ के समस्त निवासियों के लिए व्यवहृत होने लगा। निचले बर्मा के हिन्दू हुए मोनों को

बस्तियाँ सामूहिक रूप से रमञ्ञ देश कही जाती थीं, किन्तु मोनों ने और भी दक्षिण द्वारवती के राज्य तक अपनी शक्ति बढ़ाई। उसमें स्याम स्थित मेनाम नदी की निचली घाटी भी सम्मिलित थी। ७ वीं शताब्दी में यह एक शक्तिशाली राज्य था। इस केन्द्र से हिन्दू मोनों ने अपनी शक्ति और प्रभाव उत्तर स्याम और पश्चिमी लाओस के दुर्गम प्रदेशों तक फैलाया। मोन लोग हीनयान बौद्ध थे और अनेक पालि वृत्तों में उनके स्थानीय राजाओं और उनके धार्मिक दानों की चर्चायें पायी जाती हैं।

मोनों के उत्तर हिन्दू हुए प्यू लोगों ने अपना राज्य स्थापित किया था और श्रीक्षेत्र (आधुनिक प्रोम के निकट ह्मावजा) को अपनी राजधानी बनायी थी। प्यू लोगों ने तीसरी शताब्दी ई० में इरावदी की घाटी पर अधिकार कर लिया था और वहाँ वे नवीं शताब्दी तक महान् राजनीतिक शक्ति के रूप में बने रहे। सातवीं शताब्दी का एक संस्कृत अभिलेख एक बुद्ध मूर्ति के आसन पर मिलता है, जिससे ज्ञात होता है कि उस मूर्त्ति की प्रतिष्ठा राजा जयचन्दवर्मन् ने की थी। चीनी वृत्तान्तों से पता लगता है कि सातवीं-आठवीं शताब्दी में प्यू राज्य बहुत ही शक्तिशाली था। उसकी सीमाएँ पूर्वी भारत, युन्नान, कम्बुज और द्वारवती को छूती थीं और उसका विस्तार पूर्व-पश्चिम ५०० मील और उत्तर-दक्षिण ७००-८०० मील तक था। जान पड़ता है कि नवीं शताब्दी में हिन्दू प्यू राज्य में उत्तरी और केन्द्रीय बर्मा का यदि कुल नहीं तो अधिकांश भाग सम्मिलित था। इसके कुछ ही दिनों बाद प्यू लोगों की शक्ति धीरे-धीरे घटने लगी। नानचाऊ (युन्नान) के थाई राजा ने प्यू राज्य पर ८३२ ई० में धावा किया और उसकी राजधानी को लूटा। सम्भवतः म्रम नामक एक नयी जाति ने भी उत्तरी बर्मा में प्रमुखता प्राप्त की। दक्षिण के मोनों और उत्तर के म्रमों द्वारा दबाये जाने पर हिन्दू प्यू लोगों की सारी शक्ति धीरे-धीरे खो गयी और अन्ततोगत्वा वे स्वतन्त्र अस्तित्व का कोई भी चिह्न छोड़े बिना पड़ोसी राज्यों में विलीन हो गये।

लोकप्रचलित भाषाविज्ञान जातिवाची बर्मन् नाम की उत्पत्ति संस्कृत के ब्रह्म शब्द से करता है और उसे धार्मिक स्वरूप प्रदान करता है। किन्तु अधिक सम्भावना इस बात की है कि म्रमों (रूपान्तर म्यम्) ने, जो बर्मा में बसनेवाली तिब्बत-द्रविड़ जाति की एक शाखा का जातीय नाम था, सारे देश तथा विभिन्न स्रोतों से विकसित जनता को यह नाम प्रदान किया हो। यह भी कहा जाता है कि यह जाति-नाम ब्रह्मपुत्र से निकला है, जिसके किनारे वे लोग बहुत दिनों तक रहते थे।

नवीं-दसवीं शताब्दी में म्रम लोगों ने बहुत बड़ी संख्या में ब्रह्मा में प्रवेश किया। किन्तु अत्यन्त सम्भव है कि उन्होंने इससे पूर्व ही वहाँ अपना अधिकार

स्थापित कर लिया था। वे लोग उस प्रदेश में चिरकाल से रहनेवाले हिन्दू औपनिवेशिकों के प्रभाव में आये होंगे और शीघ्र ही हिन्दू हुए म्रमों ने पगान में राजधानी बनाकर एक स्वतंत्र राज्य की स्थापना की। इस नगर का प्राचीन नाम अरिमर्दनपुर और राज्य का नाम ताम्रद्वीप था।

महत्व के प्रथम हिन्दू म्रम राजा का नाम अनिरुद्ध (बर्मी उच्चारण के अनुसार अनव्रत) था। वह १०४४ ई० में गद्दी पर बैठा। इस समय उत्तरी बर्मा के धार्मिक और सामाजिक जीवन में बौद्ध तन्त्रवाद के एक विकृतरूप का बोलबाला था। किन्तु राजा अनिरुद्ध को थाटन के मोन राज्य के निवासी एक अरहम नामक ब्राह्मण भिक्षु ने, जो धर्मदर्शी के नाम से प्रसिद्ध है, शुद्ध थेर-वाद में दीक्षित किया और दोनों ने मिलकर वहाँ अनेक धार्मिक सुधार किये। राजा ने थाटन के मोन राजा के पास बौद्ध त्रिपिटक की प्रतियाँ लाने के लिए राजदूत भेजे। मोन नरेश ने न केवल धर्म-ग्रन्थों को देने से इनकार किया वरन् आये हुए राजदूतों को भी अपमानित किया। अनिरुद्ध, जिस वस्तु को शान्ति द्वारा प्राप्त करने में असमर्थ रहा, उसे उसने शक्ति द्वारा प्राप्त करने का निश्चय किया। फलतः सेना लेकर उसने धावा किया और थाटन को घेर लिया। तीन मास के घेरे के पश्चात् थाटन का पतन हुआ और अनिरुद्ध विजय के साथ पगन लौटा और साथ में सोने की जंजीरों में बाँधकर वहाँ के राजा मनुह को भी ले आया। उसके साथ वहाँ के सभी भिक्षु और बहुत से बन्दी तथा दस्तकार और कारीगर भी आये। किन्तु राजा की दृष्टि में सबसे मूल्यवान निधि बौद्ध ग्रन्थ थे। उस पवित्र वस्तु को उस विजयी राजा ने ३२ सफेद हाथियों पर लाद कर बुलवाया। रास्ते में उसने प्राचीन प्यू की राजधानी श्री क्षेत्र (प्रोम के निकट) की दीवारों को गिरा दिया और वहाँ के पगोडा में शताब्दियों से रखे पवित्र अवशेषों को उठा ले आया।

विजित मोनों ने म्रमों की पूर्ण सांस्कृतिक विजय की और म्रमों ने बौद्ध मोन धर्म के थेरवाद, पालि भाषा और लिपि को अपनाया। नवधर्मदीक्षित के उत्साह से ओत-प्रोत अनिरुद्ध ने अनेक पगोडा अर्थात् मन्दिर और विहार बनवाये। उसका अनुकरण उसके उत्तराधिकारियों ने भी किया।

अनिरुद्ध महान् विजेता भी था। उसने उत्तरी अराकान राजा और पूरब के शान सरदारों को पराजित किया। कहा जाता है कि वह बंगाल तक भारत-भूमि पर भी आया था और बर्मा के पुराने शत्रु युन्नान के लोगों के विरुद्ध सफल अभियान किया था। इन विजयों के फलस्वरूप तेनासरीम को छोड़कर अनिरुद्ध

ने समस्त बर्मा को अपने अधीन कर लिया था। इस प्रकार पहली बार उस देश के इतिहास में राजनीतिक एकता स्थापित हुई थी।

अनिरुद्ध ने अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व प्राप्त किया था। उसने एक भारतीय राजकुमारी से विवाह किया था। बर्मी इतिहासों में उस राजकुमारी की बर्मा-यात्रा का विस्तृत वृत्तान्त पाया जाता है। जब चोलों ने सिंहल पर आक्रमण किया तो वहाँ के राजा ने अनिरुद्ध से सहायता माँगी। अनिरुद्ध ने उससे बौद्ध भिक्षु और धर्म ग्रन्थों की माँग की। बदले में सिंहल नरेश ने बुद्ध की दन्त-धातु की प्रतिकृति भेजी। जब उसको ले जानेवाला जहाज पहुँचा तो राजा अनिरुद्ध स्वयं नदी के पानी को पार करता हुआ जहाज तक गया और रत्नमंडित मंजूषा को अपने सिर पर रखकर एक जुलूस में उस मन्दिर तक ले गया जिसे उसने उसके लिए बनवाया था। यह मन्दिर सुप्रसिद्ध श्वेजीगौन का पगोड़ा है, जहाँ आज भी सारे बर्मा से यात्री आते हैं।

इस प्रकार अनिरुद्ध का राज्य-काल (१०४४-१०७७ ई०) बर्मा के इतिहास को बदलनेवाला काल था। उसने पगन के एक छोटे से राज्य को एक विस्तृत साम्राज्य में परिवर्तित कर दिया, जिसके अन्तर्गत आधुनिक बर्मा का अधिकांश भाग था तथा एक मूढ़ जाति में उसने उच्च सभ्यता और संस्कृति के तत्त्व प्रसारित किये। अनिरुद्ध के बाद उसके दो बेटे गद्दी पर बैठे। उसका दूसरा बेटा क्यनजिथ १०८४ ई० तक गद्दी पर था, और उसने त्रिभुवनादित्य धर्मराज की उपाधि धारण की थी। उसने अपनी बेटी का विवाह पट्टीकेर (पूर्वी बंगाल) के राजकुमार से करना चाहा पर उसके मन्त्रियों ने इस पर आपत्ति की। वह राजकुमार क्यनजिथ की पुत्री से प्रेम करता था और अन्त में उसने आत्महत्या कर ली। उसकी कहानी अनेक बर्मी काव्यों और नाटकों को कथावस्तु है और वे आज भी खेले जाते हैं।

क्यनजिथ के राज्यकाल में बर्मा भारत के निकट सम्पर्क में था। अनेक बौद्ध और वैष्णव भारत से जाकर उसके राज्य में बसे। कहा जाता है कि उसने तीन महीने तक अपने हाथ से आठ भारतीय भिक्षुओं को खिलाया और उनके मुख से भारतीय मन्दिरों का वर्णन सुनकर आनन्द के सुप्रसिद्ध मन्दिर की रूप-रेखा तैयार की और उसे बनवाया, जो बर्मी वास्तुकला की सर्वोत्तम कृति है। एक आधुनिक योरोपीय लेखक ने लिखा है कि अपनी चकाचौंध करनेवाली श्वेत वेशभूषा और प्रातःकालीन सूर्य में चमकने वाले शिखर से युक्त आनन्द, जहाँ आज भी नित्य पूजा होती है, पगन का एक आश्चर्य है। मन्दिर के भीतर विशालकाय बुद्ध की मूर्ति के सम्मुख दो आदमकद मूर्तियाँ झुकी हुई हैं। वे इसी प्रकार शताब्दियों से

खुदी हुई हैं। इनमें से एक तो स्वयं राजा और दूसरी उसके गुरु अरहन की है। राजा का चेहरा बर्मी नहीं है। उसकी माँ एक भारतीय नारी थी।"

क्यनजिथ ने अपने पिता के द्वारा आरम्भ किये हुये श्वेजीगोन पगोड़ा को पूरा किया और स्वयं ४० छोटे-छोटे पगोड़े बनवाये। उसने बोधगया के मन्दिर की मरम्मत करायी। इतिवृत्तों से ज्ञात होता है—

"राजा क्यनजिथ ने मोतियों को इकट्ठाकर तथा उन्हें जहाज में भरकर बोधगया के पवित्र मन्दिर को बनवाने तथा उसमें निरन्तर दीप-प्रकाश की व्यवस्था के निमित्त भेजा। उसके बाद राजा क्यनिजथ ने राजा अशोक के विशाल भवन को नये सिरे से बनवाया, जो पुराना और जीर्ण हो गया था। वह पहले से भी अधिक सुन्दर बना।"

कहा जाता है कि क्यनजिथ ने भारत के एक चोल नरेश को बौद्ध धर्म स्वीकार करने को राजी किया था, जिसने अपनी कन्या बहुमूल्य भेंट के साथ बर्मी नरेश को दी। क्यनजिथ ने अपनी सेना दक्षिण अराकान भेजकर वहाँ के राजा को अपनी अधीनता स्वीकार करने के लिये विवश किया। ११०६ ई० में उसने अपने राजदूत चीन भेजे और इस बात पर जोर दिया कि चोल नरेश के मुकाबले उसे प्रधानता दी जाय। वहाँ की विधान-परिषद ने अपना निर्णय पगन के पक्ष में दिया क्योंकि वह एक स्वतन्त्र राज्य था।

१११२ ई० में क्यनजिथ की मृत्यु हुई और उसका दौहित्र अलुंगसिथु गद्दी पर बैठा। उसने ५५ वर्षों तक राज्य किया। इसके राज्य-काल में अनेक विद्रोह हुए। दक्षिणी अराकान के सरदार ने सीमान्त के गाँवों पर धावा किया। फलतः उसका सिर उतार लिया गया। तेनेसरीन के विद्रोह का दमन राजा ने स्वयं किया। उत्तरी अराकान के राजा की गद्दी को एक व्यक्ति ने अपहृत कर लिया और उसने पगन के दरबार में शरण ली। अलुंगसिथु ने जल और थल मार्ग से सेना भेजकर उस वास्तविक अधिकारी को पुनः गद्दी पर बैठाया। कृतज्ञतावश जब अराकान नरेश ने कुछ करने की इच्छा प्रकट की तो अलुंगसिथु ने उससे बोधगया के मन्दिर की मरम्मत कराने को कहा। फलतः उसने इस काम के लिए काफी धन के साथ अपने आदमी भेजे।

अनिरुद्ध का वंश १२८७ ई० तक पगन पर राज्य करता रहा। इस वंश के अन्तिम राजा नरसिंहपति को उसकी प्रजा ने इसलिए मार डाला कि वह मंगोलों के डर से राजधानी छोड़कर भाग गया था। उसके बाद कुब्ला खाँ के एक फौज ने पगन में प्रवेश किया और वह तातारी आतंक की ज्वाला और रक्त में नष्ट हो गया। इस प्रकार २४० वर्षों के वैभवपूर्ण अस्तित्व के पश्चात्

मजपहित के महान् राज्य का अन्त हो गया; किन्तु उसके राज्यकाल में जिस महान् भारतीय संस्कृति ने वहाँ प्रवेश किया था, वह आज भी बनी हुई है।

५. सुदूर पूर्व में हिन्दू संस्कृति और सभ्यता

भारतीय औपनिवेशकों के सम्पर्क में आनेवाले सुदूर पूर्व के निवासी सभ्यता के सभी स्तर के लोग थे। कम्बोडिया के नंगे रहनेवाले अर्धजंगली लोगों से लेकर सभ्यता की आदिम अवस्था से आगे बढ़ आनेवाले जावा के निवासियों तक के लोग उसमें शामिल थे। इन सब ने भारतीय सभ्यता के जोर का अनुभव किया और बहुत बड़ी सीमा तक उसमें घुलमिल गये। भारत की भाषा, साहित्य, धर्म, कला और राजनीतिक तथा सामाजिक संस्थाओं ने इन लोगों पर पूर्ण विजय की और वहाँ के स्थानीय तत्वों को एकदम मिटा दिया।

भाषा और साहित्य

संस्कृत में लिखे अभिलेख बर्मा, स्याम, मलय प्रायद्वीप, कम्बोडिया, अनाम, सुमात्रा, जावा और बोर्नियो में पाये गये हैं। इनमें से सबसे प्राचीन दूसरी-तीसरी शताब्दी ई० के हैं। वहाँ संस्कृत का उपयोग १००० वर्षों से अधिक काल तक होता रहा। हिन्द-चीन के अधिकांश भाग में आज भी पालि, जो संस्कृत से निकली हुई है, दैनिक प्रयोग में आती है।

१०० से अधिक संस्कृत अभिलेख चम्पा में मिले हैं। कम्बुज में मिले अभिलेखों की संख्या न केवल इससे अधिक है, वरन् साहित्य की दृष्टि से भी वे उच्च कोटि के हैं। वे सुन्दर निर्दोषपूर्ण काव्यशैली में लिखे गये हैं जो किसी भी भारतीय पंडित के लिये गौरव की वस्तु हो सकती है। अनेक अभिलेख तो बहुत बड़े हैं। यशोवर्मन् के चार अभिलेख क्रमशः ५०, ७५, ९३ और १०८ छन्दों के हैं। राजेन्द्रवर्मन् का एक लेख २१८ और दूसरा २९८ छन्दों का है।

इन अभिलेखों के रचयिताओं ने प्रायः सभी छन्दों का प्रयोग किया है और उनमें संस्कृत व्याकरण, अलंकार और छन्दःशास्त्र के अन्यतम विकसित सिद्धान्तों का पूर्ण ज्ञान व्यक्त होता है। इसके अतिरिक्त उनमें रामायण, महाभारत, काव्य, पुराण और साहित्य के अन्य अंगों का भी घनिष्ठ परिचय और भारतीय दर्शन तथा आध्यात्मिक विचारों में गहरी पैठ ज्ञात होती है। वे भारत के विभिन्न सम्प्रदायों के धार्मिक एवं आनुश्रुतिक धारणाओं से भी ओत-प्रोत हैं। यह सब ऐसी सीमा तक है कि हम उसे ऐसे समाज के लिए आश्चर्यजनक ही कहेंगे, जो भारत से हजारों मील दूर रहा हो।

अभिलेखों में वेद, वेदान्त, स्मृति तथा ब्राह्मण सम्प्रदायों, बौद्ध और जैन धार्मिक ग्रन्थों, रामायण, महाभारत, काव्य, पुराण, पाणिनि-कृत व्याकरण और पतंजलि के महाभाष्य तथा मनु, वात्स्यायन, विशालाक्ष, सुश्रुत, प्रवरसेन, मयूर और गुणाढ्य की रचनाओं के अध्ययन का स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है। उन पर कालिदास का प्रभाव अत्यधिक जान पड़ता है। एक अभिलेख में तो चार ऐसे छन्द हैं जिनपर रघुवंश के चार छन्दों की स्पष्ट छाया है और उनमें उस महाकवि द्वारा प्रयुक्त अनेक शब्द ज्यों के त्यों हैं।

राजा और बड़े अधिकारी भी साहित्यिक कार्यों में नेतृत्व का काम करते थे। चम्पा के तीन नरेशों के विद्वान् होने का उल्लेख पाया जाता है। उनमें से एक चारों वेदों का ज्ञाता था, दूसरा भारतीय षड् दर्शन, बौद्ध दर्शन, पाणिनिकृत व्याकरण और काशिका वृत्ति तथा शैवों के आख्यान और उत्तर कल्प में प्रवीण था। तीसरे नरेश ने व्याकरण, ज्योतिष, महायान दर्शन और धर्मशास्त्र, विशेषतः नारदीय और भार्गवीय का अध्ययन किया था। कम्बुज नरेश यशोवर्मन् के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वह शास्त्र और काव्यों का रसिक था और उसने महाभाष्य पर टीका लिखी थी। उसका एक मंत्री होराशास्त्र का पण्डित था। एक दूसरे कम्बुज नरेश ने अपने पुरोहित से ज्योतिष, गणित, व्याकरण, धर्मशास्त्र एवं अन्य शास्त्रों का अध्ययन किया था।

जावा में लोगों ने न केवल संस्कृत साहित्य का अध्ययन किया, वरन् उन्होंने स्वतः विस्तृत साहित्य का सर्जन भी किया। लगभग ५०० वर्षों तक (१०००–१५०० ई०) जावा का साहित्य कडिरि, सिंहसारि और मजपहित के राजाओं के संरक्षण में अबाध रूप से विकसित होता रहा।

इस साहित्य की भाषा जावी है। किंतु उसमें संस्कृत शब्दों का अत्यधिक मिश्रण है। उसके काव्य में संस्कृत छन्दों के नियमों का अनुकरण हुआ है और उनके विषय मुख्यतः भारतीय साहित्य से लिये गये हैं। महत्त्वपूर्ण रचनाओं में प्राचीन जावी रामायण और महाभारत को जावी भाषा में हुआ प्राचीन गद्यानुवाद उल्लेखनीय हैं। अनेक काव्यों के विषय महाभारत से लिये गये हैं, जो बहुत उच्च कोटि के हैं। इन रचनाओं में अर्जुन-विवाह, भारत-युद्ध, स्मरदहन और सुमन-सान्तक उल्लेखनीय हैं। सुमन-सान्तक इन्दुमती की कथा पर आश्रित है जो अज की रानी और दशरथ की माँ थी और जिसे कालिदास ने अपने रघुवंश द्वारा अमर कर दिया है। स्मृति और पुराणों के ढंग की भी रचनाएँ हुईं और कुछ रचनाएँ, इतिहास, भाषाशास्त्र और आयुर्वेद पर भी पायी जाती हैं। विषय, गुण और भाषा की दृष्टि से जावा का साहित्य, प्राचीन भारतीयों द्वारा

जावा के उपनिवेशन का एक उल्लेखनीय कार्य है। भारत के बाहर कहीं भी भारतीय साहित्य का इतना लाभपूर्ण न तो अध्ययन हुआ और न उसका इतना महत्त्वपूर्ण परिणाम ही।

यही बात बौद्ध पालि साहित्य के सम्बन्ध में बर्मा और सिंहल पर चरितार्थ होती है। इन दोनों उपनिवेशों में बौद्ध धर्मग्रन्थों के फलस्वरूप, उनकी भाषा अपनायी गयी जिसने नये साहित्य को जन्म दिया और आज तक वह निरन्तर चली आ रही है।

(ब) धर्म

पीछे जिन उपनिवेशों की चर्चा हुई है उन सब में भारत के धार्मिक विचारों तथा व्यवहारों ने लोगों पर अपना पूर्ण अधिकार कर लिया था। बर्मा और स्याम में बौद्ध धर्म प्रधान था और अन्य उपनिवेशों में ब्राह्मण धर्म के पौराणिक रूप ने जड़ जमायी थी। वहाँ बौद्ध धर्मका प्रभाव कम था। वहाँ सभी हिन्दू देवी-देवताओं की मूर्तियाँ पायी गयी हैं। एक शताब्दी से अधिक पूर्व कहे गये हुए क्राफर्ड के इस कथन को अतिरंजित नहीं कहा जा सकता कि सारे जावा में पीतल और पत्थर की वास्तविक हिन्दू मूर्तियां इतने प्रकार की पायी जाती हैं कि मेरी समझ में हिन्दू परम्परा का शायद ही ऐसा कोई देवता होगा, जिसकी मूर्ति बनती हो और वहाँ न पायी जाती हो।"

यद्यपि त्रिमूर्ति अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु और शिव की पूजा प्रचलित थी तथापि शिव की पूजा मुख्य रूप से होती थी। विष्णु का स्थान द्वितीय था और ब्रह्मा की स्वतन्त्र देवता के रूप में पूजा भारत की भाँति ही बहुत कम थी। विभिन्न शिलालेखों में शिव और विष्णु की वन्दना और उनकी तथा उनके परिवार के देवी-देवताओं की मूर्तियों से स्पष्ट जान पड़ता है कि इन दोनों सम्प्रदायों के दर्शन एवं कथाओं से लोग पूर्णतः परिचित थे। यह न समझना चाहिए कि स्थानीय विश्वास और विधान एकदम लुप्त हो गये। भारत की ही तरह कुछ तो मिट गये और कुछ अधिक विकसित व्यवस्था में घुल-मिल गये। कुछ अवस्थाओं में तो प्राचीन विश्वास और परम्पराओं ने नये धर्म को भी प्रभावित किया।

इस सम्बन्ध में जावा की अत्यन्त लोकप्रिय एक मूर्ति का उल्लेख करना उचित होगा। यह भटार गुरु के नाम से पुकारी जाती है। यह एक द्विभुजी, बुड्ढे, तुन्दिल, मूँछ-दाढ़ीवाले व्यक्ति की मूर्ति है; जिसके हाथों में त्रिशूल, जल-घट, माला और चँवर पड़े हैं। इस मूर्ति को शिव महायोगिन् का प्रतीक समझा जाता है। किन्तु इसकी लोकप्रियता को देखते हुए अनुमान किया जाता है कि हिन्देशिया का कोई मूल देवता इस रूप में घुल-मिल गया है। कुछ लोगों का अनुमान है कि वह

ऋषि अगस्त्य का प्रतीक है। अगस्त्य के प्रति भक्ति और उनकी पूजा की लोकप्रियता जावा में मिले अनेक अभिलेखों से प्रकट है। इस दृष्टि से यह अनुमान बहुत ही बुद्धिसंगत जान पड़ता है।

बौद्ध धर्म के हीनयान और महायान दोनों सम्प्रदायों एवं विकृत तांत्रिक सम्प्रदाय ने भी इन उपनिवेशों में प्रवेश किया। यदि हम जैन धर्म को छोड़ दें तो इन दूरस्थ देशों की धार्मिक व्यवस्था का प्रायः वही रूप मिलता है जो भारत में प्रथम सहस्राब्दी में था। यह समानता आज भी बौद्ध धर्म के सम्बन्ध में बर्मा में और ब्राह्मण धर्म के सम्बन्ध में बाली द्वीप में देखी जा सकती है।

इन दूरस्थ प्रदेशों में भी कुछ स्थान बौद्ध धर्म के विख्यात केन्द्र बन गये। इत्सिंग के समय में श्रीविजय बौद्ध धर्म का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था और वहाँ वह चीनी यात्री सात वर्षों तक (६८८–६९५ ई०) रहा और संस्कृत अथवा पालि के मूल ग्रंथों का अध्ययन और अनुवाद करता रहा। कांची के धर्मपाल, जो सातवीं शताब्दी में नालन्दा के महाध्यापक थे और पीछे विक्रमशिला महाविहार के महास्थविर हुए, सुवर्ण द्वीप गये थे। दीपंकर श्रीज्ञान वहाँ ११ वीं शताब्दी में गये थे और उनके जाने का मुख्य उद्देश्य सुवर्णद्वीप के महास्थविर चन्द्रकीर्त्ति की देख-रेख में बौद्ध धर्म का अध्ययन करना था।

कम्बुज देश के अभिलेखों से ज्ञात होता है कि अनेक ब्राह्मण भारत से वहाँ गये थे और सम्मान भी प्राप्त किया था। उनमें से एक ने तो एक राजकुमारी से विवाह भी किया। कम्बुज के ब्राह्मण भी भारत आते थे। एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण शिवसोम का है जो राजा इन्द्रवर्मन् (८७७–८८९ ई०) के गुरु थे। इन्होंने भगवत् शंकर से, जो निस्सन्देह शंकराचार्य ही हैं, शास्त्र का अध्ययन किया था।

दूसरी उल्लेखनीय विशेषता आश्रमों की बहुत बड़ी संख्या है, जो सारे कम्बुज देश में राजकीय धन और व्यक्तिगत प्रयत्न दोनों के फलस्वरूप स्थापित किये गये थे। राजा यशोवर्मन् का कहना है कि उसने कम से कम १०० आश्रम स्थापित किये थे। इनमें से १२ का पता १२ शिलालेखों से लगता है, जिनमें इन आश्रमों के नियम और विधान विस्तार के साथ दिये गये हैं। इनमें से कुछ आश्रम मुख्य रूप से वैष्णव, शैव अथवा बौद्ध लोगों के लिए थे; किन्तु सामान्यतः वे सभी सम्प्रदाय और वर्ग के लोगों के लिए खुले हुए थे। इन आश्रमों में न केवल वहाँ रहनेवाले विद्यार्थियों के जीवन की आवश्यकताओं की ही पूर्ति होती थी, वरन् बच्चों, बूढ़ों गरीब और असहायों का भी पालन होता था। इन आश्रमों ने हिन्दू सभ्यता और संस्कृति के गढ़ का काम किया। यहाँ से लोगों ने उस देश की आदिम सभ्यता पर विजय प्राप्त की।

(स) समाज

वर्ण व्यवस्था, जो हिन्दू समाज का मूल आधार है, इन उपनिवेशों में भी स्थापित की गई। किन्तु ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के चार विभागों का ज्ञान होते हुए भी वहाँ वह रूढ़ न हो सकी, जैसा कि भारत में हम आज देखते हैं। अन्तर्विवाह और अन्तर्भोज, जिसकी आज्ञा मनुस्मृति में पायी जाती है, इस क्षेत्र में प्रचलित था। बाली और लम्बोग के निवासियों में जातिव्यवस्था का जो रूप आज पाया जाता है उसे हम अच्छी तरह प्राचीन काल का नमूना कह सकते हैं। छूत-छात के सिद्धान्त से समाज का ह्रास न हुआ और विभिन्न जातियाँ विभिन्न व्यवसायों के साथ बाँधी नहीं गईं।

विवाह का आदर्श, उसके रस्मों का स्वरूप और दम्पति-संबंध प्रायः भारत के ही समान थे। सती प्रथा भी प्रचलित थी। किन्तु भारत की अपेक्षा वहाँ स्त्रियों का स्थान अधिक ऊँचा था। कुछ तो स्वाधिकारपूर्वक भाइयों के होते हुए भी गद्दी पर बैठीं और कई शासन में उच्च पदों पर थीं। वहाँ पर्दा प्रथा न थी और स्त्री को अपना पति निर्वाचित करने की स्वतन्त्रता थी।

जुआ, कुक्कुट-युद्ध, संगीत, नृत्य और नाटक लोगों के मनोरंजन के प्रमुख साधन थे। जावा में नाटक का लोकप्रिय रूप छाया नाट्य है जो वयंग कहलाता है। इसमें अभिनेता चमड़े की रंगीन कठपुतलियों की छाया द्वारा व्यक्त किये जाते हैं। यह छाया दर्शकों के सामने टँगी सफेद पर्दे पर पीछे से डाली जाती है। सूत्रधार पर्दे के पीछे प्रकाश के नीचे बैठकर कठपुतलियों के हाव-भाव का संचालन करता है और स्वयं सभी अभिनेताओं की ओर से बोलता है। वयंग के कथानक मुख्यतः रामायण और महाभारत से लिये गये हैं और आज भी, जावा—निवासियों के मुसलमान होते हुए भी, ये खेल उतने ही लोकप्रिय हैं।

भारत की भाँति ही चावल और गेहूँ लोगों का मुख्य खाद्य था और लोग फूल, ताड़ और शहद की शराब पीते थे। पान खाने का भी काफी प्रचलन था। वस्त्राभूषण प्राचीन भारत के समान ही थे। स्त्रियों के भी शरीर का ऊर्ध्व भाग नग्न रहता था और यह प्रथा आज भी बाली में पायी जाती है। प्राचीन भारतीय मूर्त्ति-कला में स्त्री-पुरुष इसी रूप में व्यक्त किये गये हैं।

(द) कला

भारत की भाँति ही उपनिवेशों में भी कला धर्म की दासी रही है। वहाँ की कला के अब तक मिले सभी नमूने, जिनकी संख्या कई हजार है, धार्मिक वास्तुओं के ही हैं। यहाँ की कला का आरम्भिक रूप पूर्णतः भारतीय ढंग का था और आरम्भिक काल के मन्दिर और मूर्तियाँ भारत से वहाँ जाकर बसनेवाले भारतीय

कलाकारों की ही कृतियाँ समझी जाती हैं। किन्तु धीरे २ भारतीय स्वरूप को अक्षुण्ण रखते हुए भी अनेक स्थानीय शैलियों का विकास हुआ। इन उपनिवेशों के सभी भव्य मंदिरों और सुन्दर मूर्त्तियों का कोई संक्षिप्त वर्णन भी करना असम्भव है। अतः हम उनकी विशाल भव्यता और कला-सौन्दर्य का परिचय देने के लिए केवल कुछ एक का उल्लेख करेंगे।

जावा का सबसे महत्त्वपूर्ण वास्तु बरोबुदूर है, जो ७५०–८५० ई० के बीच शैलेन्द्रों के संरक्षण में बना था। इस भव्य भवन में एक के ऊपर एक करके नौ मंजिलें हैं जो ऊपर जाते हुए एक दूसरे से छोटी होती गई हैं और सबसे ऊपर की मंजिल में बीच में घंटानुमा स्तूप है। नौ मंजिलों में से नीचे की छः मंजिलों की योजना चौकोर है और ऊपर वाली तीन की गोल। सबसे नीचे की मंजिल की लम्बाई १३१ गज है और सबसे ऊपरी मंजिल का व्यास ३० गज है। नीचे की ५ मंजिलें भीतर की ओर एक दिवाल से घिरी हुई हैं जिनके ऊपर एक छाजन पड़ी है। इस प्रकार उनमें चार बरामदे सरीखे निर्माण हैं। ऊपर की तीन छतें स्तूपों से घिरी हैं। प्रत्येक स्तूप में एक जाली है जिसमें बुद्ध की मूर्त्ति है। ९ वीं मंजिल से गोल सीढ़ियाँ शीर्ष-स्तूप तक गयी हैं। प्रत्येक मंजिल के बरामदे में तोरण-नुमा ताखों की कतारें हैं और उनके बीच २ में अलंकरण। इन सभी ताखों के ऊपर मन्दिर सरीखे निर्माण हैं। बीच और कोनों में घन्टानुमा स्तूप हैं जिनमें ध्यानी बुद्ध की मूर्त्तियाँ स्थापित हैं। इनकी संख्या सारे मन्दिर में ४३२ है। प्रत्येक बरामदों के बीच में ऊपर की मंजिल में जाने के लिए सीढ़ियाँ हैं और इनके दरवाजे मन्दिरनुमा तोरण से युक्त हैं। इन दरवाजों के सुन्दर अलंकरण और कौशलपूर्ण नियोजन इस प्रकार हुए हैं कि ऊपर से नीचे तक वे एक ही जगह से दिखाई पड़ते हैं और उनका सौन्दर्य अकथनीय है। इस प्रकार सारे भवन में उनका विशेष महत्त्व है।

बरोबुदूर की दूसरी उल्लेखनीय विशेषता बरामदों में बनी मूर्त्तियों की पंक्तियाँ हैं। मूर्त्तियों की पंक्तियों की कुल ग्यारह मालायें हैं और उनकी संख्या लगभग १५०० है।

विभिन्न बरामदों की मूर्त्तियाँ लिखित पुस्तकों के आधार पर बनी हैं और उन पुस्तकों की सहायता के बिना उनकी व्याख्या सम्भव नहीं है। कुछ तो सौभाग्यवश प्राप्त हुई हैं और कई मूर्त्तियों की व्याख्या की जा चुकी है और इस प्रकार यह काम बहुत कुछ हल्का हो गया है। इनमें गौतम बुद्ध का जीवन, जातक, अवदान और सुधन कुमार की कहानियाँ हैं, जिन्होंने ६४ व्यक्तियों को अपना गुरु बनाया था और १०० प्रकार की तपस्या के पश्चात् मंजुश्री से पूर्ण

ज्ञान प्राप्त किया था। अन्य उत्कीर्ण मूर्त्तियों की संतोषजनक पहचान नहीं हो सकी है। ये सभी मूर्त्तियां उच्च कला-कुशलता की परिचायक हैं।

बरोबुदूर की बुद्ध की और मेनदूत की बोधिसत्व की स्वतन्त्र मूर्त्तियां जावा की मूर्त्तिकला के सुन्दरतम नमूनों में मानी जा सकती हैं। सुन्दर गढ़न, यथा सम्भव मांसल विवरणों का अभाव, स्वरूप की भव्यता, सुरुचिपूर्ण ढंग, सुसज्जित वस्त्र और चेहरे पर दैवी आध्यात्मिक भाव, इन मूर्त्तियों की मुख्य विशेषताएँ हैं। निस्संदेह भारत की गुप्त कालीन मूर्त्तिकला से ही इन मूर्त्तियों की प्रेरणा प्राप्त हुई होगी।

लरजोगरंग

यद्यपि जावा का कोई ब्राह्मण मन्दिर बरोबुदूर के मन्दिर की भव्यता को नहीं पा सकता, तथापि प्रम्बनन की घाटी में स्थित लर-जोगरंग के मन्दिर का स्थान द्वितीय माना जा सकता है। इसमें आठ मुख्य मन्दिर हैं, तीन-तीन दो पंक्तियों में और दो उनके बीच में। ये मन्दिर चारों ओर प्राकार से घिरे हुए हैं, और प्राकार के किनारे-किनारे चारों ओर छोटे २ मन्दिरों की तीन पंक्तियां हैं जिनकी कुल संख्या १५६ हैं। मुख्य मन्दिरों की पश्चिमी पंक्ति में जो तीन मन्दिर हैं उनमें से बिचला सबसे बड़ा और सुप्रसिद्ध है। उसमें शिव की मूर्त्ति प्रतिष्ठित है। उसके उत्तर के मंदिर में विष्णु की और दक्षिण के मन्दिर में ब्रह्मा की मूर्ति है।

बीच का शिव मन्दिर सबसे भव्य है। दस फुट ऊँची और ६० फुट लम्बी कुर्सी के ऊपर मन्दिर बना हुआ है। चबूतरा बरामदे से घिरा हुआ है, जिसके दोनों ओर उत्कीर्ण अलंकरण हैं। बरामदे के भीतरी भाग में उत्कीर्ण मूर्त्तियों के ४२ फलक हैं, जिनमें आरम्भ से लेकर लंका पर आक्रमण तक के रामायण के दृश्य अंकित हैं। यह कहानी सम्भवतः ब्रह्मा के मन्दिर के बरामदे तक चली गयी है। ये उत्कीर्ण मूर्त्तियाँ लार-जोगरंग की मुख्य विशेषता और भव्यता हैं। उन्हें बरोबुदूर की उत्कीर्ण बौद्ध मूर्त्तियों की जोड़ की ब्राह्मण मूर्त्तियां कह सकते हैं और वे किसी प्रकार भी उससे घट कर नहीं हैं।

लारजोगरंग की मूर्त्तिकला बरोबुदूर की अपेक्षा अधिक स्वाभाविक है और उसमें मानवीय आवेशों और गतियों की गहरी अनुभूति है। उसमें मानव जीवन और उसकी सक्रियता भरी है, साथ ही आदर्श के सौंदर्य का भी उसमें अभाव नहीं है। उसमें आदर्श के देवत्व को पृथ्वी पर उतार कर रखा गया है फिर भी उसमें बरोबुदूर की अपेक्षा अधिक सजीवता और कम भावात्मकता है। ये मूर्त्तियाँ अधिक नाटकीय और गतिशील जान पड़ती हैं जब कि बरोबुदूर की मूर्त्तियों में जड़ता और शान्ति अधिक है। दूसरे शब्दों में बरोबुदूर और लार-जोगरंग क्रमशः जावा की भारतीय कला के क्लासिक और रोमान्टिक स्वरूपों को व्यक्त करते हैं।

कम्बुज में अंगकोर के आरम्भिक वास्तुओं में कुछ मंदिर हैं, जिनका भारतीय मंदिरों से बहुत कुछ सादृश्य है। किन्तु धीरे २ ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में एक नयी शैली का जन्म हुआ, जिसमें पहले बरामदे बने फिर पीछे कई मंजिलों के शिखरनुमा भवनों का निर्माण हुआ। उन दोनों को मिलाकर भवन का ऐसा स्वरूप बना जिसमें प्रत्येक मंजिल बरामदों से घिरी हुई है और सबसे ऊपर की मंजिल के ऊपर शिखर है। यह शिखर प्रत्येक मंजिल के चारों कोनों पर भी बने हुए हैं और अन्त में एक ओर अथवा चारों ओर तोरण युक्त गोपुर बना हुआ है। उनके अगल-बगल कमरे और उसके ऊपर दक्षिण भारत के गोपुरों की भाँति अलंकृत शिखर हैं। मंदिर के केन्द्रीय और किनारे के शिखर उत्तर भारतीय शैली के हैं। इस ढंग का सर्वोत्तम और पूर्ण नमूना अंगकोर वाट में है। बयान में शिखरों को चारों दिशाओं की ओर मुँह किये मुण्डों द्वारा ढककर एक नवीनता उत्पन्न की गयी है।

जिन बरामदों की ऊपर चर्चा हुई है वे एक प्रकार से लम्बी कुब्जपृष्ठ सँकरी गलियाँ हैं जो एक ओर दीवाल के सहारे और दूसरी ओर स्तम्भों के सहारे बनी हैं। उनके आगे एक छज्जा है जिसपर अर्धकुब्ज छत है और वह छोटे खम्भों पर खड़ी है। इन बरामदों की दीवारें प्राय: उत्कीर्ण चित्रों और मूर्तियों से अलंकृत हैं। मन्दिरों और नगरों के चारों ओर गहरी खाई और उसके ऊपर पुलनुमा रास्ता वहाँ की वास्तुकला की एक उल्लेखनीय विशेषता है। रास्ते के दोनों ओर साँप के शरीर को खींचते हुए दैत्यों की शकलें बनी हुई हैं जो संसार की वास्तु कला में मुख्य वास्तु को धारण करनेवाली निश्चय ही अनोखी और मौलिक वस्तुयें हैं।

इन भवनों की विशालता अंगकोर की लम्बाई चौड़ाई से आँकी जा सकती है। मन्दिर की चहारदीवारी के बाहर ६५० फुट चौड़ी खाई है और उस पर पश्चिम की ओर ३६ फुट चौड़ा पत्थर का रास्ता है। यह खाई मंदिर की चहार-दीवारी की भाँति ही चारों ओर है और उसकी लम्बाई २॥ मील है। पश्चिमी फाटक से पहले बरामदे तक जो चौड़ी पक्की सड़क गयी है वह १५६० फुट लम्बी और जमीन से ७ फुट ऊँची है। पहला बरामदा पूरब से पश्चिम ८०० फुट और उत्तर से दक्षिण ६७५ फुट है। इस बरामदे की कुल लम्बाई लगभग ३ हजार फुट है। तीसरी अथवा अन्तिम मंजिल का केन्द्रीय शीर्ष जमीन से २१० फुट की ऊँचाई तक गया है।

इन थोड़ी सी बातों से ही कम्बुज के विशाल मन्दिरों का अनुमान हो सकता है। किन्तु एकमात्र उनकी विशालता ही हमें आकृष्ट नहीं करती। उनका सुन्दर अनुपात, व्यवस्थित नियोजन और सर्वोपरि अलंकरण की मूर्तियाँ उन्हें एक अद्भुत भव्यता प्रदान करती हैं।

बर्मा में सर्वोत्तम मन्दिर पगान का आनन्द है। यह ५६४ फुट के चौकोर आँगन के बीच में स्थित है। मुख्य मन्दिर ईंटों का बना हुआ वर्गाकार है और प्रत्येक ओर उसकी लम्बाई १७५ फुट है। प्रत्येक दिशा में बीच में ५७ फुट की तिकोने छत की बरसाती है। इस प्रकार एक कोने से दूसरे कोने तक चारों दिशाओं में यह मन्दिर २९० फुट लम्बा है। मन्दिर के बीच में ईंटों का बना एक बहुत बड़ा चौकोर पीठ है जिसमें गहरे ताख बने हुए हैं और प्रत्येक ताख में ३१ फुट ऊँची विशाल बुद्ध की खड़ी मूर्ति ८ फुट ऊँचे आसन पर बनी है। इस स्तम्भ के चारों ओर दो समानान्तर गलिआरे हैं जो बरसाती और बुद्ध की मूर्त्ति के बीच आने जानेवाले रास्तों से कटे हैं।

आनन्द मन्दिर

बाहर की ओर मन्दिर की दीवार २९ फुट ऊँची है और उसके ऊपर मुँडेरियां हैं जिसके चारों कोनों पर गोल-गोल पगोड़ा हैं। मुँडेरियों के ऊपर दो छतें और हैं जो नीचे की समानान्तर गलियों के ऊपर बनी हुई हैं। इनमें से प्रत्येक के कोने पर लम्बा स्तूप है और केन्द्रीय बरसाती के अनुकरण पर उसके बीच में खिड़कियां हैं। इन दोनों छतों के ऊपर चार छोटे गलियारे सरीखी छतें हैं जो शिखर के लिए आधार स्वरूप बनी हैं। उसके ऊपर स्तूप है जो घंटीनुमा लम्बा बना है और उसके ऊपर एक लोहे का पतला शिखर है। क्रमशः छोटी होती आनेवाली इन प्रत्येक छतों में कोने पर एक-एक शेर और बीच में एक नकली तोरण है। भव्य अनुपात और व्यवस्थित नियोजन के अतिरिक्त आनन्द मन्दिर का सौंदर्य पत्थर की असंख्य उत्कीर्ण मूर्त्तियों और दीवार पर लगे मिट्टी के चमकीले फलकों से बढ़ गया है। पत्थर की उत्कीर्ण मूर्त्तियों की संख्या ८० है और उनमें बुद्ध के जीवन की मुख्य घटनाएँ अंकित हैं। ९२६ फलकों में जातक की कहानियाँ अंकित की गयी हैं। मन्दिर के नियोजन के अनोखे ढंग से लोगों में उसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में घोर विवाद है। किन्तु जैसा कि ऊपर कहा गया है, निस्संदेह वह भारतीय शैली से ही विकसित हुआ है। उस ढंग के मन्दिर बंगाल में पाये जाते हैं और सम्भवतः उन्हीं से आनन्द मन्दिर के नियोजन की प्रेरणा मिली थी। यह मत ड्यूरोसाइल का है जिन्होंने हाल में इसका विशेष अध्ययन किया है। उनका कहना है कि—

"जिन वास्तुकारों ने आनन्द का नियोजन और निर्माण किया, वे निस्संदेह भारतीय थे। शिखर से लेकर कुर्सी तक प्रत्येक वास्तु तथा बरामदों में पायी जाने वाली अनेक प्रस्तर मूर्तियों तथा कुर्सियों तथा गलियारों में लगे मिट्टी के फलकों में भारतीय कला-कौशल और प्रतिभा की अमिट छाप दिखाई पड़ती है। इस दृष्टि से हम यह मान सकते हैं कि आनन्द का मन्दिर बर्मा की राजधानी में बना हुआ होने पर भी भारतीय मन्दिर ही है।"

आकर-सूची

उन विशिष्ट विद्यार्थियों के उपयोग के लिए जो आवश्यकतावश संक्षेपतः इस पुस्तक में दिये गये विभिन्न विषयों का विशेष अध्ययन करना चाहते हैं, एक संक्षिप्त किन्तु चुनी हुई आकर-सूची नीचे दी जा रही है। आरम्भ में जो सामान्य सूची दी हुई है उसमें हाल की प्रकाशित कुछ ऐसो मान्य पुस्तकों का उल्लेख है जो सम्पूर्ण प्राचीन भारत के इतिहास अथवा उसके विशेष काल का विवेचन करती हैं। इनका उल्लेख बाद की आकर-सूची में सामान्यतः नहीं किया गया है। उस सूची में इस पुस्तक के विभिन्न अध्यायों में वर्णित विषयों के अनुसार पुस्तकों की सूची दी गयी है। यह सूची विस्तृत नहीं है। उसका उद्देश्य है केवल उन पुस्तकों का उल्लेख करना जो विशेष अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों को सहायक हो सकती हैं। सूची को संक्षिप्त और व्यावहारिक बनाने की चेष्टा की गयी है। अतः इस सूची में किसी पुस्तक के न होने का अर्थ यह नहीं है कि उसका कोई महत्त्व नहीं है अथवा वह उपयोगी नहीं है। केवल अंग्रेजी भाषा की पुस्तकें इस सूची में दी गयी हैं। चिन्हांकित पुस्तकों के हिन्दी अनुवाद भी उपलब्ध हैं, किन्तु उनके उपयोग में सतर्कता आवश्यक है।

सामान्य आकर-सूची

आयंगर, एस० के० — ऐन्शियण्ट इण्डिया एण्ड साऊथ इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर (१९४१)

बसक, आर० जी० — दी हिस्ट्री ऑफ नार्थ ईस्टर्न इण्डिया (लगभग ३२० से ७५० ई० तक) (१९३४)

कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया, भाग १ — सम्पादक ई० जी० रैप्सन। (इसमें आरम्भ से लेकर पहली ई० शताब्दी के मध्य तक का इतिहास दिया हुआ है।) यह खण्ड १९२२ में प्रकाशित हुआ था किन्तु दूसरा खण्ड अभी तक नहीं प्रकाशित हुआ।

कनिंघम, ए० — एन्शियेन्ट जियोग्राफी ऑफ् इण्डिया (पुनर्मुद्रित एवं संपादित, एस० एन० मजुमदार)

* दत्त, आर० सी० — हिस्ट्री ऑफ् सिविलिजेशन इन एन्शियेन्ट इण्डिया (१८९३) (यद्यपि यह पुस्तक काफी पुरानी पड़ गयी है तथापि इसमें महत्वपूर्ण सूचनायें और विचारणीय मत प्रकट किये गये हैं।)

मजुमदार, आर० सी० एण्ड अल्तेकर, ए० एस० — दी वाकाटक गुप्त ऐज (१९४६) जो ए न्यू हिस्ट्री ऑफ् दी इण्डियन पीपुल का छठा खण्ड है। (इसमें २००–५५० ई० तक के काल का वृत्तान्त है।) यह पुस्तक-माला अब भारतीय इतिहास कांग्रेस द्वारा नियोजित १२ खण्ड वाले इतिहास के साथ सम्मिलित कर दी गयी है।

रे, एच० सी० — दी डायनेस्टिक हिस्ट्री ऑफ् नार्दर्न इण्डिया, दो भाग (१९३१, १९३६) इसमें हर्ष के साम्राज्य के पतन के पश्चात् विकसित होने वाले मध्यकालीन राज्यों का विस्तृत वृत्तान्त दिया हुआ है।

राय चौधरी, एच० सी० — पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ् एन्शियेंट इण्डिया, पाँचवाँ संस्करण (१९५०) इस पुस्तक में परीक्षित के राज्यारोहण से लेकर गुप्त सम्राटों के ह्रास तक का राजनीतिक इतिहास वर्णित है।

स्मिथ, वी० ए० — अर्ली हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया, चौथा संस्करण (१९२४) इसमें ६ ठीं शताब्दी ई० पू० से लेकर हिंदू काल के अंत तक के राजनीतिक इतिहास की चर्चा है।

* वैद्य, सी० वी० — हिस्ट्री ऑफ् मेडीवल हिंदू इण्डिया।

बाम्बे गजेटियर — पहला भाग इसमें गुजरात, दक्कन और कन्नड़ जिलों का इतिहास है। इसके विभिन्न अध्याय भगवान लाल इन्द्रजी, आर० जी

भण्डारकर और जे० एफ० फ्लीट द्वारा लिखे गये हैं।

दी हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ दी इण्डियन पीपुल — १० खण्डों में भारत के विस्तृत इतिहास की योजना भारतीय इतिहास समिति बम्बई ने की है और उसके सम्पादक डा० आर० सी० मजुमदार एवं डा० ए० डी० पुसालकर हैं। प्राचीन भारत का इतिहास इसके प्रथम चार खण्डों में दिया गया है।

आकर-सूची

प्रस्तावना

१. देश की प्राकृतिक विशेषताओं के विवरण के लिए देखिये कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया भाग १ अध्याय १ और हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ् दी इण्डियन पीपुल भाग १ अध्याय ५, इस विषय के अधिक अध्ययन के निमित्त देखिये इम्पीरीयल गजेटियर ऑफ् इण्डिया और जिलों के गजेटियर।

२. हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ् दि इण्डियन पीपुल भाग १ अध्याय २ पृष्ठ ६ पर उल्लिखित सभी मूल पुस्तकें प्रकाशित हैं। निम्नलिखित के अंग्रेजी संस्करण प्राप्य हैं।

हर्षचरित — कॉवेल और टॉमस द्वारा अनूदित।

राजतरंगिणी — ए. स्टीन, तथा आर. एस. पंडित द्वारा भी अनूदित।

रामचरित — आर सी. मजुमदार तथा अन्य लोगों के द्वारा अनूदित।

यवन विवरणों के लिये देखिये मैक्रीण्डल द्वारा मूल पुस्तकों का ६ भागों में किया गया अनुवाद और शॉफ् कृत पेरीप्लस ऑफ् दी एरिथ्रीयन् सी. का अनुवाद।

वृत्तान्तों के लिए देखिये :—

❀ (१) फाहियान — लेगी द्वारा अनूदित (और गाइल्स द्वारा भी अनूदित)।

❀ (२) ह्वेनसांग — एस. बील द्वारा अनूदित, वाटर्स के द्वारा अनूदित (यह अनुवाद अच्छा है, परन्तु यह अनुवाद होने की अपेक्षा सारांश अधिक है।)

❀ (३) इत्सिङ् — जे. ताकाकुसु द्वारा अनूदित अल्बेरूनी की पुस्तक अंग्रेजी में ई० सचाऊ द्वारा अनूदित है।

गुहा, बी. एस्.— ऐन् आउटलाइन् ऑफ् दि रेशियल एथ्नोलॉजी ऑफ् इण्डिया (१९३७)
——— रेशियल एलिमेंट्स इन दी पॉपुलेशन (आक्सफोर्ड पैम्फलेट् २२ नम्बर)
आयंगर, पी. टी. एस्. — प्री-आर्यन् तमिल कल्चर (१९३०)
रिजले, एच्. एच्. — दी पीपुल ऑफ् इण्डिया (१९१५)

तीसरा अध्याय

हारग्रीव्स् , एच्.— एक्स्केवेशन्स् इन् बलूचिस्तान । भारतीय पुरातत्व विभाग की पुस्तिका संख्या ३५ (१९२९)
हेरूसे, जी. डी. — ऑन् ए रायटिंग ओशनिके ऑफ् नियोलिथिक ओरीजिन्, जर्नल ऑफ् इण्डियन हिस्ट्री भाग १३ पृष्ठ १-१७ ।
हण्टर, जी. आर. — दी स्क्रिप्ट् ऑफ् हरप्पा एण्ड मोहेंजोदड़ो एण्ड इट्स् कनेक्शन् विथ अदर स्क्रिप्ट्स (१९३४)
लॉ, एन्. एन्.— मोहेंजोदड़ों ऐण्ड दि इण्डस् सिविलाइजेशन् इण्डियन हिस्टारिकल् क्वार्टर्ली भाग ८, १२१-६४.
मैके, ई. जे. एच्. — चहुंदड़ों एक्स्केवेशन्स १९४३.
——— फर्दर् ऐक्स्केवेशन्स् ऐट् मोहेंजोदड़ो
——— दि इण्डस् सिविलाइजेशन् , द्वितीय संस्करण ।
मजुमदार, एन्. जी — एक्स्प्लोरेशन् इन सिंध (१९३९)
मार्शल, सर. जॉन् — मोहेंजोदड़ो एण्ड दी इण्डस् सिविलाइजेशन्, भाग ३ (१९३१) यह अपने विषय की सबसे प्रामाणिक और विस्तृत पुस्तक है ।
सरूप, एल्. — ऋग्वेद ऐण्ड मोहेंजोदड़ो) प्रोसीडिंग्स् ऑफ् ओरियंटल कांफरेंस ८, १–२२, इण्डियन कल्चर भाग ४, १४९-६८ ।
स्टीन, सर ओरियेल — ऐन् आर्क्योलाजिकल टूर इन् वजीरिस्तान एण्ड नार्दर्न बलूचिस्तान (पुरातत्व विभाग की पुस्तिका नं० ३७) (१९२९)
——— आर्कियालाजिकल् रिकनॉयसेन्सेज् इन् नार्थ-वेस्टर्न इण्डिया एण्ड साउथ-ईस्टर्न ईरान (१९३७)
वत्स, माधव स्वरूप — एक्सकेवेशन्स् ऐट् हड़प्पा—अपने विषय की यह सबसे प्रामाणिक और विस्तृत पुस्तक है।
व्हीलर, आर. ई. एम्. — हड़प्पा, १९४६ । इसमें पूर्व पुस्तक के प्रकाशन के बाद की खुदाई का विवरण दिया गया है ।

चौथा अध्याय

चाइल्ड, वी. जी. — दी आर्यन्स् (१९२६)
टेलर, आई. — दी ओरिजिन् ऑफ् दी आर्यन्स् (१८८९)
तिलक, बी. जी. — ओरॉयन
——— दी आर्कटिक् होम इन् दि वेदज् ।

पाचवाँ अध्याय

संस्कृत साहित्य के लिए, जिसमें वैदिक साहित्य भी सम्मिलित है, निम्न-लिखित पुस्तकों से सहायता ली जा सकती है।

मेकडॉनेल, ए. ए. — हिस्ट्री ऑफ् संस्कृत लिटरेचर (१९००).
विन्टरनित्स्, एम्. — हिस्ट्री ऑफ इण्डियन् लिटरेचर (१९२०).

मूल पुस्तक तीन भागों में जर्मन में लिखी हुई है। भाग १ में वैदिक साहित्य भाग २ में बौद्ध और जैन साहित्य और भाग ३ में वेदोत्तर संस्कृत साहित्य की चर्चा है। भाग १ और २ को अंग्रेजी में श्रीमती एस. केतकर ने १९२७ और १९३३ में अनूदित किया है।

सातवाँ, आठवाँ और नवाँ अध्याय

(अ) सामान्य पुस्तकें

दत्त, एन्. के. — आर्यनाइजेशन् ऑफ् इण्डिया
आयंगर, पी. टी. एस्. — लाईफ़ इन् एन्शियेन्ट इण्डिया
केगी, ए. — दी ऋग्वेद: आर् ऐरोस्मिथ द्वारा अनूदित
मैकडानेल, ए. ए. और कीथ, ए. बी. —वैदिक इन्डेक्स् (कुछ सन्दर्भों के लिए एक अच्छी पुस्तक है)।
म्यूर जे. — ओरीजिनल् संस्कृत टेक्स्ट्स्.

(ब) राजनैतिक इतिहास

पारजीटर. एफ् ई० एन्शियेंट हिस्टॉरिकल ट्रेडीशनस् (१९२२).
——— दी पुराण टेक्स्ट् ऑफ् दी डाइनेस्टीज ऑफ् दि कलि एज (१९१३).
प्रधान एस्. एन् — क्रॉनॉलॉजी ऑफ् एन्शियेन्ट इण्डिया (१९२७)

(स) धर्म

बार्थ, ए. — दी रेलीजन्स् ऑफ् इण्डिया १८८२.

ब्लूमफील्ड, एम्. — दी रेलीजन् ऑफ् दि वेद
——— दि अथर्ववेद
ग्रीसवोल्ड एच्. डी. — रेलीजन ऑफ् दि ऋग्वेद
हॉपकिन्स, ई. डब्ल्यू — दि रेलोजन्स् ऑफ् इण्डिया १८९५.
कीथ, ए.बी. — रेलीजन एण्ड फिलॉसॉफी ऑफ् दि वेद एण्ड उपनिषद्स् (१९२५).
मेकडॉनेल् ए. ए. — वेदिक माइथॉलॉजी १८९७.

(द) दर्शन

एस. चटर्जी एण्ड दत्ता. डी.— ऐन् इन्ट्रोडक्सन् टू इण्डियन् फिलॉसॉफी १९५० आरम्भ करने वालों के लिये उपयोगी है।
दासगुप्ता एस. एन् — हिस्ट्री ऑफ इण्डियन् फिलॉसॉफी
राधाकृष्णन् एस. — हिस्ट्री ऑफ इण्डियन् फिलॉसॉफी
रानाडे आर. डी. — कन्स्ट्रक्टिव् सर्वे ऑफ् दी उपनिषद् फिलॉसॉफी।

(इ) राजनीतिक और न्याय संस्थायें

* अल्तेकर ए. एस्. — स्टेट एण्ड गवर्नमेन्ट इन् एशियेन्ट इण्डिया (१९४९) आरम्भ करने वालों के लिये उपयोगी है।
अन्जरिया जे. जे. — दी नेचर एण्ड दी ग्राउन्डस् ऑफ् पोलिटिकल् आब्लीगेशन्स् इन् हिन्दू स्टेट
वेणी प्रसाद — थ्योरी ऑफ् गवर्नमेन्ट् इन् एशियेन्ट इण्डिया (१९२७)
भण्डारकर डी. आर —सम् आस्पेक्ट्स ऑफ् एन्शियेन्ट इण्डियन् पॉलिटी, १९२९
घोषाल, यू. एन्. — ए हिस्ट्री ऑफ हिन्दू पोलिटिकल थ्योरीज
——— ए हिस्ट्री ऑफ् हिन्दू पब्लिक् लाइफ, १९४५.
* जायसवाल, के. पी. — हिन्दू पॉलिटी १९२४। इस पुस्तक को सतर्कतापूर्वक पढ़ना चाहिए क्योंकि इसमें अनेक सिद्धान्त और कथन ऐसे हैं, जो उचित प्रमाणों के आधार पर नहीं हैं।
जॉली जे. — हिन्दू लॉ एण्ड कस्टम् (डॉ० बी. के. घोष कृत अनुवाद)

(फ) सामाजिक और आर्थिक अवस्था

आयंगर के. वी. आर—एन्शियेन्ट इकॉनॉमिक् थॉट, १९३४
अल्तेकर ए. एस् — एजूकेशन इन् एन्शियेन्ट इण्डिया, चतुर्थ संस्करण १९५१
——— पोजीशन् ऑफ् वीमेन् इन हिन्दू सिविलिजेशन् १९३८

आप्टे वी. एम — सोशल एण्ड रेलीजस् लाइफ् इन् गृह्यसूत्रज्, १९३९
वाख एस्. के. — इकॉनॉमिक् हिस्ट्री ऑफ् एन्शियेण्ट इण्डिया,
हॉकिन्स इ. डब्ल्यू — ईथिक्स् ऑफ् इण्डिया १९२४.
मुकर्जी आर्. के. — ऐन्शिएण्ट इण्डियन् एजूकेशन, १९४७
——— हिन्दू सिविलाइजेशन्, १९३६
सरकार एस्. सी — सम् आस्पेक्ट्स् ऑफ् दि अंशियेन्ट सोशल हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया, १९२८.
वेंकटेश्वर एस्. वी. — इण्डियन् कल्चर थ्रू दि एजेज

(ग) जाति व्यवस्था

वेन्स ए. — एथ्नोग्रॉफी, १९१२.
दत्त एन्. के. — ओरिजिन् एण्ड डेवलप्मेण्ट ऑफ् कास्ट इन् इण्डिया।
केतकर एस्. वी. — दि हिस्ट्री ऑफ् कास्ट इन् इण्डिया, १९११.
मजूमदार आर्. सी. — कारपोरेट् लाइफ् इन् एन्शियेण्ट इण्डिया, १९२२। अध्याय ५

द्वितीय खण्ड

पहला अध्याय

भण्डारकर, डी. आर्. — कारमाइकेल लेक्चर्स्, भाग २, व्याख्यान २.
डेविड्स रीज — बुद्धिष्ट इण्डिया
लॉ, बी. सी. — एन्शियेन्ट इण्डियन् क्षत्रिय ट्राइब्स्, १९२४
——— क्षत्रिय क्लान्स् इन् बुद्धिष्ट इण्डिया, १९२२
——— क्षत्रिय ट्राइब्स् ऑफ् एन्शियेण्ट इण्डिया, १९२३
——— ट्राइब्स इन् ऐन्शियेन्ट इण्डिया, १९४३

एलेक्जेंडर के आक्रमण संबंधी अध्ययन के लिए सबसे महत्वपूर्ण पुस्तक एरियन कृत "एलेक्जेन्ड्री एनाबेसिस" है, जिसका अनुवाद मिक्क्रिन्डल ने "दि इनवेजन् ऑफ् इण्डिया बाइ अलेक्जेन्डर दि ग्रेट" नाम से किया है। इसमें अन्य यवन वृत्तान्त भी दिये गये हैं। सामान्य आकर-सूची में दी हुई पुस्तकों के अतिरिक्त केम्ब्रिज एन्शियेण्ट हिस्ट्री, भाग ६ अध्याय १३ और डब्लू. डब्लू. टार्न कृत "अलेक्जेन्डर दि ग्रेट" पठनीय हैं।

दूसरा अध्याय

मेगास्थनीज — इण्डिका (मिकक्रिण्डल कृत अनुवाद)

मुकर्जी, आर. के. — चन्द्रगुप्त मौर्य एण्ड हिज़ टाइम्स, १९४३.

अशोक के सम्बन्ध में बहुत अधिक साहित्य है। यहाँ केवल चुनी हुई पुस्तकों का उल्लेख किया जाता है।

बरुआ, बी. एम् — अशोक एण्ड हिज़ इन्सक्रीप्शन्स्

भण्डारकर, डी. आर — अशोक

हुल्श — इन्सक्रिप्शन्स ऑफ् अशोक (कार्पस् इन्सक्रिप्सनम् इण्डिकेरम्, भाग १)

स्मिथ, वी. ए. — अशोक

अशोक सम्बन्धी हमारे ज्ञान के साधन मुख्यतः उसके अभिलेख हैं। उनका अनुवाद उपर्युक्त उल्लिखित सभी पुस्तकों में दिया गया है और उनमें अशोक के अभिलेखों के विभिन्न पाठों एवं अन्य सभी सम्बद्ध बातों पर हुए वाद-विवाद की पूरी आकर-सूची दी हुई है।

तीसरा अध्याय

उपशीर्षक १

कोनों स्टेन् — दि खरोष्ठी इन्स्क्रिप्शन्स् (कार्पस इन्स्क्रिप्शनस् इण्डिकेरस् भाग २)

टार्न, डब्ल्यू. डब्ल्यू — दी ग्रीक्स इन बैक्ट्रिया ऐण्ड इण्डिया

उपशीर्षक ४-५

गोपालाचारी, के. — अर्ली हिस्ट्री ऑफ् दि आन्ध्र कन्ट्री

कृष्णाराव, बी. वी. — अर्ली डाइनेस्टीज ऑफ् दि आन्ध्र देश १९४२

सरकार, डी. सी. — दि सक्सेसर्स ऑफ् दी शातवाहन्स्

अनुच्छेद एक से पाँच के लिये देखिये ऊपर वर्णित सिक्कों की पुस्तकें, क्योंकि इस अध्याय के वर्णित अधिकांश राज्यों का ज्ञान सिक्कों द्वारा ही हुआ है।

उपशीर्षक ६

आयंगर, ई. टी. एस् — हिस्ट्री ऑफ् दि तमिल्स अपटु ६०० ए. डी., १९२९।

आयंगर, एस. के. — बिगिनिंग्स ऑफ् साउथ इण्डियन् हिस्ट्री, १९१८

अय्यर, के वी. एस. — पेरिफिक्स ऑफ् दि संगम पीरियड, १९३७.

पिल्ले, के. — तमिल्स १८०० इयर्स एगो, १९०४

चौथा अध्याय

हमारे ज्ञान का मुख्य साधन कौटिल्य का अर्थ-शास्त्र है। इसका सम्पादन आर्. शामशास्त्री, जॉली, स्मिथ और टी. गणपति शास्त्री ने किया है। इसका

आर्. शामशास्त्री कृत अंग्रेजी अनुवाद और डा० आर. जी. बसक द्वारा बंगला अनुवाद प्राप्त है।

इस किताब की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में विद्वानों में घोर मतभेद है। कुछ लोग उसे मौर्य चन्द्रगुप्त के प्रधान मंत्री कौटिल्य उर्फ चाणक्य की वास्तविक रचना मानते हैं और अन्य विद्वान् इस बात को स्वीकार नहीं करते और इसे परवर्ती रचना मानते हैं। इस विवाद के फलस्वरूप काफी साहित्य तैयार हो गया है।

पहले प्रकार के विचारों के लिये देखिये :—

फ्लीट, जे. एफ्.— आर्. शामशास्त्री कृत अंग्रेजी अनुवाद की भूमिका।

जैकोबी के लेख— (इण्डियन एण्टीक्वेरी १९१८ में अनूदित, पृष्ठ १५७, १८७)

जायसवाल, के. पी.— हिन्दू पॉलिटी, पृष्ठ २०३।

लॉ, एन्. एन्.—कलकत्ता रिव्यू, १९२४, सितम्बर (५१२) नवंबर (२२८) और दिसम्बर (४६६)

मुकर्जी, आर. के—डॉ० एन्. एन्. लॉ कृत स्टडीज इन् एंशियेन्ट हिन्दू पॉलिटी की भूमिका।

शास्त्री, टी. गणपति —मूल संस्करण की भूमिका।

शामशास्त्री आर्—अर्थशास्त्र के अंग्रेजी अनुवाद की भूमिका, कलकत्ता रिव्यू, अप्रैल १९२५, पृष्ठ ११५।

द्वितीय मत के लिए देखिये :—

जॉली — अर्थशास्त्र के संस्करण की भूमिका।

कीथ — जर्नल ऑफ् रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, १९१६ पृष्ठ १३०; जे. एन्. समद्दर द्वारा प्रकाशित आशुतोष मेमोरियल वाल्यूम (१९२६–१९२८) भाग १ पृष्ठ ८–२२।

रायचौधरी, एच्. सी—दि हिस्ट्री ऐण्ड कल्चर ऑफ् दि इण्डियन् पीपुल, भाग २ पृष्ठ २८५।

विण्टरनित्स् — कलकत्ता रिव्यू, अप्रैल १९२४ पृष्ठ १।

जब तक अन्य प्रमाण सामने न आयें तब तक इस प्रश्न पर कोई निश्चित मत स्थिर न किया जाना चाहिए।

इधर कुछ वर्षों के भीतर प्राचीन भारत के राजनीतिक सिद्धान्त और शासन प्रबन्ध के अध्ययन की विशेष प्रगति हुई है। ऊपर उल्लिखित इस विषय की पुस्तकों के अतिरिक्त विशेष अध्ययन के लिये निम्नलिखित पुस्तकें देखी जा सकती हैं :—

बन्द्योपाध्याय, एन्. सी.—कौटिल्य (१९२७)

लॉ, एन्. एन्. — स्टडीज इन् एन्शियेन्ट हिन्दू पॉलिटी (१९२४)
——— इन्टर स्टेट रिलेशन्स् इन् एन्शिएण्ट इण्डिया (१९२०)
मजूमदार, आर्. सी.—कॉरपोरेट लाइफ् इन् एन्शिएण्ट इण्डिया (अध्याय २, ३,)
सरकार, बी. के.—पोलिटिकल् इन्स्टीट्यूशन्स् ऐण्ड थ्योरीज ऑफ़ दि हिन्दूज् ।
शामशास्त्री, आर्.—दि इवोल्यूशन् ऑफ् इण्डियन् पॉलिटी

पाँचवाँ अध्याय

सामान्य पुस्तकों के लिये देखिये ऊपर पृष्ठ ५३८ ।

१. बौद्ध धर्म के अध्ययन के लिये देखिये :—

डेविड, रीज — बुद्धिज्मः इट्स हिस्ट्री ऐण्ड लिटरेचर ।
——— बुद्धिज्म ।
——— बुद्धिष्ट इण्डिया ।
——— इण्डियन बुद्धिज्मः (हिबर्ट लेक्चर्स्, १८८१) ।
दत्त, एन्. — अर्ली हिस्ट्री ऑफ् दि स्प्रेड ऑफ् बुद्धिज्म ऐण्ड दि बुद्धिस्ट स्कूल्स् ।
——— आस्पेक्टस् ऑफ् महायान बुद्धिज्म ।
——— अर्ली मोनास्टिक् बुद्धिज्म ।
कर्न — मैनुअल ऑफ् बुद्धिज्म ।
ओल्डेनबर्ग, एच्.—बुद्ध (डब्ल्यू. होय कृत अनुवाद कलकत्ता, १९२७) ।

बौद्ध संघ के संघटन के लिए देखिये :—

मजुमदार, आर्. सी.—कॉरपोरेट लाइफ् इन् एन्शिएण्ट इण्डिया अध्याय ४ ।

बौद्ध संगीति के लिए देखिये डा० बी. सी. लॉ द्वारा सम्पादित बुद्धिस्टिक् स्टडीज में आर्. सी. मजुमदार का लेख पृष्ठ २६, ७२ ।

२. जैन धर्म पर उपयोगी पुस्तकें निम्नलिखित हैं :—

बरोदिया — हिस्ट्री ऐण्ड लिटरेचर ऑफ जैनिज्म १९०९ ।
बुल्हर — ऑन् दि इण्डियन् सेक्ट ऑफ दि जैनस् (१९०३) ।
जगमन्दर लाल जैनी—आउटलाइन् ऑफ् जैनिज्म (मुख्यतः दार्शनिक १९४०) ।
लॉ, बी. सी. — लाइफ् ऑफ् महावीर ।
शाह, सी. जे. — जैनिज्म इन् नार्थ इण्डिया, १९३२ ।
स्टीवेन्सन, एस. (श्री मती)—दी हार्ट ऑफ् जैनिज्म, १९१५ ।
वारेन एच्. — जैनिज्म १९१२ ।

विस्तृत सूची के लिये देखिये :—

बिब्लियोग्राफिया—बुद्धिके (ए. मैसनाव, पेरिस, १९३७)

क्यूरिओ एसे दि विकिलिवो " की खोज।

३-४. वैष्णव और शैव धर्मों के विस्तृत अध्ययन के लिए देखिये :—

भण्डारकर, आर्. जी.—वैष्णविज्म्, शैविज्म् ऐण्ड माइनर रेलिजस् सिस्टम्स्, १९१३

अय्यर, सी. वी. एन्. —ओरिजिन् ऐण्ड अर्ली हिस्ट्री आफ् शैविज्म इन् साउथ इण्डिया (१९३६)।

रायचौधरी, एच्. सी. —मैटीरियल्स् फॉर् दि स्टडी ऑफ् अर्ली हिस्ट्री ऑफ् दि वैष्णव सेक्ट, दूसरा संस्करण, १९३६।

५. भारतीय धर्म के सामान्य अध्ययन के लिये देखिये :—

बारनेट्, एल्. डी.—हिन्दूइज्म्।

इलियट —हिन्दूइज्म् ऐण्ड बुद्धिज्म्, भाग १–३। इन्साइक्लोपिडिया ऑफ् रेलिजन ऐण्ड इथीक्स्।

छठाँ अध्याय

इस पुस्तक में बौद्ध साहित्य का विवरण विन्तरनित्स् कृत गेशीस्टेडर इन्डिशेन् लितरेतूर भाग २ के आधार पर दिया गया है, जो इस विषय की सबसे अच्छी और सबसे विस्तृत पुस्तक है। अन्य पुस्तकों में निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं :—

डेविड्स रीज —(पृष्ठ ५४२ पर उल्लिखित पुस्तकें)

लॉ, बी. सी —ए हिस्ट्री ऑफ् पालि लिटरेचर्।

ओल्डेनबर्ग —इन्ट्रोडक्सन् टू विनय टेक्स्ट्स्।

पालि धार्मिक साहित्य का सम्पादन पालि टेक्स्ट्स् सोसायटी द्वारा हुआ है और उनमें से अनेक का अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित हुआ है।

जातक का सम्पादन और अंग्रेजी अनुवाद फॉसबॉल ने किया है (केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस)

ब्राह्मण साहित्य के लिए देखिये—वैदिक साहित्य के अन्तर्गत निर्देश। इस विषय की अच्छी और पूर्णतया विस्तृत पुस्तक डॉ० पी. वी. काणे की हिस्ट्री ऑफ् धर्मशास्त्र है, जिसके चार खण्ड अब तक पाँच भागों में प्रकाशित हुए हैं।

सातवाँ अध्याय

अनुच्छेद 1.

रामायण और महाभारत के आलोचनात्मक अध्ययन के फलस्वरूप काफी साहित्य प्रस्तुत हुआ है जो अधिकांशतः जर्मन भाषा में है। इसका अच्छा वृत्तान्त विन्तरनित्स कृत हिस्ट्री ऑफ् लिटरेचर भाग १ पृष्ठ २५९–४४० में मिलेगा।

रामायण-महाभारत संबंधी अंग्रेजी लेखों में निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं :—

हाप्कीन्स् —दि ग्रेट एपिक ऑफ् इण्डिया।

——— दि सोशल ऐण्ड दि मिलिट्री पोजीशन् ऑफ् दी रूलिंग कास्ट (जे. ए. ओ. एस. भाग ११)
वैद्य, सी. वी. —एपिक इण्डिया
——— दी महाभारत : ए क्रिटिसिइज्म।
——— रिड्ल ऑफ् दि रामायण।

रामायण का आलोचनात्मक अध्ययन केवल एच. जैकोबी ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक दास रामायण में किया है।

एन्. घोष कृत—दि रामायण ऐण्ड दि महाभारत (आशुतोष जुबिली) वाल्यूम, खण्ड ३ भाग २ पृष्ठ ३६१–४०७ भी इस संबंध में पठनीय लेख है।

अनुच्छेद २.

अय्यर, शिवस्वामी—इवोल्यूशन् ऑफ् हिन्दू भारत आइडियल्स्, १६३५।
हॉप्कीन्स —इथिक्स् ऑफ् इण्डिया, १६२४।
जैन, जे. सी. —लाइफ् इन् ऐन्शियेन्ट इण्डिया, ऐज् डेपिक्टेड् इन् दि जैन कैनन्स्, १६४७।
मैकेन्जी जॉन् —हिन्दू इथीक्स्।
मैत्र, एस. के. —इथीक्स् ऑफ् दि हिन्दूज्।
पाटिल, डी. आर्. —कल्चरल् हिस्ट्री फ्राम् दि वायु पुराण, १६४६।

आठवाँ अध्याय

दक्षिण की आर्य विजय के लिए देखिये :—

भण्डारकर, आर्. जी.—अर्ली हिस्ट्री ऑफ् दि डेकेन्, अध्याय २–३।
भण्डारकर, डी. आर.—कारमाइकेल लेक्चरस् भाग १ अध्याय १।

सुदूर पूर्व के औपनिवेशिक विस्तार के लिए देखिये :—

चटर्जी, बी. आर्. —इण्डियन कल्चरल् इन्फ्लुएन्स इन् कम्बोडिया।
मजूमदार, आर्. सी. —एन्शिएण्ट इण्डियन कालोनीज इन् दि फार् ईस्ट।
भाग १ चम्पा १६२७।
भाग २ सुवर्णद्वीप, खण्ड १–१६३६ खण्ड, २–१६३८।
——— कम्बुज देश, १६४४।
——— हिन्दू कालोनीज् इन् दि फ़ार् ईस्ट (१६४४)
आरम्भिक विद्यार्थियों के लिये उपयोगी।

मध्य एशिया के भारतीय उपनिवेशों का वर्णन सर आरियल स्टीन ने अपनी अनेक पुस्तकों में किया है किन्तु सर्वोपरि उनकी चिरस्मरणीय पुस्तक सेर-इण्डिया है।

चीन के लिए देखिये :—

बागची, पी. सी. —इण्डिया इन् चाइना।

व्यापार और नौका-नयन के लिये देखिये :—

कथा, आर्. पी.—अर्ली इण्डियन् सीमेन् (आशुतोष जुबिली वाल्यूम, ३, खण्ड १, पृष्ठ १०५)।

मुकर्जी, आर्. के —हिस्ट्री ऑफ् इण्डियन् शिपोङ् एण्ड मेरीटाइम एक्टीविटी।

रालिन्सन्, जी. —इन्टरकोर्स बिटवीन् इण्डिया एण्ड दि वेस्टर्न् वर्ल्ड्स्।

शोफ़ोफ़् —पेरीप्लस् ऑफ् दि इरीथ्रियन सी।

वारमिंगटन्, इ. एच्.—कामर्स बिटवीन दि रोमन् इम्पायर ऐण्ड इण्डिया, १९२८।

व्यापार संघटन के लिए देखिये :—

मजुमदार, आर्. सी —कारपोरेट् लाइफ् इन् एन्शियेन्ट इण्डिया, अध्याय १।

प्राचीन भारत की सामाजिक और आर्थिक अवस्था के लिए देखिये :—

बनर्जी, एन्. सी.—इकानामिक् लाइफ् एण्ड प्रोग्रेस् इन् एन्शिएन्ट इण्डिया।

दास, एस्. के —दी इकॉनॉमिक हिस्ट्री ऑफ् एन्शियेण्ट इण्डिया।

फिक् —सोशल आरगनाइजेशन् इन् नार्थ इस्टर्न इण्डिया इन् बुद्धज् टाइम (डॉ० एस. के. मैत्र कृत अंग्रेजी अनुवाद)।

मेहता, आर्. —प्री-बुद्धिष्ट इण्डिया।

डेविड्स, रीज् —बुद्धिष्ट इण्डिया, अध्याय ३, ५, ६।

समद्दर, जे. एन्.—इकॉनॉमिक् कण्डिशन् ऑफ् एन्शिएण्ट इण्डिया।

नवाँ अध्याय

बकोफ़र, एल्. —अर्ली इण्डियन् स्कल्प्चर्, १९२५।

ब्राऊन, पी. —इण्डियन् आर्किटेक्चर, १९४९।

कुमारस्वामी, ए. के.—हिस्ट्री ऑफ् इण्डियन् एण्ड इण्डोनेशियन् आर्ट्, १९२७।

फर्गुसन् —हिस्ट्री ऑफ् इण्डियन् एण्ड ईस्टर्न आर्किटेक्चर, १९१०।

फर्गुसन् ऐण्ड बरजेस्—केव टेम्पुल्स् ऑफ् इण्डिया, १८८०।

हैवेल, इ. बी. —ए हैण्डबुक ऑफ् इण्डियन् आर्ट।

——— इण्डियन स्कल्पचर एण्ड पेंटिङ्।

——— दी आइडियल्स् ऑफ् इण्डियन् आर्ट।

——— दी एन्शिएण्ट एण्ड मेडीवल् आर्किटेक्चर इन् इण्डिया।

(हैवेल की पुस्तकें कई दृष्टियों से आलोच्य हैं तथापि वे नई व्याख्याएं प्रस्तुत करती हैं और इन विषयों पर नये विचार सम्मुख रखती हैं।)

क्रेमरिश्, एस्. —इण्डियन् स्कल्पचर, १९३३।
———— दी हिन्दू टेम्पुल्, १९४६।
राय, निहाररंजन—मौर्य एण्ड शुंग आर्ट्, १९४५।
स्मिथ, वी. ए. —हिस्ट्री ऑफ़् फाइन आर्ट् इन् इण्डिया एण्ड सीलोन, १९३०

बौद्ध धर्म से सम्बद्ध कला के लिए देखिये :—

फ़ूशे, ए. —बिगिनिंग्स् ऑफ़् बुद्धिष्ट आर्ट्, १९१८।
ग्रूनवेडिल —बुद्धिष्ट आर्ट् इन् इण्डिया, १९०१।
वोगल —बुद्धिष्ट आर्ट् इन् इण्डिया सीलोन एण्ड जावा, १९३६।

गान्धार कला के लिए देखिये :—

फ़ूशे —ल्. आर्ट ग्रेशियो बौद्धिके दु गान्धार, १९२३।

इनके अतिरिक्त महत्त्वपूर्ण भवनों के सम्बन्ध में स्वतन्त्र पुस्तकें हैं और पुरातत्व विभाग के प्रकाशनों में महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ भरी हुई हैं।

तृतीय खण्ड

पहला अध्याय

गुप्तों का इतिहास मुख्यतः उनके सिक्कों और अभिलेखों से ज्ञात होता है। अभिलेखों का सम्पादन फ्लीट ने कारपस् इन्सक्रिप्शनम् इण्डिकेरम्, भाग ३, में किया है किन्तु उसके पश्चात् कुछ और महत्त्वपूर्ण अभिलेख प्रकाश में आये हैं। इनमें से कई एक डी. सी. सरकार द्वारा सम्पादित सेलेक्ट् इन्सक्रिप्शन्स् में संगृहीत है। सिक्कों के लिए एलन कृत कैटेलॉग् ऑफ़् दि क्वायन्स् ऑफ़् दि गुप्त डाइनेस्टीज् देखिये। इस पुस्तक की भूमिका में ऐतिहासिक सूचनाओं का अच्छा संकलन है।

इस काल के सामान्य इतिहास के लिए देखिये :—

बनर्जी, आर्. डी.—दि एज ऑफ़् दि इम्पीरियल गुप्तज्, १९३३। यह पुस्तक कुछ पुरानी पड़ गयी है।
मजुमदार आर्. सी. और अल्तेकर ए. एस्.—दि वाकाटक गुप्त एज्, १९४६। इस पुस्तक में गुप्त अभिलेखों की पूरी सूची उनके निर्देशों के साथ दी हुई है।
मुकर्जी, आर्. के.—गुप्त इम्पायर, १९४८।

दूसरे से तेरहवें अध्याय तक

पृष्ठ ५३४ पर दी हुई सामान्य पुस्तकों के अतिरिक्त :—

१. उत्तर भारत

बरुआ, के. एल्. —अर्ली हिस्ट्री ऑफ़् कामरूप।

गांगुली, डी. सी. —हिस्ट्री ऑफ़् दि परमार डाइनेस्टी।
मजुमदार, आर्. सी.—दी अरब इनवेजन् ऑफ़् इण्डिया।
——— हिस्ट्री ऑफ् बंगाल, भाग १।
मुकर्जी, आर्. के. —हर्ष (नये पाठकों को इस पुस्तक का उपयोग सावधानी के साथ करना चाहिए क्योंकि उसमें अनेक बातें ऐसी हैं जो तथ्य पर आश्रित नहीं हैं।)
पणिकर, एम्. —हर्षवर्द्धन।
त्रिपाठी, आर. एस्.—हिस्ट्री ऑफ़् कन्नौज।

२. दक्कन और दक्षिण भारत

अल्तेकर, ए. एस्. —दि राष्ट्रकूटज्।
बनर्जी, आर्. डी. —हिस्ट्री ऑफ़् उड़ीसा।
डुब्रीयेल् —एन्शिएण्ट हिस्ट्री ऑफ़् दि डकन, दि पल्लवज्।
गांगुली, डी. सी. —इस्टर्न् चालुक्यज्।
गोपालन् —दि पल्लवज्।
कृष्ण, एम्. वी. —दि गंगज् ऑफ़् तालकड़, १९३६।
मिश्रा, बी. —डाइनेस्टोज ऑफ़् मेडीवल उड़ीसा।
शास्त्री, के. ए. एन्. —दि चोलज्।
——— दि पाण्ड्यन् किंगडम्स्।
वेंकटरमैया —दि ईस्टर्न् चालुक्यज्।
मुस्लिम आक्रमण के लिए देखिये :—
ईश्वरी प्रसाद —मेडिवल इण्डिया।
नाज़िम एम्. —सुलतान् महमूद ऑफ़् गज़नी।
हबीबुल्ला, ए. बी. एम्—फाउन्डेशनस् ऑफ़् दि मुस्लिम रूल इन् इण्डिया।

चौदहवें से बीसवें अध्याय तक

(खण्ड दो के इन्हीं अध्यायों की आकर-सूची में उल्लिखित पुस्तकों के अतिरिक्त।)

चौदहवाँ अध्याय

आयंगर, एस्. के.—एन्शिएण्ट इण्डिया (इसमें केवल दक्षिण भारत की चर्चा है।)
शुक्रनीति —बी. के. सरकार द्वारा अनूदित।

पन्द्रहवाँ अध्याय

मजुमदार, आर्. सी.—कारपोरेट् लाइफ़् इन् एन्शिएण्ट इण्डिया।

दूसरा अध्याय

मुकर्जी, आर्. के. —लोकल सेल्फ गवर्नमेण्ट इन् एन्शिएण्ट इण्डिया।

सोलहवाँ अध्याय

चटर्जी, जे. सी. —कश्मीर शैविज्म्, १९१४।

फरकूहर, जे. एन्. —रेलिजस् लिटरेचर् ऑफ़् इण्डिया।

राजगोपालाचारी —लाइफ़ ऑफ़् रामानुजाचार्य, १९०९।

सुब्रमण्यम्, के. आर्.—दि ओरीजिन् ऑफ़् शैवीज़्म् एण्ड इट्स हिस्ट्री इन् दि तमिल लैण्ड, १९२९।

टामस्, पी. —हिन्दू रेलिजस् कस्टम्स् एण्ड मैनर्स्।

सत्रहवाँ अध्याय

दासगुप्ता, एस्. एन्. तथा दे, एस्. के.—हिस्ट्री ऑफ् क्लासिकल् संस्कृत लिटरेचर, कलकत्ता विश्व-विद्यालय, १९४७।

कीथ, ए. बी. —हिस्ट्री आफ् क्लासिकल् संस्कृत लिटरेचर, १९२८।

——— दि संस्कृत ड्रामा, १९२४।

अठारहवाँ अध्याय

अल्तेकर, ए. एस्. —एजूकेशन् इन् एन्शियेन्ट इण्डिया, चतुर्थ संस्करण, १९५१

मुकर्जी, आर्. के. —एन्शियेन्ट इण्डियन् एजूकेशन् १९४७।

संकालिया, एच्. डी.—दि युनिवर्सिटी ऑफ़् नालन्दा, १९३४।

बीसवाँ अध्याय

(पृष्ठ ५४५, ४६ पर उल्लिखित पुस्तकों के अतिरिक्त)

अग्रवाल, वी. एस्. —गुप्त आर्ट्, १९४७।

ब्राउन, पी. —इण्डियन पेन्टिङ्, १९३०।

डुब्रियेल, जी. जे. —द्रविडियन् आर्किटेक्चर्।

ग्रीफिथ —अजन्ता फ्रेस्कोज्।

क्रेमरिश एस्. —ए सर्वे ऑफ़् पेन्टिङ् इन् दि डेकेन।

लेडी हेरिंघम —अजन्ता फ्रेस्कोज्।

बाइसवाँ अध्याय

देखिये खंड २ अध्याय ८ की आकर-सूची।

प्राचीन स्थानों का परिचय

पुस्तक में जिन स्थानों का परिचय दिया जा चुका है उनका उल्लेख यहाँ नहीं किया गया है।

इस विषय पर विस्तृत अध्ययन के निमित्त निम्नलिखित पुस्तकों का उपयोग किया जा सकता है।

(१) पारजीटर — मारकण्डेय पुराण, अंग्रेजी अनुवाद (भू कोष शीर्षक अध्याय)

(२) कनिंघम — एन्शिएण्ट ज्याग्रफी ऑफ् इण्डिया, एस्. एन्. मजुमदार द्वारा सम्पादित।

(३) दे, एन्. एल्.—दि ज्याग्रफिकल् हिस्ट्री ऑफ् एन्शिएण्ट एण्ड मेडीवल् इण्डिया।

निम्नलिखित नामों में से अनेक जाति तथा देश दोनों को व्यक्त करते हैं। कुछ नगर और देश को व्यक्त करते हैं :—

अंग — आधुनिक भागलपुर और मुंगेर जिले और पूर्णिया जिले का कुछ अंश।

अवन्ति — पश्चिमी मालवा। कभी २ वह सम्पूर्ण मालवा को भी व्यक्त करता था।

आनर्त — काठियावाड़ प्रायद्वीप का पश्चिमी भाग। सुप्रसिद्ध द्वारका नगरी इसकी राजधानी थी।

उत्कल — यह छोटा नागपुर का दक्षिणी भाग और उड़ीसा के उत्तरी भाग को व्यक्त करता था।

ओड्र अथवा उड्र— इसके अन्तर्गत उत्तरी उड़ीसा पश्चिमी मिदनापुर और सम्भवतः मानभूम पूर्वी सिंहभूम और बाकुड़ा थे।

कपिलवस्तु — इस नगर के स्थान की पहचान अशोक के रुम्मिनदेई-स्तम्भ की प्राप्ति से हुई है जो बुद्ध के जन्म स्थान अर्थात् लुम्बिनीवन को व्यक्त करता है। यह नेपाल में पडरिया से एक मील उत्तर बस्ती जिले के उत्तर है।

कलिंग — इसकी सीमा आधुनिक उड़ीसा के उत्तर में बालासोर जिले के भद्रक नगर तक और दक्षिण में विजगापट्टम के समुद्र तट तक थी।

काञ्ची — पल्लवों की राजधानी थी, जो मद्रास के निकट कांजीवरम् का आधुनिक नगर है।

कारूष — कारूष लोग पहले शाहाबाद जिले में रहते थे। पीछे वे दक्षिण पश्चिम की ओर चले गये और उस पर्वतीय भाग पर आ बसे, जो पश्चिम में केन से लेकर पूरब में बिहार तक विस्तृत है और जिसका केन्द्र रीवाँ है।

काशी —आधुनिक बनारस। यह राजधानी तथा प्रदेश दोनों का नाम था।

किरात — हिमालय पर्वत और उसकी दक्षिणी ढाल पर पंजाब से लेकर आसाम और चटगाँव तक बसनेवाली अनेक भिन्न किन्तु मिश्रित जातियों का नाम है।

कुन्तल — कन्नड़ जिले और मैसूर का उत्तर पश्चिमी भाग।

कुरु — कुरु राज्य सरस्वती से लेकर गंगा तक विस्तृत था। वह तीन भागों में विभक्त था—कुरुक्षेत्र, कुरु और कुरु-जांगल। उसकी दक्षिणी सीमा खांडव तक जाती थी। उसकी राजधानी हस्तिनापुर की पहचान मेरठ से २२ मील उत्तर-पूर्व स्थित एक प्राचीन नगर से की जाती है।

कुशीनगर — यहाँ बुद्ध ने निर्वाण प्राप्त किया था। इसकी पहचान गोरखपुर के पूरब ३५ मील पर स्थित कसिया से की जाती है।

केरल — मलाबार तट।

कोशल — मोटे रूप में आधुनिक अवध। उसकी प्राचीन राजधानी अयोध्या आधुनिक फैजाबाद से एक मील पर थी। उसकी परवर्ती राजधानी श्रावस्ती की पहचान बहराइच और गोंडा जिले के सहेट-महेट नामक स्थान से की जाती है।

कौशाम्बी — यह वत्स की राजधानी थी। इसकी पहचान इलाहाबाद के ३० मील पश्चिम यमुना तट पर स्थित कोसम से की जाती है।

गान्धार — देखिये पृष्ठ ३००।

गिरिव्रज — मगध की राजधानी यह अब बिहार तहसील में राजगृह के खंडहरों के रूप में वर्तमान है।

गुर्जर — गुर्जर जाति ने उत्तर-पश्चिम के अनेक स्थानों को अपना नाम दिया। जो प्रदेश आज राजपूताना कहा जाता है, वह लगभग ९–१० वीं शताब्दी में गुर्जरत्रा भूमि के नाम से प्रसिद्ध था। यह नाम बिगड़कर गुजरात हुआ और उसका उपयोग

इस नाम के वर्तमान प्रदेश के लिए सम्भवतः चालुक्यों की विजय के पश्चात् होने लगा।

गौड़ — आरम्भ में यह बंगाल के एक भाग को व्यक्त करता था पर पीछे से यह नाम सारे प्रान्त के लिए प्रयुक्त होने लगा। गौड़ की राजधानी कर्णसुवर्ण की पहचान मुर्शिदाबाद से १२ मील दक्षिण स्थित रंगमती से की जाती है।

चेदि — यह यमुना के दक्षिण तट का भाग था जो उत्तर-पश्चिम में चम्बल से लेकर दक्षिण-पूरब में कर्वी तक था। मालवा और बुन्देलखण्ड के पर्वत उसकी दक्षिणी सीमा थे।

चेर — देखिये पृष्ठ १४२।

चोल — देखिये पृष्ठ १४२।

डाहल अथवा डभाल—जबलपुर प्रदेश।

तक्षशिला — इस सुप्रसिद्ध नगर और प्राचीन विश्वविद्यालय के केन्द्र की पहचान रावलपिंडी से २० मील उत्तर-पश्चिम स्थित सरायकाला के पास के खंडहरों से की गयी है। खुदाई में अनेक महत्त्व के अवशेष प्राप्त हुए हैं।

तोषलि — इस स्थान की पहचान अस्थायी रूप से धौली से की गयी है जो उड़ीसा में भुवनेश्वर से ७ मील दक्षिण है और वहाँ अशोक के १४ अभिलेखों की एक प्रति मिली है।

नालन्दा — सुप्रसिद्ध विश्वविद्यालय का यह स्थान राजगिरि से ७ मील उत्तर बड़ागाँव नामक ग्राम में है। खुदाई में बहुत से महत्त्वपूर्ण अवशेष मिले हैं।

पांचाल — मोटे रूप में इसके अन्तर्गत बदायूँ, फर्रुखाबाद और आस पास के जिले थे। यह दो भागों—उत्तर पांचाल (राजधानी अहिच्छत्रा) और दक्षिण पांचाल (राजधानी काम्पिल्य) में विभक्त था। अहिच्छत्रा की पहचान बरेली जिले के रामनगर और काम्पिल्य की पहचान फर्रुखाबाद के कम्पिल से की गयी है।

पाण्ड्य — देखिये पृष्ठ १४२।

पावा — इस नाम के कम से कम दो नगर थे, एक तो कुशीनगर के निकट था और उसकी पहचान कसया से उत्तर-उत्तर पूर्व स्थित पडरौना से की गयी है और कुछ लोग उसकी पहचान कसया से १२ मील दक्षिण पूर्व-स्थित अस्मानपुर और आस-

पास के क्षेत्र से करते हैं। दूसरा नगर आज भी जैनों का सुप्रसिद्ध तीर्थ स्थान है और यह बिहार तहसील में स्थित है।

पुंड्र — इसके अन्तर्गत मालदा पुर्णिया, दीनाजपुर और राजशाही जिले थे।

पौंड्र — पुंड्र के देश अथवा निवासियों को यह व्यक्त करता था, किन्तु कभी इसके अन्तर्गत सन्थाल परगना और वीरभूम के आधुनिक जिले तथा हजारीबाग जिले का उत्तरी भाग सम्मिलित था।

मगध — इसमें पटना, गया और शाहाबाद के आधुनिक जिले थे।

मत्स्य — आधुनिक अलवर राज्य और जयपुर तथा भरतपुर के कुछ अंश।

मद्र — देखिये पृष्ठ ३००।

मालवा — आधुनिक मालवा।

मेकल — मेकल पर्वत के आस-पास का पर्वतीय प्रदेश जो छत्तीसगढ़ के उत्तर-पश्चिम है।

रमठ — महाभारत में वर्णित एक पश्चिमी जाति।

लाट — दक्षिणी गुजरात।

वंग — इसके अन्तर्गत केन्द्रीय, दक्षिणी और पूर्वी बंगाल के अधिकांश भाग रहे होंगे।

बंगाल — दक्षिण और पूर्वी बंगाल।

वत्स — इलाहाबाद के पश्चिम यमुना का तटवर्ती प्रदेश, जिसकी राजधानी कौशाम्बी थी।

वलभी — वलभी के राज्य के अन्तर्गत काठियावाड़ प्रायद्वीप और भड़ौंच तथा सूरत के जिले थे। इसकी राजधानी का नाम भी यही था और उसके अवशेष भावनगर से १८ मील उत्तर-पश्चिम वाला नामक स्थान में मिले हैं।

विदर्भ — मोटे रूप में आधुनिक बरार।

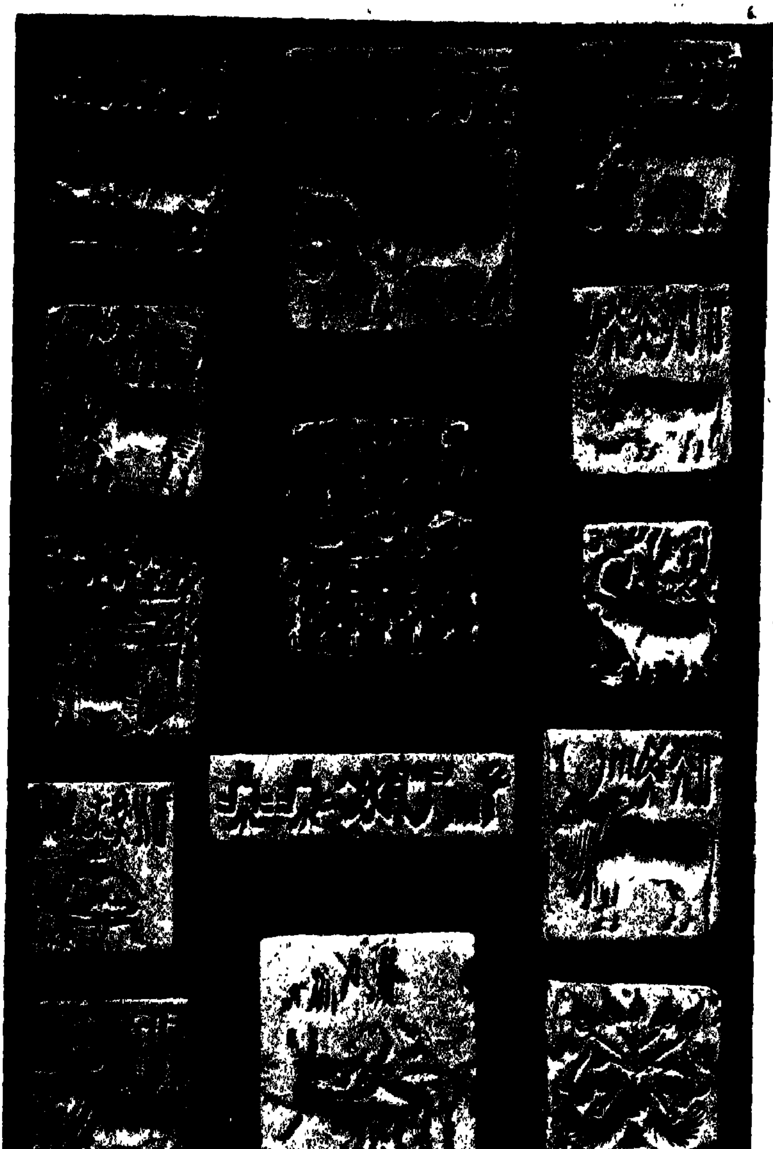
वैशाली — यह नगर लिच्छवियों की सुप्रसिद्ध राजधानी थी और उसकी पहचान मुजफ्फरपुर जिले के बसाढ़ नामक गाँव से की गयी है।

सुम्ह — इसके अन्तर्गत हुगली, हावड़ा, बाँकुड़ा और बर्दवान के आधुनिक जिले और मिदनापुर का पूर्वी भाग था।

शाकम्भरी — जयपुर में साँभर।

हस्तिनापुर — देखिये कुरु।

अनुक्रमणिका



सिन्धु-घाटी की मुहरें

II



नर-प्रतिमा, हड़प्पा



अशोक-स्तम्भ, लौड़िया नंदनगढ़ (चंपारण)

IV



भगवान बुद्ध का जन्म (गान्धार-कला)

V



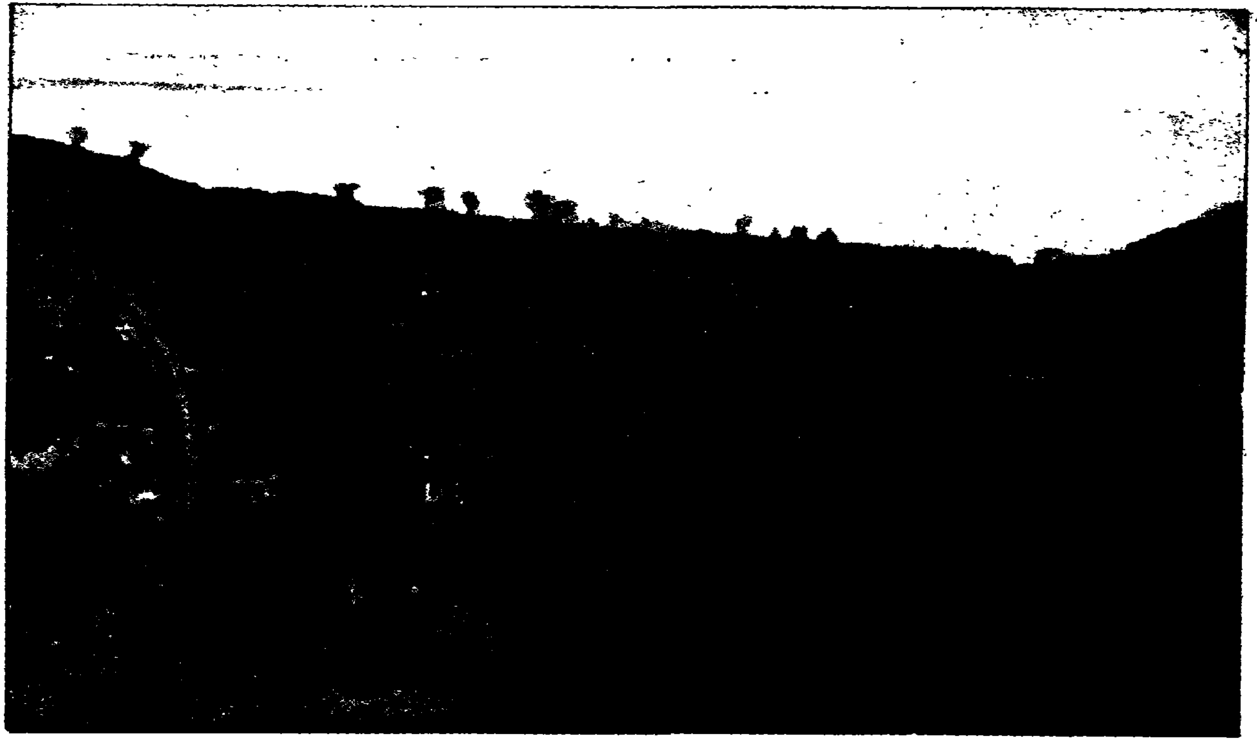
भगवान बुद्ध का सिर

VI



कार्ले गुफा का भीतरी दृश्य

VII

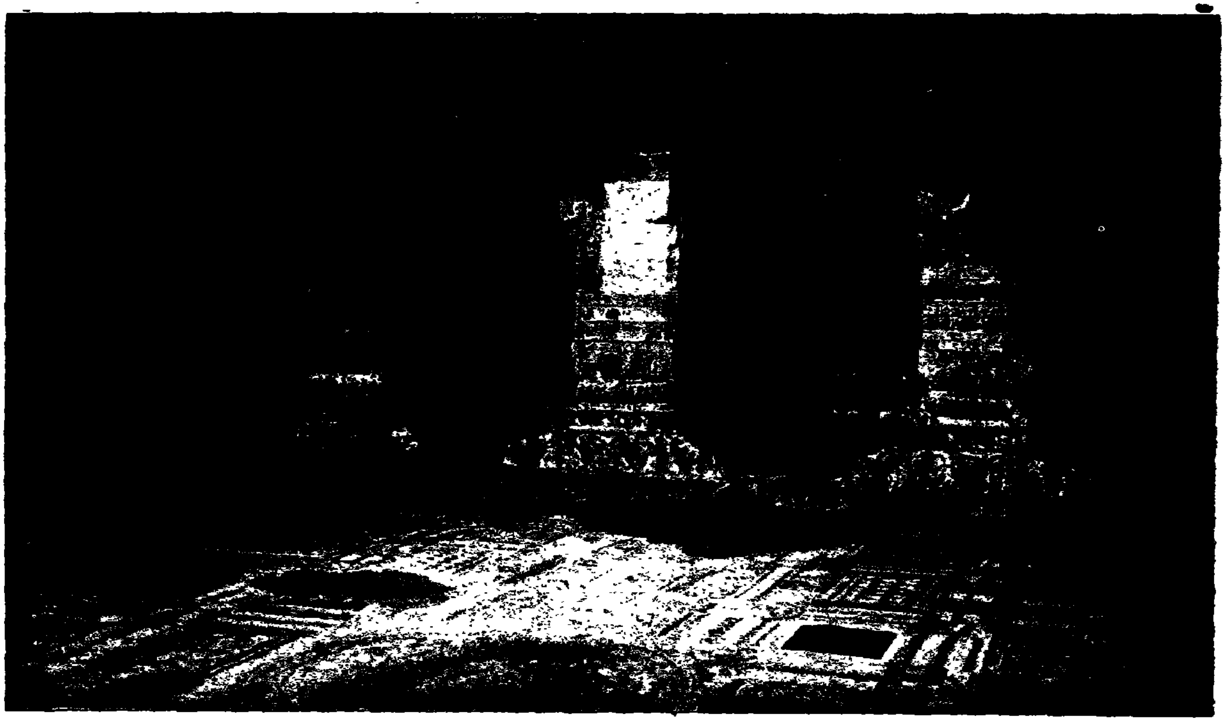


[illegible] गफा



अजन्ता की १९वीं गुफा का सिंहद्वार

IX

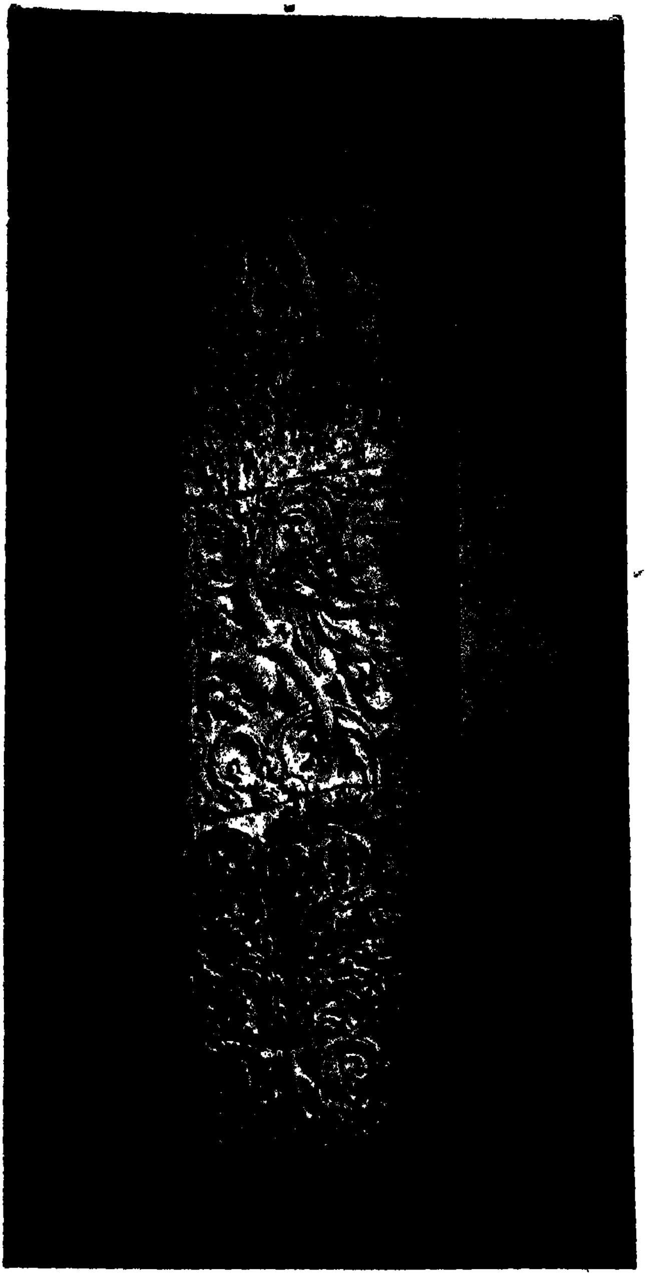


अजन्ता की पहली गुफा के भीतरी खम्भे

X



अजन्ता की १७वीं गुफा की चित्रकारी

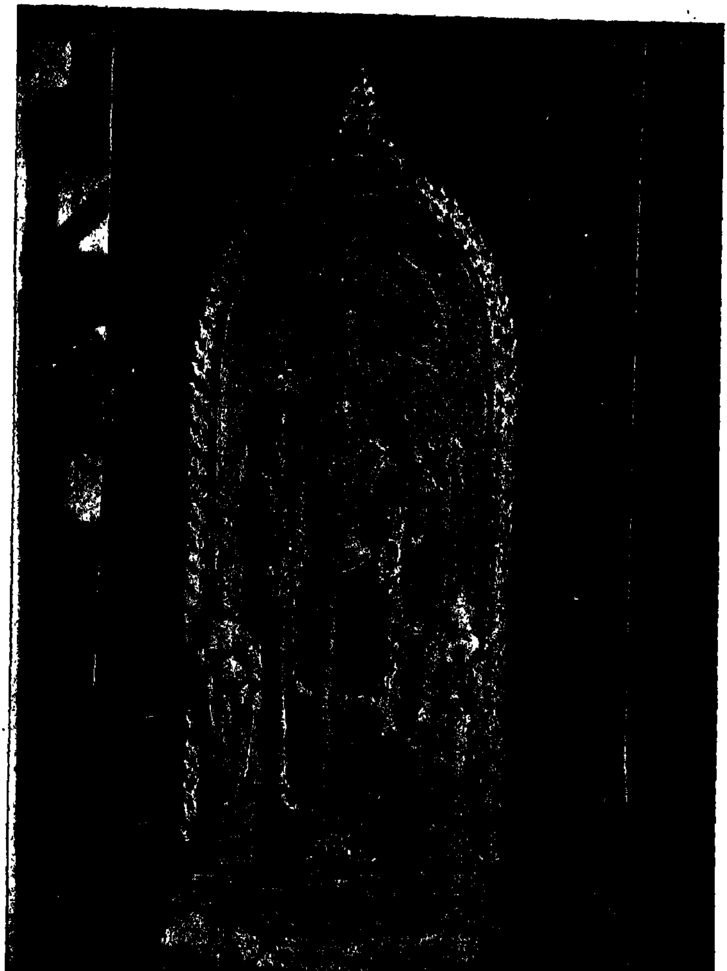


पत्थर पर नक्काशी (गुप्त-काल)

XII



बुद्ध की मूर्ति (नालन्दा)



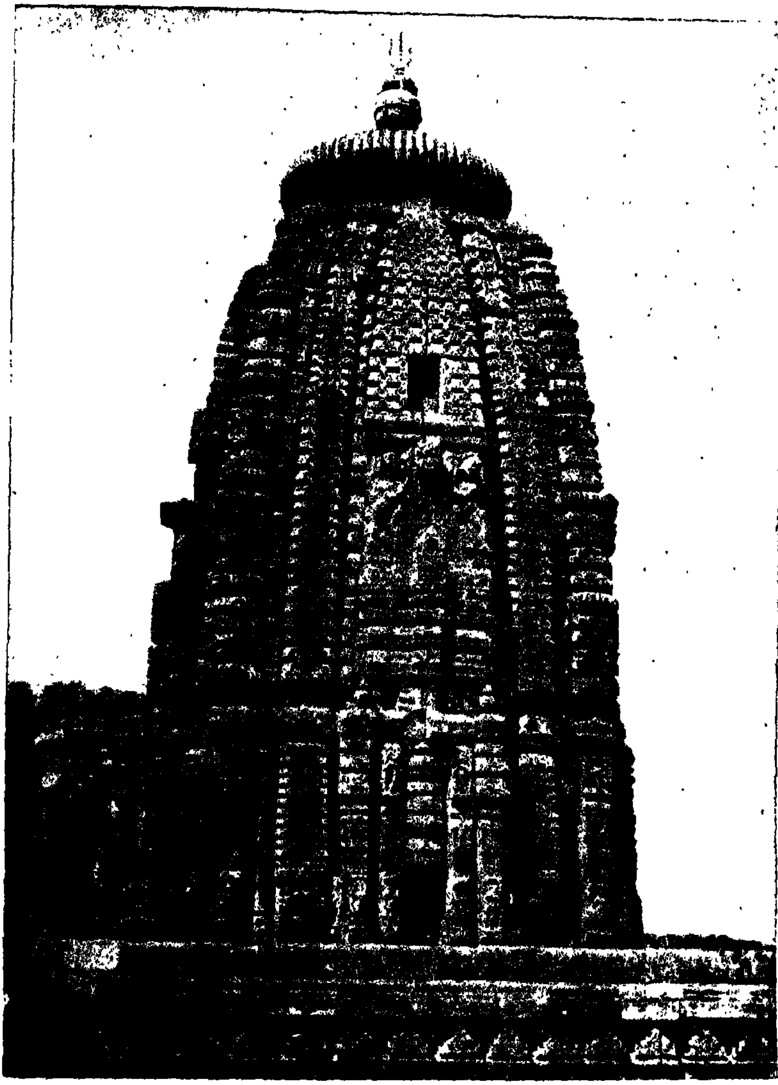
विष्णु की चाँदी की मूर्ति (बंगाल)

XIV



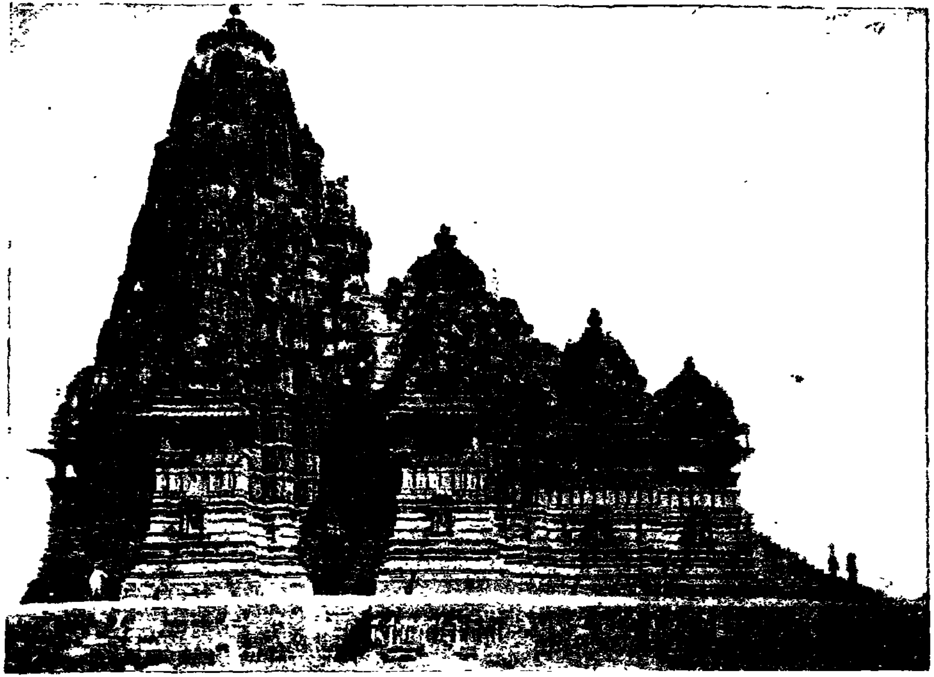
माता तथा शिशु (भुवनेश्वर)

XV



मुक्तेश्वर का मंदिर (भुवनेश्वर)

XVI



खजुराहो मंदिर

XVII



माउण्ट आबू स्थित दिलवाड़ा मंदिर की भीतरी छत

XVIII



तंजौर का विशाल मंदिर



नटराज (दक्षिण भारत)